श्रीपुण्यकुशलगणिविरचितं

भरतबाहुबलिमहाकाव्यम्

आशीर्वचन
आचार्य तुलसी

प्रस्तुति
मुनि नथमल

अनुवादक
मुनि दुलहराज

प्रवंध संपादक·

श्रीचन्द रामपुरिया

निदेशक

आगम और साहित्य प्रकाशन विभाग

जैन विश्व भारती, लाडनूं

२५०० वां निर्वाण दिवस

विक्रम संवत् २०३१

सन् १९७४

पृष्ठ ५४०

मूल्य ३०/–

मुद्रक :

एस. नारायण एण्ड संस (प्रिंटिंग प्रेस)

७११७/१८, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६,

SHREE PUNYAKUSHALAGANI'S

BHARAT BĀHUBALI MAHAKĀVYAM

Translated by

Muni Dulaharaj

भगवान् महावीर की
पचीसवीं
निर्वाण शताब्दी
के
उपलक्ष में

मघव-कालू-तुलसी-इति
आचार्यत्रयीचरणेषु,
यैरस्य महाकाव्यस्य अस्तित्वरक्षार्थै
पटुप्रयत्नो व्यधायि ।

प्रकाशकीय

'भरतबाहुबलिमहाकाव्यं' श्री पुण्यकुशलगणि द्वारा रचित महाकाव्य है। इसकी पंजिकायुक्त एक खण्डित प्रति तेरापन्थी शासन संग्रहालय में है। एक प्रति आगरा में विजयधर्मसूरि ज्ञान मन्दिर में है, जिसमें पंजिका नहीं है। प्रस्तुत– सम्पादन दोनों प्रतियों के आधार पर हुआ है। खण्डित श्लोकों की पूर्ति मुनि श्री नथमल जी ने की है। इसका हिन्दी अनुवाद अत्यन्त परिश्रम के साथ मुनि श्री दुलहराज जी ने किया है। अद्यावधि अप्रकाशित इस काव्य को प्रकाशित करने का सौभाग्य जैन विश्व-भारती, लाडनूं को प्राप्त हो रहा है, यह हर्ष का विषय है।

आशा है प्रथम बार प्रकाशित इस काव्यकृति का विद्वान् स्वागत करेंगे।

दिल्ली
कार्तिक कृष्णा १५,
२०३१
(२५०० वां महावीर निर्वाण दिवस)

श्रीचन्द्र रामपुरिया
निदेशक
आगम एवं साहित्य प्रकाशन

आशीर्वचनम्

भरतबाहुबलिमहाकाव्यमत्यन्तमस्ति दुर्लभम्। अस्माकं संघे जयाचार्यसमयादेतत् प्राप्तमस्ति। मघवगणिनः प्रवचनसमयेऽस्य वाचनमकुर्वन्। तदानीं तेषां गभीरया गिरा वातावरणं प्रकम्पितमिवाऽजायत। जयाचार्यसमये हस्तलिखितादर्शानामन्वेषणं भृशं जातम्। क्वाऽपि काव्यस्यास्य प्रतिर्हस्तगता नाभूत्। केनापि मुनिना सङ्घाद् बहिर्गच्छता नीता तत्प्रतिः। तस्याः पत्रद्वयं मघवगणिनः पुस्तके स्थितमासीत्। तदाधारेण अन्वेषणं कृतम्। कालूगणिनः समये तस्याः साम्प्रतमुपलब्धानि पत्राणि लब्धानि। मयाऽपि तस्य काव्यस्य गवेषणा कृता। छोगमलजीचोपडाभिधेन तेरापंथिमहासभामंत्रिणा अन्विष्टमिदं प्रतिलिपिश्च कारिता। तां दृष्ट्वा मम मनसि महान् तोषो जातः। प्रतिलिपिकरणाय मम तत्परताऽभूत्। प्रयत्नपूर्वकं तां पूरयित्वा प्रतिलिपिः कृता मुनिनथमलेन। मन्त्रिमुनेरपि महान् रस आसीत् अस्मिन् काव्ये। पाठ्यक्रमेप्येतत् नियोजितम्। अस्मिन् निर्वाणशताब्दीसमये जैनविश्वभारतीसंस्थानप्रकाशनाधिकारिणा श्रीचंद्रेण प्रकाशनार्थं याचितमिदं काव्यम्। आगमप्रकाशनेन सार्द्धं अस्यापि प्रकाशनं कृतम्।

हिन्दी अनुवादस्य अपेक्षा मुनिदुलहराजेन पूरिता। अनुवादोऽपि सम्यक् कृतः। अस्य सम्पादने मुनिनथमलस्य योगः, अनुवादे मुनिदुलहराजस्य योगः। मुनिदुलहराजः अध्यवसायपरायणो विद्यते। स कार्यं तत्कालं निष्पन्नं कुरुते। श्रीचन्द्रस्य तृतीयो योगः। प्रकाशनमपि आवश्यकमस्ति। एतत् काव्यं जनताहस्ते समागतमिति मम मनसि महान् हर्षः, विदुषां समक्षे प्रस्तुतमस्तीति हृष्याम्यतितराम्। अस्मिन् पुण्ये भगवतो महावीरस्य पञ्चविंशतितमे निर्वाणशताब्दीसमयेऽस्य प्रस्तुतीकरणं सर्वथा महत्त्वमञ्चति।

२५०० वीरनिर्वाणदिवसे,
इन्द्रप्रस्थे।

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

विधा की दृष्टि से काव्य दो प्रकार के माने जाते हैं—प्रेक्ष्य और श्रव्य। जो रंगमंच पर अभिनीत होते हैं वे 'प्रेक्ष्य' और जो सुने या पढ़े जाते हैं वे 'श्रव्य' काव्य होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य के दो भेद किए हैं—पाठ्य और गेय। नाटक, प्रकरण आदि पाठ्य और रासक आदि गेय काव्य होते हैं। शैली के आधार पर श्रव्य काव्य के तीन प्रकार होते हैं—गद्य, पद्य और चम्पू। विषय-वस्तु की योजना की दृष्टि से पद्य काव्य दो प्रकार का होता है—प्रवन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रवंध काव्य महाकाव्य और खण्डकाव्य—इन दो भागों में विभक्त होता है।

खण्डकाव्य में जीवन के विविध रूप चित्रित नहीं होते, उसके किसी अंग-विशेष का ही चित्रण होता है। वह चित्रण अपने आप में पूर्ण होता है। महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण चित्रण होता है। उसका नायक किसी प्रख्यात राजवंश में उत्पन्न और धीरोदात्त होना चाहिए। उसकी रचना छंदोवद्ध होनी चाहिए। छन्द का प्रयोग प्रतिपाद्य-विषय के अनुकूल तथा सर्ग का अन्तिम श्लोक भिन्न छन्द का होना चाहिए। उसके सर्ग आठ से अधिक होने चाहिएं। प्रारंभ में मंगलाचरण का होना आवश्यक है। उसमें शृंगार, वीर और शान्त—इनमें से कोई एक रस प्रधान और शेष रस गौण होने चाहिएं। उसका नाम कथावस्तु या चरितनायक के नाम पर होना चाहिए।

इसमें अठारह सर्ग हैं। सर्ग के अन्तिम श्लोक का छन्द उसके मुख्य छन्द से भिन्न है। इसमें वीर रस प्रधान और शेप रस गौण हैं। इन लक्षणों से इसे खण्डकाव्य की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। इन दोनों लक्षणों की समन्विति के कारण इसे कोई तीसरी संज्ञा दी जा सकती है। इसमें एक प्रयोजन की सिद्धि के लिए रचना का प्रवन्ध है इस दृष्टि से इसे विशुद्ध अर्थ में एकार्थ काव्य या काव्य कहना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से

काव्य-सौष्ठव के पद-लालित्य और अर्थ की रमणीयता—ये दो प्राथमिक अंग हैं। प्रस्तुत काव्य यद्यपि रीतिवद्ध है फिर भी उसमें काव्य सम्बन्धी रूढियों की जकडन नहीं है। इसमें कवि ने अपने स्वाभाविक प्रतिभा का उपयोग किया है। फलतः इसमें स्वाभाविकता और कलात्मकता—दोनों एक साथ परिलक्षित होते हैं। इसमें भाषा की जटिलता नहीं है। ललित पदावलि में सरलता से गुंफित अर्थ पाठक के मन को मोह लेता है। पद-लालित्य और स्वाभाविक शब्दरचना की दृष्टि से निदर्शन के रूप में ये श्लोक प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

पुरा चर ! भ्रातरमन्तरेण, शशाक न स्थातुमहं मुहूर्त्तम् ।
ममाऽधुनोपोष्यत एव दृष्ट्या, व्यर्थास्ततो मे दिवसाः प्रयान्ति ॥ (२।१३)

सा प्रीतिरङ्गीक्रियते मया नो, जायेत यस्यां किल विप्रयोगः ।
जिजीविवावां यदि विप्रयुक्तौ, प्रीतिर्न रीतिर्हि विभावनीया ॥ (२।१४)

आडम्बरो हि बालानां, विस्मापयति मानसम् ।
मादृशां वीरधुर्याणां, भुजविस्फूर्त्तयः पुनः ॥ (३।२९)

देव ! चन्द्रति यशो भवदीयं, सांप्रतं क्षितिभुजामितरेषाम् ।
तारकन्ति च यशांसि कृतित्वं, तत्तवैव न हि यत्र कलङ्कः ॥ (६।४७)

प्रस्तुत काव्य की भाषा जैसे गरिमापूर्ण है वैसे ही इसमें अर्थ-गौरव भी है! कवि ने कुछ प्रसंगों में बहुत ही मार्मिक व्यंजना की है। भरत ने बाहुबली से कहलाया—

भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा, विषमोऽस्तु क्षितिभृच्चयोन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा, पिशुनो माऽस्तु किलान्तरावयोः ॥ (४।१५)

कहीं कहीं विस्तार के कारण अर्थ की श्लथता भी आई है। जैसे—

प्रणयस्तटिनीश्वरादिकैः, पतितैरन्तरयं न हीयते।
पिशुनेन विहीयते क्षणादधिकः सिन्धुवराद्धि मत्सरी ॥ (४।१६)

इस श्लोक में कोई नया अर्थ प्रतिपादित नहीं है, केवल पूर्वोक्त श्लोक (४।१५) की व्याख्या या विस्तार-मात्र है। पूर्व श्लोक में जो अर्थ का चमत्कार है वह इसमें

अनुकूल हो सकता है किन्तु साधना और कवित्व का अनुबंध नहीं है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने शान्तरस की तुलना में शृंगार रस का अधिक और वीर रस का उससे भी अधिक अवतरण किया है।

अलंकार

अलंकार के विषय में काव्यशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ आचार्य अलंकार को महाकाव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं और कुछ इसे अनिवार्य तत्व नहीं मानते। प्रस्तुत रचना में कवि ने शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। उपमा और उत्प्रेक्षा आदि की अपेक्षा 'अर्थान्तरन्यास' अधिक मात्रा में है। उनके कारण प्रस्तुत काव्य नीतिकाव्य जैसा प्रतीत होता है। जैसे—

- **क्रमं न लुंपंति हि सत्तमाः क्वचित्** (१।१४)
- **सकण्टका एव हि दुर्गमा द्रुमाः** (१।१६)
- **कोपः प्रणामान्त इहोत्तमानामनुत्तमानां जननावधिर्हि** (२।८०)
- **ह्यमूतं तिष्ठति नागभीरके** (४।१६)

इस प्रकार के नीति वाक्यों का संकलन परिशिष्ट संख्यांक २ में है।

कवि ने कहीं कहीं बहुत थोड़े में गम्भीर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शरीर और मन के सम्बन्ध के बारे में अनेक धारणाएं रही हैं। कुछ विद्वान् दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकर करते हैं तो कुछ उस स्वीकृति को विशेष महत्व नहीं देते। वर्तमान के मनोवैज्ञानिक उन दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध समझते हैं। कवि ने शरीर को मन के अधीन मानकर शरीर और मन के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति की है। रणभूमि में बाणों की वर्षा हो रही है। योद्धाओं का युद्धोत्साह चरम उत्कर्ष पर है। वे परस्पर एक दूसरे पर प्रहार कर रहे हैं। कुछ योद्धाओं का सिर कट गया है, फिर भी उनका युद्धोत्साह शान्त नहीं हुआ है। उनके धड़ लड रहे हैं। इसका कारण कवि ने यह बताया है कि शरीर अभिप्राय के पीछे-पीछे चलता है—

केषांचिल्लूनमौलीनां, युद्धोत्साहाद् धनुर्भृताम्।
कबन्धा अप्ययुध्यन्त, ह्यभिप्रायानुगं वपुः॥ (१५।२०)

कथावस्तु

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु बहुत छोटी है। यदि इसका कथा-भाग बड़ा होता तो यह और अधिक सरस हो जाता। चक्रवर्ती भरत देश-विजय के बाद राजधानी में प्रवेश करता है और उसका चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता।

इसका हेतु समझकर वह बाहुबली के पास अपना दूत भेजता है। काव्य का आरंभ इसी प्रसंग से होता है। दूत बाहुबली को भरत का संदेश देता है और बाहुबली का सन्देश भरत के पास लाता है। दोनों भाई रणभूमी में मिलते हैं और वे द्वादशवर्षीय युद्ध लड़ते हैं। युद्ध की समाप्ति पर बाहुबली भगवान् ऋषभ के पथ का अनुगमन कर मुनि बन जाते हैं और भरत चक्रवर्ती शासक। अन्त में भरत भी अनासक्ति का परिपाक होने पर आदर्शगृह में बैठे-बैठे केवली बन जाते हैं। काव्य समाप्त हो जाता है। इस संक्षिप्त कथावस्तु को कवि ने खूब सजाया और संवारा है। वर्णन की लम्बाई से काव्य को प्रलंब किया है, किन्तु इस लम्बाई में सरसता का भंग नहीं हुआ है। यह कवि की अपनी विशेषता है। दूत की वाग्मिता और नीतिमत्ता का प्रदर्शन कवि ने विस्तार से किया है और कहीं-कहीं वह बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है। भरत का बाहुबली के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। दूत ने देखा जब तक इस प्रेम की प्रगाढ़ता में छिद्र नहीं होगा तब तक राज्य-कर्त्तव्य का प्रकाश प्रगट नहीं होगा। दूत ने बड़े विलक्षण चातुर्य के साथ उसमें छेद डालने का प्रयत्न किया और वह अपने मनोरथ में सफल भी हो गया। इस प्रसंग के कुछ अंश प्रस्तुत हैं—

सर्ग	श्लोक	छन्द
७.	८३	रथोद्धता
८.	७५	उपजाति
९.	७७	उपजाति
१०.	७५	उपजाति
११.	१०५	अनुष्टुप्
१२.	७३	उपजाति
१३.	६७	वंशस्थविल
१४.	७९	उपजाति
१५.	१३१	अनुष्टुप्
१६.	८१	स्वागता
१७.	८९	प्रहर्षिणी
१८.	८३	उपजाति

वर्ण्य-विषय के अनुसार सर्ग के अन्तर्गत मुख्य छन्दों के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—रणभूमि में जब देवता बाहुबली को सम्बोधित करते हैं उस समय 'त्रोटक छन्द' का प्रयोग कर कवि ने संबोधन को लयबद्धता प्रदान की है—

> नृप ! संहर संहर कोपमिमं, तव येन पथा चरितश्च पिता।
> सर तां सरणिं हि पितुः पदवीं, न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन ॥ (१७।७१)
>
> धरिणी हरिणीनयना नयते, वशतां यदि भूप ! भवन्तमलम् ।
> विधुरो विधिरेष तदा भविता, गुरुमाननरूप इहाक्षयतः ॥ (१७।७२)
>
> मुनिरेष बभूव महाव्रतभृत्, समरं परिहाय समं च रुषा।
> सुहृदोऽसुहृदः सदृशान् गणयन्, सदयं हृदयं विरचय्य चिरम् ॥ (१७।७६)

इसी प्रकार सातवें सर्ग के ७६ से ८२ तक के श्लोक वसंततिलका छन्द में, आठवें सर्ग का ७४ वां श्लोक मालिनी छन्द में, तेरहवें सर्ग के ५९ से ६३ श्लोक शिखरिणी छन्द में और ६४ से ६७ श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में तथा अठारहवें सर्ग के ७९, ८०, ८१ श्लोक त्रोटक छन्द में तथा ८२ वां श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।

सर्गों के अन्तिम श्लोकों के छन्द इस प्रकार हैं—

१. मालिनी	१०. मालिनी
२. वसंततिलका	११. मन्दाक्रान्ता
३. वसंततिलका	१२. स्रग्धरा
४. हरिणी	१३. शार्दूलविक्रीडित
५. पुष्पिताग्रा	१४. मालिनी
६. शार्दूलविक्रीडित	१५. वसंततिलका
७. हरिणी	१६. स्रग्धरा
८. वसंततिलका	१७. शार्दूलविक्रीडित
९. शिखरिणी	१८. वसंततिलका

रचनाकार और रचनाकाल

प्रस्तुत काव्य के कर्त्ता प्रचलित परम्परा से मुक्त विचार वाले प्रतीत होते हैं। उन्होंने काव्य के आरंभ में नमस्कार और अन्त में प्रशस्ति की परंपरा का निर्वाह नहीं किया है। उन्होंने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'पुण्योदय' शब्द का प्रयोग किया है। यह कवि के नाम का सूचक है। कवि ने 'पुण्यकुशल' नाम का स्पष्ट प्रयोग कहीं भी नहीं किया है। किन्तु पंजिका में कवि का नाम 'पुण्यकुशल' मिलता है। पंजिकायुक्त प्रति में प्रत्येक सर्ग के अन्त में पूर्ति की पंक्तियां लिखी हुई है। उनसे ज्ञात होता है कि 'पुण्यकुशलगणि' तपागच्छ के विजयसेनसूरी के प्रशिष्य और और पंडित सोमकुशलगणि के शिष्य थे। उन्होंने प्रस्तुत काव्य विजयसेनसूरि के शासन काल में लिखा था[1]। विजयसेनसूरी का अस्तित्व काल विक्रम की सतरहवीं शताब्दी है। कनककुशलगणि पुण्यकुशलगणि के गुरुभाई थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनका रचना-काल वि० सं० १६४१ से प्रारम्भ होता है और वि० १६६७ तक उनकी लिखी रचनाएं प्राप्त होती हैं[2]। प्रस्तुत काव्य की रचना का निश्चित समय ज्ञात नहीं है। इतना निश्चित है कि इसकी रचना सतरहवीं शताब्दी के मध्य में हुई है। आगरा के 'विजयधर्मसूरी ज्ञानमन्दिर' में प्रस्तुत काव्य की एक प्रति प्राप्त है। उसका लिपिकाल वि० सं० १६५९ है। इससे रचनाकाल की सीमा वि० १६५९

प्रथम सर्ग की पंजिका के अंत में निम्न श्लोक है—

'इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
श्रीनाभिक्षितिराजसूनुतनयश्लोकप्रथा पंजिका।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
सद्वृतोल्लसदक्षरार्थकथिनी विश्वावदास्तां चिरम्॥'

इसके तृतीय चरण का 'आस्यारविन्दोद्गता'—यह वाक्य यदि शुद्ध ह ता यह पंजिका 'पुण्यकुशलगणि' की ही कृति होनी चाहिए। किन्तु 'नैपुण्यव्यवसायि' और 'आस्यारविन्दोद्गता'—ये दोनों वाक्य श्लाघासूचक है। कवि अपने स्वयं के लिए श्लाघासूचक वाक्यों का प्रयोग कैसे कर सकता है? इस तर्क के आधार पर यदि पंजिका को अन्यकर्तृक माना जाए तो 'आस्यारविन्दोद्गता' के स्थान पर 'आस्यारविन्दोद्गतः' पाठ होना चाहिए। यह 'सद्वृत्त' का विशेपण होकर ही यथार्थ अर्थ दे सकता है, अन्यथा नही। पंजिकाकार सोमकुशलगणि का शिष्य है, यह ऊपर उद्धृत श्लोक से स्पष्ट है। कनककुशलगणि ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थीं—यह पहले बताया जा चुका है। संभव है उन्होंने या उनके किसी गुरु-भाई ने पंजिका का निर्माण किया है।

काव्य की प्रति-प्राप्ति का इतिहास—

तेरापंथ के पंचम आचार्य श्री मघवागणि के शासनकाल में तेरापंथ संघ में प्रस्तुत काव्य की पंजिकायुक्त एक हस्तलिखित प्रति थी। मघवागणि संस्कृत के प्रवर वद्वान् थे। वे परिषद् में प्रस्तुत काव्य का वाचन करते थे। अतः यह बहुत लोकप्रिय हो गया। एक साधु संघ से अलग हुआ। वह प्रस्तुत काव्य की प्रति को अपने साथ ले गया। पता चलने पर उसकी खोज की गई तो उसके ४३ पत्र मिले, शेप कहीं खो गए। पूज्य प्रवर कालूगणी ने उस काव्य की खोज की। पर कहीं कोई प्रति नहीं मिली। मघवागणी का आकर्षण कालूगणी में संक्रान्त था और कालूगणी का आकर्षण आचार्य तुलसीगणी में संक्रान्त था। आचार्य तुलसी ने भी इसकी खोज चालू रखी। तेरापंथी महासभा के मंत्री, विद्वान् श्रावक स्व० श्री छोगमल जी चोपड़ा ने एक दिन सूचना दी कि प्रस्तुत काव्य की एक प्रति आगरा के 'विजयधर्मलक्ष्मी ज्ञानमन्दिर' नामक जैन पुस्तकालय में प्राप्त है। इस सूचना से एक संतोप का अनुभव हुआ। चोपड़ाजी ने उस पुस्तकालय की प्रति से एक प्रतिलिपि करवाई। वह बहुत अशुद्ध थी, इसलिए दूसरी बार उसकी प्रतिलिपि करवाई। वह भी बहुत अशुद्ध थी। आचार्यश्री ने उसका संशोधन कर एक प्रति तैयार करने का मुझे आदेश दिया। यह वि० सं० २००२ की वात है। उस समय हमारा मर्यादा-महोत्सवकालीन माघमासिय प्रवास सरदारशहर में था। मैंने हमारे संघ की प्रति और आगरा के

भंडारगत प्रति की प्रतिलिपि—दोनों के आधार पर प्रस्तुत काव्य का संपादन किया। हमारे संघ की प्रति में जितना अंश है उसके संपादन में मुझे विशेष कठिनाई नहीं हुई। किन्तु प्रतिलिपि के संपादन में मुझे पर्याप्त श्रम करना पड़ा। उसमें कहीं वर्ण और कहीं चरण के चरण त्रुटित थे। किसी दूसरी प्रति से पूर्ण पाठ प्राप्त होने की संभावना नहीं थी। इसलिए अपूर्ण चरणों तथा अप्राप्त अक्षरों को मैंने पूर्ण किया। वि० सं० २००६ में हम आगरा गए तब 'विजयधर्मसूरि ज्ञानमन्दिर' की प्रति को देखा। उसकी लिपि दुर्बोध और पाठ खंडित थे। फिर भी वह प्रस्तुत काव्य की सुरक्षा का एक मात्र आधार बनी।

संघीय प्रति-परिचय

यह प्रति अधूरी है। इसके ४३ पत्र उपलब्ध हैं। उनमें दस से पन्द्रह तक के पत्र नहीं हैं। नौवें पत्र के अन्त में दूसरे सर्ग के ६३ वें श्लोक का प्रथम चरण मात्र आया है और १६वां पत्र तीसरे सर्ग के अंतिम श्लोक के तीसरे चरण से प्रारम्भ होता है। ४३ वें पत्र का अन्तिम पद है—'प्राणैरपि निज प्रभुं' (११।७८ का प्रथम चरण)। प्रत्येक पत्र की ग्यारह पंक्तियों में बड़े अक्षरों में मूल श्लोक लिखे गए हैं और ऊपर-नीचे तथा दोनों पार्श्वों में बारीक अक्षरों में पंजिका लिखी गई है। इस प्रकार ग्यारहवें सर्ग के ७८ वें श्लोक तक की पंजिका प्राप्त है। आगे के पत्र अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में—

'इति श्रीतपागच्छाधिराजश्रीविजयसेनसूरीश्वरराज्ये पं० श्रीसोमकुशलगणि-शिष्यपुण्यकुशलगणिविरचिते भरतबाहुबलिमहाकाव्ये' लिखा हुआ है।

मेरे द्वारा संपादित व लिखित प्रति के २८ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र के एक-एक पार्श्व में बीस-बीस पंक्तियां हैं। यह प्रति वि० संवत् २००२ में लिखी गई। आगरा ग्रंथागार की प्रति के अवलोकन के बाद संपादन का इतिहास, वि० सं० २००९ में फाल्गुन मास की पूर्णिमा के दिन लूनकरणसर में मेरी हस्तलिखित प्रति के अंत में, मैंने लिखा। वह इस प्रकार है—

इदं काव्यं प्राक् पञ्चमाचार्यप्रवरश्रीमघवगणिनः समये तेरापंथशासने अविकलमासीत्। तत्समये केनचित् साधुना गणाद् बहिर्निर्गच्छता पुस्तकमेकं सार्धं नीतम्। तस्मिन्निदं काव्यमपि गतम्। पञ्चमाचार्यवर्यैः परिषदि वाचितमिदम्। अस्य जाता तेन महती प्रसिद्धिः। पुनरन्विष्टं तदा तत्प्रतेः कानिचित् पत्राणि लब्धानि, न तु पूर्णा प्रतिः। कालूगणिनामपीदं प्रति पूर्णोनुरागो व्यभात्। किन्तु न जातोपलब्धिः। श्रीतुलसीरामाचार्या अपि अन्वेषयन्। बहुवर्षं यावन्नमिलितम्। वि० २००२ वर्षे आगरा (यू० पी०) नगरे विजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिरनाम्नि जैन-

पुस्तकालये श्रीजैनश्वेताम्बरतेरापंथीमहासभामन्त्रिणा छोगमलचोपडाभिधेन एका प्रतिर्लब्धा, प्रतिलिपिश्च कारिता। सा अत्यशुद्धिगर्भा, तेन द्विः प्रतिलिपिः कारिता। साप्यशुद्धिबहुला। तत्रत्या मूलप्रतिरपि त्रुटितपाठा दुर्बोधाक्षरासीत्, ततोऽपि लिविकर्त्रा प्रतिलिपिर्बहुविकृतिं नीता। सरदारशहरे सा प्रतिः सुलभाऽभूत् तदा पूज्यपादैः संशोधनपूर्वकमेवैतल्लिप्यर्थमहमादेशिषि। अहं यथासंभवं प्रतियुगलं अनुसन्धाय व्यलेखिषमिमां प्रतिम्। पुनश्च आगरानगरे पूज्यानां पदार्पणसमये मूलप्रतिं वीक्ष्य संशोधिता। बहुषु श्लोकेषु न्यूनपदानि न्यूनवर्णानि च यथासंभवं पूरितानि। क्वचित् तत्प्रतिगतः पाठभेदोऽपि लिखितः।

परमाराध्यपरमपूज्यपरमोपकारिप्रवरपरमश्रद्धाभिवन्दनीयमहर्षिमहितपरमपुरुषोत्तमपूज्यार्यवर्याणामनुग्रहमुपपश्यन् मुनिनथमलः प्रतिमिमां लिपिकृतवान् द्विसहस्राब्दे द्वयुत्तरे। पूरकञ्च लिखितं २००६ फाल्गुनमासे पूर्णिमायां होलीदिने लूणकर्णसरे। स्वस्तिः—

अनुवाद—

प्रस्तुत काव्य का हिन्दी अनुवाद मुनि दुलहराजजी ने किया है। अनुवाद के कार्य को कठिन भी नहीं कहा जा सकता तो सरल भी नहीं कहा जा सकता। उसमें अपना कुछ जोड़ना नहीं होता इसलिए वह कठिन कार्य नहीं है। किन्तु दूसरे के चिन्तन को स्वगत बनाकर अपनी भाषा में प्रस्तुत करना होता है इसलिए वह सरल कार्य भी नहीं है। अनुवादक ने काव्य को अपनी भाषा का परिधान देकर भी उसकी मौलिकता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है और उस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली है। अनुवाद की भाषा स्पष्ट, सरल और सरस है। वाक्यों की जटिलता प्रायः नहीं है। कहीं-कहीं कुछ वाक्य लम्बे और जटिल हो गए हैं और कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति की श्लथता भी है। फिर भी कुल मिलाकर यह बहुत सुन्दर बन पड़ा है। अब तक जैन संस्कृत काव्यों के अनुवाद हिन्दी भाषा में बहुत कम हुए हैं। उनकी संस्कृत टीकाएं भी प्रायः नहीं हुई हैं। इसलिए विद्यार्थी वर्ग उनके अध्ययन से वंचित रहा है। साधारण पाठक के लिए भी वे सुलभ नहीं हैं। इस स्थिति में यह प्रयत्न दिशासूचक है। यदि इस प्रकार के प्रयत्न का सातत्य रहे तो जैन काव्यों के विषय में विद्वानों की धारणाएं स्पष्ट हो सकती हैं।

भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर इस अनूदित काव्य का प्रस्तुतीकरण उनके चरणों में विनम्र श्रद्धाञ्जलि और सहृदय जनता के लिए सरस उपहार होगा।

२५०० वां निर्वाण दिवस

दिल्ली

मुनि नथमल

स्वकथ्य

वि० सं० २००५ तक तेरापंथ धर्मशासन में विद्यार्थी साधु-साध्वियों के लिए कोई पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं था। अनेक साधु संस्कृत के पारगामी विद्वान् थे और वे अपने सहयोगी श्रमणों को संस्कृत का अध्ययन करवाते थे। संस्कृत व्याकरण का निर्माण भी हो चुका था। संस्कृत में धाराप्रवाह वोलने वाले साधु-साध्वियों का एक दल प्रकाश में आ चुका था। कुछेक आशुकवि भी थे। अध्ययन-अध्यापन का क्रम यह था कि सबसे पहले विद्यार्थी साधु-साध्वी कालुकौमुदी (व्याकरण की प्रक्रिया) कंठस्थ करते। फिर अभिधानचिन्तामणि कोष कंठस्थ कर वाक्य रचना का अभ्यास करते हुए आगे बढ़ते जाते। इस क्रम में अनेक साधु-साध्वियों ने प्रवेश किया और कई विद्वान् बनकर बाहर आए।

मैं २००५ में दीक्षित हुआ। वि० सं० २००६ में पाठ्यक्रम बना। दसों साधु-साध्वियों में इस पाठ्यक्रम से अध्ययन करने की प्रेरणा जागी। मैं भी उसी क्रम में अध्ययन करने लगा। प्रतिवर्ष परीक्षाओं का क्रम चलता रहा। दो वर्ष तक मैंने भी परीक्षाएं दीं। तत्पश्चात् मेरे पर परीक्षाओं के समायोजन का उत्तरदायित्व आया। मैं लगभग बीस वर्षों तक इस कार्य में संलग्न रहा। अनेक साधु-साध्वी इस क्रम से अध्ययन कर पारंगत हुए।

इस पाठ्यक्रम में हमने अन्यान्य जैन काव्यों के साथ 'भरतबाहुबलिमहाकाव्य' को भी रखा। रघुवंश, शिशुपालवध आदि काव्य भी पाठ्यक्रम में थे। इनके पठन-पाठन से यह अनुभव हुआ कि 'भरतबाहुबलिमहाकाव्य' एक सरस और सुन्दर काव्य है। इसका शब्दचयन भी विद्यार्थियों के लिए बहुत ज्ञानवर्धक है, आदि-आदि। किन्तु इसके हिन्दी रूपान्तर की बात उस समय नहीं सोची।

वि० सं २०२८ में गंगानगर के प्रोफेसर श्री सत्यव्रतजी जैन काव्यों पर महाप्रबन्ध लिख रहे थे। उन्हें इस काव्य की जानकारी मिली और वे गंगाशहर आ गए। उस वर्ष का मर्यादा-महोत्सव वहीं था। उन्होंने काव्य का अवलोकन किया। रात-दिन उसके विश्लेषण में लगे रहे और अन्त में उन्होंने कहा—'यदि मुझे यह काव्य नहीं मिलता तो मेरे महाप्रबंध में एक कमी रह जाती। मैंने जितने भी काव्य अपने महाप्रबंध के लिए चुने हैं, उनमें यह काव्य अनेक दृष्टियों से उत्तम है।'

प्रोफेसर सत्यव्रतजी ने वह महाप्रबंध हमें दिखाया। उन्हें उस पर पी. एच.डी. की उपाधि भी मिल गई।

उसके पश्चात् इस महाकाव्य के अनुवाद की बात हमने सोची और महामनीषी मुनिश्री नथमलजी ने मुझे इसकी प्रेरणा दी। मन में इस काव्य के प्रति अनुराग तो

था ही, वह और अधिक घनीभूत हो गया और एक मास पश्चात् ही (वि०सं० २०२८ फा० शु१०) डूंगरगढ़ में मैंनें काव्य का अनुवाद प्रारंभ कर दिया ।

अनुवाद का कार्य कुछ कठिन अवश्य लगा किन्तु मुनिश्री के मार्ग-दर्शन से वह सरल होता गया और लगभग पांच महीनों में (आषाढ़ शुक्ला १५) चूरु में उस कार्य को सम्पन्न कर सका। हमारे लाडनूं भंडार में इस काव्य की पञ्जिका युक्त एक अपूर्ण प्रति भी थी । उसका भी मुझे सहारा मिला। कहीं-कहीं मेरा अनुवाद पंजिका में दिए हुए अर्थ से दूर चला गया है। ऐसा मुझे अर्थ के सामंजस्य के कारण करना पड़ा है । पञ्जिका में स्वीकृत पाठ और हमारे द्वारा स्वीकृत पाठ में भी कहीं-कहीं अन्तर है। इस प्रकार कार्य का एक चरण सम्पन्न हो गया ।

अनुवाद का निरीक्षण करने के लिए मैंने मुनिश्री से प्रार्थना की । उस प्रार्थना को वहुमान देकर आपने अपने अतिव्यस्त कार्यक्रम में इसे स्थान दिया और लगभग छह महीनों में यह कार्य भी सम्पन्न हो गया। कार्य का यह दूसरा चरण भी पूरा हो गया ।

मुनि राजेन्द्रकुमार जी ने सारे काव्य की अनुवाद सहित प्रतिलिपि करने में मुझे वहुत सहयोग दिया और वह कार्य भी ठीक समय पर सम्पन्न हुआ ।

फिर आचार्यश्री ने यह फरमाया कि पञ्जिका की जो अधूरी प्रति हमारे पास है, उसको भी महाकाव्य के परिशिष्ट के रूप में दे देनी चाहिए। पञ्जिका की प्रति काफी प्राचीन है । अतः उसके अक्षर भी पढ़ पाना हरेक के लिए सम्भव नहीं है । मैंने तब उसकी शुद्ध प्रतिलिपि तैयार की । उसमें मुझे दो महीने लगे । इस महाकाव्य की मूलप्रति और पञ्जिका की प्रति के विषय में मुनिश्री द्वारा लिखित 'प्रस्तुति' में पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है ।

सहयोगानुभूति—

वामन शरीरयष्टि से विराट् व्यक्तित्व के पारावार का अवगाहन करने वाले आचार्यश्री तुलसी इस कार्य के मूक प्रेरक रहे हैं। जब कभी प्रसंग आता तब आप इस काव्य-ग्रन्थ की मुक्त प्रशंसा करते और व्याख्यान में जनसमूह के मध्य इस का वाचन कर स्वयं आनंद का अनुभव करते हुए श्रोताओं को भी आनन्द लहरियों में थिरकते देखते । विद्या-विकास के लिए किए गए आपके अनगिन प्रयास तेरापंथ धर्म-शासन के कीर्तिस्तम्भ वने हैं, जिनके आलोक में सैकड़ों मुमुक्षु ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में आगे वढ़ रहे हैं । मैं भी उसी पथ का एक वौना पथिक हूँ जो टकराता-संभलता चल रहा हूं । सव कुछ जिसका हो, जो सर्वेसर्वा हो उसके प्रति आभाराभिव्यक्ति व्यवहार मात्र हो सकती है । 'आचार्य पद' एक व्यवहार का ही

द्योतक है, अतः मैं उस पद पर आसीन आचार्य श्री का आभारी हूं, जिन्होंने रत्नत्रयी की साधना में जुटे रहने का मुझे साहस दिया और कार्यरत रहने का मन्त्र फूंका।

मुनिश्री नथमलजी इस कार्य के प्रत्यक्ष प्रेरक रहे हैं। उन्होंने एक नहीं, अनेक बार कहा—तुम इसका हिन्दी में अनुवाद कर लो। यह प्रेरणा वर्षों से मेरे अवचेतन मन में काम करती रही। काल का परिपाक हुआ। भावना बलवती हुई और कार्य की सम्पन्नता भी सहज-सरल ढंग से हो गई।

तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में दीक्षित होने के कारण मैं मुनिश्री के पास एक शिशु विद्यार्थी की भांति नहीं पढ़-लिख सका। कई बार इसका मुझे खेद भी हुआ। फिर भी मैं आपके निकट में रहकर कुछ पढ़-लिख सका, इसका मुझे सन्तोष है। मुनिश्री ने मेरी मनीषा को मांजने-संवारने के उपक्रम किए और समय-समय पर विभिन्न कार्यों में संलग्न कर मेरी कमियों की ओर ध्यान न देते हुए मुझे सतत प्रेरित करते रहे। फलस्वरूप श्रुतार्जन की ओर मेरी गति होती गई। 'व्यक्ति केवल पुस्तकों से ही नहीं पढ़ता, वह कार्य में संलग्न होकर भी पढ़ता लिखता है'—इसकी अनुभूति मुझे कराकर कार्य के प्रति मेरे दायित्व को आपने उजागर किया। निष्काम योगी और महामनीषी मुनि श्रीनथमलजी के प्रति मैं सर्वात्मना कृतज्ञता ज्ञापित कर उनकी विशाल ज्ञानराशि से एक और बिन्दु को पाने का प्रयास करूं, यही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

मैं मुनि राजेन्द्रकुमारजी को भी नहीं भूल सकता। यदि मैं कहूं कि इस कार्य का सारा श्रेय उनको ही मिलना चाहिए तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। अस्वस्थता के बावजूद भी उन्होंने इस काव्य के सारे प्रूफ देखे, मुझे आवश्यक सूचनाएं दीं और मेरे प्रमाद के कारण यत्र-तत्र कुछ त्रुटियां रह गईं थीं उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। तीनों परिशिष्ट उन्हीं के द्वारा तैयार किए गए हैं। इस अन्तराल में मैंने देखा कि उनकी बुद्धि गहराई में जाने लगी है और वे संस्कृत के मूलभूत रहस्यों को समझने में सक्षम होते जा रहे हैं। इस कार्य से उनकी बुद्धि का भी विकास हुआ है, इसकी मुझे परम प्रसन्नता है। मैं चाहता हूँ कि वे इसी गति से आगे बढते रहें।

अन्त में मैं सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी के प्रति विनम्र आभार प्रगट करता हूँ। उन्होंने प्रत्यक्षतः मधुर ताडना और परोक्षतः उत्साहवर्द्धक वचन कहकर मेरे इस कार्य की सराहना की है। उनका पितृतुल्य संरक्षण और मातृतुल्य वात्सल्य मेरे लिए मूल्यवान् है।

मुनि सुदर्शनजी और श्रीचन्दजी 'कमल' की आलोचना–प्रत्यालोचना ने मेरी प्रेरणा को गति दी है।

मुनिश्री चम्पालालजी (लाडनूं) ने मेरे शारीरिक श्रम को यथावकाश कम करने के लिए अपनी सेवाएं देकर मुझे इस कार्य में सहयोग दिया है।

इन सबके प्रति मैं प्रणतभाव से अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

हमारे संघ के वयोवृद्ध संस्कृतज्ञ स्व० मुनिश्री कानमलजी स्वामी ने जब चूरू में (वि० २०२६) यह जाना कि यह काव्य प्रकाश में आ रहा है तो वे बहुत प्रसन्न हुए थे। इस महाकाव्य के दसों श्लोक उनके कंठस्थ थे। उन्होंने वे पद्य मुझे सुनाए। काश ! आज वे होते।

वीर निर्वाण की पचीसवीं शताब्दी के इस पावन अवसर पर भगवान् महावीर के चरणों में नत होकर, उनके ही पूर्वज तीर्थंकर ऋषभ के पुत्र भरत और बाहुबली से संबंधित इस महाकाव्य को जन भाषा (हिन्दी) में प्रस्तुत कर अपनी एक लघु श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

२५०० वां निर्वाण दिवस
नई दिल्ली

मुनि दुलहराज

अनुक्रमः

परिशिष्टानि

पहला सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत द्वारा प्रेषित सुवेग नामक दूत का बाहुबली के प्रदेश में आगमन।
श्लोक परिमाण—	७९
छन्द—	वंशस्थ
लक्षण—	'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ—(एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण—ISI, SSI, ISI, SIS) इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। उपेन्द्रवज्रा छन्द और इस छंद में यही अन्तर है कि इसके चारों चरणों का ग्यारहवां अक्षर लघु होता है।

परिशिष्टानि

पहला सर्ग

प्रतिपाद्य— भरत द्वारा प्रेषित सुवेग नामक दूत का बाहुबली के प्रदेश में आगमन।

श्लोक परिमाण— ७९

छन्द— वंशस्थ

लक्षण— 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ—(एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण—ISI, SSI, ISI, SIS) इसके प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। उपेन्द्रवज्रा छन्द और इस छंद में यही अन्तर है कि इसके चारों चरणों का ग्यारहवां अक्षर लघु होता है।

कथावस्तु—

छह खंडों पर विजय प्राप्तकर चक्रवर्ती भरत अयोध्या नगरी में आए। उनका छोटा भाई बाहुबली बहली प्रदेश का राजा था। वह अभी उनके अनुशासन में नहीं आ रहा था। अपनी विजय की अपूर्णता को देख महाराज भरत ने बाहुबली के पास सुवेग नामक दूत को भेजा। वह दूत अत्यन्त वाग्पटु और निपुण था। उसने अयोध्या से तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उसे अनेक प्रकार के अनुभव हुए। बहली प्रदेश की जनता, वीर सुभटों और भूमि-संपदा को साक्षात् करता हुआ वह तक्षशिला में पहुंचा। उस समय महाराज बाहुबली सभा में बैठे थे। राजाज्ञा से प्रतिहारी ने दूत को बाहुबली के समक्ष उपस्थित किया। महाराज बाहुबली की राजसभा, शारीरिक संपदा और संपन्नता को देखकर वह स्तब्ध सा रह गया। हाथ जोड़कर वह बाहुबली के समक्ष बैठ गया।

० ०

प्रथमः सर्गः

१. अथार्यभि[१]र्भारतभूभुजां बलाद् , हृतातपत्रः स्वपुरीमुपागतः ।
विमृश्य दूतं प्रजिघाय वाग्मिनं , ततौजसे तक्षशिलामहीभुजे ।।

महाराज भरत भारतवर्ष के राजाओं के छत्र का बलात् हरण कर (छह खंडों को जीतकर) अपनी नगरी अयोध्या में आए। उन्होंने अपने मंत्रियों से परामर्श कर विस्तृत पराक्रम के धनी, तक्षशिला के अधिपति महाराज बाहुबली के पास अपना वाग्पटु दूत[२] भेजा।

२. ततः स दूतो विषयान्तरं[३] रिपो - र्गतो वपुष्मानिव विस्मयं दधौ ।
रसान्तरं[४] गच्छत एव विस्मयो , ह्यनेकधा भावविलोकनाद् भवेत् ।।

दूत वहां से चलकर शत्रु के देश में आया। जैसे मनुष्य शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में जाता हुआ आश्चर्य पाता है, वैसे ही वह दूत विषयान्तर—दूसरे देश में आकर आश्चर्य-चकित रह गया। क्योंकि एक भूमी से दूसरी भूमी (या एक रस से दूसरे रस) में जाने वाले व्यक्ति को, अनेक भावों के अवलोकन से, विस्मय होता ही है।

वाला सूर्य भी हमारे प्रतापी स्वामी बाहुबली के बल से आशंकित होकर अपनी किरणों से केवल अंधकार का हरण करता है, ताप नहीं फैलाता।' लोगों की ऐसी बातें सुनकर वह बहुत विस्मित हुआ।

४. शरच्छशाङ्कद्युतिपुञ्जपाण्डुरं, स धैनुकं[1] वीक्ष्य गवेन्द्रदूरगम्।
यशो महीभर्तु रिवाङ्कमाश्रितं, ततान नेत्रे विगलत्पयोमहः॥

दूत ने शरद् ऋतु के चन्द्रमा की कांति-समूह की भांति समुज्ज्वल गायों के समूह को देखा। ग्वाला कहीं दूर खड़ा था। वे गायें ऐसी लग रही थीं मानो कि महाराज बाहुबली का यश मूर्त्त हो गया हो। उनसे दूध की धारा झर रही थी। उन्हें देख दूत की आंखें विस्फारित रह गईं।

५. स सौरभेयी[2]रवलोक्य शङ्कितः, क्वचिच्चरन्तीर्विविधा वनान्तरे।
वपुर्यशोभिः सह जुह्वतां जवाद्, द्विषां चिताधूमततीरिवाऽसिताः[3]॥

दूत वन के किसी प्रान्त-भाग में चरती हुई काली गायों को देखकर शंकित हो गया। उसने सोचा—क्या अपने यश के साथ-साथ शरीर को भी शीघ्रता से होम देने वाली, शत्रुओं की चिता से निकलने वाली यह धूम श्रेणी तो नहीं है?

६. ककुद्मतो[4] वीक्ष्य मदोत्कटान् मिथः, क्रुधा कलिं[5] संदधतः स दुर्धरान्।
गवीश्वरोदीरितभूभृदाज्ञया, निषिद्धयुद्धांश्चकितश्च विस्मितः॥

उसने दुर्धर और मतवाले बैलों को क्रुद्ध होकर परस्पर लड़ते हुए देखा। किन्तु जब ग्वाले ने यह कहा की लड़ने कि राजाज्ञा नहीं है, तब वे बैल लड़ने से उपरत हो गए। यह देखकर वह दूत चकित और विस्मित रह गया।

७. सगन्धधूलीमृगसंश्रिताः[6] शिला, निविश्य वासांसि वितन्वतीर्मुहुः।
चरः सुगन्धीनि युवद्वयीः[7] क्वचिद्, बभार निध्याय मुदं वचोतिगाम्॥

दूत ने कहीं-कहीं युवक-युवतियों के युगलों को देखा। वे युगल कस्तूरीमृग द्वारा

---

१. धैनुकं—गायों का समूह (धेनूनां (समूहः) धैनुकम्—अभि० ६।५४)
२. सौरभेयी—गाय (गौः सौरभेयी—अभि० ४।३३१) पञ्जिका में इसका अर्थ भैंस किया है।
३. असिताः—श्यामाः।
४. ककुद्मान्—बैल (उक्षाऽनड्वान् ककुद्मान्—अभि० ४।३२३)
५. कलिः—कलह (युद्धं तु संख्यं कलिः—अभि० ३।४६०)
६. गन्धधूलीमृगः—कस्तूरीमृग (कस्तूरी गन्धधूल्यपि—अभि० ३।३०८)
७. युवद्वयी—युव-युवति-युगलानि।

सेवित शिलाओं पर बैठकर, बार-बार अपने वस्त्रों को सुगंधित कर रहे थे। यह देखकर उसे वचनातीत प्रसन्नता हुई।

८. मुदं ददानाऽनवलोकितेतर - प्रभुः प्रभूताङ्कुरराजिराजिनी।
प्रियेव रोमाञ्चवती निजेशितु - र्व्यलोकि तेनापि मही फलावहा॥

दूत ने वहां की पृथ्वी को प्रिया की भांति फलवती देखा। जैसे प्रिया अपने स्वामी को हर्षित करती है, दूसरे पुरुष की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखती, अनेक पुत्र-पुत्रियों से शोभित और रोमांचवती होती है वैसे ही बाहुबली की यह भूमि अपने स्वामी को हर्षित करने वाली थी। उसने कभी दूसरा शासक नहीं देखा था। वह प्रभूत अंकुरों की श्रेणी से सुशोभित थी

९. नृफलगु सस्यं परिहाय निस्तुषं, खलेषु गेहं चलितांस्त्विवतीरिणः।
क्षितीश्वराज्ञाऽस्य सदैव पालिनी, स वीक्ष्य लोकान् मुमुदे दिनात्यये॥

सायंकाल के समय दूत ने लोगों को अपने-अपने खेतों से घर आते हुए देखा। वे अपने खलिहानों में निष्तुष धान को ऐसे ही छोड़कर आ रहे थे। वहां कोई रक्षक नहीं था। वे परस्पर यह कह रहे थे कि बाहुबली की आज्ञा ही इस धान की सदा रक्षा करती है। यह सुनकर वह दूत बहुत आनंदित हुआ।

१०. स निर्वृतिक्षेत्रमुदीक्ष्य दूरतः, स निर्वृतिक्षेत्रविलाससंस्पृहः।
बभूव सर्वो हि विशिष्टवस्तुनि, स्मरेत् सरागं जनमीक्षिते क्षणात्॥

दूर से बिना बाड़ वाले क्षेत्र—खेतों को देखकर उसके मन में अपनी निर्वस्त्र क्षेत्र—कान्ता के साथ क्रीड़ा करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। यह सच है कि सभी मनुष्य विशिष्ट वस्तु को देखकर क्षण भर में अपने रागी जन की स्मृति करने लग जाते हैं।

११. स वेपमानं सरसीजले विधुं, विलोक्य कान्तास्त्वितिवादिनीर्मुहुः ।
शशाङ्क! राजासि बिभेषि मा प्रभो - र्बलात् प्रभुर्नः सकृपो व्यलोकत ॥

तालाब के जल में चन्द्रमा को कम्पित देखकर स्त्रियां बार-बार यह कह रही थीं—'चन्द्र ! तुम राजा हो। हमारे स्वामी बाहुबली के बल को देखकर तुम मत डरो। हमारे स्वामी दयालु हैं, वे बिना अपराध किसी को कष्ट नहीं देते।' दूत ने यह सब देखा।

१२. क्वचिन् मृगीयूथमयद् यदृच्छया, स वीक्ष्य विस्फाररवेप्यसंभ्रमम् ।
गतेऽपि[1] कर्णान्तिकमित्यतर्कयत्, कृपार्षभीणां विषयेषु[2] शाश्वती ॥

दूत ने क्वचित् हरिणियों के समूह को स्वेच्छा से घूमते हुए देखकर सोचा—ये कितनी निर्भयता से घूम रही हैं। धनुष के टंकार को इतने समीप से सुनकर भी ये भयभीत नहीं हो रही हैं, इनकी गति में वेग नहीं आ रहा है। उसने यह तर्क किया कि ऋषभ के पुत्रों के देश मे दया शाश्वतरूप से स्थित है।

१३. विकस्वराम्भोजमुखी परिस्फुरद् - विसारनेत्रा[3] दयितेव तस्य च ।
रथाङ्गनामस्तनराजिनी[4] चलत् - तरङ्गनाभिः सरसी मुदेऽभवत् ॥

एक तलाई ने दूत को कान्ता की भांति प्रमुदित किया। विकसित कमल उसका मुख था। चलती हुई मछलियाँ उसके नेत्र थे। चक्रवाक उसके स्तन और उछलती हुई तरंगें उसकी नाभि थी।

१४. श्रमच्छिदे तस्य विरुद्धपुष्पव - ल्लताप्रसक्तैः[5] श्रितसारिणीजलैः ।
अभूयताऽवेगचरैः समीरणैः, क्रमं न लुंपन्ति हि सत्तमाः क्वचित् ॥

व्यभिचार के कारण पुष्पवती लताओं से प्रसक्त और सारिणी के जल का स्पर्श करने वाला पवन दूत के पथगत श्रम को दूर करने के लिए मन्द-मन्द गति से चलने लगा। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष अपने क्रम—परंपरा का कहीं भी लोप नहीं करते।

---

१. अत्रापेः पुनरादानं अतीवसमीपख्यापनार्थम्—पञ्जिका पत्र २।
२. विषयः—देश (विषयस्तूपवर्तनम्—अभि० ४।१३)
३. विसार का अर्थ है—मछली (विसारः शकली शल्की···अभि० ४।४१०)
—परिस्फुरद्विसारनेत्रा—चलन्मीननयना।
४. रथाङ्गनाम—चक्रवाक (चक्रवाको रथाङ्गाह्वः—अभि० ४।३९६)
५. विरुद्धपुष्पवल्लताप्रसक्तैः—इसके दो अर्थ हैं। यह 'समीरणैः' का विशेषण है। १—विरुद्धा व्यभिचारादिना, पुष्पवती—रजस्वला, एतादृशी लता, तत्र प्रसक्तैः—प्रसंगवद्भिः। २—विरुद्धा—विभिः—पक्षिभिः रुद्धा—व्याप्ता, पुष्पवत्—कुसुमवत्······।

१५. प्रफुल्लकंकेल्लिनवीनपल्लवै - रमुष्य सायंतनवारिदभ्रमम् ।
वनं क्वचित् श्यामलताभिरञ्चितं, दिनेपि दोषाभ्रममादधे पुनः ॥

विकसित अशोक के नए पत्तों को देखकर दूत के मन में सायंकालीन बादलों का भ्रम उत्पन्न हुआ और कहीं-कहीं वह वन श्यामलता से व्याप्त होने के कारण दिन में भी रात्री का भ्रम पैदा कर रहा था ।

१६. जनाद् बलं बाहुबलेर्भटैः पथि, द्रुमेषु भूभृत्सु च चिन्हितं चरः ।
भुजाशुगा[1]स्त्रैः परिपीय[2] कंपितः, सकण्टका एव हि दुर्गमा द्रुमाः ॥

प्रत्येक मार्ग में वृक्ष और पर्वत पर बाहुबली के सैनिकों का पराक्रम बाहु, बाण और अस्त्रों द्वारा चिन्हित था । लोगों से उसकी गाथाएं सुनकर दूत कांप उठा । क्योंकि कांटेवाले वृक्ष ही दुर्गम होते हैं ।

१७. भुजद्वयोन्मूलितभूरुहावलिं, निभाल्य किं हस्तिभिराहतेति तम् ?
वदन्तमूचे जनतेत्यसौ भटै - रभञ्जि नः साकमरातिकांक्षितैः[3] ॥

दोनों भुजाओं द्वारा उखाड़ी हुई वृक्षावलि को देखकर दूत ने पूछा—'क्या इन वृक्षों को हाथियों ने उखाड़ा है?' यह सुनकर जनसमूह ने कहा—'नहीं, हमारे वीर सुभटों ने शत्रुओं की आकांक्षा के साथ-साथ इस वृक्षावलि को भी उखाड़ फेंका है।'

१८. सुधारसस्वादुफलानि नो भटैः, करानवाप्यानि विमृश्य मुष्टिभिः ।
हतद्रुमस्कन्धनिपातितान्यधो, विलोकय त्वं किमसाध्यमुद्भटैः ?

जनता ने कहा—'दूत ! हमारे सुभटों ने जब यह सोचा कि वृक्षों पर लदे अमृत सरीखे मीठे फल ऊंचे हाथ से भी प्राप्त नहीं हो रहे हैं तब उन्होंने वृक्ष के स्कंध पर मुष्टि-प्रहार किया और फल भूमि पर आ गिरे । तुम देखो, ये फल नीचे पड़े हुए हैं । प्रबल पराक्रमी के लिए क्या असाध्य है ? कुछ भी नहीं ।

१९. हतेभकुम्भस्थलजन्ममौक्तिकै - रिह प्रियावक्षसि हारमादधुः ।
भटा यशोन्यासमिवोज्जलं क्षिता - वितस्तदुत्खातरदान् निभालय ॥

दूत ! हमारे वीरों ने हाथियों के कुंभस्थलों को विदारित कर, उसमें से निकले हुए मोतियों से हार बनाकर अपनी प्रियाओं की छाती पर धारण करवाया है, मानो

१. आशुगः —बाण (काण्डाशुगप्रदरसायकपत्रवाहाः —अभि० ३।४४२)

२. परिपीय—आकर्ण्य ।

३. अरातिः —शत्रु (प्रत्यर्थ्यमित्रावभिमात्यराती—अभि० ३।३६३)

कि वे (मोती) उनके बल से उपार्जित यश के प्रतिष्ठापक हों। दूत ! इधर हमारे सुभटों द्वारा उखाड़े हुए, भूमि पर पड़े हुए, हाथियों के दांतों को देखो।

२०. इतोपि दोर्दण्डदलीकृतं शिला - तलं निरीक्षस्व घनैरभङ्गुरम्।
विरोधिनां वक्ष इवोद्भटैर्भटै - रभेद्यमच्छेद्यमिदं ह्यविक्रमैः ।।

तुम इधर भी देखो। मुद्गरों द्वारा नहीं टूटने वाले ये शिलातल हमारे उद्भट वीरों के भुजादंड से शत्रुओं के वक्ष की भांति चूर-चूर हुए पड़े हैं। निर्बल व्यक्ति के लिए ये शिलातल अभेद्य और अछेद्य हैं।

२१. शरैरनावृतमुखैर्मनोतिगै - र्धनुर्धरैर्विद्धमनन्यविक्रमैः ।
द्रुमावलिस्कन्धमिमं च पश्य नो, महौजसां ह्योजसि कोऽपि विस्मयः ?

तुम इस वृक्षावलि के स्कंध को देखो। इसे हमारे अत्यन्त पराक्रमी धनुर्धरों ने अनावृत मुखवाले तथा मन से भी अधिक वेगवाले तीरों से बींधा है। महान् पराक्रमी व्यक्तियों की शक्ति के प्रति क्या कोई विस्मय होता है ? नहीं।

२२. सलीलमुत्पाट्य गिरिर्गजेन्द्रवन्, महाबलैर्नीत इतस्ततः करैः ।
गजैरिवानोकह इत्यनेकधा, बलं भटानां कुरु दृष्टिगोचरम् ।।

दूत ! ऐरावत हाथी की भांति महान् पराक्रमी हमारे वीर सुभट अपने हाथों से लीला के साथ पर्वत को उखाड़ कर इधर-उधर ले जाते रहे हैं, जैसे हाथी वृक्षों को उखाड़कर इधर-उधर ले जाते हैं। इस प्रकार हमारे सुभटों के अनेकरूप पराक्रम को तुम देखो।

२३. महाभुजैर्नः प्रभुरीदृशैर्वृतः, स दुःप्रधर्षो मनसापि वज्रिणा ।
यदीयदोर्दण्डपविप्रथाहता[1], महीभृताः सागरमाश्रयन्ति हि ।।

हमारे स्वामी बाहुबली ऐसे राजाओं से परिवृत हैं कि इन्द्र उन्हें मन से भी पराजित नहीं कर सकता। उनकी भुजारूपी वज्र की धारा से आहत राजा समुद्र में जा आश्रय लेते हैं।

२४. अमुष्य नामापि बभूव शूलकृद्, विरोधिनां मूर्धनि निःप्रतिक्रियम्[2]।
रसायनं नः प्रणिपाततः प्रभोः, परं न तस्यास्ति महीतलेऽखिले ।।

---

१. पविः—वज्र (शतकोटिः पविः शम्बोः—अभि० २।९४)

२. निःप्रतिक्रियम—प्रतीकाररहितम् ।

दूत ! बाहुबली का नाम भी वैरियों के शिर में अचिकित्स्य शूलरोग पैदा करने वाला है। हमारे उन स्वामी के समक्ष नतमस्तक होने के अतिरिक्त सारे पृथ्वीतल में इस शूलरोग की चिकित्सा के लिए कोई रसायन नहीं है।

२५. भुजंगराजं वसुधैकधुर्वहं, भुजस्य दायादमवेक्ष्य[1] नो नृपम्।
प्रयान्तमित्येत्य जगाद नागराट्, रसा[2] सहस्रै[3] रुपगीयते भवान्॥

दूत ! नागराज ने हमारे स्वामी को भुजंगों के अधिपति (नागजाति के स्वामी), भूमि की धुरा को एकमात्र धारण करने वाले और बाहु के स्पर्द्धक जानकर उनके प्रयाण के समय आकर कहा—'राजन् ! मैं हजार रसनाओं से आपका गुणगान करता हूं !'

२६. अमुष्य सैन्याश्वखुरोद्धतं रजः, पतिं द्विजानां[1] सकलङ्कमाधित।
सकंपमारातिमनोप्यहर्निशं, वरं नदीनामपि[2] पङ्किलं किल[3]॥

यह विश्रुत है कि बाहुबली की सेना के घोड़ों के खुरों से उठे हुए रजकणों ने चन्द्रमा को कलंकित कर दिया, शत्रुओं के मन को रात-दिन कंपित किए रखा और समुद्र को पंकिल कर डाला।

२७. स्वतातजन्मोत्सववारिणार्चितः, स्वयं सुमेरुर्गमितो न चूर्णताम्।
महेन्द्रमुष्ट्या शतकोट्यहीनया, वयं हृदेवं परितर्कयामहे॥

हम मन में ऐसी वितर्कणा करते हैं कि महाराज बाहुबली की वज्र के समान शक्तिशाली मुट्ठी ने स्वयं सुमेरु पर्वत को चूर्ण नहीं किया क्योंकि वह पर्वत उनके पिता ऋषभ के जन्मोत्सव के जल से अर्चित था। (अन्यथा मुट्ठी उस पर्वत को चूर्ण कर डालती।

२९. महाप्रतापानलतापितं द्विषद् - बलैकताम्र[1] च रसेन्द्रयोगतः[2] ।
अमुष्य तेजः कनकं दिने दिने, भवत्यनूनैरमलप्रभाभरैः[3] ॥

दूत ! शत्रुओं के बल से ताम्र (रक्तिम) बना हुआ बाहुबली का तेज महा प्रतापरूपी अग्नि में तप्त होकर राजाओं के योग से प्रतिपल परिपूर्ण अमल प्रभाराशि से युक्त कनक हो रहा है, जैसे तीव्र अग्नि में तप्त ताम्र पारद के योग से स्वर्ण बन जाता है ।

३०. न सांयुगीनो[4] मम कश्चिदाहवे[5], विचिन्तयत्येवमहर्निशं त्वसौ ।
अतः क्षितीशो मनुते समागतं, रणं क्षणीकृत्य[6] महाभटैर्वृतः ॥

हमारे स्वामी सदा यह सोचते हैं कि युद्ध में मेरा सामना करनेवाला कोई भी रणवीर नहीं है । अतः महान् भटों से परिवृत हमारे राजा समागत युद्ध को उत्सव के रूप में स्वीकृत करते हैं ।

३१. अयं विपक्षांस्तृणवन्नुमन्यते, त्वयं विपक्षैरतिरिच्यते गिरेः ।
अयं धुनीते रिपुसञ्चयं क्षणात्, त्वयं न कैश्चित् सुरशैलवद् धुतः ॥

बाहुबली अपने शत्रुओं को तृणवत् तुच्छ मानते हैं । शत्रुगण इन्हें पर्वत से भी अधिक महान् मानते हैं । ये शत्रुओं के समूह को क्षण-भर में कंपित कर देते हैं और ये मेरु पर्वत की भांति किसी से कंपित नहीं होते ।

३२ अनेन राज्ञा रजनीमणीयितं,[7] तदान्यभूपैः किल तारकायितम् ।
अतो निदेशोस्य[8] नृपैर्न लङ्घ्यते, त्वसौ निदेशं न दधाति कस्यचित् ॥

हमारे राजा चन्द्रमा के समान और दूसरे सभी नृप ताराओं के सदृश हैं । इसलिए कोई भी नृप इनके आदेश का उल्लंघन नहीं करता । किन्तु ये किसी का भी आदेश स्वीकार नहीं करते ।

---

१. ताम्र—रक्तिम ।
ताम्र—तांबा ।

२. रसेन्द्रः—रसायाः—भूम्याः, इन्द्रः—स्वामी—राजा ।
रसेन्द्र—पारद ।

३. पाठान्तरं—ऽधिकं विराजत्यमलप्रभाभरम् ।

४. सांयुगीनः—युद्ध में निपुण (सांयुगीनो रणे साधुः—अभि० ३।४५७)

५. आहव :—युद्ध (संग्रामाहव······अभि० ३।४६०)

६. क्षणीकृत्य—उत्सवीकृत्य ।

७. रजनीमणीयितम्—चन्द्रायितम् ।

८. निदेशः—आदेश, आज्ञा (आज्ञा शिष्टिर्निराङ्भ्यो देशो······अभि० २।१९१)

३८. सुगेयकृष्टाभिरुदग्रकन्धरं, मृगाङ्गनाभिः स विलोकितः क्वचित् ।
स शालिगोपीभि[1]रवीक्षितः क्वचित्, सविभ्रमं[2] विभ्रमवानदृष्टिभि[3]: ।।

वह दूत चला जा रहा था। कहीं-कहीं मधुर गेय से आकृष्ट हरिनियां ऊंची ग्रीवा किए हुए उसे देख रही थीं। कहीं-कहीं चावल के खेतों की रखवाली करनेवाली, कमनीय कटाक्ष दृष्टिवाली स्त्रियों ने उसे विभ्रम के साथ देखा।

३९. स राजधानीभिरनङ्गभूपते - रसस्य पूर्वस्य च[4] केलिसद्मभिः[5] ।
तरङ्गितामोदभरः पुरन्ध्रिभिः[6], व्यलङ्घत ग्रामपुराण्यनेकशः ।।

कामदेव की राजधानी और शृंगार रस की क्रीडागृह स्वरूप स्त्रियों के पास से गुजरते हुए दूत का आमोद तरंगित हो रहा था। इस प्रकार उसने अनेक गांव और पुर पार किए।

४०. चरः पुरो गन्तुमथैहत त्वरां, महीधरोत्साह इवाङ्गवानयम् ।
न हि त्वरन्ते क्वचिदर्थकारिणो, विलम्बनं स्वामिपुरो हिताय नो ।।

दूत आगे बढ़ने के लिए शीघ्रता करने लगा, मानो कि महाराज भरत का उत्साह मूर्तिमान हो रहा हो। प्रयोजन की पूर्ति करनेवाले पुरुष क्या त्वरा नहीं करते? अवश्य करते हैं, क्योंकि विलम्ब करना स्वामी के लिए हितकर नहीं होता।

४१. विलङ्घिताध्वा कतिचिद् दिनैश्चरः, पुरीप्रदेशान् जितनाकविभ्रमान्[7] ।
सरःसरित्काननसंपदाञ्चिता - नुपेत्य संप्रापयदुत्सवं दृशोः ।।

कई दिनों तक चलते-चलते मार्ग को पार कर दूत तक्षशिला के पासवाले प्रदेशों में आया। वे प्रदेश स्वर्ग की शोभा को जीतनेवाले तथा तालाब, नदी और कानन की संपदा से युक्त थे। उन्हें देखकर दूत की आंखों में उत्सव-सा छा गया।

---

१. शालिगोपीभिः—कलमरक्षिकाभिः।
२. सविभ्रमं—सविलासं।
३. कमनीय कटाक्ष दृष्टिवाली नारियों ने।
४. पूर्वस्य रसस्य—प्रथमस्य रसस्य—शृंगाराख्यस्य रसस्य।
५. केलिसद्मभिः—क्रीडावसतिभिः।
६. पुरन्ध्री—वैसी स्त्री जिसके पुत्र, नौकर आदि हों। (अभि० ३।१७७)
पुरंध्रि शब्द में 'ईप्' का आगम विकल्प से होता है—पुरंध्रिशब्दस्य ईपागमो वा (पञ्जिका पत्र ३) यहां यह शब्द 'इकारान्त' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है।
७. नाकः—स्वर्ग (भुविस्तविपताविपौ नाकः—अभि० २।१)

४२. पुरी परीतेयमनेकशो हयै - र्नभोंशुमत्सप्ततुरङ्गमाङ्कितम् ।
स्मयाद् विहस्येति खुरोद्धुरं रजः, क्षिपद्भिरुच्चैश्चलताञ्चितक्रमैः ॥

४३. वनायुदेश्यैः पवनातिपातिभि-स्तिरः क्षिपद्भिस्त्वति वारिधौ रजः ।
अयं रजोभिर्यदि पूर्यतेऽखिलो, रयस्तदा नः स्खलति क्वचिन्न हि ॥

४४. खलूरिकाकेलिनिबद्धलालसै[1]:, ससैन्धवैः[2] सादि[3]मनोनुगामिभिः ।
नितान्तमभ्याशवशाल्पितक्लमैः, समुच्छलत्केसरकेशराजिभिः[4] ॥

४५. क्रमं विनीतैरिव नावलङ्घितुं, कृतप्रयत्नं परिधारितैर्मुहुः ।
अखेदमेदस्विबलै[5]र्महाभुजै - स्तरङ्गितास्तस्य मुदस्ततो हयैः ॥

—चतुर्भिः कलापकम् ॥

जब वह दूत तक्षशिला में आया तब उसने वहाँ अनेक प्रकार के घोड़े देखे। वे घोड़े चपलता युक्त चरणों से चलते हुए तथा अहंकारवश परिहास करते हुए अपने खुरों से उखड़े हुए रजःकणों को आकाश में यह मानकर उछाल रहे थे कि यह तक्षशिला नगरी अनेक घोड़ों से संयुक्त है, जबकि यह आकाश सूर्य के केवल सात घोड़ों से ही अंकित है।

पवन से भी अति तीव्र गति से चलनेवाले 'वनायु देश' के घोड़े समुद्र में रजःकणों को तिरछी फेंक रहे थे। वे मान रहे थे कि यदि यह सारा समुद्र रजःकणों से भर जाए तो उनका वेग कहीं भी स्खलित नहीं होगा।

वनायु देश के घोड़ों के साथ-साथ सिन्धु देश के घोड़े भी थे। वे शस्त्राभ्यास की भूमि में क्रीड़ा करने की लालसावाले, घुड़सवार के मनोनुकूल चलनेवाले तथा नितान्त अभ्यास के कारण न्यून श्रमवाले थे। वे गले पर के उछलते हुए केशों से शोभित हो रहे थे।

विनीत शिष्यों की भांति क्रम (चरण-विन्यास) का उल्लंघन न हो, इस दृष्टि से प्रयत्नपूर्वक चलनेवाले, अनायास पुष्ट पराक्रम और महाभुजावाले वे घोड़े दूत के हर्ष को तरंगित कर रहे थे।

---

१. खलूरिका—शस्त्राभ्यास करने का मैदान—(खुरली तु श्रमो योग्याभ्यासस्तद्भूः खलूरिका—अभि० ३।४५२)

२. सैन्धव :—सिन्धु देश में उत्पन्न अश्व।

३. सादी—घुड़सवार (अश्वारोहे त्वश्ववारः, सादी च तुरगी च सः—अभि० ३।४२५)

४. केसरकेश—अश्व के गलों के केश।

५. अखेदमेदस्विबलैः—अनायासपुष्टपराक्रमैः (पञ्जिका पत्र ४)

४६. स सिंधुरैः[1] सन्निहिताभ्रमुप्रिय - भ्रमै[2]र्भ्रमद्भ्रामरवर्द्धितक्रुधैः ।
चलन्नगेन्द्रै रिव वारण[3]च्छलात्, कपोलपालीविगलन्मदाम्बुभिः[4] ॥

४७. रदद्वयीचिन्हितवप्रभित्तिभि - र्निजप्रतिच्छायरुषा पुनः पुनः ।
निषादिदूरीकृतमानवे[5] पथि, व्रजद्भिरानन्दितलोचनो ययौ ॥

—युग्मम् ।

वह दूत हाथियों के साथ-साथ चल रहा था। उसकी आँखें आनन्द-विभोर हो रही थीं। वे हाथी समीपस्थ ऐरावत हाथी का भ्रम पैदा कर रहे थे। कुंभस्थल पर मंडराने वाले भ्रमरों के कारण उनका क्रोध वढ़ रहा था। वे ऐसे लग रहे थे मानो कि हाथियों के मिष से वे चलते-फिरते हिमालय पर्वत हों। उनके कपोल के कोने से मद भर रहा था।

अपनी प्रतिच्छाया से रुष्ट होकर उन्होंने अपने दोनों दाँतों से दुर्ग की भित्तियों को चिन्हित कर दिया था। महावत मनुष्यों को मार्ग से हटा रहे थे। उस निर्विघ्न मार्ग पर वे हाथी संचरण कर रहे थे।

४८. विरोधिलक्ष्मीकवरीविडम्बिनं[6], जयश्रियः पाणिमिवासि[7]मुद्वहन् ।
करेण शौर्योल्लसदासुरीकचः[8], पदातिवर्गो ददृशेऽमुना पुरः ॥

दूत ने आगे चलकर पैदल सैनिकों को देखा। वे अपने हाथों में विरोधियों की लक्ष्मी की केश-रचना को विडंबित करनेवाली तलवारों को ग्रहण किए हुए थे। मानो कि वे विजयश्री के हाथ को पकड़े हुए हों। पराक्रम से उनकी दाढ़ी-मूंछ के केश उल्लसित हो रहे थे।

४९. अयं रसो वीर इवांङ्गवान् स्वयं, रतीश्वरो[9]वा किमिहागतः पुनः ।
क्वचिद् धनुर्बाणधरं भटोच्चयं, स वीक्ष्य तत्रैवमतर्कयत्तराम् ॥

नगर के परिसर में कहीं-कहीं धनुर्धारी भटों के समूह को देखकर दूत ने यह

१. सिन्धुरः—हाथी (स्तम्बेरमद्विरदसिन्धुरनागदन्तिनः—अभि० ४।२८३)
२. अभ्रमुप्रियः—ऐरावत हाथी (ऐरावतो हस्तिमल्लः श्वेतगजोऽभ्रमुप्रियः—अभि० २।९१)
३. वारणः—हाथी (मातङ्गवारण······अभि० ४।२८३)
४. पाली—कोना (कोटिः पाल्यस्त्र इत्यपि—अभि० ४।७९)
५. निषादी—महावत (हस्त्यारोहे सादियन्तृमहामात्रनिषादिनः—अभि०३।४२६)
६. कवरी—केश-रचना (केशवेषे कवर्यथ—अभि० ३।२३४)
७. असिः—तलवार।
८. आसुरीकचः—दाढी-मूंछ के बाल—(आसुरीकचाः—कूर्चकेशाः—पञ्जिका पत्र ४)
अभिधान चिन्तामणि कोश में दाढी का नाम 'मासुरी' है। कवि ने 'आसुरी' का प्रयोग किया है।
९. रतीश्वर :—कामदेव।

विचार किया—'क्या वीर रस मूर्त होकर यहाँ आ गया है अथवा कामदेव स्वयं यहाँ उपस्थित हुआ है ?'

५०. नियन्तु[1]रानेमिविवृत्तिहारिभि[2]र्गुरोर्विनेयैरिव जीर्णपद्धतिम्[3] ।
अलङ्घयद्भिर्हृदयानुगामिभिः, सदा कुलीनै[4]रपि युग्यवाहिभिः[5] ।।

५१. रथैरथाङ्गध्वनिवन्धवन्धुरै[6]-श्चलद्भिरावासवरैरिवोरुभिः ।
स कौतुकाकूतविलोलमानसः, प्रहृष्टदृष्टिर्नगरीमवाप सः ।।

युग्मम् ।

दूत ने रथों को देखा। वे रथ अपने नियन्ता द्वारा डाले हुए प्राचीन पथ का कभी उल्लंघन नहीं करते थे। वे चक्रधारा तक परावृत्ति करने के कारण मनोहर लग रहे थे। वे हृदयानुगामी और सदा कु—पृथ्वी पर लीन रहते थे। वे बैलों द्वारा खींचे जा रहे थे। वे पहियों की होनेवाली सतत ध्वनि से मनोज्ञ लग रहे थे। वे इतने विशाल थे कि मानो वे चलते-फिरते घर हों। कुतूहल के अभिप्राय से चंचलचित्त और प्रमुदित नयनवाला वह दूत उन रथों को देखता हुआ तक्षशिला नगरी में पहुंचा।

५२. चरः पुरः पूःपरिखां पयोभृतां, विलोक्य पाथोधिरयं किमागतः ।
निषेवितुं वाहुबलिं बलात् स्वयं, निजां श्रियं रक्षितुमित्यचिन्तयत् ।।

दूत ने आगे नगरी की खाई को पानी से भरा हुआ देखकर सोचा—'क्या समुद्र बाहुबली की उपासना करने के लिए तथा बलात् अपनी लक्ष्मी की रक्षा करने के लिए यहाँ स्वयं आ गया है ?'

५३. चरः सरत्नस्फटिकाश्मभित्तिकं, विलोक्य वप्रं त्विममूहमातनोत् ।
श्रियं पुरा वीक्षितुमात्मनः क्षिता-वयं किमादर्शवरः प्रकल्पितः ।।

दूत ने रत्न-खचित तथा स्फटिक पत्थरों से निर्मित वप्र को देखकर सोचा—'क्या इस

१. नियन्ता—सारथि (नियन्ता प्राजिता······सारथी—अभि० ३।४२४)

२. आनेमि—आचक्रधारं,विवृत्तिः—परावृत्तिश्चंक्रमणं, तेन हारिभिः मनोज्ञैः—रथैः (पञ्जिकापत्र ४)

३. जीर्णपद्धतिम्—पुराणमार्गम् ।

४. कुलीनैः—कुः—पृथ्वी, लीनैः—प्रसक्तैः—पृथ्वी से लगे रहने वाले ।

५. इस श्लोक में रथ और विनेय-शिष्य की तुलना की गई है। विनेयपक्षे—किं कुर्वद्भिः विनेयैः—गुरोः जीर्णपद्धतिं—वृद्धपंक्ति अलंघयद्भिः । आनेमि—आमर्यादं, विवृत्तिं—विशिष्टवर्तनं हरंति—गृह्णन्ति, इत्येवंशीलास्तैः। कुलीनैः—कुलोद्भवैः। (पञ्जिका पत्र ४)

६. रथाङ्गध्वनिवन्धवन्धुरैः—चक्रनादबंधमनोज्ञैः (पञ्जिका पत्र ४)

नगरी ने स्वयं की शोभा को देखने के लिए पृथ्वीतल पर इस सुन्दर दर्पण की रचना की है?'

५४. अथो पुरीद्वारमवाप्य संकुलं, रथद्विपाश्वैः स कथंचिदासदत्।
प्रवेशमावेश इवान्तराशयं, ततक्षमं योगभृतां स विस्मयः ॥

नगरी के द्वार का मैदान बहुत विस्तीर्ण था फिर भी आने-जानेवाले रथों, हाथियों और अश्वों से वह संकुल हो रहा था। विस्मित दूत ने बड़ी कठिनाई से उसमें प्रवेश पाया, जैसे योगियों के विशाल क्षमा वाले अन्तर् आशय में आवेश बड़ी कठिनाई से प्रवेश पाता है।

५५. पुरोन्तरं प्राप्य तटं पयोनिधे - रिवोरुमुक्ताफलरत्नराजितम्।
चरो दृशं दातुमभून्न तु क्षमो, गजाश्वसंघट्टभयात् सवेपथुः[1] ॥

दूत नगर के मध्यभाग में आया। वह स्थान समुद्र के तट की भाँति अत्यन्त विशाल और मोतियों तथा रत्नों से सुशोभित था। दूत हाथी और घोड़ों के संघट्टन के भय से प्रकंपित होने के कारण उस स्थान को देख ही नहीं सका।

५६. इहापणश्रेणिभिरद्भुतश्रिया, मनोरमाभिः कृतलोचनोत्सवः।
चतुष्क[2]मागाद् बहुवस्तुसंचय - प्रपातदुःप्रापधरातलं त्वसौ ॥

दूत चौराहे पर आया। वहाँ अनेक प्रकार की वस्तुओं का संचय था। कहीं भी धरातल दिखाई नहीं दे रहा था। वहाँ अद्भुत संपदा से युक्त सुन्दर दूकानों की श्रेणियां थीं। उन्हें देखकर दूत की आंखों में उत्सव-सा उतर आया।

५७. सुवर्णकुम्भस्तनशालिनीं स्फुरत् - सुवृत्तमुक्ताफलराशिसुस्मिताम्।
विशालनेत्रां[3] स्फुटविद्रुमाधरां, चतुष्कभूवारवधूं[4] स ऐक्षत ॥

दूत ने चौराहे की भूमी को एक वेश्या के रूप में देखा। वह भूमी स्वर्ण के कलश-रूपी स्तनों से मंडित, चमकदार गोल मोतियों की राशि के मिष से हंसने वाली, विशाल नेत्रों वाली (वस्त्रों की विशाल राशि से युक्त) तथा स्फुट विद्रुम रूपी अधरों वाली थी।

---

१. सवेपथुः—सकम्पः।

२. चतुष्कं—चौराहा (चतुष्पथे तु संस्थानं चतुष्कं—अभि० ४।५२.)

३. विशालनेत्रां—पृथुवस्त्रां, पक्षे विशालनयनां—पञ्जिका पत्र ४।

४. वारवधू—वेश्या (अभि० ३।१९७)

५८. क्वचित्[1] सरामाऽथ सलक्ष्मणा क्वचित्, क्वचित्ससुग्रीवबला सुधामभिः[2]।
अलङ्कृता वीरवरैश्च तस्य पूः, प्रमोदमीक्ष्वाकुपुरीव साऽपुषत् ॥

तक्षशिला नगरी ने ईक्ष्वाकु नगरी अयोध्या की भाँति दूत की प्रसन्नता को पुष्ट किया। वह नगरी कहीं सुन्दरियों से, कहीं धनवानों से, कहीं अच्छे ग्रीवा वालों से तथा अच्छे प्रासाद और वीर सुभटों से अलंकृत थी।

५९. स शंखकुन्देन्दुवलक्ष[3]रोचिषो, यशश्चयाकर्तु रिवोद्भवत्क्षणान्।
पुरीविहारानवलोक्य[4] दूरतः, सुधामयान् प्रापदतुच्छसंमदम् ॥

दूर से ही तक्षशिला नगरी के सफेद कली से पुते हुए प्रासादों को देखकर दूत अत्यन्त आनन्दित हुआ। वे शंख, कुन्द और चन्द्रमा के समान धवल कांति वाले थे। वे ऐसे लग रहे थे मानो कि वे उनके निर्माता के यशः-समूह हों, उत्पद्यमान उत्सव हों।

६०. चलन्मृगाक्षीनवहेमभूषणप्रकामसंघट्टपतिष्णुरेणुभिः।
विनिर्मितस्वर्णनगावनिभ्रमं[5], स राजमार्गं गतवांस्ततः परम् ॥

उसके बाद वह दूत राजमार्ग पर जा पहुँचा। उसे देखकर दूत को स्वर्णगिरि—मेरु की भूमि का भ्रम हो गया, क्योंकि उस मार्ग पर चलनेवाली सुन्दरियों के नव-निर्मित स्वर्ण-आभूषणों के अधिक संघर्षण के कारण स्वर्ण-रजकण नीचे गिर कर ऐसा भ्रम पैदा कर रहे थे।

६१. अनेकराजन्यरथाश्ववारणैर्निविद्धसंचारमिवावनीरुहैः।
वनायनं विश्वजनेक्षणक्षणप्रदं प्रलीनारिमनोरथं ततः ॥

६२. क्वचिच्च वैडूर्यमणिप्रभाभरैः, कृताम्बुदभ्रान्तिमनोज्ञविभ्रमम्।
सपद्मरागांशुभिरर्पिताशनिभ्रमं सशुद्धस्फटिकाश्मकान्तिभिः ॥

---

१. इस श्लोक में तक्षशिला नगरी की अयोध्या से तुलना की गई है। कई शब्दों का श्लेष मननीय है। किं विशिष्टा सा पूः—क्वचित् सरामा—सस्त्रीका। अयोध्यापक्षे—सरामचन्द्रा। सलक्ष्मणा—लक्ष्मणाः—धनाढ्यास्तैः सह वर्तमाना। अयोध्यापक्षे—ससुमित्रातनया। ससुग्रीवबला—सशोभनशिरोधररूपा। अयोध्यापक्षे—सुग्रीवो—वानरेश्वरस्तस्य बलं—सैन्यं, तेन सह वर्तमाना।

२. सुधामभिः—इसको स्वतन्त्र मानने से इसका अर्थ होगा'''सु—श्रेष्ठ, धामभिः—प्रासादों से। और 'वीरवरैः' का विशेषण मानने से इसका अर्थ होगा'''सु—श्रेष्ठ, धामभिः—तेज से युक्त।

३. वलक्षः—सफेद (अवदातगौरशुभ्रवलक्षधवलार्जुनाः—अभि० ६।२९)

४. विहारः—प्रासाद।

५. स्वर्णनगः—मेरुपर्वत।

६३. चलद्बलाका[1]भ्रमदं सविद्रुमार्जुनांशुभिर्दत्तसुरायुधभ्रमम्[2] ।
घरो नृपद्वारमवाप वेत्रिभिर्निवारितस्वैरगमागमं क्रमात् ॥

—त्रिभिर्विशेपकम् ।

राजमार्ग से चलता हुआ दूत राज-प्रासाद के द्वार पर पहुंचा । अनेक राजाओं के रथों, घोड़ों और हाथियों के कारण उसमें संचरण करना निपिद्ध सा हो रहा था जैसे कि वृक्षों के कारण वनमार्ग संचरण योग्य नहीं रहता । वह द्वार सभी लोगो की आंखों को आनन्दित तथा शत्रुओं की अभिलापा को क्षीण कर रहा था । वह कहीं-कहीं वैडूर्य और मणियों के किरण-समूहों से वादल की भ्रान्ति पैदा कर रहा था । वह मनोज्ञ और सुन्दर था । वह पद्मराग मणि की किरणों से विद्युत् का भ्रम, विशुद्ध स्फटिक पत्थर की कान्ति से चलती हुई वलाकाओं (वगुलियों) का भ्रम और प्रवाल के साथ स्वर्ण किरणों के मिश्रण से इन्द्रधनुष का भ्रम पैदा कर रहा था । द्वारपालों ने स्वच्छन्दता पूर्वक उसके भीतर आने-जाने का मार्ग अवरुद्ध कर डाला था ।

६४. चरन्तमायान्तमुदीक्ष्य वेत्रिणः , क एष वैदेशिक इत्युदीरयन् ।
चरः प्रभोः कस्य कुतस्त्वमागतः , प्रभोर्निदेशात् प्रविविक्षुरत्र नः ॥

द्वारपालों ने दूत को आते हुए देखकर सोचा—'यह कौन परदेशी व्यक्ति आ रहा है ?' जब वह पास में आया तव उन्होंने पूछा—'तुम किस राजा के दूत हो ? तुम कहां से आए हो ? हमारे स्वामी वाहुवली की आज्ञा से ही तुम भीतर प्रवेश पा सकते हो ।'

६५. अयं वभाषे प्रथमस्य चक्रिणश्चरो भवत्स्वामिनमागतस्ततः ।
अखण्डषट्खण्डनरेन्द्रमौलिभिर्नतक्रमः श्रीभरतः प्रशास्ति याम् ॥

दूत ने कहा—'मैं प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत का दूत हूं । आपके स्वामी महाराज वाहुवली के पास आया हूं । मैं उस अयोध्या या कौशल देश से आ रहा हूं जहां के अनुशास्ता महाराज भरत हैं, जिनके चरणों में छह खंडों के राजा नतमस्तक होते हैं ।

६६. ततो निवद्धाञ्जलयो नृपं च ते , समेत्य नत्वा स्मवदन्ति वेत्रिणः ।
चरो युगादेस्तनयस्य चक्रिणो , निवारितो द्वारि विलम्वते[3] विभो ! ॥

तव वे द्वारपाल महाराज वाहुवली के पास गए और हाथ जोड़, नतमस्तक होकर

---

१. वलाका—वगुली (वलाका विसकण्ठिका—अभि० ४।३९९)
२. विद्रुमः—प्रवाल । अर्जुनं—स्वर्ण (तपनीयचामीकरचन्द्रभर्माऽर्जुन—अभि ४।११०)
सुरायुधं—इन्द्रधनुप ।
३. विलम्वते—प्रतीक्षते (पञ्जिका पत्र ५)

बोले—'प्रभो ! वृषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत के पास से एक दूत आया है। वह द्वार पर निवारित होकर आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहा है।'

६७. नटीकृतानेकमहीभुजो भ्रुवः, ससंज्ञयादेशविधायिवेत्रिभिः।
प्रवेशयामास चरं धराधिपो, विवेकवान् न्यायमिवातुलैर्गुणैः॥

अनेक राजाओं को नचानेवाली भौंहों का संकेत पाकर आज्ञाकारी द्वारपालों ने दूत को अन्दर प्रवेश करने दिया, जैसे विवेकी पुरुष असाधारण गुणों से न्याय को प्रवेश कराता है।

६८. विचित्रचित्रं मणिभिः समाचितं[1], परिज्वलत्काञ्चनभित्तिभूषितम्।
ततः प्रविष्टः स नृपालयान्तरं, विशिष्टमिन्द्रालयतोऽपि सच्छ्रियः॥

बाहुबली का आदेश पाकर दूत ने राज-प्रासाद के अन्तराल में प्रवेश किया। उसका भीतरी भाग विविध चित्रों से चित्रित, मणियों से खचित, चमकदार स्वर्ण की भित्तियों से विभूषित और वैभव की दृष्टि से इन्द्रालय से भी विशिष्ट था।

६९. चरः सचित्रार्पितसिंहदर्शनाद्, विलङ्घिताऽऽधोरण[2]तीव्रयत्नतः।
गजाद् विवृत्तान् मदवारिसौरभागतद्विरेफात् क्वचिदप्यशङ्कत॥

प्रासाद के किसी एक भाग में दूत ने देखा कि एक हाथी चित्रित सिंह के दर्शन से भयभीत होकर पीछे मुड़ गया है। उसने महावत के अंकुश प्रहारों की कोई परवाह नहीं की। उस हाथी के झरते हुए मद की सुगंधी से भौंरे आ रहे थे। दूत उस हाथी से डर गया।

७०. स इन्द्रनीलाश्मनयैकमण्डपं, विलोक्य मेघागममेघविभ्रमम्।
गजेन्द्रगर्जारव[3]नृत्तबर्हिणं, बभार संभारमयं मुदां ततः॥

उस दूत ने इन्द्रनील मणियों से निर्मित मंडप को देखा। वह वर्षा ऋतु के मेघ जैसा शोभायमान हो रहा था। वहाँ हाथियों की चिंघाड़ को सुनकर (उसे मेघ का गर्जारव मानकर) मयूर नाचने लगे। उस मंडप को देख दूत अत्यन्त हर्षित हुआ।

७१. ततौजसं सोऽथ सभासदां वरैर्विराजितं तीक्ष्णकरं ग्रहैरिव।
शशाङ्कमृक्षैरिव वासवं सुरैरिव द्विपेन्द्रं कलभैरिवानिशम्॥

---

१. समाचितं—खचितं।

२. आधोरणः—महावत (आधोरणा हस्तिपका गजाजीवेभपालकाः—अभि० ३।४२१)

३. गर्जारवः—हाथियों के चिंघाड़ की आवाज (गर्जस्य आरवः अथवा गर्जायाः रवः)।

७२. ततायतां द्यामिव सर्वतः समां, समां सुधर्मामिव संश्रितश्रियम्।
धृतैकमूर्ति बहुमूर्तितां गतं, सरत्नचामीकरभित्तिसंक्रमात्॥

७३. अपूर्वपूर्वाद्रिमिवांशुमालिनं, महामृगेन्द्रासनमप्यधिष्ठितम्।
महोभिरुद्दीपितसर्वदिग्मुखैर्वपुर्दुरालोकमलं च बिभ्रतम्॥

७४. मिमानमन्तर्न दधानमुच्चकैर्यशो बहिर्यातमिवैकतां गतम्।
सुधाब्धिडिण्डीरभरानवस्करं[2], सितातपत्रच्छलतो नृपोपरि॥

७५. किमुर्वशीभिः[3] सुहृदा बलद्विषा[4]प्युपास्तुमेनं प्रहिताभिरागलम्।
विलासिनीभिर्दधतीभिरित्यमुं, वितर्कमुद्वेल्लितचामरोभयम्।

७६. प्रकाममंसार्पितहारहारिणं, सनिर्भरं मेरुमिवोन्नतप्रथम्[5]।
यशः प्रतापाभिहतेन्दुभास्कराश्रितं स्वकर्णार्पितकुण्डलच्छलात्॥

७७. भुजद्वयीशौर्यमिवाक्षिगोचरं, चरो महोत्साहमिवाङ्गिनं पुनः।
चकार साक्षादिव मानमुन्नतं, वसुन्धरेशं वृषभध्वजाङ्गजम्॥

—सप्तभिः कुलकम्।

दूत ने उस मण्डप में विराजमान ऋषभ के पुत्र महाराज बाहुबली को साक्षात् देखा। उनका तेज चारों ओर फैल रहा था। वे श्रेष्ठ सभासदों से वैसे ही शोभित हो रहे थे जैसे सूर्य ग्रहों से, चन्द्रमा नक्षत्रों से, इन्द्र देवताओं से और यूथपति हाथी अपने कलभों (तीस वर्ष की उम्र वाले हाथियों) से शोभित होता है। वे सभा की शोभा से युक्त थे। उनकी सभा सुधर्मा सभा की भाँति चारों ओर से सम और आकाश की भाँति लम्बी-चौड़ी थी। बाहुबली एकरूप (अकेले) थे किन्तु मणियों से खचित स्वर्णमय भित्तियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण बहुरूप हो रहे थे। वे महान् सिंहासन पर आसीन थे। वे उस समय ऐसे लग रहे थे मानो कि अपूर्व उदयाचल पर सूर्य आसीन हो। वे अपनी रश्मियों से सभी दिशाओं के आनन को उद्दीपित कर रहे थे। उनका शरीर तेज के कारण दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था।

महाराज बाहुबली के शिर पर श्वेत छत्र था। वे ऐसे लग रहे थे मानो कि उस छत्र के मिष से वे यश को धारण कर रहे हैं। वह यश क्षीर समुद्र के फेनों की तरह

---

१. द्यां—आकाशम्।

२. डिण्डीरः—समुद्र का फेन (डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः—अभि० ४।१४३)। अनवस्करं—विशुद्ध (निःशोध्यमनवस्करम्—अभि० ६।७२)

३. उर्वशी—अप्सरा (स्वः स्वर्गिवध्वोऽप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः—अभि० २।९७)

४. बलद्विट्—इन्द्र (बल नामका राक्षस है शत्रु जिसका वह—अर्थात् इन्द्र)

५. उन्नतप्रथम्—उत्तुंगप्रख्यानं—उन्नत ख्यातिवाले।

अत्यन्त विशुद्ध (धवल), अन्दर न समाता हुआ, एकीभूत होकर सारा का सारा बाहर आ गया हो—ऐसा प्रतीत हो रहा था ।

उनके दोनों ओर दो रमणियां चामर डुला रही थीं । उन रमणियों को देखकर मन में यह वितर्कणा उत्पन्न हो रही थी कि क्या महाराज बाहुबली के मित्र इन्द्र ने इन उर्वशियों (अप्सराओं) को बाहुबली की उपासना करने के लिए भेजा है ?

बाहुबली गले में पहने हुए हार के कारण उन्नत ख्यातिवाले परिपूर्ण मेरु की भांति सुन्दर लग रहे थे । उनके यश और प्रताप से पराजित चन्द्रमा और सूर्य, कानों में पहने हुए कुंडल के मिष से उनका आश्रय ले रहे थे ।

वे ऐसे लग रहे थे मानो कि बाहु-युगल का शौर्य दृष्टिगोचर हो रहा हो, वीर रस मूर्तिमान् हो रहा हो तथा उन्नत अहंकार साक्षात् हो रहा हो ।

७८. स दर्शनात् क्षोणिपतेः प्रकंपितो , ज्वलत्कृशानोरिवतीव्रतेजसः ।
न लोचनाभ्यामपि यं विलोकितुं , क्षमे मयेर्यः[1] स किमित्यलर्कयत् ।।

तीव्र तेजवाली जलती हुई अग्नि को देखकर जैसे कोई पुरुष प्रकंपित हो जाता है वैसे ही बाहुबली को देखकर दूत प्रकंपित हो गया । उसने सोचा—"जिनको मैं आंखों से भी देख नहीं सकता, उनके सामने मैं कैसे बोलूं ?"

७९. भरतनृपतिचारः सोऽथ संयोज्य पाणी ,
क्षितिपतिमवनम्यात्यन्तपुण्योदयाढ्यम् ।
विधिवदवनिनाथस्याग्रतः सन्निविष्टः ,
क्वचिदपि हि विधिज्ञा नैव लुम्पन्ति मार्गम् ।।

महाराज भरत के दूत ने हाथ जोड़कर विपुल पुण्य के उदय से सम्पन्न महाराज बाहुबली को प्रणाम किया । वह उनके सम्मुख विधिवत् बैठ गया । क्योंकि विधि को जानने वाले कहीं भी मार्ग—परंपरा का लोप नहीं करते ।

—इति भरतदूतागमो नाम प्रथमः सर्गः—

—+—

१. ईर्यः—वाच्यः ।

दूसरा सर्ग

प्रतिपाद्य—	महाराज बाहुबली की सभा में भरत के दूत का आगमन और सन्देश-कथन।
श्लोक परिमाण—	९६
छन्द—	उपजाति। यह इन्द्रवज्रा छन्द और उपेन्द्रवज्रा छन्द के मिश्रण से बनता है। इसके कीर्ति, माला, शाला, हंसी आदि १४ भेद हैं।
लक्षण—	इन्द्रवज्रा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ ज गौ ग:' (दो तगण, एक जगण, दो गुरु—ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽऽ)
	उपेन्द्रवज्रा—'उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा' (गण इन्द्रवज्रा जैसे ही, किन्तु चारों चरणों का प्रथम अक्षर ह्रस्व)।

कथावस्तु

दूत बाहुबली के सामने मौन बैठा था। बाहुबली ने उसके मनोगत भावों को जानकर भरत के साथ बिताये बचपन के कुछ रोचक संस्मरण प्रस्तुत किए। उन्होंने ज्येष्ठ भ्राता भरत के प्रति अपना सहज भ्रातृत्व व्यक्त करते हुए दूत के आगमन का कारण पूछा। दूत ने अपने आगमन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए महाराज भरत के प्रबल पराक्रम और ऐश्वर्य का उल्लेख किया। उनकी सेना के बल-पराक्रम का वर्णन करते हुए दूत ने नमि और विनमि के पराजय की बात कही। उसने यह भी कहा कि शेष ९८वें भाई महाराज भरत के अनुशासन को मान्यता दे चुके हैं। अब केवल एक आप ही शेष रहे हैं। दूत ने भरत और बाहुबली के ऐश्वर्य और पराक्रम की तुलना करते हुए बाहुबली को भरत के अनुशासन को स्वीकार करने की प्रेरणा दी। यह सुनकर बाहुबली का मुख लाल हो गया।

द्वितीयः सर्गः

१. अथाग्रतो बाहुबलेर्निविष्टो, विवक्षुरप्याह न किञ्चिदेषः ।
तेजोभिरेतस्य विघूर्णितात्मा[1], नृपा महोभिर्ह्यविलङ्घनीयाः ॥

बाहुबली के सामने बैठे हुए दूत का चित्त उनके तेज से विभ्रान्त हो गया। वह कुछ कहना चाहता था फिर भी कुछ नहीं कह सका, क्योंकि राजा अपने तेज के द्वारा अलंघनीय होते हैं।

२. न किञ्चिदूचानमवेक्ष्य दूतं, जगाद राजा विदिताशयार्थः ।
मुखेन दृष्ट्या च विदन्ति सर्वं, विचक्षणाः स्वान्तगतं हि भावम् ॥

विचक्षण व्यक्ति दूसरों के हृदयगत सभी भावों को उनकी आकृति और दृष्टि से जान जाते हैं। बाहुबली ने दूत के सभी अभिप्रायों को जान लिया। दूत को मौन देखकर वे बोले—

३. आसीत् तव स्वागतमप्ययोध्यागतस्य चैतावदखण्डमार्गे ।
त्वदागमात् तृप्तमिदं मनो मे, तृषातुरस्येव जलावलोकात् ॥

'दूत ! तुम अयोध्या से आए हो। समूचे मार्ग में तुम्हारा स्वागत हुआ होगा। जिस प्रकार जल को देखकर प्यासा व्यक्ति तृप्त हो जाता है, वैसे ही तुम्हारे आने से मेरा यह मन भी तृप्त हो गया है।

४. नितान्ततृष्णातुरमस्मदीयं, बन्धुप्रवृत्त्या[2] सुखयाद्य चित्तम् ।
दूरेस्तु धाराधरवारिधारा, सारङ्ग[3]मानन्दति गर्जिरेव ॥

दूत ! मेरा मन अपने बंधु (भरत) का वृत्तान्त जानने के लिए नितान्त आतुर रहता

---

१. विघूर्णितात्मा—विभ्रान्तचित्तः ।

२. बन्धुप्रवृत्त्या—भरतादिवृत्तान्तेन ।

३. सारङ्गः—चातक (सारङ्गोनभोम्बुपः—अभि० ४।३९५)

है। तुम उसको शान्त करो। बादल की जलधारा तो दूर, उसका गर्जारव भी चातक को आनन्दित कर देता है।

५. तास्ताः समस्ता इति बाललीलाः[1], सोत्कण्ठमातेनुरदोमनो नः।
दन्तावलाना[2]मपि दूरगानां, क्रीडाभुवो विन्ध्यगिरेरिवाद्य॥

जैसे दूर जंगल में विचरण करनेवाले हाथियों को विन्ध्य पर्वत के क्रीडा-स्थल उत्कंठित करते हैं, वैसे ही आज वे सारी बाल-लीलाएं मेरे मन को उत्कंठित कर रही हैं।

६. यस्याऽऽसमऽज्येष्ठतयाहमेव, बन्धुः स बन्धुर्भरतोऽद्य दृष्टः।
त्वद्दर्शनाद् दूत! पयोदकालः, शतह्रदा[3]दर्शनतो हि वेद्यः॥

भरत का मैं ही छोटा भाई हूँ। तुम्हें देखकर मैं मानता हूं कि मैंने भाई भरत को देख लिया। क्योंकि बिजली को देखकर वर्षाकाल जान लिया जाता है।

७. एनं भुजाभ्यामपसार्य दूरात्, प्रसह्य ताताङ्कमहं निषण्णः।
तातेन ते ज्येष्ठ इति प्रसाद्य, भ्रातायमत्यन्तमहं निषिद्धः॥

एक बार ऐसा हुआ कि मैं अपनी भुजाओं से इस (भाई भरत) को बलात् दूर कर पिता की गोद में जा बैठा। पिता ने 'यह तेरा बड़ा भाई है'—यह बात मनवा कर मुझे वैसा करने से रोका।

८. हठादपास्ता भरतस्य हस्तान्, मयेक्षुयष्टी रुदतोऽस्य कामम्।
विधाय खण्डं स्वयमेत्य तातैः, प्रत्यर्पितं नाववनेरिवास्याः॥

एक बार मैंने रोते हुए भरत के हाथ से हठात् गन्ने का टुकड़ा छीन लिया। पिताजी स्वयं आए। उसके दो टुकड़े कर हम दोनों भाइयों को एक-एक टुकड़ा दे दिया, मानो कि उन्होंने पृथ्वी के दो भाग कर हमें एक-एक भाग दे दिया हो।

९ गजं विनिर्यन्मदवारिधारं, कदाचिदारुह्य चरन् सलीलम्।
ज्यायानुपादाय हठादपास्तो, मयाम्बरेऽस्मान्निपतन् धृतश्च॥

एक बार झरते हुए मदवाले हाथी पर चढ़कर क्रीडा करने के लिए जाते हुए बड़े भाई

---

१. बाललीलाः—कुमारावस्थाक्रीडाः।
२. दन्तावल:—हाथी (दन्तावलः करटिकुञ्जरकुम्भिपीलवः—अभि० ४।२८३)
३. शतह्रदा—बिजली (आकालिकी शतह्रदा—अभि० ४।१७१)

भरत को मैंने उठाकर सहसा आकाश में उछाल दिया और नीचे गिरते हुए उसको झेल लिया।

१०. श्रीतातहंसेन[1] शमंगतेन[2], विदूरमुक्तास्त्ररुचा पदे स्वे।
न्यधायि यो वह्निरिवोरुतेजास्तस्यास्ति कच्चिद्[3] भरतस्य भद्रम्॥

मेरे पिताश्री शस्त्रों को दूर छोड़कर मुनि बन गए। उन्होंने अग्नि की तरह विस्तृत तेजवाले भरत को अपने पद पर नियुक्त किया। दूत! क्या उस भरत के कुशल-क्षेम है?

११. न्यवेशि तातेन भुजेऽस्य लक्ष्मीः, सत्क्षेत्रभूम्यामिव सस्यराजिः।
या शात्रवावग्रहशक्तिनाशात्, सा नीतिवृष्ट्या ववृधेऽधुनास्मात्॥

पिताश्री ने भरत की भुजाओं पर राज्यलक्ष्मी का भार उसी प्रकार रखा जिस प्रकार उपजाऊ भूमी में धान्य की राशि निविष्ट होती है। राज्य-लक्ष्मी शत्रुरूपी दुर्भिक्ष की शक्ति का नाश कर भरत की नीति रूपी वृष्टि से पोष पाकर बढ़ने लगी।

१२. परस्परामावहतोरपीहां, समानसौहार्दयुषोरपीह।
अथान्तरे नौ पतितो विदेशः, प्रेमार्द्रयोर्नक्रमिवान्तरक्ष्णोः॥

हम दोनों में परस्पर प्रेम और समान सौहार्द है। परन्तु क्या करें, हम दोनों के बीच विदेश—देशान्तर आ गया है, जिस प्रकार प्रेम से भीगी हुई आंखों के बीच नाक आ जाता है।

१३. पुरा चर! भ्रातरमन्तरेण, शशाक न स्थातुमहं मुहूर्त्तम्।
ममाऽधुनोपोष्यत एव दृष्ट्या, व्यर्थास्ततो मे दिवसाः प्रयान्ति॥

दूत! पहले मैं भाई के बिना मुहूर्त्त भर भी नहीं रह सकता था। किन्तु आज मेरी आंखें उपवास कर रही हैं—उसे देख नहीं पा रही हैं। इसलिए मेरे ये दिन व्यर्थ बीत रहे हैं।

१४. सा प्रीतिरङ्गीक्रियते मया नो, जायेत यस्यां किल विप्रयोगः।
जिजीविवा[4] वां यदि विप्रयुक्तौ, प्रीतिर्न रीतिर्हि विभावनीया॥

---

१. श्रीतातहंसेन—श्रीवृषभस्वामिसूर्येण।

२. शमंगतेन—शान्तिप्राप्तेन।

३. कच्चिद्—कुशलक्षेम (कच्चिदिष्टपरिप्रश्ने—अभि० ६।१७६)

४. जिजीविव—इत्यत्र 'जीव' प्राणधारणे धातोः णवादि प्रत्ययस्य उत्तमपुरुषस्य द्विवचनम्।

मैं उस प्रीति को स्वीकार नहीं करता जिसमें विरह होता हो। यदि हम वियुक्त होकर भी जी रहे हैं तो इसे प्रीति नहीं रीति ही समझना चाहिए।

१५. हृत्क्षेत्रभूम्यां परिवापमेतैः[1] नौ प्रीतिबीजैः शतधा विवृद्धम्।
अन्योन्यसंपर्कपयोदवृष्ट्या, त्ववग्रहो[2] ऽत्रास्ति विदेश एव ॥

हृदयरूपी खेत की खेती में बोए हुए हम दोनों के प्रेम-बीज एक दूसरे के सम्पर्करूपी मेघ की वृष्टि से शतगुणित हुए हैं किन्तु आज विदेश ही हमारे बीच अवग्रह—सूखे (अकाल) की तरह सामने आ रहा है।

१६. तत् तत् पितुर्लालनमप्यशेषं, ता बाललीलाः सह बान्धवैश्च।
स्मृत्वा मनो मे स्वयमेव शान्तिं, याति द्विपस्येव नगाहृतस्य ॥

इस प्रकार माता-पिता का सम्पूर्ण लालन-पालन और भाइयों के साथ की हुई बाल-लीलाओं का स्मरण कर मेरा मन स्वयं उसी प्रकार शान्त हो जाता है जिस प्रकार पर्वत से लाया हुआ हाथी शान्त हो जाता है।

१७. श्रीतातपादाब्जरजःपवित्रीकृता जितस्वर्नगरैकलक्ष्म्यः।
मनोऽभिनन्दन्ति पुरीप्रदेशाः, कलाधरस्येव[3] कराश्चकोरम् ॥

दूत! अयोध्या नगरी के प्रदेश पिताश्री के चरण-कमलों की रजों से पवित्र हुए हैं। उन प्रदेशों ने स्वर्ग के नगरों के ऐश्वर्य को भी जीत लिया है। जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें चकोर को आनन्दित करती हैं, उसी प्रकार वे प्रदेश मेरे मन को आनन्दित करते हैं।

१८. न मादृशी क्वापि पुरी जगत्यामिति स्मयाद् या वलयं बिभर्ति।
कल्याण[4]साल[5]च्छलतस्त्विदानीं, सा तादृगेवास्ति पुरी शिवाढ्या? ॥

अयोध्या नगरी अपने चारों ओर के स्वर्ण-प्राकारों के मिष से यह गर्व करती हुई वलय धारण कर रही है कि विश्व में कहीं भी मेरे जैसी सुंदर नगरी नहीं है। दूत! क्या वह नगरी आज भी उसी रूप में मंगल से परिपूर्ण है?

---

१. परिवापमेतैः—बीज-संतति को बढ़ाने वाले—(बीजसंतानमेतैः प्राप्तैः —पञ्जिका पत्र ७)
२. अवग्रहः—सूखा, अकाल (…तद्विघ्ने ग्राहग्रहाववात्—अभि० २।८०)
३. कलाधरः—चन्द्रमा (अभि० २।१९)
४. कल्याणं—स्वर्ण (कल्याणं कनकं—अभि० ४।१०९)
५. सालः—प्राकार (प्राकारो वरणः साले—अभि० ४।४६)

१९. नितान्तबन्धुप्रणयप्रदीपो, निरन्तरस्नेहभराद् बिभर्त्ति ।
तेजस्तमोहारि चरिष्णु दिक्षु, मातः परं भूदिह खेदवातः ।।

भाइयों का प्रेम-दीप निरन्तर स्नेह (तैल) राशि से भरा रहता है। उसका प्रकाश तम का नाश करनेवाला और चारों दिशाओं में फैलनेवाला होता है। अब आगे उस प्रेम-दीप को खेद की हवा न लगे—यह मैं चाहता हूं।

२०. नीतोहमिन्द्रत्वमहं त्विदानीं, तातेन नैतुं विभवाम्ययोध्याम् ।
सोत्कंठमेतद् हृदयं ममास्ते, रथाङ्गनाम्नोरिव ही रजन्याम् ।।

पिताश्री ने मुझे स्वतन्त्र रूप से राजा बनाया है, इसलिए मैं [अयोध्या जा] नहीं सकता। मेरा यह हृदय वहाँ जाने के लिए वैसे ही उत्कंठित है जैसे रात के समय चकवा चकवी से मिलने के लिए उत्कंठित रहता है।

२१. किं दूत ! साकूतमिहागतोसि, किं वा मम भ्रातुररिर्बलाढ्यः ।
शक्तोऽपि दावाग्निररण्यदाहे, सारथ्य[1]मीहेत समीरणस्य ।।

दूत ! क्या तुम किसी प्रयोजन से यहां आए हो अथवा मेरे भाई भरत का कोई शत्रु बलशाली हो गया है ? अरण्य को जलाने में समर्थ दावाग्नि भी पवन का सहारा चाहती है।

२२. निःशङ्कमातंकमरातिभूभृद्हृत्कुंजवास्तव्यमपास्य दूत !
स्वद्भर्तुराविष्कुरु शासनं मे, पुरो नृपाश्चारपुरस्सरा हि ॥

दूत ! शत्रु-राजाओं के हृदय-कुंज में वास करने वाले आतंक को दूर कर तुम निःशंक होकर अपने स्वामी भरत की आज्ञा को मेरे आगे प्रगट करो। क्योंकि राजा दूत को ही आगे रखते हैं।

२३. इतीरयित्वा बहलीक्षितीशः, ससंभ्रमं सप्रणयं सनीति ।
क्षणं विशश्राम चरोऽथ भालस्थलीमिलत्पाणिरुवाच भूपम् ॥

इस प्रकार बहली प्रदेश के राजा बाहुबली ने ससंभ्रम, सप्रेम और नीतियुक्त वचन कहकर क्षणभर के लिए विश्राम किया। तब दूत ने जुड़े हुए दोनों हाथों से भाल-स्थली का स्पर्श करते हुए कहा—

---

१. सारथ्यं—साहाय्यम्।

२४.　राजन् ! भवन्तं भरताधिराजः, प्रादुर्भवन्नीतिवचोभिधत्ते।
　　ममाननेन क्षितिवल्लभा हि, नीतिप्रियाः प्रीतिपरा न चैवम्॥

राजन् ! महाराज भरत मेरे मुंह द्वारा प्रगट होकर आपको नीति-वचन कह रहे हैं। क्योंकि राजा नीतिप्रिय होते हैं, आपकी भांति प्रीति-परायण नहीं होते।

२५.　सा भारती भारतभूमिभर्तुर्मामाललम्बे नृपमौलिभिर्या।
　　ध्रियेत नित्यं नवमल्लिकेव, स्फुरन्तमामोदभरं वहन्ती॥

राजन् ! भारत की भूमि के स्वामी भरत की उस वाणी को बड़े-बड़े राजा भी सदा आमोद को वहन करने वाली नई मल्लिका की माला की तरह धारण करते हैं। उस वाणी को लेकर मैं यहां आया हूं।

२६.　वयं चरा स्वामिनिदेशनिघ्ना[1]स्तमोहरास्तापकरा जगत्याम्।
　　श्रितानुवृत्तिं न विलङ्घयामः, करा इवोष्णद्युतिबिम्बचारम्[2]॥

राजन् ! हम दूत हैं। हम स्वामी के आदेश के अधीन रहते हैं। हम इस जगती में सूर्य की रश्मियों की भांति तम का हरण और ताप करने वाले हैं। हम अपने आश्रयदाता स्वामी की अनुमति का उसी प्रकार उल्लंघन नहीं करते जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के बिम्ब के मार्ग का अतिक्रमण नहीं करतीं।

२७.　संदेशहारी निजनायकस्य, नैर्बल्यमाविष्कुरुते पुरस्तात्।
　　प्रत्यर्थिनां यः सपयोधिवन्हि[3]समानतां गच्छति संश्रयारिः[4]॥

यदि दूत अपने स्वामी की निर्बलता शत्रुओं के समक्ष प्रगट करता है तो वह समुद्र की अग्नि की भांति अपने आधार को नष्ट करने वाला शत्रु होता है।

२८.　अतस्त्वया श्रीभरतानुजन्मन्!, वचश्चरस्याप्यवधारणीयम्।
　　मलीमसं वारिदवारि भावि, न हि श्रिये किं सरसीवरस्य[5]?

इसलिए भरत के अनुज ! आप दूत के वचनों को ध्यानपूर्वक सुनें। क्या बादल का मलिन पानी मानसरोवर की शोभा के लिए नहीं होता?

---

१. निघ्नः—पराधीन (नायवान् निघ्नगृह्यकौ—अभि० ३।२०)
२. करा···चारम्—यथा किरणाः सूर्यमंडलचारं (नातिक्रामंति)।
३. पयोधिवन्हिः—वड़वानल।
४. संश्रयारिः—संश्रयस्य—आश्रयस्य, अरिः—शत्रुः, संश्रयारिः—आश्रयवैरी।
५. सरसीवरस्य—मानससरसः—मानसरोवर की।

२९. शतं सुतानां वृषभध्वजेन, भिन्नेषु देशेष्वथ विन्यवेशि ।
नामाङ्कितो राजपदेऽभिषिच्य, सतां हि वृत्तं सततं प्रवृत्त्यै ॥

राजन्! महाराज ऋषभ ने अपने सौ पुत्रों का नाम-ग्राहपूर्वक राज्याभिषेक कर उन्हें भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्थापित किया था। क्योंकि महान् व्यक्तियों का व्यवहार सतत प्रवृत्ति—परम्परागत इतिहास या सतत आचरणीय बन जाता है।

३०. तदन्तरे कोपि बलातिरिक्तो, भुवस्तलं प्लावयितुं सहिष्णुः ।
कल्पान्तकालाब्धिरिवोत्तरङ्गः, सौभ्रात्रसीमैव निषिद्धिरस्य ॥

राजन्! इन भाइयों के बीच ऐसा कोई बलशाली भी है जो अपने पराक्रम से सारी पृथ्वी को आक्रान्त करने में उसी प्रकार समर्थ है जिस प्रकार उत्ताल तरंगों वाला प्रलयकाल का समुद्र प्लावित करने में समर्थ है। किन्तु सौभ्रात्र की सीमा ही ऋषभ के पुत्र-समूह को ऐसा करने से रोके हुए है।

३१. ज्येष्ठोऽग्रसंजाततया गुणैश्च, तातेन यः स्वीयपदे न्यवेशि ।
तस्य प्रतापाब्धिहिरण्यरेताः[1], प्रत्यर्थिपाथांसि तनूकरोति ॥

राजन्! भरत गुणों से तथा जन्म से ज्येष्ठ हैं इसलिए पिताश्री ने उन्हें अपने पद पर स्थापित किया। उनकी प्रतापरूपी वाडवाग्नि शत्रुरूपी जल को क्षीण कर रही है।

३२. केचिन् नृपा मौलिमणीमपास्य, निवेश्य मौलौ गुरुमेतदाज्ञाम् ।
अप्यूर्ध्वजानुक्रमवर्तमानाः, प्रभोः पुरः प्राङ्गणमाश्रयन्ति ॥

कई राजा अपने मुकुट की मणी को हटाकर उसके स्थान में महाराज भरत की गुरुतर आज्ञा को धारण करते हैं। वे घुटनों के बल स्वामी भरत के सामने प्रांगण पर ही बैठ जाते हैं।

३३. भूपालवक्षस्थललम्बिहार-संघट्टसंघर्षणचूर्णगौरम् ।
राजाजिरं राजति तस्य कीर्त्तिशीतांशुरोचिश्छुरितश्रियेव[2] ॥

राजाओं के वक्षस्थल पर लम्बायमान हारों के संघट्टन और संघर्षण से प्राप्त चूर्ण से राज-प्रांगण श्वेत हो गया था। मानो कि महाराज भरत की कीर्तिरूपी चन्द्रमा की किरणों की द्युति से वह शोभित हो रहा हो।

---

१. प्रतापाब्धिहिरण्यरेताः—प्रतापवाडवानलः—प्रतापरूपी वाडवाग्नि।
२. कीर्त्ति······श्रियेव—यशःशशधरकिरणस्फुरितलक्ष्म्येव (पञ्जिका पत्र ८)

३४. सुतामुपादाय[1] नृपाश्च केचित् , प्रणेमुरेनं स्वजनं विधाय ।
गिरीन्द्रमुख्या इव नीलकण्ठं , प्रभूतभूत्यैकनिबद्धचित्तम्[2] ।।

कई राजे प्रचुर ऐश्वर्य में तल्लीन चित्तवाले महाराज भरत को अपनी कन्याएं सौंपकर, उनको अपना स्वजन बनाकर, प्रणाम करने लगे। जिस प्रकार प्रचुर भस्म में निबद्ध चित्तवाले शंकर को हिमालय आदि महान् पर्वत अपनी पुत्रियों को सौंपकर, उन्हें अपना स्वजन बनाकर, प्रणाम करते हैं।

३५. महामृगेन्द्रासनसन्निविष्टं , नृपैः परीतं त्रिदशैरिवेन्द्रम् ।
स्वयं तमायान्ति नरेन्द्रलक्ष्म्यो , महीध्रकन्या[3] इव वारिराशिम्[4] ।।

जिस प्रकार इन्द्र देवताओं से घिरे रहते हैं, उसी प्रकार महान् सिंहासन पर बैठे हुए भरत भी राजाओं से घिरे रहते हैं। जैसे नदियां स्वयं ही समुद्र में जा मिलती हैं, वैसे ही राज-लक्ष्मियां स्वयं भरत में आ मिलती हैं।

३६. सर्वेषु भूभृत्सु विभाति सोयं , परोन्नतिर्मेरुरिवाभिनन्द्यः ।
आक्रान्तनिःशेषमहीनिवेशः , प्रोद्दीप्रकल्याणमनोरमश्रीः ।।

जैसे मेरु पर्वत सभी पर्वतों में अभिनन्दनीय और उन्नत होता है वैसे ही महाराज भरत सभी राजाओं में अभिनन्दनीय और उन्नत समृद्धियों से युक्त हैं। उन्होंने समूची पृथ्वी को आक्रान्त किया है और वे प्रदीप्त कल्याण की मनोरम शोभा से युक्त हैं।

३७. वज्राहतानां वसुधाधराणां , भवेच्छरण्यः किल वारिराशिः ।
नैतद्भिया त्रस्तमहीश्वराणां , लोकत्रयेप्यस्ति परः शरण्यः ।।

राजन् ! यह सुना जाता है कि वज्र से आहत पर्वतों के लिए समुद्र शरण-स्थल है किन्तु महाराज भरत के भय से त्रस्त राजाओं के लिए तीन लोक में भी कोई दूसरा शरण-स्थल नहीं है।

३८. निस्वान[1]निस्वान[2]भियास्य नष्टैर्विरोधिभिर्व्यानशिरे दिगन्ताः ।
तदीयसौधाग्रविरूढदूर्वाकुरप्रलुब्धैरुषितं कुरङ्गैः ॥

महाराज भरत के वैरियों ने वाण की ध्वनि के निर्घोष से भयभीत होकर दिशाओं के छोरों की ओर पलायन कर दिया। अब उनके सूने घरों के ऊपर उगे हुए दूर्वा घास के अंकुरों को खाने में आसक्त मृग वहां निवास कर रहे हैं।

३९. विलोक्य यत् सैन्यहयावधूतं , रजो नवाम्भोधरराजिनीलम् ।
श्यामाननीभूय च राजहंसैः[3] , पलायितं शुद्धपरिच्छदाढ्यैः[4]॥

महाराज भरत की सेना के घोड़ों के खुरों से उठे हुए नए मेघ की भांति नीले रजकण आकाश में व्याप्त हो गए। अच्छे परिवारों से सम्पन्न वड़े-वड़े राजाओं के मुंह भी उन रजकणों से काले हो गए और वे सब वहां से पलायन कर गए।

४०. अस्य प्रयाणेषु हयक्षुराग्रोद्धूतै रजोभिर्मलिनीकृतानि ।
अद्रष्टुमर्हाणि मुखानि कैश्चिल्लात्वा गतं क्वापि भुवोन्तराले ॥

महाराज भरत की प्रयाण-वेला में घोड़ों के खुरों से उठे हुए रजकणों से कई राजाओं के मुंह इतने मलिन हो गए कि वे देखने योग्य नहीं रहे। वे अपना काला मुंह लेकर कहीं भूमि में पैठ गए।

४१. अनावृतं पश्यतु मा मुखाब्जमयं पतिर्नः प्रभुतोपपन्नः ।
इतीव रेणुच्छलतो हरिद्भिः[5] , समाददे नीलपटी[6] समन्तात् ॥

'हमारा यह ऐश्वर्यशाली स्वामी हमारे मुख-कमल को अनावृत न देखले'—यह सोचकर दिशाओं ने रजकणों के व्याज से अपने मुंह पर काले उत्तरीय का घूंघट डाल दिया।

---

१. 'निस्वान' शब्द वाण की ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है (देखें—आप्टे की डिक्शनरी पृ० ६३३-निस्वान—The whistling sound of an arrow (only निस्वान in this sense) पञ्जिका में 'निस्वान' का अर्थ 'वाद्य विशेष' किया है : निस्वाननिस्वानभिया—वाद्यविशेषनिर्घोषभीत्या—पत्र ८।
२. निस्वानः—निर्घोष।
३. 'राजहंस' के दो अर्थ हैं—वड़े राजा तथा राजहंस पक्षी।
४. 'शुद्धपरिच्छदाढ्य' के भी दो अर्थ हैं—अच्छे परिवारों से सम्पन्न तथा सफेद पांखों से सम्पन्न। राजा के पक्ष में पहला अर्थ तथा राजहंस के पक्ष में दूसरा अर्थ संगत होगा।
५. हरित्—दिशा (काष्ठाऽशा दिग् हरित् ककुप्—अभि० २।८०)
६. नीलपटी—श्यामोत्तरीयम्—काला उत्तरीय।

४२. मदेन हस्तीव वनप्रदेशो, मृगारिणेवाग्निरिवाशुगेन[१] ।
उर्वानिलेनेव पयोधिराभा[२]च्चक्रेण राजाधिकदुःप्रधर्षः ।।

जिस प्रकार मद से हाथी, सिंह से वन-प्रदेश, पवन से अग्नि और वाडवाग्नि से समुद्र दुर्धर्ष होते हैं, वैसे ही चक्र के कारण महाराज भरत भी अत्यधिक दुर्धर्ष हैं

४३. यथारुण[३]स्तीक्ष्णरुचेरिवाग्रे, तथास्य चक्रं पुरतो बभूव ।
दुरुत्तरारातितमःप्रहारनितान्तदाक्षिण्यतया[४] सतेजः ।।

जिस प्रकार सूर्य के आगे-आगे अरुण नाम का सारथि चलता है, उसी प्रकार महाराज भरत के आगे-आगे चक्र चलता है। वह चक्र दुर्धर्ष शत्रु रूपी अन्धकार पर प्रहार करने में अत्यन्त तीक्ष्ण और तेजस्वी है।

४४. राजन्! भवद्बंधुबलां[५]बुराशिश्चतुर्दिगाप्लावनबद्धकक्षः ।
प्रकामभेतत्प्रणिपातसेतुबन्धप्रबन्धेन विगाहनीयः ।।

राजन्! आपके भाई का सेना रूपी समुद्र चारों दिशाओं को आप्लावित करने के लिए बद्धकक्ष है। उस समुद्र को अत्यन्त प्रणिपात के सेतु-बंध से ही पार किया जा सकता है।

४५. परिस्फुरत्कान्तिसहस्रदीप्रं, तीक्ष्णद्युतेर्बिम्बमिवोल्वणाभम्[६]।
चक्रं दधानो वसुधाधराणां, स दुःसहः शक्र इवात्तशम्बः[७]।।

स्फुरित होने वाली अत्यधिक कान्ति से चमकीले और सूर्य के बिम्ब की भांति भीषण आभा वाले चक्र को धारण किए हुए महाराज भरत राजाओं के लिए उसी प्रकार दुःसह होते हैं जिस प्रकार देवताओं के लिए वज्र को धारण करता हुआ इन्द्र।

४६. किमत्र चित्रं क्षितिवल्लभानां, जये सुराणामयमप्यजय्यः ।
अस्त्येव देवासुरवृन्दवन्द्यः, सतां प्रभावो हि वचोतिरिक्तः ।।

---

१. आशुगेन—पवनेन ।
२. आभात्—विराजतेस्म ।
३. अरुणः—सूर्य का सारथि (अरुणो गरुडाग्रजः—अभि० २।१६)
४. दुरुत्तराराति……तया—दुरंतशात्रवांधकारहननात्यंतविद्धत्वेन—पञ्जिका पत्र ८।
५. बलं—सेना (बलं सैन्यमनीकिनी—अभि० ३।४०९)
६. उल्वणाभम्—भीषणाभम् ।
७. आत्तशम्बः—आत्तः—प्राप्तः, शम्बो वज्रं, येन सः ।

महाराज भरत राजाओं को जीत ले, इसमें आश्चर्य ही क्या है? वे देवताओं से भी अजेय हैं। वे देव तथा असुरवृन्द द्वारा वन्दनीय हैं। क्योंकि महान् व्यक्तियों का प्रभाव वचनातीत होता है।

४७. योऽखण्डषट्खण्डधराधराणां, गौरांशुगौरातपवारणानि।
हर्तुं यशांसीव नृपः प्रवृत्तः, संवर्तपाथोधिरिवातिरौद्रः॥

जैसे प्रलयकाल का अतिरौद्र समुद्र सब कुछ हरण कर लेता है वैसे ही ये महाराज भरत संपूर्ण छह खण्डों के राजाओं के, चन्द्रमा की भांति उज्ज्वल, छत्रों का हरण करने के लिए प्रवृत्त हैं। मानो कि वे इन राजाओं का यश ही हरण कर लेना चाहते हों।

४८. विद्याधरैराढ्यमलङ्घनीयं, गुणैरिवेज्यं[1] सलिलैरिवाब्धिम्।
गतस्य वैताढ्यगिरिं नृपस्य, तेजोतिदुःसह्यमभूदिवांशोः॥

गुणों से पूज्य व्यक्ति की भांति और पानी से समुद्र की भांति अनुल्लंघनीय तथा विद्याधरों से संपन्न वैताढ्य गिरि पर जब महाराज भरत गए तब उनका तेज सूर्य की भांति दुःसह्य हो गया।

४९. सेनानिवेशा नृपतेरिहास्य, पञ्चाशदासन्नधिकोत्सवाढ्याः।
तुरङ्गमातङ्गपुरीषसर्गैः, कूटानि तन्वन्त इवातनूनि॥

वहां महाराज भरत के, वर्द्धमान उत्सवों से परिपूर्ण, पचास सेना-निवेश (छावनियां) थे। वहां हाथी और घोड़ों की लीदों के बड़े-बड़े ढेर मानो विशाल शिखर का रूप ले रहे थे।

५०. तातप्रियापत्यतयाप्रतीतौ, यौ पन्नगेन्द्राननलब्धविद्यौ[2]।
मौनं श्रिते स्वामिनि भारतार्द्धगिरीन्द्रसंप्राप्तमहर्द्धिराज्यौ[3]॥
५१. एतस्य सेनाधिपतिं सुषेणं, मार्गं न्यरुद्धामविलङ्घनीयौ।
रयं तटिन्या इव सानुमन्तौ, प्रसृत्वरं तौ कटकाभिरामौ[4]॥

—युग्मम्।

---

१. इज्यं—पूज्यम्।
२. पञ्जिकाकार कहते हैं कि चक्रवर्ती ने धरणेन्द्र से अड़चालीस हजार विद्याएं प्राप्त की थीं—धरणेन्द्रास्यसंप्राप्ताष्टचत्वारिंशत्सहस्रविद्यावभूताम्—पञ्जिका पत्र ६।
३. भारतार्द्ध……राज्यौ—लब्धोत्तरश्रेणिदक्षिणश्रेणिप्रभुत्वौ—पञ्जिका पत्र ६।
४. नमिविनमिपक्षे—कटकं—सैन्यं, तेन अभिरामौ—मनोहरौ।
पर्वतपक्षे—कटकः—अद्रिनितंबः, तेन अभिरामौ—मनोहरौ।

पूज्य पिता ऋषभ के प्रिय पुत्र के रूप में विश्रुत नमि और विनमि ने धरणेन्द्र के मुख से विद्याएं प्राप्त की थीं। जब ऋषभ प्रव्रजित हुए तब उनको वैताढ्य गिरि, जो भारतवर्ष को दो भागों में विभाजित करता है, का महर्धिक राज्य प्राप्त हुआ। अलंघनीय और सेना से सुशोभित उन दोनों ने भरत चक्रवर्ती के आगे बढते हुए सुषेण सेनापति को मार्ग में ही रोक लिया, जैसे नदी के वेग को पर्वत रोक लेते हैं।

५२. वैमानिकैः स्यन्दनसन्निविष्टैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च बाणैः[1]।
संपादितोल्कं बहुधा प्रवृत्तैः, खगामिभिर्भूमिचरैर्निघर्षात्॥

५३. तौ द्वादशाब्दीं भरतेन सार्धं, वितेनतुर्द्वन्द्वमनिन्द्यसत्त्वौ[2]।
सुरासुराणामपि चित्रदायि, विन्ध्याचलेनेव गजौ मदान्धौ॥

—युग्मम्।

श्लाघनीय बल वाले नमि और विनमि ने भरत के साथ बारह वर्षों तक युद्ध किया। उस युद्ध में विमान में आरूढ आकाशगामी विद्याधरों के बाण नीचे की ओर आ रहे थे और रथों में बैठे हुए भरत चक्रवर्ती के भूमीचर सैनिकों के बाण ऊपर की ओर जा रहे थे। बार-बार फेंके जाने वाले बाणों के संघर्षण से उल्काएं गिर रही थीं। उस समय ऐसा लग रहा था मानो कि दो मदान्ध हाथी विन्ध्य पर्वत से टक्कर ले रहे हों। वह युद्ध देव और असुरों के लिए भी आश्चर्यकारी था।

५४. अभङ्गुरं भारतवर्बनेतुर्दृष्ट्वा बलं तौ स्वसुतामदत्ताम्।
स्त्रीरत्नलाभान् मुदितः स सार्वभौमोपि ताभ्यामददाच्च राज्यम्॥

जब उन दोनों ने देखा कि भरत का बल अटूट है तब उन्होंने अपनी पुत्रियां भरत को ब्याहीं। चक्रवर्ती भरत स्त्री-रत्न के लाभ से मुदित हुए और उन दोनों को अपना अपना राज्य लौटा दिया।

५५. एवं शरच्चन्द्रमरीचिगौरं, पूर्वापराम्भोधिगतान्तमेषः।
आदाय वैताढ्यगिरिं चचाल, विद्याभृतां श्लोकमिवातितुङ्गम्॥

इस प्रकार चक्रवर्ती भरत वैताढ्यगिरि पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़े मानो कि विद्याधरों के शरद् ऋतु के चन्द्रमा की भांति धवल और अत्युन्नत तथा पूर्व से पश्चिम समुद्र पर्यन्त फैले हुए यश को लेकर आगे बढ़ रहे हों।

---

१. बाणैः इत्यत्र करणे तृतीयाऽन्यत्र कर्त्तरि—पञ्जिका पत्र ६।
२. अनिन्द्यसत्त्वौ—श्लाघनीयबलौ।

५६. स कन्दरद्वारमदार्यवीर्यः, क्रमादथोद्घाट्य विवेश तत्र ।
काकिण्यसंख्येयमहःप्रभावतिरोहितध्वान्तभरे पुरस्तात् ॥

अप्रतिहत शक्तिवाले भरत क्रमशः गुफा का द्वार खोल उसमें प्रविष्ट हो गए। वह कन्दरा अंधकार से व्याप्त थी किन्तु चक्रवर्ती के काकिणी रत्न[1] की असंख्य किरणों के प्रभाव से सारा अन्धकार आगे से आगे नष्ट होता गया।

५७. स मल्लिकाक्रोडविलोललीलैर्मन्दाकिनीशीकरिभिः सिषेवे ।
करीन्द्रकुम्भस्खलनातिमन्दैर्मार्गे हृतक्लान्तिभरैः समीरैः ॥

मल्लिका के पुष्पों की गोद में विलोल लीला करने वाले, गंगा के शीतल जल-कणों से युक्त,गजेन्द्रों के कुंभस्थल से वहने वाले मद के कारण अतिमंद गतिवाले तथा क्लान्ति के समूह को नष्ट करने वाले पवन ने मार्ग में भरत की सेवा की।

५८. स भूभृदुत्कृष्टतरप्रभावो, भूतैः पृथिव्यादिभिरप्यसेवि ।
औत्कृष्ट्यतः प्राघुणकेषु सत्सु, स्वीयं हि माहात्म्यमलोपनीयम् ॥

'महाराज भरत उत्कृष्ट प्रभाव वाले हैं'—यह सोचकर पृथ्वी आदि सभी भूतों ने उनकी उपासना की। क्योंकि उत्कृष्ट अतिथि के होने पर अपने बड़प्पन का लोप नहीं करना चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए।

५९. स नौविमानैरवतीर्यसिन्धू, तपस्क्रियाराधितसन्निधानः ।
द्युलोकलक्ष्मीमुषि जान्हवीये, सेनानिवेशं वितताव तीरे ॥

भरत ने नौका-विमानों द्वारा सिन्धु नदी को पार किया। उन्होंने स्वर्गलोक की शोभा का हरण करने वाले गंगा के तीर पर अपनी सेना का पड़ाव डाला तथा तपस्या और क्रिया द्वारा निधानों की आराधना की।

६०. विलोक्य तं मन्मथहारिरूपं, पुष्पेषुबाणाग्रविभिन्नतन्वा[2] ।
बाणान्तपक्षानिव संबभार, गङ्गापि रोमोद्गमलक्षतो द्राक् ॥

भरत का कामदेव जैसा सुन्दर रूप देखकर गंगा रोमांचित होने के बहाने मानो मदन

---

१. काकिणी—चक्रवर्ती का रत्नविशेष।
२. पुष्पेषु·········तन्वा—पुष्पेषोः—कामस्य, बाणाग्राणि—शरोपरिभागास्तैर्विभिन्ना—विद्धा तनुस्तयेति। ० 'तन्वी' इत्यपि पाठः।

के बाणों के अग्र से भिन्न अपने शरीर द्वारा बाणों के अग्र भाग में रहने वाली पाँखों को धारण कर रही थी।

६१. व्यजीज्ञपद् दूतिमुखेन भूपं, सा स्वर्वधूरेवमनन्यरूपम्।
का स्मेरनेत्रा विभवेदलज्जा, कामाभिलाषं स्वमुखेन वक्तुम्?

गंगा देवी ने अपनी दूती के साथ अप्रतिम रूप के धनी महाराज भरत को इस प्रकार (जो आगे कहा जा रहा है) कहलाया। कौन विकस्वरनेत्रा नारी अपने काम (मदन) की अभिलाषा को स्वयं अपने मुख से कहने में निर्लज्ज हो सकती है?

६२. प्रीतिर्भवत्यस्ति ततो विचारस्तया विधीयेत न मर्त्यमात्रे।
प्रीतिर्ह्यनूहा[1] नरदेव! देवी, भवद्वियोगे विधुराधुनेयम्॥

दूती ने कहा—'नरेन्द्र! आपके प्रति गंगा देवी का प्रेम है अतः उसने आपके प्रति विचार किया है। यह विचार मनुष्य मात्र के प्रति नहीं है। क्योंकि प्रीति में तर्क नहीं होता। वह देवी इस समय आपके विरह से व्याकुल है।

६३. त्वं मानुषीभोगनिमग्नचित्तः, स्वर्गाङ्गनानां न हि वेत्सि लीलाम्।
पीयूषसिन्धोरमृतैकसङ्गः, कथं निवेद्यो लवणाब्धिमीनैः॥

दूती ने आगे कहा—'राजन्! आपका चित्त मनुष्य सम्बन्धी भोगों में निमग्न है। आप देवांगनाओं की लीलाओं को नहीं जानते। सच है कि लवण समुद्र में निवास करनेवाली मछलियों को क्षीर समुद्र के अमृतमय संग को कैसे बताया जा सकता है?

६४. स्वरूपलावण्यकलावलेपाच्छक्रेऽपि या दृष्टिमदान्न किञ्चित्।
लक्ष्मीरिवास्वे रजनीव चन्द्रे, बिभर्ति रागं भवदीहिनी सा॥

जिसने अपने स्वरूप, लावण्य और कला के अहंकार के कारण, दरिद्र के प्रति लक्ष्मी की भांति, इन्द्र पर भी कभी अपनी दृष्टि नहीं डाली, वह देवी गंगा आपको चाहती है और जैसे रात चांद के प्रति अनुरक्त रहती है वैसे ही वह आपके प्रति अनुरक्त है।

६५. मन्दाक्षमन्दाक्षमवेक्ष्य चाहं, तस्या मुखं सानिम[2] निर्निमेषम्।
भवन्तमेता सुभगावतंसं, सर्वान्तराकारविदो ह्यभिज्ञाः॥

---

१. अनूहा—वितर्करहिता।
२. सानिमः—सप्राणः।

'लज्जा से कुछ मूंदी हुई आंखों वाला तथा सप्राण होते हुए भी निर्निमेष उसका मुंह देखकर मैं भाग्यशालियों में शिरोमणि आपके पास आई हूं, क्योंकि अभिज्ञ लोग सब आन्तरिक आकारों को जानने वाले होते हैं।

६६. असंस्तवाद्रिः किल दूतिवाक्यवज्रेण भिन्नो विहितान्तरायः।
एवं तयो रागवतोर्बभूव, संपृक्तिरन्योन्यरसातिरेकात् ॥

दूती के वाक्य रूपी वज्र से अपरिचय का पर्वत, जो दोनों के बीच विघ्न उपस्थित कर रहा था, टूट गया। इस प्रकार पारस्परिक रस के अतिरेक से, राग से रक्त उन दोनों में सम्पर्क स्थापित हो गया।

६७. विस्मृत्य शुद्धान्त[1]वधूविलासांस्तत्र क्षितीशोऽब्दसहस्रमस्थात्।
नालेः करीरद्रुमविस्मृतिः स्यात्, किं मल्लिकापुष्परसप्रसक्त्या ?

महाराज भरत अपने अन्तःपुर की रानियों के विलासों को भूलकर उस नदी तटपर एक हजार वर्ष तक बैठे रहे। क्या भ्रमर मल्लिका पुष्प के रस का आस्वादन करते समय करीर के वृक्ष को नहीं भूल जाता?

६८. वशीकृतान्तःकरणस्तथापि, न स्थातुमैहिष्ट रथाङ्गपाणिः।
सन्तो युगान्तेप्यविलङ्घनीयान्, धर्मार्थकामान् न विलङ्घयन्ति ॥

गंगा देवी ने भरत के चित्त को वश में कर लिया था, फिर भी उन्होंने वहां ठहरना नहीं चाहा। क्योंकि सज्जन पुरुष अलंघनीय धर्म, अर्थ और काम का युगान्त में भी उल्लंघन नहीं करते।

६९. ततश्चचालाधिपतिर्नृपाणामुदीच्यवर्षार्द्धमहीमहेन्द्रान्।
विजेतुमोजोधिकदुःप्रधर्षान्, दैत्यानिवेन्द्रो रविवत् तमांसि ॥

चक्रवर्ती भरत ओज से अधिक दुर्धर्ष उत्तरीय क्षेत्रार्द्ध के राजाओं को जीतने के लिए आगे बढ़े, जैसे इन्द्र दैत्यों को और सूर्य अन्धकार को जीतने के लिए आगे बढ़ता है।

७०. अनम्रमौलीनपि नम्रमौलीन्, धृतातपत्रानधृतातपत्रान्।
विधाय राज्ञः स्वपुरं स आगान्न दोष्मतां चित्रकरं हि किञ्चित् ॥

---

१. शुद्धान्तः—अन्तःपुर (शुद्धान्तः स्यादन्तःपुरम्—अभि० ३।३९१)

जो राजा नहीं झुकते थे उनको झुकाकर, जो छत्र धारण करते थे उनको छत्रहीन करके, महाराज भरत अपने नगर को लौट आए। क्योंकि पराक्रमी व्यक्तियों के लिए कुछ भी आश्चर्यकारी नहीं होता।

७१. षट्खण्डखण्डीकृतकाश्यपीन्द्र[1]छत्रः स वर्षायुतषड्भिरेवम्।
आयात ऊर्ध्वीकृततोरणाङ्कां, वास्तोष्पति[2]र्द्यामिव राजधानीम्॥

छह खंडों के राजाओं के छत्रों को खंडित करने वाले महाराज भरत साठ हजार वर्षों तक विजय-प्रयाण कर देवभूमि में इन्द्र की भांति, तोरणों से सज्जित अपनी राजधानी अयोध्या में लौट आए।

७२. सर्वेऽपि शक्रप्रमुखा द्युलोकादेत्यादधुस्तस्य च तीर्थतोयैः।
राज्याभिषेकं सजगत्यधीशाः, पुरातनः कोपि विधिर्न लोप्यः॥

प्राचीन परम्परा के अनुसार देवलोक से इन्द्र आदि प्रमुख देवतागण तथा सभी राजे-महाराजे वहां एकत्रित हुए और तीर्थस्थल के पानी से महाराज भरत का राज्याभिषेक किया। क्योंकि किसी भी प्राचीन विधि का लोप करना उचित नहीं है।

७३. महीशितुर्द्वादशवर्षमात्रे, जातेभिषेकेऽपि न कोऽपि बन्धुः।
आयातवानित्थमनेकशङ्काशङ्कु[3]प्रभिन्नं हृदयं बभूव॥

चक्रवर्ती भरत का राज्याभिषेक हुए बारह वर्ष बीत गए। अब तक भी कोई भी भाई नहीं आया तब उनका हृदय अनेक शंका रूपी भालों से बींध गया।

७४. स एव बन्धुः समये य एता, तदेव सौजन्यमजातदौष्ठ्यम्।
स एव राजा न सहेत योत्राहमिन्द्रतां कस्यचिदुद्भटस्य॥

वही बन्धु है जो समय पर आता है। वही सौजन्य है जिसमें दुष्टता नहीं है। वही राजा है जो किसी वीर की अहमिन्द्रता को सहन नहीं करता।

७५. न बन्धुषु भ्रातृषु नैव ताते, न नात्र संबन्धिषु राज्यकृद्भिः।
स्नेहो विधेयो न यशःशितांशो, तेषां पयोदन्ति यदेतदेव॥

---

१. काश्यपीन्द्रः—काश्यपी—पृथ्वी, तस्या इन्द्रः—स्वामी—राजा।
२. वास्तोष्पतिः—इन्द्र (सुत्रामवास्तोष्पतिदल्मिशाक्राः—अभि० २।८६)
३. शङ्कुः—भाला (शल्यं शंकौ—अभि० ३।४५१)

राजा को अपने बन्धुओं, भाईयों, पिता और संबंधियों के साथ स्नेह नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सब यश रूपी चन्द्रमा को ढकने के लिए बादल का सा कार्य करते हैं।

७६. तद्दर्पदीपं शममानयाम्यहमिन्द्रतातैलभरातिवृद्धम् ।
श्रीताततेजोधिकदीप्तिदीप्रमकाण्ड[1]दोःकाण्डसमीरणेन ।।

इसलिए महाराज भरत सोचते हैं—मैं उनके अहंकार रूपी दीपक, जो अहमिन्द्रता के तैल-पूर से भरे हुए हैं और जो पिताश्री के अत्यधिक तेज की दीप्ति से प्रकाशी हैं, को पवित्र भुजा-धनुष्य के प्रचंड पवन से बुझा दूं।

७७. यथाधिपत्यं त्रिदिवस्य जिष्णु[2]र्यथा ग्रहाणां तरणिश्च भुङ्क्ते ।
यथा नदीनां तटिनीश एकस्तथाहमीहे जगदाधिपत्यम् ।।

जैसे स्वर्ग का आधिपत्य इन्द्र, ग्रहों का आधिपत्य सूर्य और नदियों का आधिपत्य समुद्र भोगता है वैसे ही मैं भी सारे जगत् का आधिपत्य चाहता हूं।

७८. ततो विमृश्येति हृदन्तरुच्चैश्चरान् करानर्क इवातिदीप्रान् ।
स बान्धवस्नेहरसातिरेकं, प्रसह्य संशोषयितुं मुमोच ।।

इस प्रकार मन में गहरा विचारकर महाराज भरत ने अपने भाईयों के स्नेह-रस के अतिरेक का बलपूर्वक शोषण करने के लिए सूर्य की अति तेजस्वी किरणों की तरह अपने दूतों को भेजा है।

७९. ते भारतीं[3] चारमुखान्निशम्य, तां भारतीं यास्य हृदन्तरूढा ।
चक्रुर्युगादेः शरणं तदैव, त्राता सुतानां विधुरे हि तातः ।।

वे सभी बन्धु दूतों के मुंह से भरत की वह वाणी, जो उसके अन्तर् हृदय में व्याप्त थी, सुनकर उसी समय भगवान् ऋषभ की शरण में चले गए। क्योंकि कष्टकाल में पिता ही अपने पुत्रों को त्राण देता है।

८०. तदात्मजेभ्यो विहितानतिभ्यः, प्रत्यर्प्य पैत्रं भरतेन राज्यम् ।
कोपः प्रणामान्त इहोत्तमानामनुत्तमानां जननावधिर्हि ।।

---

१. अकाण्डं—काण्डं-कुत्सितं (अभि० ६।७८), न काण्डं—अकाण्डं—पवित्रम् ।
२. जिष्णुः—इन्द्र (विष्णुर्जिष्णुर्जनार्दनौ—अभि० २।१२८)
३. भरतस्य इयम्—भारती, तां भारतीं ।

भाइयों के पुत्र भरत का आधिपत्य स्वीकार कर नत हो गए। उनको भरत ने छीना हुआ पैतृक राज्य पुनः सौंप दिया। क्योंकि उत्तम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि प्रणाम न करने तक और अधम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि जीवन पर्यन्त होती है।

८१. अथान्यदा भालनियुक्तपाणिद्वयाम्बुजः शस्त्रनिवासरक्षी।
द्वात्रिंशता भूमिभुजां सहस्रैर्निषेव्यमानं नृपमित्युवाच॥

अब बत्तीस हजार राजे भरत की सेवा करने लगे। एक बार शस्त्रागार का रक्षक अपने जुड़े हुए दोनों हाथों को भाल पर रखते हुए चक्रवर्ती भरत से बोला—

८२. देव! त्वदस्त्रालयमुग्रतेजो, रथाङ्गमायाति[1] न देवसेव्यम्।
भीरोर्मनः शौर्यमिवास्वगेहं[2], निधानवद्दानमिवातिदीनम्॥

'देव! अत्यन्त तेजस्वी और देव-सेव्य वह चक्र आपके शस्त्रागार में प्रवेश नहीं कर रहा है, जैसे भयभीत मन में शौर्य, दरिद्र के घर में निधान और अतिदीन में दान प्रवेश नहीं करता।'

८३. राजेन्द्र! तं हेतुमहं तु जाने, यन्नो तदायाति न शस्त्रधाम।
शुभाशुभं क्षोणिभुजे[3] निवेद्यं, नियोगिभि[4]र्ह्यात्मनरा हि ते स्युः॥

'राजेन्द्र! वह चक्र शस्त्रागार में प्रवेश नहीं कर रहा है, इसका हेतु मैं नहीं जानता किन्तु कर्म-सचिवों को चाहिए कि वे शुभ या अशुभ जो कुछ भी हो, राजा को बता दें। क्योंकि वे उसके आत्मीय-जन होते हैं।

८४. आकर्ण्य तां तस्य सरस्वतीं स, जगाद चित्तोन्नति[5]गर्भवाक्यम्।
अखण्डषट्खण्डमहीधरेषु, प्रोच्चैःशिराः कोऽप्यविलङ्घ्यशक्तिः॥

उसकी बात सुनकर भरत ने दर्पभरी वाणी में कहा—'सम्पूर्ण छह खण्डों के राजाओं में ऐसा कौन अनुल्लंघ्यशक्ति सम्पन्न राजा है, जो ऊंचा शिर किए हुए है?

---

१. रथाङ्ग—चक्र (रथाङ्गं रथपादोऽरि चक्रं—अभि० ३।४१९)
२. अस्वगेहं—दरिद्रगेहं।
३. क्षोणिभुजे—क्षोणिं—पृथ्वीं भुङ्क्ते इति क्षोणिभुक्—राजा, तस्मै।
४. नियोगी—कर्म-सचिव (सहायक मंत्री) (नियोगी कर्मसचिवः—अभि० ३।३८३)
५. चित्तोन्नतिः—अहंकार (मानश्चित्तोन्नतिः स्मयः—अभि० २।२३१)

८५. इतीरिणं तीरितराज्यभारो, राजानमूचे सचिवोऽथ नत्वा ।
नरेन्द्र ! सर्वं स्वयमेव वेत्सि, विश्वंभरा[1] हि क्वचिदस्तिवीरा ॥

इस प्रकार पूछे जाने पर, राज्य-भार का पार पाने वाले सचिव ने राजा से निवेदन किया 'नरेन्द्र ! आप स्वयं सब कुछ जानते हैं। क्योंकि इस पृथ्वी पर आज कहीं-कहीं वीर विद्यमान हैं।'

८६. तदा भवान् मंत्रिभिरोदित[2]स्तद्, भवत्समीपं प्रहितोस्मि राजन् !
तवापि तस्यापि हितं वचोऽहं, भाषे चिरं तेऽभिमुखं त्विदानीम् ॥

राजन् ! उस समय भरत के आग्रह पर मंत्रियों ने आपका नाम बताया। इसलिए भरत चक्रवर्ती ने मुझे आपके पास भेजा है। मैं आपके सम्मुख आपके और उनके चिर-हित के लिए कुछ कह रहा हूँ।

८७. भवाँस्तुलां तस्य रथाङ्गपाणेर्न काञ्चिदारोहति शौर्यसिन्धुः ।
निम्नोऽतिदीर्घः सरसीवरः किं, पाथोनिधेर्याति कियन्तमंशम् ॥

आप शौर्य के समुद्र हैं किन्तु चक्रवर्ती भरत की किसी भी तुलना में नहीं आ सकते। क्योंकि ऊंडा और अतिविशाल तालाब समुद्र के कितने अंश की तुलना में आ सकता है ?

८८. भ्राता मदीयोयमिति स्वचित्ते, निश्चिन्ततामावहसे यदत्र ।
युक्तं न तत् ते क्षितिराट् ! सुखाय, न संस्तवो हि क्षितिवल्लभेषु ॥

आप अपने मन में यह सोचकर निश्चिन्त हैं कि भरत तो मेरा भाई है। राजन् ! किन्तु आपके लिए ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि राजाओं के साथ परिचय करना सुखद नहीं होता।

८९. त्वन्मौलिकालायस[3]सञ्चयोत्र, कठोरतां गच्छति मार्दवं न ।
तस्य प्रतापाग्निभरेण भावी, मृदुत्वभाक् चक्रघनाभिघातः ॥

आपके मुकुट का लोह-संचय कठोर हो रहा है, मृदु नहीं। राजन् ! भरत की प्रतापाग्नि के भार और उनके चक्रधन के अभिघात से वह कोमल हो जाएगा।

---

१. विश्वंभरा—पृथ्वी (विश्वा विश्वंभरा धरा—अभि० ४।१)
२. रोदितः—उक्तः।
३. कालायसं—लोह (लोहं कालायसं शस्त्रं—अभि० ४।१०३)

९०. भवान् बली यद्यपि सार्वभौमं, विजेतुमभ्युत्सहतेऽवलेपात् ।
मदोत्कटोऽपि द्विरदाधिराजः, किं दन्तघातैर्व्यथते सुमेरुम् ॥

यद्यपि आप बलवान् हैं और अहंकार के वशीभूत होकर चक्रवर्ती को जीतने के लिए उत्सुक हो रहे हैं किन्तु क्या मदोन्मत्त हस्तिराज अपने दन्तावलि के घातों से सुमेरु को व्यथित कर सकता है ? कभी नहीं ।

९१. क्व सर्वदेशाधिपतिः स चक्री, त्वमेकदेशाधिपतिर्नृपः क्व ?
महानपि द्योतयते हि दीपो, गृहं जगद्द्योतकरोऽत्र भानुः ॥

कहां तो सभी देशों के अधिपति वे चक्रवर्ती भरत और कहां आप एक देश के अधिपति राजा ? दीपक कितना भी बड़ा हो, वह एक ही घर को प्रकाशित करता है किन्तु सारे जगत् को उद्योतित करने वाला तो सूर्य ही है ।

९२. किं राजराजोऽपि च यक्षलक्ष्म्याः, संसेव्यमानोऽपि निधीश्वरोऽपि ।
श्रीदोऽपि नो तस्य तुलां करोमि, विश्वेश्वरस्याप्यहमुत्तरेशः ॥

९३. वितर्क्य चित्तान्तरिति प्रणष्टः, कैलासदुर्गं समुपेत्य दूरम् ।
वस्वोकसाराधिपतिर्[1]निलीनो, मनस्विभिः स्वं हि बलं विचार्यम् ॥

—युग्मम् ।

'क्या हुआ यदि मैं यक्षों का अधिपति, निधियों का ईश्वर और लक्ष्मी को देने वाला हूँ, फिर भी मैं केवल उत्तर दिशा का स्वामी मात्र होने के कारण इस विश्वेश्वर भरत की तुलना में नहीं आ सकता'—अन्तर् चित्त में ऐसी तर्कणा कर अलकापुरी का स्वामी कुबेर भाग कर कैलाश दुर्ग में आया और कहीं दूर जाकर छिप गया । क्योंकि मनस्वी व्यक्ति को अपनी शक्ति का विचार करना ही चाहिए ।

९४. सिंहासनार्धं किल वज्रपाणिर्यस्मै प्रबन्धेन दिदासिता हि ।
मर्त्येष्वमर्त्येष्वपि तस्य वैरी, खपुष्पवन्नैव विभावनीयः ॥

जिस भरत चक्रवर्ती को इन्द्र भी आदर के साथ अपना आधा सिंहासन देना चाहता है, उसके मनुष्यों और देवों में भी आकाशकुसुम की भांति कोई भी शत्रु नहीं है ।

९५. तत् त्वं विहाय स्मयमप्यशेषं, ज्येष्ठं किल भ्रातरमेहि नन्तुम् ।
न कापि लज्जा भवतोऽस्य नत्या, ज्येष्ठो हि बन्धुः पितृवत् प्रसाद्यः ॥

---

1. वस्वोकसारा—अलकापुरी (अलका वस्वोकसारा—अभि० २।१०५)

आप अपने सारे अहं को छोड़कर ज्येष्ठभ्राता भरत को प्रणाम करने जाएँ। उनको नमन करने में आप को कोई लज्जा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि बड़े भाई को पिता की तरह प्रसन्न रखना चाहिए।

९६. एतावदुक्तवति भारतसार्वभौम-
संदेशहारिणि मुखं नृपतेर्बभार।
फुल्लारविन्दसरसां श्रियमुद्यतेंशौ,
पुण्योदयाञ्चितजनाप्यमुदग्रकीर्त्तेः ॥

चक्रवर्ती भरत के संदेशवाहक के इतना कहने पर प्रचुर कीर्ति के धनी महाराज बाहुबली का मुँह सूर्य के उदित होने पर विकसित कमलवाले सरोवर की शोभा धारण करने लगा अर्थात् लाल हो गया। ऐसा रक्तिम मुँह पुण्योदय वाले लोगों को ही प्राप्त होताहै।

— इति दूतवाक्योपन्यासवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः —

तीसरा सर्ग

प्रतिपाद्य—	दूत का वहली देश से अयोध्या की ओर पुनरागमन ।
श्लोक परिमाण—	१०७
छन्द—	अनुष्टुप्
लक्षण—	पञ्चमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयोः । गुरु षष्ठं च जानीयात्, शेषेष्वनियमो मतः ॥

कथावस्तु—

दूत की बातों से महाराज बाहुबली अत्यन्त क्रुद्ध हो गए। उन्होंने भरत की जिष्णुता को चुनौती देते हुए कहा—'हाथी, घोड़े, रथ और सैनिक ये किसी को त्राण नहीं देते। आडम्बर केवल मूर्ख व्यक्तियों को ही विस्मित कर सकता है। मेरे जैसे वीराग्रणियों के लिए तो भुजाओं के प्रकम्पन ही अपेक्षित हैं।' बाहुबली के वचन सुनकर दूत कांप उठा। उसका उत्तरीय और पगड़ी दोनों नीचे गिर पड़े। दूत अपनी जान बचाकर भागा। मार्ग में उसने बाहुबली के सुभटों की वीरतापूर्ण वाणी सुनी। वह अपने स्वामी चक्रवर्ती भरत के देश की सीमा में आ पहुंचा। वहां का समूचा वातावरण भय से व्याप्त था। दूत अयोध्या आ पहुंचा। जनता उसकी बात सुनने के लिए एकत्रित हो गई। महाराज भरत आस्थान मंडप में बैठे थे। दूत ने वहां पहुंच कर महाराज भरत के पूछने पर सभी बात बताई। उसने सचोट वाणी में कहा—'आपके छोटे भाई बाहुबली आपकी आज्ञा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने मुझे तिरस्कृत कर बाहर निकाल दिया।' महाराज भरत ने दूत को धैर्यपूर्वक सुना और उसे उपहार देकर विदा किया।

○ ○

५. मौनमुद्रामथोन्मुच्य , हृद्घटाभारतीरसम् ।
व्यक्तीचकार भूजानिर्[1] वृषभध्वजनन्दनः ॥

ऋषभ-नन्दन महाराज बाहुबली ने मौन भंगकर अपने हृदय रूपी घटा से वाणी रूपी रस बरसाया।

६. त्वया भरतभूभर्तुर्भारती वाग्मिनां वर ! ।
भाष्यलीलारसं नीता , सच्छिष्येण गुरोरिव ॥

हे वाचाल प्रवर दूत ! तुमने महाराज भरत की वाणी का सुन्दर-सरस भाष्य किया है, जैसे कि शिष्य गुरु की वाणी का भाष्य करता है।

७. दूत ! त्वत्स्वामिनो धार्ष्ट्यं , वाचालत्वं तवोद्धतम् ।
एतद्द्वयं ममात्यन्तं , हास्यमास्ये तनोति हि ॥

हे दूत । तुम्हारे स्वामी की धृष्टता और तुम्हारी उद्धत वाचालता—ये दोनों मेरे मुंह पर अत्यधिक हास्य बिखेर रहे हैं।

८. ऋषभध्वजवंशोयं , बुभूषेऽनेन पूर्वतः ।
पूर्वकर्त्तायमेवातः , पश्चात्कर्त्तास्म्यहं ततः ॥

यह ऋषभ का वंश भरत से सर्वप्रथम शोभित हुआ है इसलिए यह इस वंश का पूर्वकर्त्ता है और उसके बाद का कर्त्ता तो मैं हूं।

९. भूभृदाक्रमणे[2] चित्रं , किं युगादेस्तनूरुहाम् ।
किं पादा अपि नोष्णांशोर्भूभृदाक्रमणोल्वणाः[3] ?

ऋषभ के पुत्रों के लिए भूभृद्—राजाओं पर आक्रमण करना कौन सी आश्चर्य की बात है? क्या सूर्य की किरणों का भूभृद्—पर्वतों पर आक्रमण करना स्पष्ट नहीं है?

१०. षट्खण्डाखण्डलत्वाच्च , दृप्तो मद्विग्रहादृते ।
मुक्त्वैकं सिंहसंरम्भं[4] , दन्तीव द्रुमभङ्गतः ॥

१. भूजानिः—भूः—पृथ्वी, जाया—पत्नी अस्ति यस्य सः भूजानिः—राजा।
२. भूभृत्—राजा।
३. भूभृत्—पर्वत।
४. संरम्भः—आवेश, तीव्रता (आवेशाटोपौ संरम्भे—अभि० ६।१३५)

मेरे साथ युद्ध किए बिना ही भरत छह खंडों का स्वामी बनकर दृप्त हो रहा है। जैसे हाथी सिंह के संरंभ (आवेश, तीव्रता) को छोड़कर केवल पेड़ को धराशायी कर दृप्त हो जाता है।

११. अद्यप्रभृति मे भ्राता, पूज्योऽयं तातपादवत्।
अतः परं विरोधी मे, भ्राता नो तादृशः खलु॥

आज तक मेरा भाई भरत पिता की भाँति पूज्य था किन्तु आज से वह मेरा विरोधी है। ऐसा व्यक्ति मेरा भाई नहीं हो सकता।

१२. सिंहिकासुत[1]मेवैकं, स्तुमस्तं करवर्जितम्।
ग्रहाणामीश्वरं योत्र, सहस्रकरमत्ति हि॥

हम उस एक राहु की स्तुति करते हैं जो कर (हाथ) से वर्जित होते हुए भी ग्रहों के स्वामी, सहस्रकर (हजार हाथों—किरणों) वाले सूर्य को भी खा जाता है, ग्रस लेता है।

१३. तुष्टः कनीयसां राज्यैर्नायमद्यापि भूविभुः।
मत्तः सिंहादिव पलं, सेवामर्थयते वृथा॥

पृथ्वी का स्वामी भरत अपने छोटे भाइयों के राज्यों को हड़प कर भी आज तक संतुष्ट नहीं हुआ और व्यर्थ ही मेरे से सेवा की याचना कर रहा है, जैसे कोई पुरुष सिंह से मांस की याचना कर रहा हो।

१४. अयं ह्यूनशतभ्रातृराज्यादानैर्न तृप्तिभाक्।
वडवाग्निरिवाम्भोभिर्वसन् रत्नाकरेपि हि॥

यह भरत निनानवें भाइयों का राज्य लेकर भी तृप्त नहीं हुआ, जैसे समुद्र में रहता हुआ वाडवाग्नि पानी से तृप्त नहीं होता।

१५. कीनाश[2] इव दुष्टाशः, सर्वग्रासी नृपद्विपः।
मद्दोर्दण्डाङ्कुशाघातं, विना मार्गे न गत्वरः॥

भरत रूपी हाथी यमराज की भाँति दुष्ट आशयवाला और सब कुछ ग्रसने वाला है। मेरे भुजा रूपी अंकुश के घात के बिना वह मार्ग पर नहीं आएगा, सीधा नहीं होगा।

---

१. सिंहिकासुतः—राहु (तमो राहुः सैंहिकेयो—अभि० २।३५)
२. कीनाशः—यमराज (कीनाशमृत्यू समवर्तिकालो—अभि० २।९८)

१६. यद् वा भरतभूपालो , मामनिर्जित्य पूर्वतः ।
षट्खण्डीं जेतुमुद्यातः , क्लेशायाजनि तस्य तत् ।।

अथवा महाराज भरत मुझे पहले जीते विना ही छह खंडों को जीतने के लिए चल पड़ा । यह उसका व्यर्थ का आयास हुआ ।

१७. द्युसद्विद्याधराधिक्यात् , स किं भापयिता मम ।
महाब्धिर्मीनबाहुल्यात् , किमगस्तेर्भयङ्करः ?

देवता और विद्याधरों की अधिकता से वह मुझे क्या भय दिखा रहा है ? क्या मछलियों की वहुलता वाला महासमुद्र अगस्त्य ऋषि के लिए कभी भयंकर हुआ है ?

१८. रत्नानि निधयश्चास्य , रणायातस्य मेऽग्रतः ।
अन्तरा किं भविष्यन्ति , द्रोः पत्राणीव हस्तिनः ।।

जव भरत संग्राम के लिए मेरे सामने आएगा तव रत्न और निधियाँ क्या उसके आड़े आयेंगी ? जैसे जव हाथी वृक्ष को उखाड़ता है, तव पत्ते क्या उसके (वृक्ष के) आड़े आते हैं ?

१९. जगत्त्रयजनं जेतुमलंभूष्णुर्भवान् भुज ! ।
कातरो भ्रातरं हन्तुं , तं त्वां वीरीकरोम्यहम् ।।

वाहुवली ने भुजाओं को संवोधित कर कहा—'हे भुजाओ । तुम तीनों लोक की जनता को जीतने में समर्थ हो, किन्तु उस भाई भरत को मारने के लिए कायर हो । तुम को अव मैं वीर वना रहा हूं ।'

२०. न कोपि समरे वीरः , प्रतिष्ठाता ममाग्रतः ।
इत्यूहिनस्तवायातो , भुज ! सांग्रामिकोत्सवः ।।

हे भुजाओ ! तुम यह सोच रही हो कि युद्ध में तुम्हारे समक्ष कोई भी वीर नहीं टिक पाएगा । तो लो, अव तुम्हारे लिए युद्ध का यह उत्सव आ गया है ।

२१. रे स्नेह ! मन्मनोगेहनिवासिन्नथ मास्य भूः ।
अन्तरायो रणे स्नेहो , न हि वैरिजयप्रदः ।।

मेरे मन-मन्दिर में रहने वाले स्नेह ! तुम युद्ध में अन्तराय (वाधा) उपस्थित मत

करना। क्योंकि युद्ध में होने वाला स्नेह वैरियों को जीतनेवाला नहीं होता।

२२. स मन्मुष्टिप्रदीपान्तः, शलभीभविता स्वयम्।
तमांसीवान्यभूपाला, न स्थास्यन्ति रणान्तरे॥

रण में वह भरत मेरी मुष्टि रूपी दीपमाला में पड़कर शलभ की भाँति और दूसरे राजे अन्धकार की भाँति मेरे सामने नहीं टिक पाएंगे।

२३. काश्यपी[1] करमारूढा, कामिनीव विरोधिभिः।
कदर्थ्यते हि यत् स्वैरं, त्वत्प्रभोस्तत् त्रपाकरम्॥

जिस प्रकार विरोधी के हाथ में आई हुई कामिनी की मनचाही कदर्थना होती है, उसी प्रकार विरोधी के हाथ में आई हुई भूमि की भी कदर्थना होती है। यह तुम्हारे स्वामी के लिए लज्जास्पद बात होगी।

२४. षट्खण्डविजयात् तेन, जिष्णुता यात्ववाप्यत।
अपूर्वजिष्णुतामाप्तुं, मत्तस्तामयमीहते॥

छह खंडों को जीतकर भरत ने जो विजय प्राप्त की है, वह अब मुझसे 'अ' पूर्वक विजय (अ+विजय=पराजय) पाना चाहता है।

२५. यथा ते भ्रातरस्तातं, जग्मू राज्यैकनिस्पृहाः।
तथाहं तातमेष्यामि, दर्शयित्वा निजं बलम्॥

जिस प्रकार राज्य के प्रति अनासक्त रहनेवाले निनानवें भाई पिता के पास चले गए—मुनि बन गए, वैसे ही मैं भी चला जाऊँगा किन्तु उनकी भाँति सीधा नहीं, अपना पराक्रम दिखाने के बाद जाऊँगा।

२६. परा[2] भूति[3]रनेनात्र, चतुर्दिग्विजयेऽर्जिता।
पराभूति[4]र्भवित्र्यस्य, मत्तोपि समराङ्गणे॥

---

१. काश्यपी—पृथ्वी (काश्यपी पर्वताधारा—अभि० ४।३)

२. परा—उत्कृष्टा।

३. भूतिः—लक्ष्मीः।

४. पराभूतिः—पराभवः।

भरत ने चतुर्दिक् विजय में परा-भूति (उत्कृष्ट संपदा) अर्जित की है। समरांगण में मुझसे भी उसे पराभूति (पराभव) ही प्राप्त होगी।

२७. गजाश्वरथपत्तीनां, कोटीषु गणना न मे।
किं स्खलेदर्कतूलेषु, पवनः पातितद्रुमः ?

मेरे लिए हाथी, घोड़े, रथ और सैनिकों की कोई गणना नहीं है। जो पवन वृक्षों को धराशायी कर देता है, क्या वह अर्क-तूल को उड़ाने में स्खलित हो सकता है ?

२८. वाच्यो दूत ! ममाकूतो, भ्रातुरग्रे त्वया पुनः।
त्रातारो नैव संग्रामे, गजाश्वरथपत्तयः॥

दूत ! भरत के समक्ष तुम मेरी सारी बातें कहना और यह भी बता देना कि संग्राम में हाथी, घोड़े, रथ और सैनिक त्राण नहीं दे सकते।

२९. आडम्बरो हि बालानां, विस्मापयति मानसम्।
मादृशां वीरधुर्याणां, भुजविस्फूर्त्तयः पुनः॥

आडंबर केवल बाल व्यक्तियों के मन को ही विस्मित कर सकता है। मेरे जैसे वीराग्रणियों के लिए तो भुजाओं के प्रकम्पन ही अपेक्षित हैं।

३०. मद्बाहुवायुसञ्चारे, धान्येनेव त्वयैव च।
स्थास्यते सङ्गरे नान्यैस्तुषैरिव खलक्षितौ॥

जैसे हवा के चलने पर खलिहान की भूमि में केवल धान्य ही रह पाता है, तुष नहीं, वैसे ही रणभूमि में मेरी भुजाओं से उठे वायु के संचार से केवल भरत ही रह पाएगा, दूसरे नहीं।

३१. भ्रातुः संसर्प्पिदोर्दर्प्पज्वरिताङ्गस्य दोर्मम।
मुष्टिभैषज्यदानेन, चिकित्सां च विधास्यति॥

मेरे भाई का शरीर प्रसरणशील भुजाओं के दर्प से ज्वरयुक्त हो गया है। मेरी भुजाएं अपनी मुष्टी रूपी भैषज्य से उसकी चिकित्सा करेंगी।

३२. संश्रितः सकलश्रीभिस्तटिनीभिरिवार्णवः।
सस्मयोऽत्रैव मा भूयास्तद्दायादा हि भूरिशः॥

जैसे समुद्र नदियों से व्याप्त है वैसे ही भरत भी सभी लक्ष्मियों से व्याप्त है। किन्तु उसको इनका गर्व न हो, क्योंकि उनके दायाद—हिस्सा लेनेवाले बहुत हैं।

३३. आरूढस्तरुशाखाग्रं, वनौकाः क्षितिलम्बिनम्।
किं गजस्य तिरस्कारं, करोति मदविह्वलः?

मद से विह्वल बना हुआ बन्दर भूमी पर लटकती हुई वृक्ष की शाखा पर चढ़कर क्या हाथी का तिरस्कार कर सकता है?

३४. उपमानोपमेयाभ्यामाचन्द्रार्कं भुवस्तले।
युवामुदाहरिष्येये, तन्न लोप्या स्थितिः क्वचित्॥

इस पृथ्वी पर जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हम दोनों (भरत, बाहुबली) उपमान और उपमेय के रूप में उदाहृत रहेंगे[1]। इसलिए हमें कभी भी मर्यादा का लोप नहीं करना चाहिए।

३५. दूत! त्वं सत्वरं गत्वा, कथयेरिति सोदरम्।
मत्तस्य हि गजेन्द्रस्य, सैंहीक्ष्वेडा मदापहा॥

दूत! तुम शीघ्र ही जाकर भरत से कहो कि मदोन्मत्त हाथी का मद सिंहनाद से दूर हो जाता है।

३६. इत्युदात्ता गिरस्तस्य, वैरिहृत्स्फोटनोत्कटाः।
नाराचा इव तीक्ष्णाग्राश्चखनुश्चारहृदान्तरम्॥

बाहुबली की उदात्त, वैरियों के हृदय को विदीर्ण करने में उत्कट और बाणों की तरह तीक्ष्ण अग्रभाग वाली वाणी ने दूत के हृदय को कुरेद डाला।

३७. संनिधायिन्यहं चास्य, निर्जीवा माऽभवंतराम्।
इतीवास्य तनुः कम्पं, वहतिस्म तदा मुहुः॥

बाहुबली की बातें सुनकर दूत का शरीर यह सोचकर काँप उठा कि 'मैं इस दूत के पास हूं, कहीं निर्जीव न हो जाऊँ।'

---

१. कोई भी भाई-भाई लड़ेंगे तो यह कहा जाएगा कि ये 'भरत-बाहुबली की भांति लड़ रहे हैं।'

३८. अप्युत्तरीयमस्यांसान्निपपातेति तद्भयात् ।
एतत्संपर्कतो नाशो , निश्चयाद् भविता मम ।।

दूत की भुजाओं पर रखा हुआ उत्तरीय भी इस भय से नीचे गिर पड़ा कि इसके संपर्क से मेरा नाश निश्चित ही होने वाला है ।

३९. उच्चैः पदादयं वीरः , पातयत्येव मां किल ।
शीर्षादस्य पपाताध , इतीवालकवेष्टनम्[1] ।।

'यह वीर बाहुबली मुझे निश्चित ही ऊंचे स्थान से नीचे गिरा देगा'—यह सोचकर दूत की पगड़ी सिर से नीचे आ गिरी ।

४०. अस्मान् निर्वसनानेवं , मा पश्यन्तु सभासदः ।
इतीवास्य ह्रिया मग्नं , रोमभिः स्वेदपाथसि ।।

'सभासद हमें निर्वस्त्र न देखें'—इस लज्जा से दूत के रोएं पसीने के पानी में डूब गए ।

४१. निर्वारिरिव कासारो , निःपत्र इव पादपः ।
निस्तेजा इव शीतांशुः , स सभ्यैरप्यदृश्यत ।।

सभासदों ने दूत को बिना पानी वाले तालाब, बिना पत्तों वाले वृक्ष और निस्तेज चन्द्रमा की तरह देखा ।

४२. आयातः केन मार्गेण , केन यास्यामि वर्त्मना ।
इत्यूहिनं त्वमुञ्चँस्तं , करे धृत्वा बहिर्जनाः ।।

'मैं यहाँ किस मार्ग से आया था और किस मार्ग से जाऊंगा'—इस प्रकार तर्कणा करने वाले दूत को लोगों ने हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दिया ।

४३. पञ्चास्यादिव सारंगः , सर्पवक्त्रादिवोन्दुरः ।
आदाय जीवितं सोथ , निर्गतो राजमन्दिरात् ।।

जैसे सिंह के मुंह से निकला हुआ हरिण और सर्प के मुंह से निकला हुआ उंदर अपनी

---

१. अलकवेष्टनम्—पगड़ी ।

जान बचाकर भाग जाता है, वैसे ही वह दूत भी अपनी जान बचाकर राज-प्रासाद से निकल भागा।

४४. वीरविग्रहवृत्तान्तमेघागमजलावहा।
दूतश्रवणपाथोधितीरसत्वरगामिनी॥

४५. लोकानां मुखशैलाग्रात्, पतन्ती विस्तृता पुरः।
प्रवृत्तितटिनी साथ, प्रससार भुवस्तले॥

—युग्मम्।

वीरों (भरत-बाहुबली) की युद्ध-चर्चा रूपी वर्षा के जल से पूर्ण, दूत के कान रूपी समुद्र-तट की ओर शीघ्रता से गतिशील, लोगों के मुख रूपी पर्वत-शिखर से गिरकर आगे से आगे बढ़ती हुई वह युद्ध-चर्चा रूपी नदी समूचे भूतल पर फैल गई।

४६. दूतत्वं भरतेशस्य, कृतं बाहुबलेः पुरः।
मम कीर्तिश्चिरं स्थाणुरित्यामोदमुवाह सः॥

दूत यह सोचकर प्रसन्न हुआ कि 'मैंने बाहुबली के समक्ष महाराज भरत का दूतत्व किया है, इसलिए मेरी कीर्ति चिरकाल तक स्थायी रहेगी।'

४७. अमन्दानन्दमेदस्विमानसः पुरवीथिषु।
सञ्चरन्निति वीराणां, गिरं शुश्राव दूरतः॥

अत्यन्त आनन्द से भरे-पूरे मन वाले दूत ने नगरी के मार्गों से बढ़ते हुए दूर से वीरों की ये बातें सुनीं—

४८. वयं वीरा अयं स्वामी, न यावत् प्रस्तुतो रणः।
अस्मद्भाग्यैरिवाकृष्ट, इदानीं स उपस्थितः॥

जब तक युद्ध प्रस्तुत नहीं होता तब तक हम इतना मात्र कहते रहते हैं कि हम वीर हैं और ये हमारे स्वामी हैं। आज युद्ध का अवसर प्रस्तुत हुआ है, मानो कि वह हमारे भाग्य से आकृष्ट होकर आया हो।

४९. कीनाशा[1]नामिव द्रव्यमस्माकमफलं बलम्।
इति चिन्तयतामद्य, प्रस्तुतोऽयं रणोत्सवः॥

१. कीनाशः—कंजूस (कीनाशस्तद्धनः क्षुद्रकदर्यदृढमुष्टयः—अभि० ३।३२)

'जैसे कृपण व्यक्तियों का धन फलदायी नहीं होता वैसे ही हमारी शक्ति भी (युद्ध के बिना) अफल ही रही'—इस प्रकार चिन्तन करने वालों के समक्ष आज यह रणोत्सव प्रस्तुत हुआ है।

५०. स वीरो यस्य शस्त्राग्रैः, सव्रणः करणो रणे।
स्वर्णं तदेव यद् वन्हौ, विशुद्धं निहतं घनैः॥

वीर वही है, रणांगण में जिसके शरीर में घाव हुए हों। स्वर्ण वही है जो अग्नि में तपकर घन से आहत हो।

५१. अद्यप्रभृति वो भारो, निरूहे वपुषा च नः।
दीयतां तद्भृति[1]र्नस्तत्, तेऽस्त्राणीत्युदतेजयन्॥

'आज तक हमने अपने शरीर से तुम्हारा (अस्त्रों का) भार वहन किया है। तुम हमें उसका मूल्य चुकाओ'—यह सोचकर वे वीर अपने-अपने अस्त्रों को तीक्ष्ण करने लगे।

५२. अयमभ्यधिको हीनः, स्वामिकृत्यकरस्त्वयम्।
विग्रहादेव वीराणां, परवुर्ज्ञानं भवेदिति॥

'यह बहुत हीन है', 'यह केवल स्वामी का कार्य करने वाला है' तथा 'यह वीरों में अग्रणी है'—इसकी जानकारी युद्ध से ही हो सकती है।

५३. यच्छराः करिकुम्भेषु, निपेतुः षट्पदा इव।
तैः किञ्चित् स्वस्वामिनोऽग्रे, दर्प्यते शौर्यवत्तया॥

जो बाण हाथी के कुंभस्थल पर भ्रमरों की भाँति गिरते थे, वे अपनी बलवत्ता के कारण स्वामी के समक्ष कुछ दर्प कर रहे हैं।

५४. क्षरत्क्षितिजधारार्क्तं, रूषितं रणरेणुभिः।
वैरिभिर्यन् मुखं वीक्ष्यं, वीरमानी स एव हि॥

वही वीरमानी है जिसका मुंह झरती हुई रुधिर की धारा से भीगा हुआ है, जो युद्ध के रजकणों से मटमैला हो गया है और जो शत्रुओं द्वारा देखने योग्य है।

---

१. भृतिः—मूल्य (भृतिः स्याद् निष्क्रयः पणः—अभि० ३।२६)

५५. शुण्डागण्डोपधानाढ्य[1]द्विपचर्मास्तराञ्चिते ।
संपराय[2]महीतल्पे, क्षतजन्माङ्गरागिणि[3] ।।
५६. नाराच[4]मण्डपस्याधो, यैर्वपुर्न्यस्य शय्यते ।
वीजितः पत्रि[5]पत्रौघैर्धन्यास्ते स्वामिनः पुरः ।।

—युग्मम् ।

स्वामी के समक्ष वे ही वीर धन्य माने जाते हैं जो हस्तिचर्म से आस्तृत, मरे हुए हाथियों के सूंड और कुंभस्थल रूपी उपधानों (तकियों) से सम्पन्न, रक्त-रंजित युद्धभूमी रूपी शय्या में वाणों के मंडप के नीचे, वाणों के पंख-समूह से वीजित शरीर को स्थापित कर सोते हैं ।

५७. धिगस्तु तं रणे नाथं, यो विहाय गृहं गतः ।
ह्रीनिमीलिमुखं तस्य, पश्येत् कान्ता कथं पुनः ॥

धिक्कार है उसको जो युद्ध में स्वामी को छोड़कर घर भाग जाता है। लज्जा से सिकुड़ा हुआ उसका मुंह उसकी भार्या फिर कैसे देखेगी

५८. कुलदेव्यो निमित्तज्ञाः, सत्यमस्मान् वदन्त्विति।
एतस्मिन् सङ्गरे विघ्नो, न भावी सन्धिलक्षणः ?

कुलदेवियां और ज्योतिर्विद् हमें यह सही-सही वताएं कि इस संग्राम में कोई सन्धि रूपी विघ्न तो उपस्थित नहीं होगा ?

५९. इतो वाहुवलिर्वीर, इतो भरतभूपतिः ।
इतो वीरा वयं कर्मसाक्षी[6] साक्षी भविष्यति ॥
६०. अमीषां कर्मसु क्रोधभरलोहितचक्षुषाम् ।
भानुरेवास्य विश्वस्य, शुभाशुभविलोकिता ॥

—युग्मम् ।

इधर वीर वाहुवली, उधर महाराज भरत और इधर हम वीर हैं। सूर्य ही हमारा

---

१. उपधानं—तकिया (उच्छीर्षकमुपाद् धानवर्हो—अभि० ३।३४७)
२. संपरायः—युद्ध (अभ्यामर्दः सम्परायः—अभि० ३।४६२)
३. क्षतजन्मनः—रक्तस्य, अंगरागः—विलेपनं अस्ति यस्मिन् तत् क्षतजन्मांगरागि, तस्मिन् ।
४. नाराचः—वाण (नाराच एषणश्च सः—अभि० ३।४४३)
५. पत्री—वाण (पत्रीष्वजिह्मग—अभि० ३।४४२)
६. कर्मसाक्षी—सूर्य (हरिदश्वो जगत्कर्मसाक्षी—अभि० २।१२)

साक्षी होगा। क्रोध के भार से लाल आंखों वाले इन व्यक्तियों की क्रियाओं में विश्व का शुभ-अशुभ देखने वाला केवल एक सूर्य ही होगा।

६१. इति वीरगिरं शृण्वन्, सिंहनादमिव द्विपः।
शौर्यस्यायतनं बाहुबलेर्देशं चरोऽत्यजत् ॥

हाथी जैसे सिंहनाद को ससंभ्रम सुनता है वैसे ही वीरों की ये बातें सुनता हुआ वह दूत शौर्य के आयतन बाहुबली के देश को छोड़कर चला गया।

६२. धनुर्बाणाञ्चितकरान्, धनुर्वेदानिवाङ्गिनः।
पार्वतीयान् महोत्साहानिव मूर्त्तान् भटानसौ ॥
६३. दूरलक्षीकृताकाशसञ्चरद्विहगान् क्वचित्।
दग्धस्थाणूपमाकारानर्पितश्वापदापदः[1] ॥
६४. सर्वतश्चञ्चलाकारान्, द्रुमशाखाधिरोहिणः।
नानाफलरसास्वादतत्परान् वानरानिव ॥
६५. भूपतिर्भरताधीशो, जेतुं तक्षशिलेश्वरम्।
आगन्ता वर्त्मनाऽनेन, रोत्स्यतेऽस्माभिरन्तरा[2] ॥
६६. कषायैरिव संसारी, नगैरिव नदीरयः।
ददर्श बहलीभूपभक्तानित्यभिधायिनः ॥

—पञ्चभिः कुलकम्।

दूत ने हाथ में धनुष्य-बाण लिए हुए पार्वतीय सुभटों को देखा, मानो कि धनुर्वेद शरीरधारी हो गया हो। उनमें महान् उत्साह उछल रहा था, मानो कि वह मूर्तिमान् हो गया हो।

कई पार्वतीय लोग दूर आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को लक्ष्य कर बाण छोड़ने की तैयारी में थे। कहीं-कहीं जंगली जानवरों को भी भयभीत कर देने वाले, जले हुए ठूंठ-सी काली आकृति वाले मनुष्य मिले।

चंचल आकृति वाले कुछ लोग बन्दरों की भाँति वृक्षों की शाखाओं पर चढ़ने और विविध फलों के रसास्वादन में तत्पर थे। वे सोच रहे थे कि भारत के अधिपति महाराज भरत इसी मार्ग से तक्षशिला के राजा बाहुबली को जीतने के लिए आयेंगे। हम उनको बीच में ही रोक देंगे, जैसे कषाय संसारी प्राणी को और पर्वत नदी के वेग को रोक देता है।' दूत ने इस प्रकार की चर्चा में संलग्न बाहुबली के भक्त पार्वतीय लोगों को देखा।

---

१. अर्पितश्वापदापदः—अर्पिता श्वापदेभ्यः आपदो यैः, ते, तान्।
२. अन्तरा (अव्यय)—बीच में (मध्येऽन्तरन्तरेणान्तरेऽन्तरा—अभि० ६।१७४।)

६७. भारत्येति प्रवीराणां, समशय्यत तस्य हृत्।
किं जयो बहलीशस्य, भावी वा भारतो जयः॥

वीरों की इन बातों ने दूत के हृदय में संशय उत्पन्न कर दिया कि विजय बाहुबली की होगी या भरत चक्रवर्ती की?

६८. किमूनं भरतस्यापि, षट्खण्डजयकारिणः।
नमतोस्यापि का लज्जा, हठो हि बलवत्तरः॥

ओह! छह खण्डों के विजेता भरत के क्या कमी थी और बाहुबली यदि नत हो जाता तो कौन सी लज्जा की बात थी? किन्तु आग्रह बलवान् होता है।

६९. कुक्षिपूर्तिर्मुनेर्नासीच्चुलुकाचान्तनीरधेः।
तथापि वितता कीर्त्तिर्यतः कीर्त्तिप्रिया नृपाः॥

एक चुल्लू में समुद्र को पी जाने वाले अगस्त्य मुनि का वैसा करने पर भी पेट नहीं भरा, तो भी उनकी कीर्त्ति बहुत फैली। इसीलिए नृप कीर्त्तिप्रिय होते हैं।

७०. एकछत्रं मम स्वामी, भुवं कर्त्तास्ति सांप्रतम्।
त्यक्तायं नैकवीरत्वमहंकारो हि दुस्त्यजः॥

मेरे स्वामी भरत अभी विश्व में एकछत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं और ये बाहुबली अकेले वीर होने के स्वाभिमान को छोड़ना नहीं चाहते। अहंकार दुस्त्यज होता है।

७१. अनयोरप्यहंकारवेश्मरत्नैकतेजसि।
पतङ्गीभवितारोमी, योद्धारः समराङ्गणे॥

इस युद्ध में ये सभी योद्धा इन दोनों (भरत-बाहुबली) के अहंकार रूपी दीपक की लौ में शलभ की भांति गिरकर प्राण गंवाने वाले हैं।

७२. एको बाहुबलिर्वीरः, सह्यः केन तरस्विना।
आवृतस्त्वीदृशैर्वीरैः, समीरैरिव पावकः॥

अकेले वीर बाहुबली को कौन पराक्रमी योद्धा सहन करेगा? इस प्रकार के वीरों से परिवृत होकर वे और अधिक दुर्जेय बन जायेंगे। जैसे—अग्नि भयंकर होती है और

वह तेज हवा के योग से और अधिक भयंकर हो जाती है।

७३. स्वस्वामिविजयाश्चर्यं, हृद्यद्याप्यस्य विद्यते।
तद् द्रष्टुमिव तच्चेतस्तेषां शौर्यं विवेश तत् ॥

अभी भी इसके (दूत के) मन में अपने स्वामी भरत की विजय के प्रति आश्चर्य है। मानो कि उसको देखने के लिए उसके चित्त में बाहुबली के सुभटों का शौर्य प्रवेश कर गया।

७४. सोथ स्वस्वामिनो देशं, चैतन्यमिव योगिराट्।
चकोर इव शीतांशुं, क्रमात् प्रापदनातुरः ॥

वह दूत अनातुर रहता हुआ क्रमशः अपने स्वामी के देश को प्राप्त किया, जैसे योगिराज चैतन्य को और चकोर चन्द्रमा को प्राप्त करता है।

७५. भीतं बाहुबलेर्देशाद्, भयमायातमत्र किम्?
बालाबालजरद्वक्त्रवास्तव्यं स व्यतर्कयत् ॥

दूत ने बालक, जवान और बूढ़े—सभी लोगों के चेहरों पर छाये हुए भय को देखकर यह वितर्क किया कि क्या बाहुबली के देश से डरा हुआ भय यहाँ आ पहुंचा?

७६. तैलबिन्दुरिवाम्भस्सु, दीपज्योतिरिवालये।
तत्रातङ्ककृदातङ्कः, सर्वत्र व्यानशेतराम् ॥

जैसे पानी में तैल-बिंदु और प्रासाद में दीपक का प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही आतंक पैदा करनेवाला भय सर्वत्र फैल गया।

७७. भयाम्भोनिधिरुद्वेलः, प्रावर्तत जनोक्तिभिः।
तृतीयारकपर्यन्ते, संवर्त इव सङ्गतः ॥

जैसे तीसरे अर के अन्त में प्रलयकालीन सिन्धु उमड़ पड़ता है वैसे ही जनता की चर्चाओं के द्वारा भय के समुद्र में ज्वार आ गया।

७८. दयितेनानुनीताऽपि, प्रिया विप्रियकारिणम्।
नैच्छद् बाहुबलेस्त्रासोस्तीत्युक्ता साऽमिलद् वरम् ॥

पति के द्वारा अनुनय करने पर भी प्रिया ने, अप्रिय करने वाले उसको नहीं चाहा। किन्तु जब उसने कहा कि यहां बाहुबली का त्रास है तो वह तत्काल आकर उसके गले से लिपट गई।

७९. एता बाहुबलिः काचिदिति कान्तोचितभाषिता।
कण्ठं जग्राह कान्तस्य, निम्नीभूतस्तनद्वयम् ॥

पति ने अपनी प्रिया से कहा—'यहां बाहुबली आने वाले हैं।' इतना कहते ही उसने भयभीत होकर अपने पति के कंठ पकड़ लिए—उसको गाढ़ आलिंगन में बांध लिया। इस भय के कारण ही उसके दोनों स्तन नीचे की ओर झुक गए।

८०. काचित् कान्ता प्रियं ग्रामगत्वरं वीक्ष्य सत्वरम्।
आलम्ब्याञ्चलमित्यूचे, त्राता मां कोप्युपद्रवे ?

एक सुन्दरी ने अपने पति को ग्राम की ओर प्रस्थान करते हुए देखकर जल्दी से उसके अंचल को पकड़ते हुए कहा—'उपद्रव होने पर मुझे कौन बचायेगा ?'

८१. संग्रामायोद्यतं कान्तं, काचिदित्याह कामिनी।
नाथ ! त्वद्विरहे नाहमलं स्थातुमपि क्षणम् ॥

कोई सुन्दरी संग्राम के लिए उद्यत अपने पति को देखकर बोली—'नाथ ! आपके बिना मैं एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकती।'

८२. सस्नेहं काचिदित्याह, मयि प्रीतिर्न तादृशी।
क्षीरकण्ठेपि नोत्कण्ठा, कृतयुद्धोद्यमं प्रियम् ॥

किसी सुन्दरी ने युद्ध के लिए तत्पर पति से प्रेमभरी वाणी में कहा—'नाथ ! मेरे प्रति भी आपकी वैसी गहरी प्रीति नहीं है और न बच्चे के प्रति वैसी उत्कंठा है (जैसी मैं युद्ध के प्रति आपकी प्रीति और उत्कंठा देखती हूं।)

८३. चापमासज्य कण्ठेषु, कान्ताकङ्कणलक्ष्मसु।
सन्निपत्य भयाद् वीरास्तस्थुरास्थानमण्डपे[1] ॥

प्रिया के कंकणों द्वारा चिन्हित कंठों में धनुष को धारण कर, भय से एकत्रित होकर वीर सुभट सभाभवन में आ बैठे।

१. आस्थानमंडपं—सभा-भवन (आस्थानगृहमिन्द्रकम्—अभि० ४।६३)

८४. अस्ति तक्षशिलान्तर्वा, बहिर्निर्यातवान् स वा।
अनुशिष्येति तन्मार्गे, प्रजिघ्युर्हेरिकान्[1] प्रजाः॥

'वह दूत तक्षशिला में ही है या बाहर चला गया है'—इस बात को जानने के लिए प्रजा ने गुप्तचरों को उसी मार्ग से भेजा।

८५. किं दुर्गस्तस्य किं शैलः, किं वप्रश्च महौजसः?
जन्हुकन्या[2] प्रवाहस्य, यथा न सलिला परम्॥

उस पराक्रमी बाहुबली के लिए क्या दुर्ग, क्या पर्वत और क्या परकोटा? उसे कोई नहीं रोक पाएगा। गंगा के प्रवाह से बढ़कर और कोई दूसरा प्रवाह नहीं है!

८६. निन्यिरे बल्लवै[3]र्गावो, ग्रामान्तः सति भास्करे।
भयादङ्गीकृतावेगैः, समीरैरिव रेणवः॥

भयभीत ग्वाले शीघ्र गति से चलकर सूर्य के रहते-रहते गायों को गांव में ले आए, जैसे हवा बालू को उड़ाकर ले जाती है।

८७. जनास्तत्र भयोद्भ्रान्ता, रतिं प्रापुर्न कुत्रचित्।
पाथोधाविव पीताब्धिपीततोये तिमिव्रजाः॥

उस प्रदेश की भयभ्रान्त जनता को, अगस्त्य ऋषि द्वारा समुद्र का पानी पी जाने पर मछलियों की भांति, कहीं भी आनन्द नहीं मिल रहा था।

८८. सर्वत्रापि खलक्षेत्रभूनिवेशाः पदे पदे।
सस्यैर्हीना अदृश्यन्त, द्विजिह्वा[4] इव सद्गुणैः॥

वहां चारों ओर फैले हुए खलिहान धान्य रहित थे, जैसे दुर्जन व्यक्ति सद्गुणों से रहित होते हैं।

८९. इति स्वरूपं लोकानामनुत्साहैकमन्दिरम्।
वीक्षमाणस्ततो दूतः, साकेतनगरं गतः॥

---

१. हेरिकः—गुप्तचर (हेरिको गूढपूरुषः—अभि० ३।३९७)
२. जन्हुकन्या—गंगा (त्रिस्रोता जान्हवी—अभि० ४।१४७)
३. बल्लवः—ग्वाला (गोपगोसंख्यबल्लवाः—अभि० ३।५५३)
४. द्विजिह्वः—दुर्जन (द्विजिह्वो मत्सरी खलः—अभि० ३।४४)

लोगों का मन अनुत्साह से भर गया। यह देखता हुआ दूत साकेत नगर पहुंच गया।

९०. स साकेतपुरोद्देशानवाप्य स्वर्गजित्वरान् ।
राजहंस इवाऽनन्दत्तरां मानसविभ्रमान् ॥

वह दूत स्वर्ग को जीतने वाले और मन में विभ्रम पैदा करने वाले अयोध्या पुरी के पास वाले प्रदेशों में आकर आनन्दित हुआ, जैसे राजहंस मानसरोवर के पास जाकर आनन्दित होता है।

९१. भरतेशचरोद्यंता, वहलीश्वरसन्निधेः ।
किं वक्ष्यतीति सोत्कण्ठचित्तैर्लोकैरनुद्रुतम्[1] ॥

'आज महाराज भरत का दूत बहली प्रदेश के स्वामी बाहुबली के पास से आ रहा है। वह क्या कहेगा—यह उत्कंठा लोगों के मन में उठी और वे उसके पीछे-पीछे चल पड़े।

९२. वहिर्मुक्तहयस्तम्बेरमस्यन्दननीतितः ।
पदातीयितभूपालसुरकिन्नरसञ्चयम् ।
९३. नैकरत्नांशुवैचित्र्यकल्पितेन्द्रायुधभ्रमम् ।
सिंहद्वारं विवेशैष, भरतस्य क्षितीशितुः ।

—युग्मम् ।

उस दूत ने महाराज भरत के प्रासाद के सिंहद्वार में प्रवेश किया। वह सिंहद्वार घोड़े, हाथी और रथों का प्रवेश निषिद्ध होने के कारण पैदल चलने वाले राजा, देव और किन्नरों के समूह से संकीर्ण था। वह अनेक रत्न-किरणों की विचित्रता से इन्द्र-धनुष्य का भ्रम पैदा कर रहा था।

९४. मृगेन्द्रासनमासीनं, शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ।
दुःप्रेक्ष्यं सिंहवच्छौर्यात्, कौशलेन्द्रं ददर्श सः ॥

दूत ने सिंहासन पर बैठे हुए, पर्वत के शिखर की भांति उन्नत, पराक्रम से सिंह की भांति दुष्प्रेक्ष्य कौशल देश के स्वामी भरत को देखा।

९५. सार्वभौमस्तमायातं, दूराद् दूतमतिप्रियम् ।
दृशा पीयूषवर्षिण्या, स्नपयामास सन्ततम् ॥

१. अनुद्रुतम्—अनुगतम् ।

चक्रवर्ती भरत ने दूर से आते हुए अपने प्रिय दूत को देखा और अमृत बरसानेवाली अपनी दृष्टि से उसे निरंतर नहलाया।

९६. आयातो भूरिभिर्वत्स ! वासरैस्त्वमनातुरः ।
बन्धोर्बाहुबलेः कच्चिद् , भद्रमस्तीति वेदय ॥

'वत्स ! तुम स्वस्थ हो ? बहुत दिनों से लौटे ? मुझे बताओ—क्या बाहुबली के कुशल-क्षेम है—कल्याण है ?'

९७. इति राज्ञा स्वयं पृष्टो , नत्वा सप्रीति सोऽब्रवीत् ।
स्वामिसंभाविता भृत्या , गच्छन्ति हि परां मुदम् ॥

महाराज भरत के स्वयं यह पूछने पर वह दूत नत होकर प्रेमभरी वाणी में बोला। क्योंकि स्वामी द्वारा प्रिय संबोधन से संबोधित होने पर सेवक परम आनन्दित हो जाते हैं।

९८. स्नेहो मयि विधीयेत , तदल्पा अपि वासराः ।
बभूवुर्भूप ! भूयांसः , क्षणं स्नेहे हि वर्षति[1] ॥

'राजन् ! आपका मेरे प्रति स्नेह है, इसलिए ये थोड़े से दिन भी अधिक हो गए। क्योंकि स्नेह में क्षण भी वर्ष के बराबर हो जाता है।'

९९. शङ्कमानो यमो यस्मान् , नाकाले हन्ति जीवितम् ।
नृणां किं पृच्छ्यते तस्य , कुशलं कुशलाग्रधीः ! ?

'हे कुशल सूक्ष्म बुद्धिवाले ! यमराज भी जिनसे सशंकित होकर अकाल में प्राणियों का जीवन हरण नहीं करता, उन बाहुबली को आप क्या कुशल-पृच्छा करते हैं ?

१००. मानमातङ्गमारूढः , केन प्रभ्रश्यते हठात् ।
सोयं बाहुबलिर्वीरो , वीरमानी जगत्त्रये ॥

'वे वीर बाहुबली अपने - आपको तीनों लोकों में परम वीर मानते हैं। वे अहंकार के हस्ती पर आरूढ हैं। उनको अहंकार के हाथी से कौन बलात् उतार सकता है ?'

---

1. वर्षति—वर्ष इवाचरति।

१०१. देव ! तस्य मदोद्धूतरजो नोच्चिक्षिपे मनाक् ।
मम व्यक्तोदितवात्याभिः[1], पुञ्जीभवदिवाभितः ॥

देव ! बाहुबली के मद से प्रकंपित रजें मेरी स्पष्ट उक्तियों के वातूल से किञ्चित् भी ऊपर नहीं उड़ीं, किन्तु चारों ओर पुञ्जीभूत हो गईं ।

१०२. पयोधिरिव कल्लोलैस्तेजोभिरिव भानुमान् ।
दुःप्रधर्षो भटैरेष, केन जेयो रणाजिरे ॥

जैसे कल्लोलों के द्वारा समुद्र और तेज के द्वारा सूर्य दुष्प्रधर्ष होता है, वैसे ही बाहुबली भी सुभटों द्वारा दुष्प्रधर्ष हैं । संग्राम में उन्हें कौन जीत सकता है ?

१०३. कृशानुः शीततां याति, वेगं त्यजति चानिलः ।
सकम्पः स्यात् सुवर्णाद्रिर्जलधेर्धूलिरुद्भवेत् ॥
१०४. परं देव ! तव भ्राता, त्वदाज्ञां न दधाति च ।
नास्य चक्रेन्द्रचक्राद्यातङ्कस्ताटङ्कति[2] श्रुतौ ॥

—युग्मम् ।

अग्नि शीतल हो जाए, वायु अपना वेग छोड़ दे, मेरु प्रकंपित हो जाए और समुद्र की धूली बाहर निकल आए, फिर भी देव ! आपके भाई आपकी आज्ञा धारण नहीं करेंगे । उनके कानों में चक्रवर्ती और चक्र का आतंक कुंडल का रूप नहीं लेगा ।

१०५. दूतत्वात् त्वमवध्योसीत्युक्त्वाहं मोचितो बहिः ।
किंकरैः कुलभोगीव[3], तेन दुर्दान्ततेजसा ॥

'तुम दूत हो, इसलिए अवध्य हो'—ऐसा कहकर दुर्दान्त, तेजस्वी बाहुबली ने मुझे अपने सेवकों द्वारा बाहर निकाल दिया, जैसे कि कोई कुल-सर्प को पकड़ कर बाहर छोड़ देता है ।

१०६. षट्खण्डाधिपतिरयं तदीयवाचा,
क्रुद्धोऽपि प्रसभमुवाच नोग्रवाचम् ।
अम्भोधिर्जलदजलैः किमुत्तरङ्गः ?
शीतांशुः किमवति दाहमुष्णकाले ?

---

१. वात्या—तूफान (वातूलवात्ये वातानां—अभि० ६।५७)
२. ताटंकति—ताटंकः—कुण्डलम्, तस्य इव आचरति इति ताटंकति ।
३. कुलभोगी—कुलसर्प ।

छह खण्डों के स्वामी भरत दूत की बातों से अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी कुछ नहीं बोले। क्या समुद्र मेघ के पानी से कभी उछलने लगता है? क्या चन्द्रमा ग्रीष्म ऋतु में भी कभी दाह उत्पन्न करने वाला होता है?

१०७. सत्कृत्य रत्नकनकाभरणप्रदानै-
वाक्यावकाशविदुरं[1] विससर्ज दूतम्।
पुण्योदयाढ्यहृदयः सदयः[2] क्षितीशो,
नो तादृशां[3] हि विनिषेवणमत्र[4] वन्ध्यम्॥

अपने पुण्य के उदय से परिपूर्ण हृदयवाले और सद्भाग्य के धनी महाराज भरत ने रत्न, कनक, आभूषण आदि देकर वाक्पटु दूत को ससम्मान विसर्जित किया। क्योंकि चक्रवर्ती जैसे महान् व्यक्तियों की सेवा कभी निरर्थक नहीं होती।

—इति दूतप्रत्यागमो नाम तृतीयः सर्गः—

१. वाक्यावकाशविदुरं—वाक्यस्य वचनस्य योऽवकाशोऽवगाहनं तत्र विदुरं पंडितं।
२. सदयः—सद्—शोभनं अयः—भाग्यं—सदयः—सद्भाग्यः (अभि० ६।१५ अयस्तु तच्छुभम्।)
३. तादृशां—चक्रवर्तिसदृशानाम्।
४. विनिषेवणं—पर्युपासनम्।

चौथा सर्ग

प्रतिपाद्य—	दूत का भरत के समक्ष आकर सारी बात बताना तथा सुषेण सेनापति द्वारा भरत को उत्साहवर्धक वचन कहना।
श्लोक परिमाण—	७९
छन्द—	वियोगिनी।
लक्षण—	विषमे ससजा गुरुः समे, सभरा लोऽथ गुर्वियोगिनी। इसके पहले और तीसरे चरण में दस-दस अक्षर और दूसरे तथा चौथे चरण में ग्यारह-ग्यारह अक्षर होते हैं। पहले तथा तीसरे चरण में—(दो सगण, एक जगण तथा एक गुरु—IIS, IIS, ISI, S) दूसरे तथा चौथे चरण में—(एक सगण, एक भगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु—IIS, SII, SIS, I, S)

कथावस्तु—

दूत की बातें सुन महाराज भरत का मन उद्विग्न हो गया। बचपन के संस्मरण उनकी आंखों के आगे नाचने लगे। उनको बाहुबली का भुज-पराक्रम याद आ गया। वे विचारों में मग्न हो गए। अब भाई के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं रहा। युद्ध की बात से वे बौखला उठे। एक ओर अपने चक्रवर्तित्व का अहं तो दूसरी ओर अपने ही बंधु की उद्दण्डता। एक ओर न्याय-नीति तो दूसरी ओर भ्रातृत्व। वे दोनों झूलों के बीच झूलने लगे। कभी मन कहता—भाई का घात कर चक्रवर्ती बनने में लाभ ही क्या है? कभी मन कहता—चाहे कोई हो जो उद्दण्डता करता है, अविनय करता है, अहं रखता है तो उसे दंड मिलना ही चाहिए। इतने में ही सेनापति सुषेण ने आकर महाराज भरत को कर्त्तव्य के प्रति सजग किया और विविध उक्तियों से यह बात प्रसाधित की कि युद्ध ही राजाओं की श्रेष्ठ मर्यादा है। युद्ध ही संपदाओं का स्थान है। सेनापति की बात सुनकर भरत का मन युद्ध के लिए उत्साहित हो गया।

चतुर्थः सर्गः

१. अथ दूतगिरा ज्वलन्नपि , क्षितिराजः क्षपितारिविग्रहम् ।
वचनं प्रणयाञ्चितं दधे , वदनेम्भोद इवाम्बु विद्युता ।।

महाराज भरत दूत की बातें सुनकर जल उठे। फिर भी उन्होंने अपने मुंह से शत्रु के विग्रह को नष्ट करने वाले प्रेमपूर्ण वचन कहे, जैसे विद्युत् से जलता हुआ भी बादल शीतल बूंदें बरसाता है।

२. अहमेव गतो विलोलतां , पवनोद्धूत इवावनीरुहः ।
यदमुं प्रजिघाय[1] बान्धवं , प्रति दौत्याय न हीदृशा मताः ।।

महाराज भरत ने मन ही मन सोचा कि इस कार्य में दोष मेरा ही है, क्योंकि पवन से कंपित वृक्ष की तरह चपल होकर स्वयं मैंने ही इस दूत को अपने भाई के पास भेजा था। ऐसे निकटवर्ती प्रिय-जनों के पास दूत नहीं भेजे जाते (वहां तो स्वयं मुझे ही जाना चाहिए था)।

३. वितनोमि यदीह विग्रहं , बलिना सार्धमहं स्वबन्धुना ।
उपमां जलवासिनस्तिमेरहमेतास्मि तदा जनोक्तिभिः ।।

यदि मैं अपने शक्तिशाली भाई के साथ संग्राम करता हूँ तो जनता मुझे जल में रहने-वाली मछली की उपमा से उपमित करेगी।

४. निहतायनभूभृदूर्मिके[2] , दिविषत्स्रैवलिनीरयेऽपि[3] यः ।
न हि वेतसवृत्तिमाश्रितः , किमहं तस्य पुरोभिमानिनः ।।

---

१. प्रजिघाय—हिंस्—गतिवृद्धयोः धातोः णवादिप्रत्ययस्य उत्तमवचनस्य एकवचनम् ।

२. निहता……—निहताः पातिताः अयनभूभृतो—मार्गपर्वता याभिरेतादृशा ऊर्मिकाः कल्लोला यत्रासौ, तस्मिन् ।

३. दिविष……—गंगापूरे ।

स्वर्गंगा की वेगवती ऊर्मियां मार्ग में आने वाले पर्वतों को भी उखाड़ देती हैं। उसके सामने भी जो बेंत की भांति हिलोरें नहीं खाता, किन्तु अडिग रहता है, उस स्वाभिमानी बाहुबली के समक्ष मेरी गणना ही क्या है ?

५. निहताद् दृढमुष्टिना मया, सभयोस्मादहमन्तिकं पितुः ।
गतवान् किल तेऽग्रजस्तुदन्निति तातेन निषिद्ध एष माम् ॥

मैंने एक बार अपनी दृढमुष्टि से बाहुबली पर प्रहार किया था। मुझे भय लगा कि कहीं वह मेरे पर भी प्रहार न करदे, इसलिए मैं डरकर पिताश्री के पास चला गया। उसने मुझे पीटना चाहा, किन्तु पिताश्री ने उसे यह कहकर रोक दिया कि 'भरत तेरा बड़ा भाई है।'

६. श्रुतयापि रणस्य वार्तया, मनसोत्साहमयं दधौतराम् ।
कथमस्य दधाति नाधुना, भुजयोरुत्सवमागतो रणः ॥

युद्ध की बात सुनते ही उसका मन उत्साह से भर जाता था। तो अभी जो साक्षात् युद्ध प्रस्तुत हो रहा है, उसको उसकी भुजाएँ उत्सव क्यों नहीं मानेंगी ?

७. कठिनो भटिमाधिकत्वतो[1], युधि कामोस्य तथा प्रवर्तते ।
नो तथाऽस्य च राज्यसंग्रहे, समरः शौर्यवतां हि वल्लभः ॥

उत्कट योद्धा होने के कारण इस हठी बाहुबली की जैसी कठोर कामना युद्ध के प्रति है, वैसी राज्य-संग्रह में नहीं है। क्योंकि पराक्रमी के लिए संग्राम प्रिय होता है।

८. यदि तद्बलमस्य दोर्द्वयेहमशङ्केपि यतो विशेषतः ।
युधि नास्य विभुस्तदासितुं, पुरतः कोपि विभावसोरिव[2] ॥

जिससे मैं विशेषरूप से डरता था वही शैशवकालीन बल यदि उसकी दोनों भुजाओं में है तो युद्ध में उसके सामने कोई भी नहीं ठहर सकेगा, जैसे अग्नि के सामने कोई भी नहीं ठहर पाता।

९. बहुधास्य बलं हि शैशवे, वसुवत् स्वर्णकृता परीक्षितम् ।
अपरीक्षितमेव पूर्वतो, विदुषा वस्त्वनुतापकृद् भवेत् ॥

---

१. भटिमाधिकत्वतो—वीरतातिशयत्वतः ।
२. विभावसोरिव—अग्नेरिव ।

मैंने बचपन में अनेक बार उसकी शक्ति की परीक्षा की है, जैसे स्वर्णकार सोने की परीक्षा करता है। क्योंकि विद्वान् मनुष्य के लिए पहले से अपरीक्षित वस्तु अनुताप देने वाली होती है।

१०. इतरस्य जये ममेदृशो , न विचारः खलु बान्धवस्त्वयम् ।
जलदो हि कृशानुशान्तये , प्रभविष्णुः शमयेन्न विद्युतम् ॥

दूसरों पर विजय प्राप्त करने के लिए मेरे मन में ऐसा विचार नहीं आता। किन्तु यह तो मेरा भाई है, (अतः ऐसा सोचना पड़ रहा है)। मेघ अग्नि को शान्त करने में समर्थ हो सकता है किन्तु वह विद्युत् को शान्त नहीं कर सकता।

११. इतरेऽपि मदीयबान्धवा , यदनापृच्छ्य ययुस्तमां च माम् ।
मम तद्विरहस्त्वरुन्तुदः[1] , करिणोऽशान्तरुचे[2]रिवाङ्कुशः ॥

मेरे दूसरे सभी भाई मुझे बिना पूछे ही चले गए—भगवान् के पास प्रव्रजित हो गए। उनका विरह मेरे लिए मर्मघाती सिद्ध हो रहा है, जैसे मदोन्मत्त हाथी के लिए अंकुश मर्मवेदी होता है।

१२. अयमेव समस्तबन्धुषु , स्थितिमा[3]नेकतमोऽवशिष्यते ।
समसंहृततारकावलेस्तिमिरारेरिव भार्गवो[4]ऽहनि ॥

सभी भाइयों में यह मर्यादावान् बाहुबली ही शेष रहा है, जैसे समस्त तारकों को समेटने वाले सूर्य (अन्धकार के शत्रु) के सामने दिन में केवल शुक्र का तारा शेष रहता है।

१३. न निधिर्न मणिर्न कुञ्जरो , न च सैन्याधिपतिर्न भूमिराट् ।
दुरवार्यतमैकबान्धवी[5] , मम तृष्णा न हि येन शाम्यति ॥

मेरे पास निधि, मणि, हाथी, सेनापति और राजे—सब कुछ हैं, किन्तु एकमात्र

---

१. अरुंतुदः—मर्मघाती (स्यान्मर्मस्पृगरुन्तुदः—अभि० ३।१६५)
२. अशान्तरुचेः—हस्तिपक्षे—मदोन्मत्तस्य, मम पक्षे—अशमिताभिलापस्य (पंजिका—पत्र १६।)
३. स्थितिमान्—मर्यादावान्।
४. भार्गवः—शुक्रग्रह (उशना भार्गवः कविः—अभि०२।३३)
५. यहां 'दुरवार्यतमा' के स्थान पर 'दुर्वार्यतमा' ऐसा होना चाहिए। एकबान्धवी—एक बन्धु-सम्बन्धिनी।

बन्धु बाहुबली सम्बन्धी मेरी इस प्रगाढ़ प्यास को वे शान्त नहीं कर सकते।

१४. अहमप्यभजं दविष्ठतां, किल तेनापि विदूरतः स्थितम्।
वपुषैव पृथक्कृतावुभाविति तातेन हृदा च नौ न हि॥

मैं भी बाहुबली से बहुत दूर रहा और वह भी मेरे से दूर रहा। पिताश्री ने हमें केवल शरीर से ही पृथक् किया है, हृदय से नहीं।

१५. भवतात् तटिनीश्वरोऽन्तरा, विषमोऽस्तु क्षितिभृच्चयोऽन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा, पिशुनो माऽस्तु किलान्तरावयोः॥

हम दोनों के बीच समुद्र, विषम पर्वत और जल से परिपूर्ण नदी भले ही हो किन्तु चुगलखोर हमारे बीच कभी न आए।

१६. प्रणयस्तटिनीश्वरादिकैः, पतितैरन्तरयं न हीयते।
पिशुनेन विहीयते[1] क्षणादधिकः सिन्धुवराद्धि मत्सरी॥

समुद्र आदि के बीच में आ जाने पर परस्पर का प्रेम क्षीण नहीं होता, किन्तु चुगलखोर के बीच में आने पर वह क्षीण हो जाता है। अतः प्रेम को क्षीण करने की दिशा में चुगलखोर समुद्र से बड़ा है।

१७. अपचीयत[2] एव संततं, वयसा सार्धमिहासुमद्वपुः।
हृदयावनिलब्धसंभवः, प्रणयः सज्जनयोर्न हि क्वचित्॥

प्राणियों का शरीर अवस्था के साथ-साथ निरन्तर क्षीण होता जाता है किन्तु सज्जन व्यक्तियों का प्रेम, जो हृदय की भूमि में अंकुरित होता है, कभी क्षीण नहीं होता।

१८. द्विजराजनदीशयो[3]स्तुलां, हरिणौर्वौ[4] दधतोरवर्णदौ।
लभते क इहाऽयशोऽपि तौ, धरतो नोज्झत एव तौ परम्॥

अवर्णदायी हरिण, वडवानल को धारण करनेवाले चन्द्रमा और समुद्र की तुलना

---

1. विहीयते—न्यूनीक्रियते।
2. अपचीयते—इत्यत्र कर्मकर्तृत्वमवगन्तव्यम्।
3. द्विजराजः—चन्द्रमा। नदीशः—समुद्र।
4. और्वः—वडवानल (और्वः संवर्तकोऽब्ध्यग्निर्वाडवो—अभि० ४।१६६)

कौन कर सकता है ? वे हरिण और वडवानल के कारण अयश को प्राप्त होते हैं, फिर भी उन्हें नहीं छोड़ते ।

१९. अगुणानपि नोज्झति स्वकान् , स हि गम्भीरिमसंश्रितः पुमान् ।
निवसन्ति तदत्र संपदो, ह्यमृतं तिष्ठति नागभीरके ।।

जो व्यक्ति स्वजनों के गुणहीन होने पर भी उन्हें नहीं छोड़ता, वही गम्भीर है । उसमें ही सारी सम्पदाएं निवास करती हैं । उथले में अमृत नहीं होता ।

२०. स्वयमेव निजं निहत्य योऽनुशयीर्तति स निन्दनीयताम् ।
तटशाखिनिपातनाद् रयः , सरितः किं न तटं प्रकाशयेत् ?

जो राजा स्वयं अपने निजी व्यक्ति को मारकर पश्चात्ताप करता है, वह निन्दा को प्राप्त होता है । जो नदी का प्रवाह तटवर्ती वृक्षों को धराशायी कर देता है, क्या वह तट को प्रकाशित नहीं करता ?

२१. स विभुः किमिहावनेर्मतः , स्वपरौ वेत्ति हिताहितौ न यः ।
स्वपरानवबोधहेतुतो , न हुताशं किल कोपि संस्पृशेत् ।।

इस भूमंडल पर क्या वह स्वामी के रूप में मान्य हो सकता है जो 'स्व' और 'पर' तथा 'हित' और 'अहित' को नहीं जानता ? अग्नि में 'स्व' और 'पर' का अवबोध नहीं होता, इसलिए उसका कोई भी स्पर्श नहीं करता, नहीं छूता ।

२२. तरसैव न केवलं विभोर्मतिमत्ताधिकवृद्धिमश्नुते ।
तरसोपि मतिः प्रवर्धते , तदुदीर्णोस्ति धियैव धीधनः ।।

स्वामी की मतिमत्ता केवल बल से ही अधिक वृद्धि को प्राप्त नहीं होती । बुद्धि शक्ति से बड़ी है । बुद्धि के कारण ही अमात्य 'धीधन' कहलाता है ।

२३. कुलकेतुरिहोच्यते स यः , स्वकुलं रक्षति सर्वथापदः ।
प्रियबन्धुरिभो हि यूथपोऽधिकशक्तिर्हरिरेक एव यत् ।।

वही पुरुष कुल-केतु (कुल का मुखिया) कहलाता है जो आपदाओं से अपने कुल की सर्वथा रक्षा करता है । हाथी प्रियबन्धु (अपने बन्धुओं में प्रिय) होने के कारण यूथपति होता है । सिंह उससे अधिक शक्तिशाली होता है परन्तु प्रियबन्धु नहीं होने के कारण वह अकेला रहता है ।

२४. अविमृश्य करोति यः क्रियां, बहुधा सोऽनुशयीत[1] तत्फले।
युधि धन्वनि नामिते बलात्, किल भग्ने विदधीत किं बली?

जो बिना सोचे-समझे प्रवृत्ति करता है, उसे परिणाम काल में (फल के समय) बहुत बार पश्चात्ताप करना पड़ता है। बलशाली योद्धा का धनुष्य यदि हठपूर्वक तानने पर टूट जाए तो भला वह युद्ध में क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं।

२५. अहमेव करोमि दुर्नयं, यदि तर्हि प्रकरोति को नयम्।
शुचये सुरवाहिनी[2]जलं, जगतामस्ति तदेव साम्प्रतम्[3] ॥

यदि मैं ही अन्याय कर रहा हूँ तो दूसरा कौन न्याय करेगा? लोगों के लिए गंगा का जल शुद्धि के लिए है। यही उसके लिए उचित है।

२६. नृपनीतिलताऽधिरोपिता, जगदावाल[4]पदे मयाद्य सा।
बलिबन्धुवधैकपर्शुना, कथमुच्छिद्यत एव मूलतः ॥

मैंने जगत् की क्यारी में राजा की नीति रूपी लता का आरोपण किया था। किन्तु आज मैं बलशाली भ्रातृघातक पर्शु से उसे जड़ से कैसे उखाड़ दूं?

२७. सुलभा हरिणीदृशः श्रियः, खलु राज्यस्थितयोऽप्यदुर्लभाः।
न हि बन्धुरवाप्यते पुनर्विधुरे[5] तिष्ठति यो वृतीयितुम्[6] ॥

इस संसार में सुन्दर स्त्रियाँ और ऐश्वर्य सुलभ है। राज्य की स्थिति भी दुर्लभ नहीं है। किन्तु वैसा भाई मिलना कठिन है जो आपत्-काल में अपने बन्धु को घेरकर बैठ सके।

२८. न हि तातकुलं कलङ्क्यते, विशदं बन्धुवधेन सांप्रतम्।
कुरुते निलयं सुधामयं, किल को धूम्रभरेण कश्मलम्?

---

१. अनुशेते—पश्चात्तपति।
२. सुरवाहिनी—गंगा नदी।
३. साम्प्रतं—उचितं।
४. आवालं—पौधे के चारों ओर पानी ठहरने के लिए बनाया गया गढा—(स्यादालवालमावालमावापः स्थानकं च सः—अभि० ४।१६१)
५. विधुरे—कष्टे।
६. वृतीयितुम्—वृतिरिवाचरितुम्।

मैं भाई का वध कर पिताश्री के पवित्र कुल को कलंकित नहीं करूंगा। कौन व्यक्ति अपने सुधा-धवलित घर को धूएं के समूह से मलिन करना चाहेगा ?

२९. अजितेऽपि जितेऽपि बान्धवे, मम वाच्यं स्फुरतीति भूतले।
कलिताखिलभूमिभून्नयो, भरतेशोऽकृत बन्धुविग्रहम् ॥

भाई को न जीतने पर या जीत लेने पर भी सारे संसार में मेरी निन्दा होगी कि समस्त राजाओं की नीति को जानने वाले भारत के अधिपति भरत ने भाई के साथ संग्राम किया।

३०. इति वादिन एव भूविभोः, समदोऽभ्येत्य सुषेणसैन्यराट्।
करचुम्बितभालपट्टिकः, पुरतः शिष्य इवास्त सद्गुरोः ॥

महाराज भरत इस प्रकार बोल ही रहे थे कि सुप्रसन्न सेनापति सुषेण वहां आया और हाथ जोड़कर भरत के सामने बैठ गया जैसे सद्गुरु के आगे शिष्य बैठता है।

३१. मगध[1]ध्वनिमिश्रमन्मथध्वज[2]नादः प्रथमं निषिद्ध्यताम्।
चमराञ्चितवारवर्णिनीकरयुक्कङ्कणसंरवोद्धतः ॥

महाराज! पहले आप उस नाद को बंद करायें जो कि मंगल-पाठक व्यक्तियों की ध्वनि से मिश्रित होकर बाजे से निकल रहा है और जो चंवर डुलाने वाली वेश्याओं के हाथों के कंकण से उठनेवाली ध्वनि से उद्धत हो रहा है।

३२. अथ भारतवासव! श्रुती[3], गिरि[4] मे मन्त्ररसैकसद्मनि[5]।
विनिधेहि[6] गिरिः स्वकन्यके, इव सारस्वततीरसंमुखे ॥

'भारतेश! जैसे पर्वत अपनी कन्याओं (गंगा-यमुना) को समुद्र के तीर के अभिमुख भेजता है, वैसे ही मैं मेरी मनन योग्य वाणी आपके कानों के तट पर प्रेषित कर रहा हूं। आप उस पर कान दें—ध्यान से सुनें।'

---

१. मगधः—मंगल-पाठक (मागधो मगधः—अभि० ३।४५९)
२. मन्मथध्वजः—बाजा (वाद्यं वादित्रमातोद्यं तूर्यं तूरं स्मरध्वजः—अभि० २।२००)
३. श्रुती—कर्णौ।
४. गिरि—भारत्याम् (वाणी में)
५. मंत्ररसैकसद्मनि—यह गिरि का विशेषण है। किं विशिष्टायां गिरि—मंत्र...—आलोचन-रसैकवसतौ।
६. विनिधेहि—स्थापय।

३३. त्वयि दिग्विजयोद्यते प्रभो!, विदधे कैश्चन चापचापलम् ।
विनिवेदयितुं बलं तवेत्ययमारक्षति नः स्वसेविनः ॥

प्रभो ! जब आप दिग्विजय के लिए उद्यत हुए थे तब कुछ राजाओं ने अपना बल आपको ज्ञापित करने के लिए धनुष्य की चपलता की थी। उन्होंने सोचा कि यह चक्रवर्ती हमें अपना सेवक मान कर हमारी रक्षा करेगा।

३४. प्रतिपक्षवनद्रुमावलीपरिदाहाय दवायितं[1] तदा ।
भवता पवनायितं[2] मया, तदनुस्थातुमलं न कोप्यभूत् ॥

प्रभो ! शत्रुरूपी वन-वृक्षावली को दहन करने के लिए जब आप दवाग्नि के समान हुए तब मैंने उसको प्रज्वलित करने के लिए पवन का काम किया था। उसके बाद कोई भी शत्रु वहां ठहर नहीं सका।

३५. रिपुवंशकृते तवाग्रतोऽहमभूवं परशुर्नृपोत्तम ! ।
समुदेष्यत एव किं रवेररुणोऽग्रे न भवेत् तमोहृते ?

'नृपोत्तम ! शत्रुओं के वंश को नष्ट करने के लिए आपके आगे मैं परशु बना रहा। क्या उदीयमान सूर्य के आगे उसका सारथी अरुण अन्धकार नष्ट नहीं करता ?

३६. अभवं जितकाशि[3]शेखरस्तवतेजोभिरहं पदे पदे ।
तरणेरिव दीप्तिभिर्भृशं, ज्वलति ध्वान्तहृते धनञ्जयः[4] ॥

प्रभो ! मैं आपके तेज के प्रभाव से स्थान-स्थान पर विजयी-शेखर होता रहा हूं, जैसे सूर्य की रश्मियों से अग्नि अंधकार-हरण के लिए अधिक प्रज्वलित होती है।

३७. विरचय्य भवन्तमुच्चकैः, समरं द्वादशहायनावधिम् ।
विनमिर्नमिना सहाऽनमद्, रिपवो हि प्रबला नताः श्रिये ॥

प्रभो ! आपने बारह वर्षों तक नमि और विनमि के साथ घोर संग्राम कर उन्हें नत कर दिया, जीत लिया। देव ! प्रबल शत्रुओं को नमाना राजाओं की शोभा के लिए होता है।

---

१. दवायितं—दव इव आचरितम् ।
२. पवनायितं—वायुवदाचरितम् ।
३. जितकाशी—युद्ध में विजयी (जितावहो जितकाशी—अभि० ३।४७०)
४. धनञ्जयः—वह्नि (धनञ्जयो हव्यहविर्हुताशनः—अभि० ४।१६३)

३८. विहिते मनसि त्वयायितुं[1], स दरीद्वारकपाटसंपुटम् ।
उदघाटयदुग्रतेजसा, त्रिदशो[2] यश्चलयेद् भुवं भ्रुवा ॥

देव ! वहां आकर आपने जैसे ही वैताढ्य गिरि की कन्दरा के द्वारों को खोलने का संकल्प किया, वैसे ही उस स्थान का अधिष्ठाता देव, जो अपनी परम तेजस्वी भ्रू-भंगिमा से सारे लोक को प्रकंपित कर देता है, उपस्थित हुआ और उसने कन्दरा के द्वार के कपाट खोल डाले।

३९. निचखान[3] तवाभिधाङ्कितान्, विजयस्तम्भभरानहं विभो ! ।
सुरशैवलिनीतटान्तरेष्विव कीलान् भवदीयकीर्त्तिगोः ॥

प्रभो ! मैंने गंगानदी के तटों के बीच आपके नामांकित विजयस्तम्भ स्थापित किए। वे आपकी कीर्तिरूपी गाय के लिए खूंटे का काम कर रहे हैं।

४०. निधयोऽपि तवैव दृश्यतां, गतवन्तः सुकृतैरिवाहृताः ।
सुरसिन्धुमनोरथा इव प्रचितश्रीभरभासुरान्तराः[4] ॥

प्रभो ! उपचित लक्ष्मी के समूह से अन्तराल तक प्रकाशित होनेवाली निधियां तो आपको ही दृष्टिगोचर हुई। मानो कि वे आपके पुण्यों से खींची हुई आई हों अथवा गंगा के मनोरथ आप तक पहुंचे हों।

४१. इति भारतवर्षपर्षदि, प्रभुतामाप्तवतः प्रभोऽधुना ।
अभवत् तव काचिदूनता, द्युसदां पत्युरिवाधिकश्रियः ॥

प्रभो ! इस समय आप भरतक्षेत्र की परिषद् में प्रभुता प्राप्त और इन्द्र की भांति अधिक लक्ष्मी वाले हैं। आपके कोई कमी नहीं है।

४२. न सुरो न च किन्नरो नरो, न च विद्याधरकुञ्जरोऽपि न ।
तव येन निदेशनीरजं[5], शिरसाऽधार्यत नो जगत्त्रये ॥

---

१. आयितुम्—आगन्तुम्।

२. त्रिदशः—देव।

३. निचखान—अध्यारोपयम्। अत्र णवादेः उत्तमपुरुषस्य एकवचनम्।

४. प्रचित········—प्रचितः—पुष्टः, यः श्रीभरो—लक्ष्म्यातिशयस्तेन भासुरं—दीप्रं अन्तरा—मध्यं एषाम्—ते निधयः।

५. निदेशनीरजं—आज्ञाकमलम्।

प्रभो ! तीनों लोक में ऐसा कोई देव, किन्नर, मनुष्य या विद्याधरेन्द्र नहीं है जिसने आपके आदेशरूपी कमल को शिर पर धारण न किया हो।

४३. तदियं तवका सरस्वती, बलवान् बाहुबलिर्यथोच्यते।
इतराद्रिमहोन्नतत्वतः, किमु नीचोत्र सुपर्वपर्वतः ?

आपकी यह क्या वाणी है कि आप बाहुबली को बलवान् बता रहे हैं। दूसरे पर्वतों की बहुत ऊंचाई होने पर भी क्या मेरु पर्वत नीचा हो जाता है ?

४४. विजितस्तव बान्धवत्वतो, न हि केनापि महीभुजा त्वयम्।
कलया किल[1] सूर्यदत्तयाऽधिकदीप्तिर्भवतीह चन्द्रमाः॥

बाहुबली आपका भाई है, इसलिए इसको किसी राजा ने नहीं जीता। यह विश्रुत है कि सूर्य द्वारा प्रदत्त कला से चन्द्रमा अधिक दीप्तिवाला होता है।

४५ अनुजस्तव बान्धवो बली, यदि सीमन्तकभृद्धरेरिव[2]।
विभवत्यथ किं न तर्ह्यसौ, चतुराशान्तजयी भवानिव॥

आपका छोटा भाई बाहुबली इन्द्र के छोटे भाई विष्णु की तरह यदि बलशाली है तो क्या वह चारों दिशाओं को जीतने में आपकी भाँति समर्थ नहीं हो जाता ?

४६. प्रथमं भवदत्युपेक्षणाद्, वृषकेतोस्तनयत्वतः पुनः।
बलवानिति सर्वथा प्रथाऽभवदस्य स्मयवानयं ततः॥

प्रभो ! पहली बात यह है कि आपकी अति उपेक्षा होने तथा दूसरे में ऋषभ का पुत्र होने के कारण 'बाहुबली बलवान् है'—सर्वत्र ऐसी प्रसिद्धि हो गई है। इसलिए वह अहंकारी हो गया है।

४७. अयमीश्वर एकमण्डले, भरते त्वं पतिरस्तशात्रवः।
बलरिक्तबलातिरिक्तयोरिदमेवास्ति सदन्तरं द्वयोः॥

बाहुबली एक मंडल का राजा है और समस्त शत्रुओं को अस्त करने वाले आप समूचे

---

१. किल - श्रूयते।

२. अर्थ की दृष्टि से यहां 'स्यमन्तकभृत्' होना चाहिए। 'स्यमन्तक' भगवान् विष्णु के हाथ में रही मणि का नाम है। (अभि० २।१३७—मणिः स्यमन्तको हस्ते)

भूमंडल के स्वामी हैं। वह सेना से रिक्त है और आपके पास अतिरिक्त सेना है (वह वल से रिक्त है और आप अतिरिक्त वल वाले हैं)—यही तो आप दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

४८. अथवार्षभितेजसां भरे, बलवत्ता किमु चित्रकारिणी।
जलधेर्लहरीचयोच्चताविषये कोपि न विस्मयो महान्॥

अथवा ऋषभ के कुल में उत्पन्न व्यक्तियों के तेजस्वी जीवन में वलवत्ता हो तो वह आश्चर्य ही क्या है? समुद्र की लहरें यदि ऊँची होती हैं तो उसमें कोई महान् विस्मय नहीं होता।

४९. विनिवेश्य विभुर्निजे पदे, वलिनं त्वां परिभाव्य नाभिसूः।
व्रतमाददिवांस्ततोभवानिह सौभ्रात्रमलूलुपन्न हि॥

नाभि के पुत्र स्वामी ऋषभ ने आपको वलशाली जाना इसलिए अपने पद पर आपको स्थापित कर वे प्रव्रजित हो गए। इसीलिए आपने वन्धुता का लोप नहीं किया।

५०. प्रणयात् त्वमजूहवस्तरां[1], निजवन्धुं न स आगतः स्वयम्।
न च चारपुरोभिमानवाननुनिन्येऽनुनयो हि नेदृशाम्॥

प्रेम के कारण ही आपने अपने भाई को वुलाया। वे स्वयं नहीं आए। वे इतने अभिमानी हैं कि दूत के समक्ष भी उन्होंने अपना अनुनय नहीं दिखाया। [ऐसे अहंकारी व्यक्तियों का कैसा विनय?

५१. प्रणयस्त्वयि नाभिभूपसूजननाकाशदिनेश! यादृशः।
न हि तादृश एव वान्धवे, धृतये[2] हि प्रणयो द्विपक्षतः॥

हे ऋषभ वंश रूपी आकाश के सूर्य! आपमें जैसा प्रेम है वैसा प्रेम आपके भाई में नहीं है। दोनों ओर से होने वाला प्रेम ही सुख के लिए होता है।

५२. प्रणयामृतवीचिसञ्चयं, स्मयरेणुर्हृदयस्थलीभवा।
किल कोपसमीरणोत्थिता, कुरुते म्लानिमपङ्किलं[3] क्षणात्॥

---

१. अजूहवस्तराम्—आकारयामासिथ।
२. धृतये—सुखाय।
३. म्लानिमपङ्किलं—मालिन्यकर्दमाढ्यम्।

हृदय से उठे हुए अहंकार के रजःकण कोप रूपी पवन से वीजित होकर प्रेम सुधा के वीचि-संचय को क्षण में ही मलिन कीचड़ से भर देते हैं।

५३. वसुधेयमपीहते पतिं, न हि बन्धुप्रणयादिविह्वलम्।
प्रणयीह मदीहकः[1] कथं, त्वितरत्रेति तदीयतर्कणात्॥

यह पृथ्वी भी भाई के प्रेम से विह्वल हुए व्यक्ति को स्वामी के रूप में नहीं चाहती। क्योंकि वह यह तर्क उपस्थित करती है कि जो दूसरे बन्धु आदि जनों में अनुरक्त है, वह मेरा प्रणयी कैसे हो सकता है?

५४. प्रणयो यदुपाधिमत्तया, परिहीयेत दिने दिनेऽधिकम्।
अमृताम्बुनिधेरपांभरं, किमु न श्यामयते मषीचयः?

उपाधिमत्ता (छलना) से प्रेम प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। क्या अमृत के समुद्र क पानी को स्याही का ढेर श्यामल नहीं कर देता?

५५. नृपतेः स्वजनाश्च बान्धवा, बहवो नोचित एषु संस्तवः।
अवमन्वत एव संस्तुता, यदधीशं जरिणं यथाऽजराः॥

राजाओं के स्वजन और बन्धु अनेक होते हैं किन्तु उनके साथ परिचय करना उचित नहीं है। क्योंकि वे परिचित होकर अपने स्वामी की अवमानना करते हैं जैसे युवक बूढ़ों की अवमानना करते हैं।

५६. अपि दुर्नयकारिणं निजं, नृपतिः प्रीतिभरान्न[2] बाधते।
प्रणये कलहो न सांप्रतं, वसुधाधीश इवाऽनयच्छलः[3]॥

दूसरी बात यह है कि निजी व्यक्ति यदि अन्याय भी करता है तो राजा प्रीति की अधिकता के कारण उसे रोक नहीं पाता। क्योंकि प्रेम में कलह उचित नहीं होता जैसे राजा में अनीति या छल उचित नहीं होता।

५७. प्रणयस्य वशंवदो नृपः, स्वजनं दुर्नयिनं विवर्धयेत्।
निवसन्नपि विग्रहान्तरे, विकृतो व्याधिरलं [illegible] ?

प्रेम के वशीभूत होकर राजा यदि अन्याय पर चलने वाले अपने निजी व्यक्ति को बढावा देता है तो वह गुण के लिए नहीं होता। जैसे शरीर के भीतर रहता हुआ भी विकृत रोग क्या गुण के लिए हो सकता है? कभी नहीं।

५८. नृपतिर्न सखेति वाक्यतः, सचिवाद्या अपि बिभ्यति ध्रुवम्।
पृथुलज्ज्वलदुग्रतेजसो, दवधूमध्वजतो[1] गजा इव॥

'राजा किसी का मित्र नहीं होता'—इस उक्ति के आधार पर सचिव आदि सभी व्यक्ति उससे सदा उसी प्रकार भय खाते हैं जिस प्रकार जंगल में विशाल पैमाने पर प्रदीप्त उग्र तेज वाली दावाग्नि से हाथी भय खाते हैं।

५९. बहवो नृपसंपदर्थिनो, बहवश्चापि खला भुवस्तले।
न हि तेषु महीभुजा स्वयं, प्रविधेयो गतशङ्कसंस्तवः॥

इस संसार में अनेक व्यक्ति राजाओं की संपदा के अभिलाषी हैं और अनेक व्यक्ति दुर्जन हैं। राजा को स्वयं उन व्यक्तियों के साथ निःशंक होकर परिचय नहीं करना चाहिए।

६०. चकते[2] प्रतिपक्षलक्षतो, गजयूथान्न हि केसरीव यः।
स हि राज्यमखण्डविक्रमः, परिभुङ्क्ते ह्यभयः श्रियां पदम्॥

जो राजा लाखों शत्रुओं से भयभीत नहीं होता, वही अखंड पराक्रमी राजा राज्य का उपभोग कर सकता है। जैसे गजयूथ से नहीं डरने वाला केसरी वन-संपदा का उपभोग करता है। क्योंकि अभय ही संपदा का स्थान है।

६१. अबलोऽपि रिपुर्महीभुजा, हृदये शङ्कुरिवाभिमन्यताम्।
उदयन्नपि कुञ्जराशनाङ्कुरलेशो[3] न हि किं विहारभित्[4]॥

राजा को चाहिए कि वह शक्तिहीन शत्रु को भी हृदय में शल्य की भांति माने प्रासाद में उगता हुआ पीपल के वृक्ष का अंकुर क्या सारे प्रासाद को नष्ट नहीं कर देता?

---

१. दवधूमध्वजः—दावाग्नि।

२. चकते—बिभेति।

३. कुञ्जराशनः—पीपल का वृक्ष (पिप्पलोश्वत्थः श्रीवृक्षः कुञ्जराशनः—अभि० ४।१९७)

४. विहारभित्—प्रासादपातकः।

हृदय से उठे हुए अहंकार के रजःकण कोप रूपी पवन से वीजित होकर प्रेम सुधा के वीचि-संचय को क्षण में ही मलिन कीचड़ से भर देते हैं।

५३. वसुधेयमपीहते पतिं, न हि बन्धुप्रणयादिविह्वलम्।
प्रणयीह मदीहकः[1] कथं, त्वितरत्रेति तदीयतर्कणात्॥

यह पृथ्वी भी भाई के प्रेम से विह्वल हुए व्यक्ति को स्वामी के रूप में नहीं चाहती। क्योंकि वह यह तर्क उपस्थित करती है कि जो दूसरे बन्धु आदि जनों में अनुरक्त है, वह मेरा प्रणयी कैसे हो सकता है?

५४. प्रणयो यदुपाधिमत्तया, परिहीयेत दिने दिनेऽधिकम्।
अमृताम्बुनिधेरपांभरं, किमु न श्यामयते मषीचयः?

उपाधिमत्ता (छलना) से प्रेम प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। क्या अमृत के समुद्र क पानी को स्याही का ढेर श्यामल नहीं कर देता?

५५. नृपतेः स्वजनाश्च बान्धवा, बहवो नोचित एषु संस्तवः।
अवमन्वत एव संस्तुता, यदधीशं जरिणं यथाऽजराः॥

राजाओं के स्वजन और बन्धु अनेक होते हैं किन्तु उनके साथ परिचय करना उचित नहीं है। क्योंकि वे परिचित होकर अपने स्वामी की अवमानना करते हैं जैसे युवक बूढ़ों की अवमानना करते हैं।

५६. अपि दुर्नयकारिणं निजं, नृपतिः प्रीतिभरान्न[2] बाधते।
प्रणये कलहो न सांप्रतं, वसुधाधीश इवाऽनयच्छलः[3]॥

दूसरी बात यह है कि निजी व्यक्ति यदि अन्याय भी करता है तो राजा प्रीति की अधिकता के कारण उसे रोक नहीं पाता। क्योंकि प्रेम में कलह उचित नहीं होता जैसे राजा में अनीति या छल उचित नहीं होता।

५७. प्रणयस्य वशंवदो नृपः, स्वजनं दुर्नयिनं विवर्धयेत्।
निवसन्नपि विग्रहान्तरे, विकृतो व्याधिरलं [illegible]

प्रेम के वशीभूत होकर राजा यदि अन्याय पर चलने वाले अपने निजी व्यक्ति को बढावा देता है तो वह गुण के लिए नहीं होता। जैसे शरीर के भीतर रहता हुआ भी विकृत रोग क्या गुण के लिए हो सकता है? कभी नहीं।

५८. नृपतिर्न सखेति वाक्यतः, सचिवाद्या अपि बिभ्यति ध्रुवम्।
पृथुलज्वलदुग्रतेजसो, दवधूमध्वजतो[1] गजा इव॥

'राजा किसी का मित्र नहीं होता'—इस उक्ति के आधार पर सचिव आदि सभी व्यक्ति उससे सदा उसी प्रकार भय खाते हैं जिस प्रकार जंगल में विशाल पैमाने पर प्रदीप्त उग्र तेज वाली दावाग्नि से हाथी भय खाते हैं।

५९. बहवो नृपसंपदर्थिनो, बहवश्चापि खला भुवस्तले।
न हि तेषु महीभुजा स्वयं, प्रविधेयो गतशङ्कसंस्तवः॥

इस संसार में अनेक व्यक्ति राजाओं की संपदा के अभिलाषी हैं और अनेक व्यक्ति दुर्जन हैं। राजा को स्वयं उन व्यक्तियों के साथ निःशंक होकर परिचय नहीं करना चाहिए।

६०. चकते[2] प्रतिपक्षलक्षतो, गजयूथान्न हि केसरीव यः।
स हि राज्यमखण्डविक्रमः, परिभुङ्क्ते ह्यभयः श्रियां पदम्॥

जो राजा लाखों शत्रुओं से भयभीत नहीं होता, वही अखंड पराक्रमी राजा राज्य का उपभोग कर सकता है। जैसे गजयूथ से नहीं डरने वाला केसरी वन-संपदा का उपभोग करता है। क्योंकि अभय ही संपदा का स्थान है।

६१. अबलोऽपि रिपुर्महीभुजा, हृदये शङ्कुरिवाभिमन्यताम्।
उदयन्नपि कुञ्जराशनाङ्कुरलेशो[3] न हि किं विहारभित्[4]॥

राजा को चाहिए कि वह शक्तिहीन शत्रु को भी हृदय में शल्य की भांति माने। प्रासाद में उगता हुआ पीपल के वृक्ष का अंकुर क्या सारे प्रासाद को नष्ट नहीं कर देता?

---

१. दवधूमध्वजः—दावाग्नि।
२. चकते—बिभेति।
३. कुञ्जराशनः—पीपल का वृक्ष (पिप्पलोऽश्वत्थः श्रीवृक्षः कुञ्जराशनः—अभि० ४।१९७)
४. विहारभित्—प्रासादपातकः।

६२. न पृथग्जनवत्[1] क्षितीश्वरो, दधते[2] दैन्यभराद् दयालुताम् ।
सदयस्त्वयमित्युदीरणादवजानन्ति जना रयादिमम् ॥

सामान्य व्यक्तियों की भांति राजा दीनता पर दयालुता नहीं दिखाते। क्योंकि 'यह राजा तो दयालु है'...ऐसा कहकर लोग उसकी शीघ्र ही अवहेलना करने लग जाते हैं।

६३. वसुधाधिपतेर्वचःशरा, उपलीभूय न यैरुरीकृताः ।
मृदुता न हि तेषु सांप्रतं, घनटंकी भवतीह तन्नृपः ॥

जिन व्यक्तियों ने पाषाण बनकर राजा के वचन-रूपी बाणों को नहीं झेला, उनके प्रति मृदुता उचित नहीं होती। उनके प्रति राजा घनटंकी—पाषाण को चीरने वाली छेनी की तरह हो जाए।

६४. स्वजनैर्न च बान्धवैर्न वा, न च वाहैः पवनातिपातिभिः ।
विजयेन विशिष्यते नृपो, महसैवात्र मणिर्महानपि ॥

राजा अपने स्वजनों, बन्धुओं और वायु-वेग से चलनेवाले घोड़ों से विशिष्ट नहीं होता, किन्तु वह विशिष्ट होता है अपनी विजय से। जैसे लोक में महान् मणि भी अपने तेज से ही विशिष्ट होता है।

६५. विनिहत्य रणाङ्गणागतं, स्वपि बन्धुं जयमर्जयेन्नृपः ।
कलयेद् ग्रहकान्तिसंहृतेः[3], किमु[4] तेजस्विवरत्वमंशुमान् ॥

समरांगण में आए हुए व्यक्ति को, भले फिर वह अपना भाई भी हो, मारकर राजा को जय अर्जित करनी चाहिए। मैं वितर्क करता हूं कि ग्रहों की कांति का संहरण करने के कारण ही सूर्य तेजस्विता को प्राप्त होता है।

६६. अनुनीतिमतां वरः क्वचित्, क्वचिदीर्ष्यालुरसौ क्षितीश्वरः ।
अनुनीतिरपेक्षयाञ्चिता, प्रतिपक्षेषु यदायतौ श्रिये ॥

जाता है। शत्रुओं के प्रति किसी अपेक्षा विशेष से परिपूर्ण अनुनीति को वरतना भविष्य में सुख-संपदा के लिए होता है। (यदि प्रतिपक्ष से कुछ ग्राह्य है तो अनुनीति ही युक्त है)।

६७. सरुषा विनिषेधयेद् भ्रुवा, स्वजनान् दुर्नयकारिणो नृपः।
शलभानिव कज्जलध्वजः[1], स्फुरदर्चिःप्रथया विदूरतः॥

राजा अन्याय पर चलने वाले अपने स्वजनों का रोषपूर्ण भृकुटी से निषेध करे। जैसे प्रदीप अपनी स्फुरित अर्चि की ज्वाला से दूर से ही शलभों का निवारण कर देता है।

६८. अनुनीतिरपि क्षमाभृतां, सविधेरेव समीपगस्य वा।
फलसंपदिव क्षमारुहामुचिता स्वादुरसश्रियाञ्चिता॥

राजा की अनुनीति भी पास में रहने वालों के लिए या पास में आने वालों के लिए ही फलप्रद होती है। जैसे वृक्षों की स्वादुरस से युक्त फल-संपदा पास आने वाले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है।

६९. यदि भक्तिरिहास्ति बान्धवे, समितं त्वां हरितां जयात्तदा।
न कथं स्वयमाययावयं, मिलनौत्सुक्यपुषो हि सज्जनाः॥

यदि बाहुबली की अपने भाई भरत के प्रति भक्ति है तो जब आप चारों दिशाओं में विजय प्राप्त कर आए थे, तब वे स्वयं आपके पास क्यों नहीं आए? क्योंकि सज्जन व्यक्ति तो मिलने के लिए उत्सुक होते हैं।

७०. अभिषेकविधौ तव स्वयं, समितासंख्यसुरासुरेश्वरे।
कथमागतवान्न सांप्रतं, स्वजनानां समये हि सङ्गमः॥

देव! आपके अभिषेक-उत्सव में असंख्य देव, असुर और राजा उपस्थित हुए थे किन्तु वे बाहुबली क्यों नहीं आए? क्योंकि अवसर पर ही स्वजनों का मिलन उचित होता है।

७१. अथ युत्कृपये प्रबोधितश्चरसंप्रेषणगर्जितारवैः।
प्रथमं भरतावमुद्धतो, जलदेनेव कृषीवलः[2] कथम्?

---

१. कज्जलध्वजः—दीपक (प्रदीपः कज्जलध्वजः)—अभि० ३।३५०)
२. कृषीवलः—किसान (हली कृषिककार्षकौ। कृषिवलोऽपि—अभि० ३।५५४)

६२. न पृथग्जनवत्[1] क्षितीश्वरो , दधते[2] दैन्यभराद् दयालुताम् ।
सदयस्त्वयमित्युदीरणादवजानन्ति जना रयादिमम् ।।

सामान्य व्यक्तियों की भांति राजा दीनता पर दयालुता नहीं दिखाते। क्योंकि 'यह राजा तो दयालु है'···ऐसा कहकर लोग उसकी शीघ्र ही अवहेलना करने लग जाते हैं ।

६३. वसुधाधिपतेर्वचःशरा , उपलीभूय न यैरुरीकृताः ।
मृदुता न हि तेषु सांप्रतं , घनटंकी भवतीह तन्नृपः ।।

जिन व्यक्तियों ने पाषाण बनकर राजा के वचन-रूपी बाणों को नहीं झेला, उनके प्रति मृदुता उचित नहीं होती। उनके प्रति राजा घनटंकी—पाषाण को चीरने वाली छेनी की तरह हो जाए।

६४. स्वजनैर्न च बान्धवैर्न वा , न च वाहैः पवनातिपातिभिः ।
विजयेन विशिष्यते नृपो , महसेवात्र मणिर्महानपि ।।

राजा अपने स्वजनों, बन्धुओं और वायु-वेग से चलनेवाले घोड़ों से विशिष्ट नहीं होता, किन्तु वह विशिष्ट होता है अपनी विजय से। जैसे लोक में महान् मणि भी अपने तेज से ही विशिष्ट होता है।

६५. विनिहत्य रणाङ्गणागतं , त्वपि बन्धुं जयमर्जयेन्नृपः ।
कलयेद् ग्रहकान्तिसंहृतेः[3], किमु[4] तेजस्विवरत्वमंशुमान् ।।

समरांगण में आए हुए व्यक्ति को, भले फिर वह अपना भाई भी हो, मारकर राजा को जय अर्जित करनी चाहिए। मैं वितर्क करता हूं कि ग्रहों की कांति का संहरण करने के कारण ही सूर्य तेजस्विता को प्राप्त होता है।

६६. अनुनीतिमतां वरः क्वचित् , क्वचिदीर्ष्यालुरसौ क्षितीश्वरः ।
अनुनीतिरपेक्षयाञ्चिता , प्रतिपक्षेषु यदायतौ श्रिये ।।

पांचवां सर्ग

प्रतिपाद्य	भरत की सेना का युद्ध के लिए सज्जित होना।
श्लोक परिमाण	८१
छन्द	द्रुतविलंवित।
लक्षण	'द्रुतविलंवितमाह नभौ भरौ।' इसमें १२ अक्षर होते हैं। चौथा, सातवां, दशवां और बारहवां अक्षर गुरु होता है। इसका गण इस प्रकार है—(एक नगण, दो भगण और एक रगण—।।।, ऽ।। ऽ।।, ऽ।ऽ)।

५. दृशमथाक्षिपदुल्वणसञ्चरद्रिपुविपत्तिषु पत्तिषु सैन्यपः ।
कटकरार्पितखड्गधनुष्वसौ , गुरुकलापकलापविराजिषु ।।

तब सेनापति ने शत्रुओं के लिए स्पष्ट आती हुई विपत्ति रूप अपनी सेनाओं पर एक दृष्टि डाली । सेना के सुभटों के हाथों में खड्ग और धनुष थे । वे सेनाएँ विशाल तूणीरों के समूह से शोभित हो रही थीं ।

६. इति चमूमवलोक्य चमूपतिः , प्रगुणितां गुणिलान्तकविग्रहाम् ।
नृपतिमेवमुवाच तनूभवद्रसमयः समयः शरदस्त्वयम् ।।

सेनापति ने सुसज्जित और बाहुबली के साथ युद्ध करने की इच्छुक सेना को देखकर महाराज भरत से कहा—'राजन् ! यह शरद ऋतु का समय अल्प पानी वाला होता है ।

७. शरदुपैति विधातुमनन्तरं , शुभवतो भवतो विनिषेवणम् ।
विकचवारिरुहाननशालिनी , विकलहं कलहंसशुचिस्मिता ।।

विकसित वृक्षों के आनन वाली और कलहंसो की भांति विशुद्ध मुस्कान वाली यह शरद्-ऋतु पुण्यशाली आपकी प्रेम-भाव से सेवा करने के लिए आ रही है ।

८. अरिषु ते महसा सममुग्रतां , शरदि नार दिनाधिपधाम किम् ?
वितनुते च गतिं तव गाधतः , सुरवहा रवहारिसितच्छदा ।।

शरद् ऋतु के समय वैरियों में आपके तेज के साथ-साथ क्या सूर्य का तेज तीव्र नहीं हो जाता ? तथा तटों पर स्थित हंसों के शब्दों से मनोज्ञ गंगा उस समय अगाध न होने के कारण आपकी गति में सहायक होगी ।

९. सुरभिगन्धिविकस्वरमल्लिकावनमहीनमहीन! विराजते ।
किममुनेति दधत् परितर्कणं , न विषमा विषमायुधपत्रिणः ।।

हे अखंड भारत के स्वामिन् ! इस ऋतु में सुगन्धित और विकसित मल्लिका के वन शोभित होते हैं । ये पुष्पित वन यह तर्कणा उपस्थित करते हैं कि क्या इन मल्लिका के वनों से कामदेव के बाण विषम नहीं हो जाते ? अवश्य होते हैं ।

१०. अहनि चित्तमुपास्यति कामिनां , कमलिनीमलिनीकुलसंश्रिताम् ।
जलदमुक्ततया निशि निर्मलं , सितरुचं तरुचञ्चिरुचं पुनः ।।

राजन् ! इस ऋतु में कामी व्यक्तियों का चित्त दिन में भ्रमरों के समूह से सेवित कमलिनी की उपासना करता है और रात में बादलों से मुक्त होने के कारण विशद तथा वृक्षों में व्याप्त किरणों वाले चन्द्रमा की उपासना करता है।

११. नृप ! तनूभवति क्रमतोऽधुना, वनवलं नवलम्भितसस्यकम् ।
स्फुटविलोकयमानतटान्तरं, प्रमदयन् मदयन्नलिनीदलैः ।।

जिसने नये धान्य को उत्पन्न किया है उस पानी की शक्ति क्रमशः न्यून होती जा रही है। इसलिए दोनों तटों का अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाता है। इस समय वह पानी नलिनी दलों के कारण मद करता हुआ दूसरों को हर्षित करता है।

१२. विलसितं किमिहातुलसंमर्दनं वृषभैर्वृषभैरववासितैः ।
बलचलत्ककुदैर्व्रजकानने, तव गवेन्द्र ! गवेन्द्रविनोदितैः ।।

हे गवेन्द्र ! इस शरद् ऋतु में आपके ग्वालों द्वारा प्रेरित वृषभ जो अत्यन्त हर्षित तथा शक्ति से चालित ककुदों से युक्त हैं, क्या गोकुल में जाकर क्रीडाएँ नहीं करते ?

१३. अतिविकस्वरकाशपरिस्फुरच्चमरयाऽमरयाचितसेवनम् ।
नृपममूमुदवब्जदलातपत्रपरया परयार्तुरपि श्रिया ।।

शरद् ऋतु ने अतिविकस्वर 'काश' नामक घास का चंवर डुलाने वाली तथा अब्जदल का छत्र करने वाली विशिष्ट संपदा के द्वारा देव-सेवित चक्रवर्ती भरत को प्रमुदित किया।

१४. सममिलेश्वर ! संप्रति दीप्यते, सकलया कलया सितरोचिषः ।
पृथुतमप्रथया प्रतिपत्तिथेः, कमलयाऽमलया तव जन्मतः ।।

हे पृथ्वीनाथ ! आपके जन्म से पवित्र हुई लक्ष्मी प्रतिपदा के चन्द्रमा की अत्यन्त प्रख्यात सभी कलाओं के साथ दीप्त हो रही है।

१५. किल भवानुररीकृत उल्लसद्विनयया न ययाऽभ्युदयद्भिया ।
त्वमिव नैव ऋतुर्विनिषेव्यते, जनतया नतया कलितोत्सवम् ।।

राजन् ! जिस उल्लसित विनयवाली जनता ने भयभीत होकर आपको स्वीकार नहीं किया उसने आपकी भाँति इस शरद्-ऋतु की भी उत्सुकता के साथ पर्युपासना नहीं की।

१६. शरदि पङ्कभरा न भवत्क्षया, मुमुदिरे मुदिरेभ्यविवर्द्धनात् ।
उपकृतापदि यस्तुदते युधे, विहितसज्जन ! सज्जन एव सः ॥

हे युद्ध के लिए सज्जित महाराज ! शरद् ऋतु में मेघ की ध्वनि का विच्छेद होने के कारण पंक-समूह क्षय-रोग से ग्रस्त होकर प्रमुदित नहीं हो रहे हैं। वही सज्जन होता है जो अपने उपकारी की आपदा के समय व्यथित होता है। (पंक का उपकारी मेघ है। शरद् ऋतु में मेघ क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण होने पर पंक भी क्षीण होने लगता है।)

१७. तव सभेव नरेश्वर ! सुन्दरा, तरुणयाऽरुणया सुमनःश्रिया ।
अधिकदत्तरतिर्वरसंचरन्, नवनरा वनराजिरराजत ॥

हे नरेश्वर ! यहाँ की वनराजि आप की सभा की तरह सुशोभित हो रही है। जैसे आपकी सभा तरुण और देदीप्यमान देवता तथा पंडितों की समृद्धि से सुन्दर है, जिसमें लोगों की अत्यधिक रति है और जिसमें प्रधान तथा तरुण व्यक्तियों का संचरण है वैसे ही वह वनराजि भी तरुण और लाल फूलों की शोभा से युक्त, अधिक आनन्द देने वाली और नए तरुण व्यक्तियों के संचरण से युक्त है।

१८. निववृते शिखिभिः सततोच्छलत्, कलमरालमऽरालमतिद्विषन् ! ।
इह विलोक्य शरत्समयं घनाघनगमं नगमञ्जुकलस्वनैः ॥

हे वक्र बुद्धिवालों से प्रीति नहीं करने वाले नरेश्वर ! जिसमें राजहंस सतत उछल-कूद करते हैं और जिसमें मेघ चले जाते हैं, उस शरद् ऋतु को देखकर, पर्वतों या वृक्षों को मंजुल और प्रिय केका से ध्वनित करने वाले मयूरों ने मुँह मोड़ लिया।

१९. इह भवानिव नित्यविवर्धिभिः, सुरभिभिः प्रसवैः प्रसवैर्नवैः ।
वनभुविप्रसरत्फलसन्ततिस्तरुतती रुतीव्रवयोगणा ॥

राजन् ! शरद् ऋतु की वृक्षों की श्रेणी आप ही की भाँति है। जैसे आप तरुण पुत्रों से सुशोभित होते हैं वैसे ही यह वृक्ष-श्रेणी नित्य बढ़ने वाले नए सुगन्धित फूलों से शोभित है। इसकी फल-सन्तति सारे वनभूमि में फैल रही है और इस पर बैठे पक्षीगण तीव्र शब्दों से कलरव कर रहे हैं।

२०. धनुरनुत्तरवी ! करपञ्जरे, नवमुवा वसुधाधिपचक्षुषाम् ।
नमयाविव गोपतिनाहृतं, रचय ताचय ! तापकरं द्विषाम् ॥

हे अनुत्तर बुद्धिवाले ! हे लक्ष्मी के संचेता ! आप अपने हाथ में शत्रुओं को तप्त करने वाला धनुष धारण करें। आप सभी राजाओं के नेत्रों के लिए नए अमृत के समान हैं। देव ! आप देखें, इस शरद् ऋतु में आप के भय से देवेन्द्र ने भी अपने इन्द्र-धनुष का संहरण कर लिया है।

२१. सपदि पीतनदीरमणोदयाच्छुचितरं चितरङ्ग ! सरिज्जलम् ।
कलय गूढपथं च तव द्विषां, गवि पदं विपदन्तकृतो भियाम् ॥

हे संचित रंगवाले राजन् ! अगस्त्य तारा के सद्यः उदित होने के कारण सरिताओं का निर्मल जल तथा विपदाओं का अन्त करने वाले आपके पृथ्वीतल पर उदित होने के कारण शत्रुओं का निर्मल हृदय भय का स्थान बन गया है।

२२. कलमगोपवशास्तव चक्रभृच्छुचिरमं चिरमङ्गलकारणम् ।
परभृतानिभृतस्वरगीतिभिः, किल यशो लयशोभनमुज्जगुः ॥

हे चक्रवर्तिन् ! कलम धान्य की रक्षा करने वाली स्त्रियाँ आपके निर्मल शोभा वाले तथा चिर मंगलकारक यश का लययुक्त सुन्दर गान, कोयल की भाँति निर्मल स्वर वाली गीतिकाओं के माध्यम से, कर रही हैं।

२३. गिर इव क्षितिराज ! तवेक्षवोऽतिमधुरा मधुराशिसितारसात् ।
व्यपहरन्ति मनांसि सतां मुहु, रसमया समया नगरीभुवः ॥

हे क्षितिराट् ! आप की वाणी इक्षु की तरह मधुर और शर्करा से भी अधिक मीठी है। वह रसमय (शृंगार आदि रसों से युक्त) स्वजन व्यक्तियों के मन को आकृष्ट करने वाली और नागरिक गुणों से युक्त है।

२४. प्रसरतीह वने कलमोल्लसत्परिमलोऽरिमलोदयवर्जित ! ।
श्वसितगन्धवहो भवदाननेष्युपवने पवनेरितवत्तया ॥

हे वैरियों के पापोदय से वर्जित राजन् ! इस शरद् ऋतु में पानी में कलम से उल्लसित परिमल वाला यह श्वास-वायु पवन से प्रेरित होने के कारण उपवन में और आपके आनन में प्रसार पा रहा है।

२५. इति रथाङ्गभृदुत्सवमार्तवं, कलय बन्धुरबन्धुरमालय ! ।
वलिभुवं प्रयियासुरपि क्षणं, सदयितो दयितोऽविपक्षनीः ॥

हे मनोज्ञ स्वजन रूपी लक्ष्मी के आलय ! आप ऋतु सम्बन्धी उत्सव की कलना करें। आप चक्रभृत् हैं और बाहुबली के प्रदेश की ओर क्षणभर में प्रस्थान करने के इच्छुक हैं। आप सस्त्रीक हैं और विपक्षियों को गुरुतर भय देने वाले हैं।

२६. इति समीरयति ध्वजिनीपतौ, विनयतो नयतोयधिपारगम् ।
नृपमुपेत्य जगाद स कञ्चुकिक्षितिवरोऽतिवरोऽत्र तदेति यः ॥

सेनापति सुषेण ने महाराज भरत को विनयपूर्वक यह निवेदन किया। इतने में ही अन्तःपुर का श्रेष्ठ कंचुकिराज ने न्याय रूपी समुद्र के पारगामी महाराज भरत के पास आकर कहा—

२७. कुमुदहासवती शरदाश्रिता, क्षितिभुजेति भुजेरितवैरिणा ।
तव बिभर्ति विशिष्य विभूषणं, विधिमतोऽधिमतो दयिताजनः ॥

'राजन् ! आप भाग्यशाली हैं। आप द्वारा मान्य आपकी स्त्रियाँ इस विशेष हेतु से अलंकार धारण कर रही हैं कि आपके भुजदंड द्वारा क्षिप्त शत्रु राजा ने कमलिनियों वाली इस शरद् ऋतु का आश्रय ले लिया है।

२८. नृप ! भवन्तमजः कुसुमस्फुरद्धनुकरोऽनुकरोतु कथञ्चन ।
रतिरपि त्वदनेकनितम्बिनीनिवहतां वहतां हि पतिव्रता ॥

राजन् ! हाथ में फूलों का धनुष रखने वाला कामदेव आपका अनुकरण (आपकी तुलना) बड़ी कठिनाई से कर पाता है। वह कामदेव आपकी अनेक स्त्रियों के समूह में वास कर रहा है और उसकी पत्नी रति पतिव्रता है, इसलिए वह उसे छोड़कर कहीं नहीं जाती। फलतः रतिसुख आपको ही प्राप्त होता है।

२९. त्वदवरोधजनाद् ऋतुसज्जितात्, क्षितिपराज ! पराजयमश्नुते ।
त्रिदशराजवधूरपि सांप्रतं, नयनविभ्रमविभ्रमभर्त्सनात् ॥

हे चक्रवर्तिन् ! ऋतु के लिए सज्जित आपके अन्तःपुर की रानियों से इन्द्राणी भी पराजित हो गई है। क्योंकि आपकी रानियों ने उसके कटाक्षों की शोभा को तिरस्कृत कर डाला है।

३० सपदि काचिदधान्मणिनूपुरं, चरणयो रणयोगविचक्षणम् ।
किमिव बोधयितुं विजयश्रियाऽतिशयितं शयितं मदनं हठात् ॥

राजन् ! किसी कान्ता ने शीघ्रता से अपने पैरों में, शब्द करने में विचक्षण, मणि

हे मनोज्ञ स्वजन रूपी लक्ष्मी के आलय ! आप ऋतु सम्बन्धी उत्सव की कलना करें। आप चक्रभृत् हैं और बाहुबली के प्रदेश की ओर क्षणभर में प्रस्थान करने के इच्छुक हैं। आप सस्त्रीक हैं और विपक्षियों को गुरुतर भय देने वाले हैं।

२६. इति समीरयति ध्वजिनीपतौ, विनयतो नयतोयधिपारगम् ।
नृपमुपेत्य जगाद स कञ्चुकिक्षितिवरोऽलिवरोऽत्र तदेति यः ।।

सेनापति सुषेण ने महाराज भरत को विनयपूर्वक यह निवेदन किया। इतने में ही अन्तःपुर का श्रेष्ठ कंचुकिराज ने न्याय रूपी समुद्र के पारगामी महाराज भरत के पास आकर कहा—

२७. कुमुदहासवती शरदाश्रिता, क्षितिभुजेति भुजेरितवैरिणा ।
तव बिभर्ति विशिष्य विभूषणं, विधिमतोऽधिमतो दयिताजनः ।।

'राजन् ! आप भाग्यशाली हैं। आप द्वारा मान्य आपकी स्त्रियाँ इस विशेष हेतु से अलंकार धारण कर रही हैं कि आपके भुजदंड द्वारा क्षिप्त शत्रु राजा ने कमलिनियों वाली इस शरद् ऋतु का आश्रय ले लिया है।

२८. नृप ! भवन्तमजः कुसुमस्फुरद्धनुकरोऽनुकरोतु कथञ्चन ।
रतिरपि त्वदनेकनितम्बिनीनिवहतां वहतां हि पतिव्रता ।।

राजन् ! हाथ में फूलों का धनुष रखने वाला कामदेव आपका अनुकरण (आपकी तुलना) बड़ी कठिनाई से कर पाता है। वह कामदेव आपकी अनेक स्त्रियों के समूह में वास कर रहा है और उसकी पत्नी रति पतिव्रता है, इसलिए वह उसे छोड़कर कहीं नहीं जाती। फलतः रतिसुख आपको ही प्राप्त होता है।

२९. त्वदवरोधजनाद् ऋतुसज्जितात्, क्षितिपराज ! पराजयमश्नुते ।
त्रिदशराजवधूरपि सांप्रतं, नयनविभ्रमविभ्रमभर्त्सनात् ।।

हे चक्रवर्तिन् ! ऋतु के लिए सज्जित आपके अन्तःपुर की रानियों से इन्द्राणी भी पराजित हो गई है। क्योंकि आपकी रानियों ने उसके कटाक्षों की शोभा को तिरस्कृत कर डाला है।

३० सपदि काचिदधान्मणिनूपुरं, चरणयो रणयोगविचक्षणम् ।
किमिव बोधयितुं विजयश्रियाऽतिशयितं शयितं मदनं हठात् ।।

राजन् ! किसी कान्ता ने शीघ्रता से अपने पैरों में, शब्द करने में विचक्षण, मणि

हे प्रणत-किन्नर ! हे भारतभूमि के इन्द्र ! आपका अनुशासन मानने वाले राजा क्या आपके साथ मन को आनन्दित करने वाले कानन में नहीं जाएंगे ? निश्चित ही जाएंगे।

५२. विकचतामरसा तव तत्र किं, गतगभीरिम ! भीरिमवर्जित ! ।
न रतिखेदमपास्तुमलं स्फुरद्घनरसाऽनरसादर ! दीर्घिका ॥

हे गाम्भीर्य प्राप्त ! हे भयवर्जित ! हे मनुष्यों को खिन्न न करने वाले नायक ! उस वन की विकसित कमल वाली और जल से हिलोरे लेती हुई दीर्घिका क्या आपके रति-जनित खेद को दूर करने में समर्थ नहीं है ?

५३. षडृतुभूरुहसंपदमाश्रिते, समहिता महितां च वियोगिनाम् ।
फलपलाशसुमाञ्चिनि कामिहृद्दितविपल्लवपल्लवराजिनीम् ।।
५४. विधृतवागुरिवागुरिकावलीविगतविप्रियविप्रियभूरुहे ।
परभृताः परिमोदयति स्फुटं, स्वरवरा रवरागविवर्द्धिकाः ।।
५५. विरहिणां ददति प्रतिवासरं, कुसुममार्गणमार्गणपीडनम् ।
मुदमपीहतदन्यविलासिनां, गलितविप्रियया प्रियया समम् ।।
५६. पटकुटीः परिताड्य निवत्स्यते, नगरतोऽगरतोरुविहङ्गमे ।
वहिरितो विसरैस्तव योषितां, रुचिरकानन ! काननसत्तमे ।।
—चतुर्भिः कलापकम् ।

हे रुचिर कानन ! आपकी रानियां नगर से वाहिर श्रेष्ठ कानन में वस्त्र की कुटिया वनाकर उनमें निवास करेंगी। यह वन वृक्षों पर क्रीडा करनेवाले प्रचुर पक्षियों से युक्त, सभी ऋतुओं के योग्य वृक्षों की सम्पदा से सम्पन्न, फले हुए पलाश के कुसुमों से युक्त है। यह वृक्ष-संपदा सभी के लिए हितकर, परन्तु वियोगी युगलों के लिए अहितकर अर्थात् शत्रु के समान है। यह कामी व्यक्तियों के चित्त की विपत्ति के लेश को नष्ट करनेवाले पल्लवों से सुशोभित है। यह वन शिकारियों से रहित है। इसमें अप्रिय घटनाओं से रहित पक्षि-प्रिय वृक्ष हैं। यहां कोयलें राग को वढानेवाले श्रेष्ठ शब्दों से स्फुट वोल रही हैं। यह वन विरही युगलों को प्रतिदिन कामदेव के वाणों से पीडित करता है और अवियोगी युगलों को अपनी निरपराध कान्ताओं के साथ शरद् ऋतु में हर्षित भी करता है।

५७. इति तदुक्तिविधावुररीकृते, महिभृताऽहिभृतावनिवाहुना ।
मुदमवाप्य स कञ्चुकिनायको, विशरणं शरणं निजमाययौ ।।

जिसकी भुजा शेषनाग की भांति पृथ्वी को धारण किए हुए है उस महाराज भरत ने

जब अन्तःपुर के नायक की बात स्वीकार कर ली तब वह प्रसन्न होकर अपने अक्षय-गृह की ओर चला गया।

५८. इति नृपोऽथ सुषेणमुपादिशत्, बलविरोचन ! रोचनमस्ति चेत्।
कलयितुं बहलीशितुराहवं, तव तदाव तदात्वममर्त्यकान्॥

तब चक्रवर्ती भरत ने सेनापति सुषेण से कहा—'हे सेना के सूर्य ! यदि बाहुबली के साथ युद्ध करना रुचिकर है तो तत्काल ही तुम देवताओं को प्रीणित करो।

५९. तदि चतुर्भिरलङ्घ्यतमो द्विषत्कृतपराजय ! राजयसे बलैः।
युधि धराधवबाहुबलेः पुरो, यदि भवान् कुरुतेऽकुरुते ! स्थितिम्॥

हे अकुत्सित शब्दवाले ! हे वैरियों पर विजय पाने वाले ! यदि तुम महाराज बाहुबली के समक्ष युद्ध में स्थिति करना चाहो तो चारों प्रकार की सेनाओं से अनुल्लंघ्य होकर शोभित हो जाओ।

६०. त्वमिह दूतगिराह्वय सर्वतः, सुगुणमण्डल ! मण्डलनायकान्।
तदनु तद्विजयाय समुत्सुकं, कृतरमोदय ! मोदय मे मनः॥

हे सुगुणमण्डल ! तुम चारों ओर दूतों को भेजकर सभी मंडल-नायकों को बुलाओ और हे लक्ष्मी को उदित करने वाले ! बाद में तुम बाहुबली पर विजय पाने के लिए समुत्सुक मेरे मन को प्रसन्न करो।

६१. प्रथमतः परितापितविद्विषं, सबलमालवमालवभूपतिम्।
वितरणैश्च वसुद्विपवाजिनां, मुदितमागधमागधभूभृतम्॥
६२. अपरमाहववृत्तभरोच्छ्वसच्छ्रवणकुन्तलकुन्तलवासवम्।
अहितवारणवारणवृद्धिमद्, हरिसमारवमारवभूधनम्॥
६३. वितलमङ्गलजङ्गलपार्थिवं, पृथुललाटललाटविशेषकम्।
प्रणतवत्सलकच्छमहीपतिं, द्विषददक्षिणदक्षिणनायकम्॥
६४. अकरुणं कलहे कुरुपुङ्गवं, जवनसैन्धवसैन्धवभूमिपम्।
गलदरातिकिरातमहीश्वरं, मलयभूधरभूधरमादरात्॥
६५. इति नृपानितरानपि भूरिशः, परमुदारमुदारपराक्रमान्।
चरगिरा नयतान्नगरीमिमां, नरचितां रचितां सुरभूभुजा॥
—पञ्चभिः कुलकम्।

हे सेनापति ! सबसे पहले शत्रुओं को परितापित करनेवाले तथा सेना के ऐश्वर्य से

शोभित 'मालव' देश के राजा को और धन, हाथी और घोड़ों का दान देकर मंगल-पाठकों को प्रसन्न करने वाले 'मागध' देश के राजा को बुलाओ।

संग्राम की बात को सुनकर जिनके कानों के केश उठ खड़े होते हैं, उन 'कुन्तल' देश के राजा को तथा शत्रुरूपी हाथियों को निवारण करने में निपुण सिंह के समान सिंहनाद करने वाले 'मरुधर' देश के राजा को बुलाओ।

जिसके मंगल विस्तीर्ण हैं वैसे 'जंगल' देश के राजा को, विस्तीर्ण लाट देश रूपी ललाट पर तिलक के समान शोभित राजा को, नत होने वाले व्यक्तियों के लिए हितकर 'कच्छ' देश के राजा को और वैरियों के लिए वक्र 'दक्षिण' देश के राजा को बुलाओ।

संग्राम में निष्करुण 'कुरु' देश के राजा को, शीघ्रगामी घोड़ों के स्वामी 'सिन्धु' देश के राजा को, शत्रुओं का नाश करनेवाले 'किरात' देश के राजा को और 'मलय' देश के राजा को बुलाओ।

दूत भेजकर आदरपूर्वक इन सब भूपतियों को तथा और भी बहुत सारे उद्‌भट वीरों को परम प्रमोद से इन्द्र द्वारा रचित, मनुष्यों से संकुल मेरी इस नगरी अयोध्या में बुलाओ।

६६. **निजहरिध्वनिकम्पितकातरे, वितर वा तरवारिकरे धनम्।**
बलप ! पत्तिचयेप्यतिदुःसहे, परबलैरबलैतपराभवैः॥

हे सेनाधिप ! अपने सिंहनाद से कायरों को कंपित करनेवाले सुभटों के हाथ में तलवार दो अथवा धन दो। हमारे सुभट विपक्षियों के लिए दुःसह हैं और कोई भी व्यक्ति पराक्रम से उन्हें जीत नहीं सकता। वे बलवत्तर हैं।

६७. **सतनयास्तनया अपि लक्षशः, प्रहरणाहरणाधिकलालसाः।**
नयनयोर्मम संदधतूत्सवं, नरहिता रहिताः किल दूषणैः॥

हे सेनापते ! मेरे लाखों पुत्र और पौत्र मेरी आंखों में उत्सव उत्पन्न करें। वे शस्त्रों को ग्रहण करने में अत्यन्त आतुर हो रहे हैं। वे लोक-हितकारी तथा दूषणों से रहित हैं।

६८. **समुपयन्तु विमानविहारिणः, सविजया विजयार्द्धगिरीश्वराः।**
किमपि ये वहनन्ति दुरुत्तरे, विदितसङ्गर ! सङ्गरसागरे॥

हे युद्ध विशारद ! विजयार्द्ध पर्वत के विमान-विहारी विजयी विद्याधर राजा और जो गुरुतर संग्राम रूपी सागर में पोत की तरह काम देते हैं, वे भी आ जाएं।

६९. इति निगद्य शुभं नतिकारिणामविरतं विरतं नृपमानमत् ।
पुनरजूहवदेष महीपतीन् , भुजवतो जवतो मनुजैर्निजैः ॥

नत रहनेवाले व्यक्तियों का निरन्तर हित करनेवाले महाराजा भरत यह कहकर मौन हो गए। सेनापति सुषेण ने उन्हें प्रणाम किया और अपने आदमियों को भेजकर उन पराक्रमी राजाओं को शीघ्र ही बुला भेजा।

७०. सकलराजकमेतमवेत्य स , द्रुततया ततयातरणोत्सवम् ।
नरपतेरभिषेणनमूचिवानशुभहारिणि हारिणि वासरे ॥

सारे राजा वहां एकत्रित हो गए। वे महान् रणोत्सव को प्राप्त हो रहे थे। सेनापति सुषेण महाराज भरत के पास गया और अशुभ का नाश करनेवाले मनोज्ञ दिन में शत्रु पर चढ़ाई करने का निवेदन किया।

७१. क्षितिभुजामुपशल्यनिवेशिनां , न नगरी नगरीणवनाञ्चिता ।
किमियमाशु विरच्यत उन्मदैः , क्षितिपकुञ्जर ! कुञ्जरसंचयैः ॥

हे राजश्रेष्ठ ! सीमान्त प्रदेशवासी राजाओं के उन्मत्त हाथियों के समूह से यह नगरी वृक्षों से रहित क्यों नहीं हुई ?

७२. भरतराज ! समग्रगमक्रमादचरमं चर मङ्गलकारणम् ।
त्वमुपनन्तुमितान्तरशात्रवं , जिनवरं नवरङ्गकरार्चनैः ॥

हे भरतराज ! आप सभी को साथ लेकर मंगलकारी तथा आन्तरिक शत्रुओं को जीतने वाले प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ की, नए राग को उत्पन्न करने वाली पूजाओं से, वन्दना करने के लिए चलें।

७३. मह जिनाधिपतिं कुसुमैर्नवैः, सुरतरो ! रतरोगपराङ्गमुखम् ।
तदनु ते समराङ्गणसङ्गतं , सुगुणसंश्रय ! संश्रयते जयः ॥

हे सुगुणों के आधार ! हे कल्पवृक्ष ! आप अब्रह्म के रोग से पराङ्गमुख जिनेश्वर देव ऋषभ की नए कुसुमों से पूजा करें। उसके बाद ही समरांगण में गए हुए आपको विजयश्री प्राप्त होगी।

७४. क्षितिपतिर्बलराजनिवेदितं, वचनमादित मादितताागमम् ।
शुचिवपुः परिधाय च वाससी, अभयदं भयदम्भहरो महत् ॥

महान् लक्ष्मी और संपदा को प्राप्त कराने वाले सेनापति सुषेण के वचनों को भय और दंभ का हरण करनेवाले महाराज भरत ने स्वीकार किया। उन्होंने स्नान आदि से शरीर की शुद्धि की और पवित्र वस्त्र पहन कर अभयदाता भगवान् ऋषभ की पूजा की।

७५. प्रहरणालयमेत्य ततः परं, प्रहरणानि रणानितसाध्वसः ।
विधिवदार्चदरिप्रभृतीनि स, परमया रमया श्रितविग्रहः ॥

उसके पश्चात् महाराज भरत अपनी आयुधशाला में आए। वहां उन्होंने चक्र आदि प्रमुख आयुधों की विधिवत् पूजा की। उन्हें युद्ध का कोई भय नहीं था। उनका शरीर उत्कृष्ट संपदा से शोभित हो रहा था।

७६. एवं देवप्रणतचरणाम्भोरुहो भारतेशो,
नागाधीशं सुरगिरिमिवोत्तुङ्गमारोहदुच्चैः ।
मौलिन्यस्यत्कनकमुकुटं सोष्णरुक्पूर्वभूभृ-
ल्लक्ष्मीलीलामुषमविरतोत्फुल्लनेत्रारविन्दम् ॥

इस प्रकार देवताओं द्वारा प्रणत चरण-कमल वाले महाराज भरत मेरु-पर्वत की भांति उत्तुंग हस्तिरत्न पर आरूढ हुए। उस हस्तिरत्न के मस्तक पर स्वर्ण का मुकुट शोभित हो रहा था और वह अपनी कांति से पूर्वाचल में उदित होने वाले सूर्य की शोभा को चुरा रहा था। उसके नेत्र-कमल निरन्तर विकचित थे।

७७. मूर्ध्ना छत्रं दधदमलरुक् चामरैर्वीज्यमानो,
बिभ्रत्पूर्वाचल इव विधोर्बिम्बमुच्छारदाभ्रम् ।
उत्तानाक्षैः सुरनरगणैर्वीक्ष्यमाणः क्षितीशः,
कृत्वा नीराजनविधिमथो निर्जगाम स्वसौधात् ॥

महाराज भरत ने सिर पर विशद प्रभा वाले छत्र को धारण किया। वे दोनों ओर से चामरों से विजित हो रहे थे। देवता और मनुष्य अपनी आंखों को ऊंची कर उन्हें देख रहे थे। वे पूर्वाचल में स्थित मेघयुक्त चन्द्रबिम्ब की भांति सुशोभित हो रहे थे। वे नीराजन विधि—शस्त्र-पूजन आदि-आदि विधियों को सम्पन्न कर अपने प्रासाद से निकल पड़े।

७८. क्वचित् सरसिजाननानयनविभ्रमैः श्यामलं,
विमानमणिरोचिषां समुदयैर्विचित्रं क्वचित् ।
क्वचित् त्वऽगुरुयोनिभिर्दहनकेतनैर्वात्यया,
विहायसि विवर्त्तितैरसमयार्पिताब्दभ्रमम् ॥

७९. क्वचित् कुसुमकुड्मलैः सकलिकैर्मनोज्ञश्रियं,
भ्रमद्भ्रमरकूजितैर्मुखरतोद्धतं स क्वचित् ।
क्वचिच्चटुललोचनास्तनघटावलीघट्टनात्,
पतिष्णुवरमौक्तिकैर्विशदमानशे श्रीपथम् ॥

—युग्मम् ।

महाराज भरत राजमार्ग पर आ पहुंचे । वह राजमार्ग कहीं-कहीं स्त्रियों के नयन-कटाक्षों से श्यामल और कहीं-कहीं विमानों की मणियों के रश्मि-समूह से विचित्र सा हो रहा था । स्थान-स्थान पर जल रहे काले अगर से निकलने वाला धुंआ वायु से प्रेरित होकर आकाश में नाच रहा था । उससे असमय में ही बादलों का भ्रम पैदा हो जाता था ।

कहीं-कहीं वह राजमार्ग कलिकाओं से युक्त फूलों के गुच्छों से मनोज्ञ शोभावाला, कहीं कहीं घूमने वाले भौंरों के गुञ्जारवों से प्रचण्ड मुखरित और कहीं-कहीं स्त्रियों के स्तन रूपी कलशों के परस्पर घट्टन से नीचे गिरने वाले मोतियों से विशद (शुभ्र) था ।

८०. एतस्याग्रे संचचाराथ चक्रं, स्फूर्जज्ज्योतिर्लक्ष्यवैलक्ष्यकारि ।
सर्वाशान्तान् व्यश्नुवानैः स्फुलिङ्गैराकाशस्थास्त्रासयद्देवनारीः ॥

महाराज भरत के आगे-आगे चक्र चल रहा था । वह हजारों ज्योतियों से स्फुरित होता हुआ शत्रुओं के लक्ष्य को भटका रहा था । उसकी चिनगारियाँ दशों दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं । वह आकाशस्थित देवांगनाओं को भयभीत कर रहा था ।

८१. तदिति सुरनरैर्व्यतर्कि चित्ते, किमिदमुपागतमान्तरं महोस्य ।
प्रथमभवभवः किमेष पुण्योदय इह संश्रित एव मूर्तिमत्त्वम् ॥

यह देखकर देवताओं और मनुष्यों ने अपने मन ही मन सोचा—क्या भरत चक्रवर्ती का आन्तरिक तेज यहां आ गया है ? अथवा क्या पूर्वजन्म में प्राप्त यह पुण्योदय ही मूर्तिमान् हो गया है ?

—इति सेनासज्जीकरणो नाम पञ्चमः सर्गः—

छठा सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत की सेना के प्रथम पड़ाव का वर्णन।
श्लोक परिमाण—	७५
छन्द—	स्वागता।
लक्षण—	'स्वागता रनभगैर्गुरुणा च' (एक रगण, एक नगण, एक भगण और दो गुरु—ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ऽऽ)। इसमें ग्यारह अक्षर होते हैं। इसमें नौवां अक्षर ह्रस्व और दसवां दीर्घ होता है।

कथावस्तु—

चक्रवर्ती भरत की सेना आगे बढ़ी। मंगल-पाठकों ने महाराज भरत का यशोगान किया। उस विशाल सेना के पीछे-पीछे अपनी-अपनी चतुरंग सेना के साथ बत्तीस हजार राजे चल रहे थे। वे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ऐश्वर्य के द्वारा सबको विस्मित करने वाले थे। सेना को देख नगरवासी लोगों ने विविध प्रकार की वितर्कणाएं कीं। किसी ने भरत की लालसा को बुरा बताया तो किसी ने बाहुबली के अहं पर चोट की। महाराज भरत नगरी के द्वार पर पहुंचे। नगरवधूओं ने भरत का वर्धापन किया। चारों ओर वाद्य की ध्वनि गूंज उठी। मंगल-पाठकों के आशीर्वचनों से सारा वातावरण ध्वनित हो गया। भरत के पीछे-पीछे विशाल सेना चल रही थी। उसे देखकर नगरवासियों के मन में अनेक वितर्क उत्पन्न हुए। उन्होंने युद्ध को अवांछनीय बताते हुए कहा—'राजे राजसिक वृत्ति वाले होते हैं। सत्ता और अहं से उनके नेत्र विघूर्णित रहते हैं। जहां उनका प्रभुत्व नहीं होता, वहां वे अपना प्रभुत्व थोपते हैं। भरत अपने भाई से युद्ध लड़ना क्यों चाहते हैं। बाहुबली अपने बड़े भाई को प्रणाम क्यों नहीं करता? इन दोनों के युद्ध से हजारों-हजारों व्यक्ति मारे जायेंगे।' लोगों के मन वितर्कों से भर गए। महाराज भरत के अन्तःपुर की रानियां एक सुन्दर उपवन में एकत्रित हो चुकी थीं। भरत उपवन के पास आए। मालव देश के नरपति के हाथ का सहारा ले वे हाथी से नीचे उतरे। सभी राजे अपने-अपने वाहनों से उतरे और उपवन में क्रीड़ा करने चले गए।

० ०

षष्ठः सर्गः

१.　राजमार्गमतिलङ्घ्य गवेन्द्रः, स्वर्गलोकमिव सत्कमनीयम् ।
सङ्कुलं सुमनसां समुदायैर्गोपुरं वितततोरणमापत्[1] ।।

चक्रवर्ती भरत राजमार्ग को पार कर नगर के द्वार पर पहुँचे । वह स्वर्गलोक की भांति अत्यन्त सुन्दर तथा फूलों के समूह और विस्तृत तोरण से युक्त था ।

२.　तारकैरिव नृपै[2]रनुजग्मे, स्मेरतां विदधदारुचि[3] राजा[4] ।
कौमुदं[5] नृपतिवर्त्म[6] विहायोभ्राजिभिः कलितकान्तिविशेषैः ।।

जैसे आकाश में देदीप्यमान और विशेष कांति से युक्त तारे चन्द्रमा का अनुगमन करते हैं वैसे ही महाराज भरत के सामन्तराजे यथेष्ट प्रफुल्लता को धारण करते हुए पृथ्वी के लिए आनन्ददायी राजमार्ग पर राजा भरत का अनुगमन कर रहे थे ।

३.　सेनयाथ तमनुप्रसरन्त्या, ज्योत्स्नयेव रजनीशमयन्त्या ।
पौरलोचनचकोरविवृद्धानन्दयाभ्यधिकमत्र दिदीपे ।।

जैसे चन्द्रमा के पीछे-पीछे चांदनी चलती है वैसे ही नगरवासी लोगों के नयन-चकोर को अत्यधिक आनन्दित करने वाली सेना महाराज भरत के पीछे-पीछे चल रही थी । उससे वह राजमार्ग अधिक दीप्त हो रहा था ।

---

१. पंजिकाकार ने सब विशेषणों को राजमार्ग के लिए प्रयुक्त किया है । हमने उन्हें 'तोरण' के विशेषण माने हैं ।

२. नृपैः—सामन्तभूपैः ।

३. आरुचि—रुचिं अभिलाषं मर्यादीकृत्य, आरुचि—यथेष्टम् इत्यर्थः ।

४. राजा—चन्द्रमा ।

५. कौमदं—कौ—पृथिव्यां, मुदं—हर्षं । चन्द्रमा पक्षे—कौमुदं—कुमुदां समूहं ।

६. नृपतिवर्त्म—राजमार्गं ।

४. वाहिनीभिरवनीधरगाभिर्विस्तृताभिरधिकं घनवाहैः ।
कुम्भिकुम्भतटवामरयाभिः, पाथसांपतिरिवायमभासीत् ।।

पर्वतों से गुजरती हुई, शक्तिशाली घोड़ों से अधिक विस्तृत, हाथियों के कुम्भतट से सुंदर वेगवाली सेनाओं से महाराज भरत समुद्र की भांति प्रभासित हो रहे थे। (जैसे समुद्र पर्वतों से निकली हुई, मेघ के जल से अत्यधिक विस्तृत, हाथियों के कुंभस्थल रूपी तट से वक्र वेगवाली नदियों से शोभित होता है।)

५. दानवारिपति[1]रात्मतुरङ्गभ्रान्तितो भवतु माऽस्मदभीप्सुः[2] ।
स्वक्षुरोद्धतरजोभिरितीव, व्योम वाजिभिरकारि सवासः[3] ।।

सेना के घोड़ों ने सोचा कि देवताओं का स्वामी इन्द्र अपने घोड़ों की भ्रांति से हमें अपना न कर ले, इसलिए मानो कि उन्होंने अपने खुरों से उठे हुए रजःकण रूपी वस्त्र से आकाश को ढक दिया।

६. वारणाः कुथपरिष्कृतदेहान्[4], वीक्ष्य सिंहवदनाकृतिवाहान्[5] ।
त्रिस्यतः कथमपीह विधार्या, यंत्रिभि[6]श्चकितपौरसुनेत्राः[7] ।।

रंग-बिरंगे वस्त्रों से सज्जित सिंह-मुख की आकृति वाले अश्वों को देख हाथी डर गए। उन्होंने नगर की स्त्रियों को भयभीत कर डाला। महावतों ने ज्यों-त्यों उनको वश में किया।

७. कैश्चनोज्झितधरैरतिवेगात्, सप्तिभि[8]र्गगनमेव ललम्बे ।
पार्श्वसंचरदऽनेकप[9]राजीर्वीक्ष्य पक्षिभिरिवाततपक्षैः ।।

---

१. दानवारिपतिः—इन्द्र ।

२. अभीप्सुः—वाञ्छकः ।

३. सवासः—वाससा सहितः सवासः, सवस्त्रम् इत्यर्थः ।

४. कुथ.........—पंजिकाकार ने 'कुथ' का अर्थ कवच किया है। पूरे पद का अर्थ होगा—कवच से वेष्टित शरीरवाले (घोड़े)। संस्कृत कोश में 'कुथ' का अर्थ है—हाथी की झूल। (अभि० ३।३४४)। यदि 'कुथ' को हम पशुओं के शरीर को अलंकृत करने वाला कपड़ा मानें तो इसका अर्थ होगा—रंग-बिरंगे कपड़ों से शोभित शरीर वाले घोड़े।

५. सिंह......—सिंहमुखाकाराश्वान् ।

६. यन्ता—महावत (हस्त्यारोहे सादियन्तृ—अभि० ३।४२६)

७. चकित......—भीतपौरस्त्रीकाः ।

८. सप्तिः—घोड़ा (गन्धर्वोऽर्वा सप्तिवीती—अभि० ४।२९९)

९. अनेकपः—हाथी (हस्ती मतङ्गजगजद्विपकर्य्यनेकपा—अभि० ४।२८३ ।)

पास में चल रहे हाथियों की कतार को देखकर कुछेक घोड़े, तीव्रगामिता के कारण भूमि का स्पर्श छोड़कर पंख फैलाए हुए पक्षियों की भांति आकाश में उड़ने लगे ।

८. चित्रका[1]ननहयाधिकभीतैः, स्यन्दना मुमुचिरे वृषभैर्द्राक् ।
कण्ठकन्दलविलम्बितयोक्त्रैः[2], प्राजन[3]प्रहरणान्यवमत्य ॥

रथों में बैल जुते हुए थे । वे व्याघ्र के समान मुंह वाले घोड़ों को देखकर भयभीत हो गए । उनकी कंठ-कंदली में 'जोति, (नाधा—चर्म-रज्जु) बंधी हुई थी । चाबुक के प्रहारों की अवमानना करते हुए वे झटपट रथों को छोड़कर भाग गए ।

९. पत्तिभिः क्वचन शौर्यरसोद्यत्कुन्तलैः कलितकुन्तकराग्रैः[4] ।
मूर्ततामधिगतैरिववीर्यैर्दीप्यतेस्म लहरीभिरिवाब्धेः ॥

कहीं-कहीं वीर रस से रोमाञ्चित केशवाले तथा हाथों में भाले लिए हुए पैदल सैनिक ऐसे शोभित हो रहे थे मानो समुद्र की लहरियों की भांति उनका पराक्रम मूर्तिमान् हो गया हो ।

१०. सिंहनादमुखरैरिहवीरैस्त्रासिता मदभरालसनागाः[5] ।
तैः कुरङ्गनयनाश्च[6] विहस्ता[7]स्ताभिरुत्ससृजिरे शिशवोऽपि ॥

वीरों के मुंह से सिंहनाद हो रहा था । उन्हें सुनकर मद के भार से अलसायी गतिवाले हाथी भयभीत हो गए । हाथियों के त्रस्त होने पर स्त्रियां भी व्याकुल हो उठीं और उन्होंने अपने पास रहे बच्चों को छोड़ दिया ।

११. खेचरैरपजहे नपमार्गः, संकुल[8]स्त्रिदशवर्त्म[9] जगाहे ।
नाकिखेचरविमानविहारैस्तैश्च तत्र घनसङ्कटतोहे[10] ॥

---

१. चित्रकः—व्याघ्र (व्याघ्रो द्वीपी शार्दूलचित्रको—अभि० ४।१५१)
२. योक्त्रं—जोती या नाधा (योत्रं तु योक्त्रमाबन्धः—अभि० ३।५५७)
३. प्राजनं—चाबुक (प्राजनं तोत्रतोदने—अभि०३।५५७)
४. कलित······—कलितो—गृहीतो भल्लो येन तत् कलितकुन्तं, कलितकुन्तं कराग्रं येषां ते, तैः ।
५. मदभरालसगतयो नागा इति शाकपार्थिवादि मध्यमपदलोपी समासः ।
६. कुरङ्गनयनाः—स्त्रियः ।
७. विहस्तः—व्याकुल (विहस्तो व्याकुलो व्यग्रः—अभि० ३।३०)
८. संकुलः—चतुरङ्गसेनासंचारबाहुल्यात् संकीर्णः ।
९. त्रिदशवर्त्म—त्रिदशानां—देवानां, वर्त्म—मार्गः—आकाशः ।
१०. घनसङ्कटमूहे—इत्यपि पाठः । ऊहे इति वहन् प्रापणे धातोः रूपं । ऊहे—प्राप्ता ।

विद्याधर संकुल राजमार्ग को छोड़कर आकाशमार्ग में चले गए। देवताओं तथा विद्याधरों के विमान-विहार के कारण विद्याधरों ने आकाश-मार्ग को बहुत ही संकीर्ण अनुभव किया।

१२. अन्तरोद्यत[1]रजोपि निरासे, वारुणप्रहरणाम्बुविसृष्ट्या।
व्योमगैर्बलविलोकनशौण्डैः[2], पश्यतां न न[3] इहास्त्विति विघ्नः॥

पृथ्वी पर चक्रवर्ती की सेना चल रही है और आकाश में विद्याधर अपने विमानों में जा रहे हैं। बीच में रजःकण छा रहे हैं। सेना को देखने के उत्सुक विद्याधरों ने 'पृथ्वी पर चलनेवाली सेना को देखने में हमारे सामने कोई विघ्न उपस्थित न हो'—इस भावना से वारुणास्त्र के द्वारा जल बरसा कर मध्यवर्ती रजःकणों को निरस्त कर दिया।

१३. व्योमगैरिति रजोम्बरमेतद्, दिक्सरोरुहदृशां[4] चकृषे द्राक्।
प्रत्यदायि करिभिः पुनरासां, नागजाम्बर[5]मिव श्रुतिकीर्णम्[6]॥

विद्याधरों ने जल बरसा कर दिशा रूपी अंगनाओं के रज रूपी वस्त्र को खींच लिया और बदले में हाथियों के कानों से बिखरे हुए सिन्दूर का वस्त्र उन्हें दे दिया।

१४. प्रक्षरन्मदजलैर्गजराजैर्जातरूपमयमण्डनकान्तैः।
विद्युदन्तरचरैरिवमेघैरुन्नतत्वपरिचारिभिरीये॥

ऊँचे होकर चलने वाले गजराज आगे बढ़े। उनके गंडस्थल से मद झर रहा था। वे स्वर्णमय मंडन की कांति के कारण ऐसे सुंदर लग रहे थे जैसे विद्युत् के बीच में विचरण करने वाले मेघ सुंदर लगते हैं।

१५. राजलोकनकृते समुपेतं, भामिनीभि[7]रधिकत्वरिताभिः।
लोचनास्यकमलाभिरिताभिः[8], फुल्लपद्मदलमानसशोभाम्॥

---

१. अन्तरोद्यतं—अन्तरा—मध्ये, उद्यतं—उड्डीयमानं।
२. बलविलोकनशौण्डैः—सेनानिभालनदक्षैः।
३. नः—अस्माकम्।
४. दिक्सरोरुहदृशां—आशाङ्गनानाम्।
५. नागजाम्बरं—सिन्दूररूपवस्त्रम् (नागजं—सिन्दूरं नागजं—अभि० ४।१२७।)
६. श्रुतिकीर्णम्—कर्णतालविक्षिप्तम्।
७. भामिनी के दो अर्थ हैं—सुन्दर स्त्री या कुपित स्त्री (सा कोपना भामिनी स्यात्—अभि० ३।१७४) पंजिकाकार ने इसका अर्थ—पौरवधूएं किया है।
८. इताभिः—प्राप्ताभिः

महाराज भरत को देखने के लिए नगर की वधूएँ अत्यन्त त्वरा से एकत्रित हुईं। उनके नयन और मुख-कमल की सम्पदा विकसित पद्मदल से युक्त मानसरोवर की शोभा को प्राप्त किए हुए थी।

१६. लीलयैव करिणीशकरात्ता, सैन्यवीक्षणपरात्र गवाक्षात्।
काचिदूर्ध्वपदधःकृतवक्त्रा, हास्यमापयदनन्तचराणाम्॥

एक सुन्दरी झरोखे से सेना को देखने में तत्पर थी। एक हाथी ने उस को क्रीड़ावश अपनी सूंड में पकड़ लिया। उस समय उस स्त्री के पैर ऊपर और मुंह नीचे हो गया। इसे देख विद्याधरों का हास्य फूट पड़ा।

१७. कामिनी बलविलोकनदार्ढ्याद्धृता करिवरेण करेण।
वल्लिवत्स्तनफलाकलिताङ्गी, कामिनां मुदमदत्त तदानीम्॥

सेना को देखने में तत्पर एक सुन्दरी को हाथी ने अपनी सूंड में उठा लिया। सैन्य-संचार के उस समय में बेल की तरह स्तन रूपी फलों से युक्त उस कामिनी ने कामी पुरुषों को प्रमुदित किया।

१८. स्मेरवक्त्रकमलोपरिलोलल्लोचनभ्रमरविभ्रमवामा[1]।
पद्मिनीव गजराजकराग्रे, राजतेस्म चकितेक्षणदृष्टा[2]॥

विकसित मुख-कमल पर मंडराने वाले लोचन रूपी भ्रमर के विभ्रम से मनोज्ञ, आश्चर्य की आंखों से देखी जाने वाली एक सुंदरी गजराज की सूंड में कमलिनी की भांति शोभित हो रही थी।

१९. कुम्भिकुम्भकुचयोरुपमानं, लेभिरे मिलितयोर्मिथ एव।
केचनोरुकरयोरपि साक्षात्, तादृशां ह्यवसरे किमलभ्यम्?

उस समय कई युवकों ने परस्पर मिले हुए हाथी के कुम्भस्थल और नारी के स्तनों तथा हाथी की सूंड और नारी की साथल में साक्षात् समानता देखी। क्योंकि भरत जैसे महान् व्यक्तियों के आने के अवसर पर अलभ्य क्या रह जाता है?

---

१. स्मेर……—स्मेरं—विकस्वरं, वक्त्रं—आननं तदेव कमलं, तस्योपरि लालंतश्चलंतो लोचन-भ्रमरास्तेषां विभ्रमः—शोभातिशयः, तेन वामा—मनोज्ञा।

२. चकिते……—चकितेक्षणं—भीतलोचनं यथा स्यात् तथा दृष्टा—विलोकिता।

२०. कापि मत्तकरिणीश्वरभीत्या, कान्तमेव निबिडं परिरेभे ।
कष्टुमान्तरमिवोरुभयं द्राक्, सन्निवेष्टुमिव वक्षसि कामम् ॥

किसी सुन्दरी ने मत्त हाथी के भय से अपने पति का गाढ़ आलिंगन कर लिया। मानो कि वह अपने अन्दर रहे हुए विपुल भय को बाहर करने के लिए तथा कामदेव को अपने हृदय में स्थापित करने के लिए ऐसा कर रही हो।

२१. कन्दुकोऽप्यनुकृतस्तनलक्ष्मीर्हन्यते किल करेण यथाऽयम् ।
हस्तिनां गतिरदायि[1] तथैवास्माभिरेवमपसस्रुरिभात् ताः ॥

गेंद हमारी स्तनलक्ष्मी का अनुकरण करती है इसलिए हम उसे हाथ से उठाकर फेंक देती हैं। हमने हाथियों से गति ली है। वे अपनी सूंड से उठाकर हमें फेंक न डालें—यह सोचकर स्त्रियाँ हाथियों से दूर हो गईं।

२२. कुम्भिनां प्रसरदुच्छ्वसितानामुत्पतिष्णुकरशीकरवारैः[2] ।
तारतारकित[3]मम्बरमासीत्, पांसुसंतमसनीतनिशीथे[4] ॥

हाथियों के विपुल उच्छ्वास के कारण उनकी सूंड से ऊपर उछलने वाले जलकणों के समूह से उठे हुए रजःकण रूपी अन्धकार से व्याप्त रात्रि में सारा आकाश निर्मल मौक्तिक रूपी तारों से भर गया।

२३: संचरद्बलरजोनिकुरम्बैश्चुम्बिताम्बरपथैः परितेने ।
संभ्रमाज्जगदपीरयदेतद्, भानुमानपरशैल[5]मितः किम् ?

संचरण करनेवाली सेना से ऊपर उठे हुए रजःकण सारे आकाश में व्याप्त हो गए। संभ्रमित होकर प्राणियों ने ऐसी वितर्कणा की कि क्या सूर्य अस्ताचल पर्वत पर चला गया है?

२४. भूवरोपरिपुरःप्रसरद्भिः, छत्रचक्रमहसां समुदायैः ।
शर्वरीदिवसनायकयोगाद्, दर्श[6] एव समयोऽभवदेषः ॥

---

१. 'अदायि'—यह प्रयोग चिंतनीय है। इसके स्थान पर 'आदायि' होना चाहिए।
२. उत्पतिष्णु······—उत्पतनशीलशुण्डादण्डसंबंधिच्छटासंदोहैः।
३. तारतारकितं—निर्मलमौक्तिकरूपताराढ्यम्।
४. निशीथः—आधीरात (निशीथस्त्वर्द्धरात्रो महानिशा—अभि० २।५६)
५. अपरशैलः—अस्ताचल पर्वत।
६. दर्शः—सूर्य और चांद का संगम-काल (दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः—अभि० २।६४)

भरत के सिर पर छत्र था और आगे चक्र चल रहा था। इन दोनों की किरणों के समूह से वह समय चांद और सूर्य के संगमकाल की भाँति प्रतीत हो रहा था।

२५. एक एव समयो गगनेलाचारिणां दिननिशान्तरतर्कम्।
आततान रजसोरुविमानस्पर्शिनाऽनिततमोरिपुधाम्ना[1]॥

आकाशचारी विद्याधरों और भूमि पर चलने वाले सैनिकों के मन में, वृहद् विमानों का स्पर्श करनेवाले तथा (विमानों के बीच में रहने के कारण) सूर्य के ताप से अस्पृष्ट रजःकणों के कारण एक साथ यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि अब रात है या दिन?

२६. अन्तरागतविमानततिर्द्राक्, पस्पृशे गगनरत्नमहोभिः।
नैव सैनिकशिरांसि समन्तात्, पांसुपूररचितान्तरविघ्नैः॥

सूर्य की किरणों ने बीच में आई हुई विमानों की श्रेणी का शीघ्र ही स्पर्श किया। किंतु उन्होंने सैनिकों के सिरों को नहीं छूआ। क्योंकि चारों ओर के रजःकणों ने बीच में विघ्न उपस्थित कर दिया था।

२७. भारतेश्वरमिवेक्षितुमुच्चैरारुरोह गगनं वसुधेयम्।
सैनिकोद्धतरजश्छलतः किं, पश्यतामभवदेष वितर्कः॥

देखने वालों को यह वितर्क हुआ कि क्या यह पृथ्वी सैनिकों के द्वारा उठे हुए रजःकणों के मिष से भारत के स्वामी महाराज भरत को देखने के लिए आकाश में आरूढ़ तो नहीं हुई है?

२८. भूचराभ्रचरसैन्यवितानै, रोदसी[2]भरणकोविदचारैः।
निर्ममे जगदनेकमनोपि, प्रायशः प्रभवदेकमनस्त्वम्॥

भूमि और आकाश के मध्य भाग को भरने में निपुण, गमन करने वाले भूचर और आकाशगामी सैन्य समूहों ने विविधता के जगत् को भी प्रायः एक कर दिया। विविध मन वाले जगत् को भी प्रायः एक मन वाला कर दिया।

२९. व्योमगैर्न च विमाननिविष्टैर्मन्दमन्दगतिभिर्विबभूवे।
कौतुकानलसदृष्टिनिपातैर्लङ्घितुं क्षितिचराधिकमार्गम्॥

---

१. तमोरिपुधाम्ना—तमोरिपुः—सूर्यः, तस्य धाम्ना—आतपेन।
२. रोदसी—आकाश और भूमि का मध्य भाग (द्यावाभूम्योस्तु रोदसी—अभि० ६।१६२)

विमानों में निविष्ट, मंद-मंद गति से चलने वाले तथा कुतूहलवश आंखों को इधर-उधर घुमाने वाले विद्याधर भूमि पर चलने वालों से अधिक मार्ग को नहीं लांघ सके।

३०. किङ्किणी[1]क्वणितकीर्णदिगन्तैर्व्योमवर्त्म विरराज विमानैः।
चक्रनादमुखरैश्च शताङ्गै[2]र्भूतलं तदुभयोः समताभूत्॥

विमानों में बंधे हुए घुंघरू के शब्द दिशाओं के अन्त तक गूंज रहे थे। सारा आकाश उन विमानों से शोभित हो रहा था। चक्कों के शब्द से मुखरित रथ पृथ्वी पर शोभित हो रहे थे। इस प्रकार आकाश और पृथ्वी में समानता थी।

३१. तं प्रयान्तमवलोक्य सुरस्त्री, काचिदम्बरगता गुणहृष्टा[3]।
मौक्तिकैरवचकार[4] विकीर्णैस्तारकैरिव गतैर्भुवमारात्[5]॥

आकाश में खड़ी हुई किसी देवी ने प्रयाण करते हुए भरत को देखा और उनके गुण से प्रसन्न होकर उसने सर्वत्र मोती बिखेर दिए—उनका मोतियों से वर्धापन किया। वे मोती दूर से ऐसे लग रहे थे मानो कि वे भूमि पर तारे हों।

३२. अक्षतैः[6] शुचितमैरवकीर्णः[7], सोऽक्षतप्रियसुताभिरुपेतः[8]।
गोपुरं[9] सपदि पौरवधूभिर्वृष्टिभिर्गिरिरिवाम्बुपृषद्भिः[10]॥

जैसे पर्वत वर्षा की बूंदों से अवकीर्ण होता है वैसे ही पति और पुत्रवाली नगरवधूओं द्वारा अत्यन्त धवल अक्षतों से वर्धापित होते हुए महाराज भरत शीघ्र ही नगरी के द्वार पर पहुँचे।

---

१. किङ्किनी—घुंघुरू (किङ्कणी (किङ्किनी) क्षुद्रघण्टिका—अभि० ३।३२९)
२. शताङ्गः—रथ (शताङ्गः स्यन्दनो रथः—अभि० ३।४१५)
३. गुणहृष्टा—रूपादिभिः गुणैः हृष्टा—प्रीता।
४. अवचकार—संवर्द्धयामास।
५. आरात्—दूरात्।
६. अक्षताः—खील (लाजाः स्युः पुनरक्षताः—अभि० ३।६५)
७. अवकीर्णः—वर्धापितः।
८. उपेतः—समागतवान्।
९. गोपुरं—नगर का द्वार (पुर्द्वारि गोपुरम्—अभि० ४।४७)
१०. पृषद्—बूंद (विन्दौ पृषत्पृषतविप्रुषः—अभि० ४।१५५)

३३. आश्रितः स किल सिन्धुररत्नं[1], हस्तिमल्ल[2]मिव किं सुरराजः।
यात्यतर्कि विबुधैरिति साक्षान्नेक्षणद्वयसहस्रविभेदात् ॥

भरत चक्रवर्ती हस्तिरत्न पर आरूढ़ थे। उन्हें देखकर देवताओं ने ऐसी वितर्कणा की कि क्या इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठ कर जा रहा है? उन्होंने साक्षात् देखकर कहा— 'नहीं, इनके तो दो ही आंखें हैं पर इन्द्र तो हजार आंखों वाला होता है। इसलिए ये इन्द्र नहीं हो सकते।'

३४. उर्वशी[3] गुणवशीकृतविश्वा, तं निपीय[4] विममर्श तदेति।
यत्पतिस्त्वधिकरूपभरश्रीरस्त्यसौ जगति धन्यतमा सा ॥

अपने गुणों से समूचे विश्व को वश में करने वाली देवगणिका उर्वशी ने भरत को एकटक निहारते हुए सोचा—'यह अत्यन्त रूपवान् और कांतिमान् भरत जिसका पति है वह स्त्री संसार में धन्य-धन्य है।

३५. रम्भया श्रितनभोन्तरयाऽयं, वासवादधिकरूपविलासः।
इत्यचिन्त्यत पुनर्नगरीयं, नाकनाथनगरा[5]दतिरिक्ता ॥

आकाश के बीच खड़ी हुई नलकुबेर की पत्नी रम्भा ने यह वितर्कणा की कि महाराज भरत इन्द्र से भी अधिक रूप-सम्पन्न हैं और यह अयोध्या नगरी इन्द्र की नगरी अमरावती से भी विशिष्ट है।

३६. गोपुरं पुर इवाननमस्या, नीलरत्ननयनद्युतिरम्यम्।
उत्तरङ्ग[6]ततभालचकासद्, रत्नतोरणविशेषक[7]शोभम् ॥
३७. जातरूपमयभित्तिकपोलश्रीसनाथवलभी[8]वरनासम्।
नागदन्त[9]लटभ[10]भ्रुविशिष्टश्रीविलासकिसलाधरबिम्बम् ॥

---

१. माना जाता है कि चक्रवर्ती का हस्तिरत्न हजार देवताओं द्वारा अधिष्ठित होता है।
२. हस्तिमल्लः—ऐरावत हाथी (ऐरावतो हस्तिमल्लः—अभि० २।९१)
३. उर्वशी—उर्वशी नाम की अप्सरा।
४. निपीय—दृष्ट्वा।
५. नाकनाथनगरं—नाकनाथ (इन्द्र) की नगरी—अमरावती।
६. उत्तरङ्ग—द्वार के ऊपर तिरछी लगी हुई लकड़ी (तिर्यग्द्वारोर्ध्वदारूत्तरङ्गं—अभि० ४।७२)
७. विशेषकः—तिलक (तिलके तमालपत्रचित्रपुण्ड्रविशेषकाः—अभि० ३।३१७)
८. वलभी—छज्जा (वलभी छदिराधारः—अभि० ४।७७)
९. नागदन्तः—खूंटी (नागदन्तास्तु दन्तकाः—अभि० ४।७७)
१०. लटभः—सुन्दर, वक्र।

३८. मल्लिकाकुसुमकुड्मललेखाहासहारिसुभगस्पृहणीयम् ।
दन्तुरं कुमुदकुन्दकलापैस्तूर्यनादमुखरं स ललङ्घे ॥

—त्रिभिर्विशेषकम् ।

वह गोपुर (प्रवेश-द्वार) नगरी के आनन की तरह नीलरत्न रूपी नयन की द्युति से मनोरम द्वार के ऊपर तिरछी लगी हुई लकड़ी रूपी विस्तृत ललाट और उस पर शोभित होने वाले रत्नमय तोरण रूपी तिलक से शोभित हो रहा था।

उस गोपुर की स्वर्ण-भित्तियाँ कपोल स्थानीय थीं। उसकी छत शोभायुक्त थी, मानो कि वह उसकी सुन्दर नासिका हो। उसमें लगी हुई खूंटियाँ सुन्दर या वक्र भौंहें सी लग रही थीं। वह श्रीविलास के किसलय रूप अधर विम्ब वाला था।

वह गोपुर मल्लिका-पुष्पों के गुच्छों के हास्य को भी हरण करने वाले सुभगों द्वारा स्पृहणीय था। वह सफेद कमल और कुन्द पुष्पों के समूह से दन्तुर—बाहर निकले हुए सिरों वाला तथा वाद्यों के नाद से मुखरित था। महाराज भरत ने उस नगर-द्वार को पार कर दिया।

३९. सार्वभौम ! भवता स्पृहणीयः, सर्वथैव वृषभध्वजवंशः ।
दैवतावनिरुहेव[1] सुमेरुः, कौस्तुभेन[2] च हरेरिव वक्षः ॥

चक्रवर्तिन् ! आपको ऋषभ के वंश की सर्वथा स्पृहा करनी ही चाहिए। जैसे कल्पवृक्ष सुमेरु पर्वत की और कौस्तुभमणि विष्णु के वक्षस्थल की स्पृहा करते हैं।

४०. मौक्तिकैरिव यशोभिरशोभि, क्ष्मातलं विमलवृत्तगुणाढ्यैः ।
दिक्पुरन्ध्रिहृदयस्थलधार्यैर्हेतुरम्बुधिरिव त्वममीषाम् ॥

जैसे स्वच्छ और गोलाकार आदि गुणों से (अथवा गुण—डोरी से) युक्त मोतियों से भूमि शोभित होती है, उसी प्रकार विमल आचरण और गुण से सम्पन्न तथा दिशा रूपी सुन्दरियों के वक्षस्थल पर धारण करने योग्य यश से आपने पृथ्वी को शोभित किया है। जैसे मोतियों का हेतु (उत्पत्ति-स्थल) समुद्र है, वैसे ही यश के हेतु आप हैं।

४१. वामदक्षिणकरद्वयमेतत्, स्वर्गरत्नफलदाधिकनूह्यम्[3] ।
सर्वदैव हृदयेप्सितवस्तुप्रापणात् तव वदान्यवतंस ! ॥

---

१. दैवतावनिरुट्—कल्पवृक्ष ।
२. कौस्तुभः—विष्णु के वक्ष-स्थल में स्थित मणि (भुजमध्ये तु कौस्तुभः—अभि० २।१३७)
३. ऊह्यम्—ज्ञातव्यम् ।

हे दानशील मूर्धन्य ! आपके बाएं-दाएं दोनों हाथ सदा मनोवांछित वस्तु देने में स्वर्गरत्न—चिन्तामणि और स्वर्गफलद—कल्पवृक्ष से भी अधिक फलदायी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

४२. वाहिनीपतिरयं जलताढ्यो, गौरकान्ति[1]रपि संश्रितदोषः।
तेजसां निधि[2]रपि क्षतधामा, तत्कथञ्चिदुपमेय इह त्वम्॥

समुद्र नदियों का स्वामी होता हुआ भी जल—जड़ता युक्त है। चांद गौरकांति वाला होता हुआ भी सकलंक है। सूर्य तेज का निधान होता हुआ भी निस्तेज है। देव ! आप इनसे कैसे उपमित हो सकते हैं ?

४३. आयुगान्तमपि कीर्त्तिरियं ते, स्थास्नुरत्र भरतावनिशक्र !।
भाविनोऽपि यदमूमनुसृत्य, क्ष्माभृतो वसुमतीमवितारः॥

भारत भूमि के स्वामिन् ! आपकी यह कीर्ति लोक में युगान्त तक स्थायी रहेगी। इसी का अनुसरण कर भविष्य में होनेवाले राजे पृथ्वी की रक्षा करेंगे।

४४. कीर्त्तिनिर्जरवहा[3] तव राजन् !, विष्टपत्रितयपावनदक्षा।
राजहंसरचिताधिकहर्षा, वाहिनीरमणतीरगमित्री॥

राजन् ! तीनों लोकों को पावन करने में दक्ष, राजहंसों—श्रेष्ठ राजाओं द्वारा उल्लसित आपकी कीर्त्ति रूपी गंगा समुद्र के तीर की ओर जाने वाली है।

४५. त्वत्प्रतापदहने त्वदरीणां, भस्मसादिह यशांसि भवन्ति।
स्वेच्छयाऽटति यशोनवयोगी, भस्मना वपुरनेन विलिप्य॥

देव ! आपके प्रताप रूपी अग्नि में आपके शत्रुओं के यश भस्मसात् हो जाते हैं। आपका यश रूपी नया योगी, वैरियों के भस्मसात् हो जाने पर बनी राख से अपने शरीर को लिप्त कर, इच्छानुसार विचरण करता है।

४६. व्यानशे तव यशश्चतुराशा, वाहिनीशितुरिवाम्बु विवृद्धम्।
तत्र सेतवति[4]कोपि न राजा, मार्गणा[5]स्त्वनिमिषन्ति[6] नितान्तम्॥

१. गौरकान्तिः—चन्द्रमा।
२. तेजसां निधिः—सूर्य।
३. निर्जरवहा—गंगा।
४. सेतवति—पालिवदाचरति।
५. मार्गणः—याचक (मार्गणोर्थी याचनकः—अभि० ३।५२)
६. अनिमिषन्ति—मीनवदाचरन्ति।

जैसे समुद्र का पानी ज्वार के समय चारों दिशाओं में बढ़ता है वैसे ही आपका यश चारों दिशाओं में व्याप्त हो गया है। कोई भी राजा उसके लिए बांध नहीं बन रहा है—प्रतिरोध नहीं कर रहा है और याचक उसमें मछलियों की भांति तैर रहे हैं।

४७. **देव ! चन्द्रति[1] यशो भवदीयं, सांप्रतं क्षितिभुजामितरेषाम्।**
तारकन्ति[2] च यशांसि कृतित्वं, तत्तवैव न हि यत्र कलङ्कः॥

देव ! आपका यश चन्द्रमा के समान प्रदीप्त है और दूसरे राजाओं का यश तारों की भांति टिमटिमा रहा है। जहां आपके यशःचन्द्र में किसी प्रकार का कलंक नहीं है, वहां आपका ही कर्त्तृत्व है।

४८. **त्वामपास्य सकलार्थदहस्तं, योत्र विह्वलतया श्रयतेऽन्यम्।**
दुर्मतिः स हि सुधाब्धिमपास्ता, शुष्यदम्बुसरसि स्थितिमान् यः॥

आप हाथ के समान समस्त वस्तुओं के दाता हैं। जो व्यक्ति अपनी विह्वलता के कारण आपको छोड़कर किसी दूसरे का आश्रय लेता है वह दुर्मति अमृत के समुद्र को छोड़कर सूखते हुए तालाब का आश्रय लेता है।

४९. **को गुणस्तव स येन निबद्धा, राजराज ! चपलापि जयश्रीः।**
नान्यमेव भवतश्च वृणीतेऽतस्त्वदीयसुभगत्वमिहेड्यम्[3]॥

चक्रवर्तिन् ! आपका वह ऐसा कौनसा गुण है जिससे बंधकर यह चंचल विजयलक्ष्मी भी आपको छोड़ किसी दूसरे का वरण नहीं करती ? अतः इस विषय में आपकी सुभगता स्तुत्य है।

५०. **पश्य पश्य गगनक्षितिचारि, त्वद्बलं खररुचं पिदधाति।**
इत्यवेत्य[4] गगनान्तविहारी, ख्यातिमेति कथमत्र महस्वी[5] ?

देखो, देखो, आकाश और भूमि पर चलनेवाली आपकी सेना सूर्य को आच्छादित कर रही है, यह जानकर आकाश के छोर तक विचरण करनेवाला सूर्य इस लोक में ख्याति को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

---

१. चन्द्रति—चन्द्रवदाचरति।
२. तारकन्ति—तारावदाचरन्ति।
३. इड्यम्—स्तोतव्यम्।
४. वेत्य—इत्यपि पाठः।
५. महस्वी—सूर्य।

५१. इत्यर्थिजन[1]वाक्यपदान्याकर्णयन् क्षितिपतिर्विलुलोके ।
शाखिभिः परिवृतानि समन्तात् , काननानि सविधे पुर एव ॥

महाराज भरत ने मंगल-पाठकों के ये वाक्य सुने और नगर के निकट ही चारों ओर वृक्षों से परिवृत काननों को देखा ।

५२. स्वस्वनागहयपत्तिरथाढ्या , उत्तरोत्तररमार्पितचित्राः[2] ।
पृष्ठतः क्षितिपतेः पृथिवीशा, अन्वयुः करभरा इव भानोः ॥

जैसे सूर्य के पीछे-पीछे किरणों का समूह चलता है वैसे ही महाराज भरत के पीछे-पीछे अपने-अपने हाथी, घोड़े, सैनिक और रथों से युक्त (बत्तीस हजार) राजे चल रहे थे। वे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ऐश्वर्य के द्वारा दूसरों को आश्चर्यचकित कर रहे थे ।

५३. आदिदेवतनयं ध्वजिनीं तां , तारकारि[3]मिव निर्जरसेनाम् ।
अन्वितां समवलोक्य सतर्कं , नागरा इति परस्परमूचुः ॥

कार्त्तिकेय के पीछे-पीछे चलने वाली देवसेना की तरह महाराज भरत के पीछे-पीछे चलनेवाली उस सेना को देखकर नगरवासी लोग परस्पर तर्क सहित इस प्रकार कहने लगे—

५४. एतयोर्ननु पिता जगदीशः , सर्वसृष्टिकरणैकविधाता ।
किं विरोधतरुरुप्यत आभ्यां, युत्फल[4]श्चरनियोजनसूनः ?

'भरत और बाहुबली के पिता जगत् के स्वामी और सारी सृष्टि के एकमात्र विधाता थे । क्या अब ये दोनों वैर-वृक्ष का वपन कर रहे हैं, जिसका फल है युद्ध और फूल है दूत का संप्रेषण ?'

५५. न प्रभुर्न इह तृप्तिमवापद् , भारतक्षितिपराज्यगृहीत्या ।
वाडवाग्निरिव दुर्धरतेजाः , सिन्धुराजसलिलाभ्यवहृत्या ॥

हमारे स्वामी भरत भारतवर्ष के राजाओं के राज्य लेकर भी तृप्त नहीं हुए, जैसे समुद्र के पानी का भक्षण करके भी दुर्धर तेजवाली वाडवाग्नि तृप्त नहीं होती ।

---

१. अर्थिजनः—मंगलपाठक ।
२. उत्तरोत्तर······—उत्कृष्टोत्कृष्टलक्ष्मीभिरर्पितं—दत्तं चित्रं—आश्चर्यं यैः, ते ।
३. तारकारिः—कार्त्तिकेय (तारकारिः शराग्निभूः—अभि० २।१२३)
४. युत्फलः—युत् (युद्धं) एव फलं यस्य, असौ ।

५६. दैवतेशितुरपि स्पृहणीया , लक्ष्मि[1]रस्य परिभाति गतान्ता ।
बन्धुबाहुबलिमण्डललिप्सोः , सांप्रतं किमधिकात्र भवित्री ॥

महाराज भरत के पास अनन्त लक्ष्मी है । इन्द्र भी उसकी स्पृहा करता है । ऐसी स्थिति में अब वे अपने भाई बाहुबली के एक प्रदेश को लेने के इच्छुक हैं । उसे लेने से अब उनके कौनसी संपदा अधिक हो जाएगी ?

५७. वाजिराजिभिरिभैश्च विवृद्धात् , प्राभवात्[2] सुरनरोरगकान्तात् ।
मन्यते तृणवदेष जगन्ति , प्राभवस्मयगिरिर्ह्य विलङ्घ्यः ॥

घोड़ों की श्रेणियों और हाथियों के कारण महाराज भरत का प्रभुत्व (आधिपत्य) बहुत बढ़ गया है । वह आधिपत्य देव, मनुष्य और नागराज के लिए भी कान्त है, स्पृहणीय है । इसलिए वे सारे संसार को तृण की तरह तुच्छ मानते हैं । क्योंकि प्रभुत्व और अहंकार का पर्वत अनुल्लंघनीय होता है ।

५८. सात्विका इह भवन्ति हि केचित् , केचिदादधति राजसभावम् ।
तामसत्वमिह केश्चिदुपास्तं , यज्जना भुवि गुणत्रयवन्तः ॥

इस संसार में कुछ पुरुष सात्विक होते हैं, कुछ राजसिक भाव को धारण करते हैं और कुछ तामसिक वृत्ति वाले होते हैं । इस प्रकार संसार में मनुष्य इन तीन गुणों वाले होते हैं ।

५९. राजसाः किल भवन्ति महीन्द्रा , वैभवभ्रमिविघूर्णितनेत्राः ।
यत्प्रभुत्वमसदर्पयितारो , नाधिपत्यमितरत्र सहन्ते ॥

राजे राजसिक वृत्ति वाले होते हैं । उनके नेत्र ऐश्वर्य की भ्रान्ति से विघूर्णित (भ्रमित) रहते हैं । इसी कारण वे अन्यत्र दूसरे के आधिपत्य को सहन नहीं करते । जहां उनका प्रभुत्व नहीं है वहां भी वे अपना प्रभुत्व थोपते हैं ।

६०. दायकत्वसुकृतित्वगुणाभ्यां , सात्विको नरपतिर्विविदे[3]ऽयम् ।
सात्विकत्वमवधूय युयुत्सुः[4] , सोदरेण सह तत्कथमेषः ?

दायकत्व और सुकृतित्व (पांडित्य) के कारण हमने महाराज भरत को सात्विक जान

१. लक्ष्मि दीर्घ होना चाहिए । यह प्रयोग चिन्त्य है ।
२. प्राभवात्—प्रभुत्वात्, आधिपत्यात् ।
३. विविदे—विज्ञातः ।
४. युयुत्सुः—योद्धुमिच्छुः—युयुत्सुः ।

रखा था। किन्तु वही महाराज भरत सात्विकता को छोड़कर अपने भाई के साथ युद्ध करने का इच्छुक हो रहा है। फिर वह कैसे सात्विक हो सकता है?

६१. यो विवेकतरणेरुदयाद्रिः, सोऽधुनात्र भविता चरमाद्रिः।
मेदिनीगगनचारिचमूभिर्यद्वृतो व्रजति बन्धुविजित्यै ॥

जो विवेक रूपी सूर्य के लिए उदयाचल था वह आज यहां अस्ताचल हो जाएगा। क्योंकि भरत स्थल और नभ सेना से परिवृत होकर अपने बन्धु बाहुबली पर विजय पाने के लिए जा रहा है।

६२. मण्डपः स यदि नीतिलतायाः, ज्येष्ठमानमति तर्हि कथं नो?
मानहानिरधुनास्य न नत्यामुच्छिनत्त्यविनयं त्वनयाऽयम् ॥

यदि बाहुबलि नीतिलता के मंडप हैं तो वे अपने ज्येष्ठ भाई को नमन क्यों नहीं करते? आज भी वे यदि नत होते हैं तो उससे उनकी कोई मान हानि नहीं होती किन्तु इस नीति से वे अपने अविनय का उच्छेद कर सकते हैं।

६३. मानिनां प्रथमता किल तस्य, प्राग् गता त्रिजगति प्रथिमानम्।
तामपास्य कथमेति स एनं, जीविताच्छतगुणोऽस्त्यभिमानः ॥

बाहुबली अभिमानियों में प्रथम हैं। उनकी ऐसी प्रसिद्धि तीनों लोकों में पहले ही हो चुकी है। उसको छोड़कर वे भरत के पास कैसे जाएं? उनका अभिमान जीवन से भी सौ गुणा अधिक है।

६४. एकदेशवसुधाधिपतित्वं, बान्धवस्य सहते न विभुर्नः।
आत्मनो जलगतं प्रतिरूपं, वीक्ष्य कुप्यति न किं मृगराजः?

हमारे स्वामी भरत अपने भाई के एक देश का आधिपत्य भी सहन नहीं करते। क्या सिंह पानी में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कुपित नहीं होता?

६५. यच्चकार रणचेष्टितमुच्चैर्भारतक्षितिधवस्य पुरस्तात्।
एक एव बलवान् बहलीशः, सत्त्ववानिति यशोऽस्य भविष्णु ॥

भारत भूमि के अधिपति महाराज भरत के सम्मुख एक बाहुबली ने ही युद्ध करने की चेष्टा की है, यह महत्त्व को प्राप्त करने के लिए है। इस युद्ध के कारण बाहुबली की इस प्रकार की कीर्ति फैलेगी कि वे बलवान् और सत्त्ववान् हैं।

६६. एतयोः समरतः किल भावी, नागवाजिरथपत्तिविनाशः।
मत्तयोरिव वनद्विपयोर्द्राक्, पार्श्ववर्तितरुसंततिभङ्गः॥

इन दोनों के पारस्परिक युद्ध से हाथी, घोड़े, रथ और सैनिकों का विनाश होगा। जैसे जंगल के मदोन्मत्त हाथियों के पारस्परिक कलह से पार्श्ववर्ती वृक्षों की श्रेणी का ही नाश होता है।

६७. नागरैरिति वितर्कित एष, स्ववनात्यधिकविभ्रमभृत्सु।
कोशलापरिसरोपवनेषु, क्षिप्तचक्षुरचलद् बलयुक्तः॥

पौरजनों ने भरत के प्रति ऐसी वितर्कणाएं कीं। महाराज भरत अयोध्या के पार्श्ववर्ती उपवनों में दृष्टिपात करते हुए अपनी सेना के साथ आगे चल पड़े। वे उपवन नन्दन-वन से भी अत्यधिक विभ्रमशाली थे।

६८. पञ्चवर्णमयकेतुपरीतैः, पुष्पपल्लवचितैरिव वृक्षैः।
हेमकुम्भकलिताग्रशिरोभिर्देवधामभिरिवोन्नतिमद्भिः॥

६९. पद्मिनीवदनचारुगवाक्षैः, पल्वलैरिव विकस्वरपद्मैः।
सर्वतो वसनवेश्मभिरुच्चैः, राजितान्तरमनोरमलक्ष्मि॥

७०. यत्र पूर्वमवरोधवधूभिः, संन्यवासि विविधोत्सवरत्यै।
चारुचैत्ररथतोऽपि वनं तद्, राजमौलिरिव गन्तुमियेष॥

—त्रिभिर्विशेषकम्।

जैसे वृक्ष पुष्प और पल्लवों से घिरे रहते हैं वैसे ही उपवन पांच रंगों वाली पताकाओं से घिरे हुए थे। ऊंचे मन्दिरों की भांति उन भवनों के शिखर-भाग पर स्वर्ण-कलश चढ़े हुए थे। छोटे तालावों में विकसित कमल की भांति उन भवनों के पद्मिनी स्त्री के वदन की तरह सुन्दर गवाक्ष थे। उन उपवनों के चारों ओर बड़े-बड़े पट-कुटीर (तम्बू) थे। उनसे उपवनों का मध्य-भाग मनोरम और शोभायुक्त लग रहा था। जिस उपवन में भरत के अन्तःपुर की वधूओं ने विविध उत्सवों के आनन्द के लिए पहले ही निवास किया था, वह उपवन कुबेर के उपवन से भी सुन्दर था और महाराज भरत कुबेर की भांति उसमें प्रवेश करने के इच्छुक हुए।

७१. भारताधिपतिरम्बरवेश्म[1]द्वार्यज्वातरदिमादतितुङ्गात्।
मालवक्षितिधवार्पितहस्तः, स्वर्गनाथ इव मेरुगिरीन्द्रात्॥

भारत के अधिपति भरत उस पट-गृह के द्वार पर आने उन्नत हाथी के पीठ से मालवा

१. अम्बरवेश्म—पटकुटीर (तंबू)।

के अधिपति के हाथ का सहारा लेकर नीचे उतरे, जैसे इन्द्र मेरु पर्वत से नीचे उतरता है।

७२. स्वस्ववाहनवरादवतेरे, राजभिस्तदनुनम्रशिरोभिः ।
गां गतैरिव सुरैर्वरभूषाभूषिताङ्गरुचिराजितवेषैः ॥

महाराज भरत के पीछे-पीछे प्रणत शिर किए दूसरे राजे भी अपने-अपने वाहनों से नीचे उतरे, जैसे सुन्दर अलंकारों से भूषित शरीरवाले और सुन्दर वेश वाले देवता पृथ्वी पर अपने-अपने यानों से नीचे उतरते हैं।

७३. वेत्रपाणिसुचरीकृतमार्गः, संसदालयमितः क्षितिराजः ।
पञ्चबाण इव यौवनमन्तःपुष्पसंचयशुचिस्मितकान्तम् ॥

महाराज भरत के आगे-आगे द्वारपाल मार्ग दिखाता हुआ चल रहा था। वे धीरे-धीरे संसद-भवन को प्राप्त हुए जैसे कामदेव अन्तःपुष्प के संचय से पवित्र और स्मित-कान्त यौवन को प्राप्त करता है।

७४. सौधादपि प्रमुमुदे पटवेश्मनासौ, रत्नौघचित्रितवितानवितानवत्वात्[1] ।
यत्र प्रदीपकलिकाः पुनरुक्तभूत्यै, नक्तं दिवेव तपति द्युमणौ ज्वलन्ति ॥

महाराज भरत प्रासादों से भी अधिक उन तम्बूओं से प्रसन्न हुए। वे तम्बू रत्न समूहों से चित्रित चंदोवों से विस्तृत थे। वहां प्रदीप की कलिकाएं चक्रवर्ती के ऐश्वर्य को पुनरुक्त करती हुई तपते हुए सूर्य की भाँति रात को दिन बनाती हुई जल रही थीं।

७५. यस्यात्रापि हि विश्वविस्मयकरः प्राचीनपुण्योदयो,
जागर्त्ति प्रथिमानमेति सुषमा तद्दोहदेभ्योऽधिकम् ।
मुक्तापङ्कजिनीबिसा[2]शनपराः सर्वत्र हंसा यतः,
काकाः कश्मलनिम्बभूरुहफलास्वादैकवद्धादराः ॥

महाराज भरत का विश्व को आश्चर्यान्वित करनेवाला प्राचीन पुण्योदय—पूर्वार्जित धर्म का परिणाम—यहाँ भी जाग रहा है और उनके मनोरथों से भी अधिक सुषमा को प्राप्त हो रहा है। हंस सर्वत्र मोती और कमल-नाल को खाने वाले होते हैं। किन्तु कौवे अपवित्र भोजन और निम्ब वृक्ष के फल (निंबोली) का भोजन करने में ही आसक्त होते हैं।

—इति प्रथमसेनानिवेशवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः—

---

१. रत्नौघ······—रत्नौघेन चित्रितानि वितानानि—चन्द्रोदयास्तेषां वितानं—समूहो वा विस्तारस्तद्वत्वात्।

२. बिसं—कमलनाल (मृणालं तन्तुलं बिसम्—अभि० ४।२३१)

सातवां सर्ग

प्रतिपाद्य— अपने अन्तःपुर की रमणियों के साथ भरत के वन-विहार का वर्णन।

श्लोक परिमाण— ८३

छन्द— रथोद्धता।

लक्षण— 'रात्परैर्नरलगै रथोद्धता' (एक रगण, एक नगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु—SIS, III, SIS, I, S)। इसमें ग्यारह अक्षर होते हैं। पहला, तीसरा, सातवां, नौवां और ग्यारहवां दीर्घ होता है। रथोद्धता छन्द और स्वागता छन्द में यही अन्तर है कि रथोद्धता में नौवां अक्षर गुरु और दसवां लघु होता है। किन्तु स्वागता छन्द में नौवां अक्षर लघु और दसवां अक्षर गुरु होता है।

कथावस्तु—

महाराज भरत अपने अन्तःपुर के साथ अयोध्या के परिसर में व्याप्त उपवनों में गए और अपनी रमणियों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा करने लगे। महाराज भरत चन्द्रमा की भांति शोभित हो रहे थे। जैसे चन्द्रमा के पीछे-पीछे किरणें चलती हैं, वैसे ही महाराज भरत के पीछे-पीछे सुन्दरियां चल रही थीं। उनके हाथों में पंचवर्णी तालवृन्त के पंखे थे। एक सुन्दरी भरत के मस्तक पर छत्र ताने चल रही थी। भरत के मन में जलक्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वे अपनी रमणियों के साथ क्रीड़ा-सरोवर की ओर बढ़े। वे रमणीय सरोवर के पास आए। उन्होंने अंगनाओं के साथ उसमें अवगाहन किया। जलक्रीड़ा में रत सुन्दरियां भरत को छका रही थीं। उनके केशपाश शिथिल हो चुके थे। जूड़े में लगे फूल पानी पर तैरने लगे। उस समय वह सरोवर प्राभातिक आकाश की भांति फूलों से टिम-टिमा रहा था। जलक्रीड़ा से निवृत्त होकर सुन्दरियां तट पर आईं। उस समय सूक्ष्म वस्त्रों के भीतर से उनके शरीर की कान्ति स्पष्टरूप से प्रकट हो रही थी। महाराज भरत भी भीगे वस्त्रों सहित तट पर आ गए।

० ०

सप्तमः सर्गः

१. चक्रभृन् मृगदृशां मनोरथै[1]रीरितोथ विजहार कानने ।
वल्लभाभिलषितं हि केनचिल्लुप्यते प्रणयभङ्गभीरुणा ?

चक्रवर्ती भरत सुन्दरियों के मनोरथों से प्रेरित होकर वन में क्रीड़ा करने लगे। जिस प्रेमी के मन में प्रीति के नाश होने का भय होता है क्या वह अपनी वल्लभा की इच्छा का अतिक्रमण कर सकता है ?

२. पार्श्वपृष्ठपुरतः पुरन्ध्रिभिश्चक्रिणश्चरितुमभ्ययुज्यत[2] ।
हस्तिनीभिरिव सामजन्मनो[3]ऽनोकहैकगहनोन्तरे वने ॥

वृक्षों से अत्यन्त सघन उस वन के मध्य भाग में सुन्दरियों ने चक्रवर्ती भरत को आगे-पीछे और दोनों पार्श्वों में वैसे ही घेर लिया जैसे हथिनियां हाथी को घेर लेती हैं।

३. कामिनीसहचरस्य चक्रिणो, विभ्रमं[4] वनयुषो विलोक्य वै ।
तत्रपे त्रिदशराट् शचीसखः[5], संचरंस्त्रिदिवकाननान्तरे ॥

वन-विहार की वेला में कामिनियों के साथ संचरण करनेवाले चक्रवर्ती भरत की शोभा को देखकर देवलोक के कानन (नन्दनवन) में इन्द्राणी के साथ संचरण करने वाला देवेन्द्र भी लज्जित हो गया।

---

१. मनोरथैः—कामैः ।

२. अभ्ययुज्यत—उद्यमः क्रियतेस्म।

३. सामजन्मा—हाथी (मातङ्गवारणमहामृगसामयोनयः—अभि० ४।२८३)

४. विभ्रमं—शोभाम् ।

५. शचीसखः—शची—इन्द्राणी सखा अस्ति यस्य सः शचीसखः—इन्द्राणीसहितः ।

४. स्मेरपुष्पकरवीर[1]वीरुधा[2], मातरिश्व[3]परिधूतपत्रया ।
संवितन्वदिव पार्श्वयोर्द्वयोश्चामरश्रियममुष्य चक्रिणः ।।
५. कैतकेन रजसा तदा वनं, व्योम्नि मारुतविवर्तितेन च ।
अस्य मूर्धनि निजं सितप्रभं, छत्रमादधदिव व्यराजत ।।

—युग्मम् ।

उस समय वन विकसित फूलों तथा पवन से प्रकंपित पत्तों वाली कनेर की लता द्वारा चक्रवर्ती भरत के दोनों पार्श्वों में चामर की लक्ष्मी को उपस्थित कर रहा था ।
उस समय वह वन पवन द्वारा आकाश में फैले हुए केतकी के पराग का महाराज भरत के सिर पर अपना श्वेत प्रभा वाला छत्र तान रहा था ।

६. वातवेल्लिततरुप्रपातिभिः, प्राभृतं नरपतेः फलैर्वनम् ।
संततान खलु नेदृशाः क्वचित्, स्युश्चराचरविलङ्घ्यताजुषः ।।

वन ने पवन से आन्दोलित होकर वृक्षों से गिरने वाले फल राजा को उपहृत किए । भरत जैसे व्यक्ति कहीं भी चर-अचर जगत् द्वारा अतिक्रमणीय नहीं होते ।

७. कामिनीकुचघटीविघट्टनैर्मन्थरो मिलितवक्त्रसौरभः ।
तं निषिक्तवसुधाङ्गसङ्गतोऽमूमुदत् प्रमदकाननानिलः ।।

कामिनियों के स्तन रूपी कलशों के विघट्टन से मन्थर, उनके मुँह से निकली हुई सौरभ के कारण सुरभित और सिंचित भूमि के स्पर्श से शीतल, अन्तःपुर कानन के उस पवन ने भरत को प्रमुदित किया ।

८. अस्मदृद्धिपरिवर्द्धके रवौ, मैष कुप्यतु रसातिसर्जनात्[4] ।
छायया रविमहो निवारितं, संजदऽस्य शिरसोति शाखिभिः ।।

सूर्य पानी बरसा कर हमारी फल, पुष्प आदि की ऋद्धि को बढ़ाता है, इसलिए महाराज भरत इस पर कुपित न हो जाएं—ऐसा सोचकर वृक्षों ने महाराज भरत के मस्तक पर लगने वाले रवि के आतप को अपनी छाया से रोक दिया ।

---

१. करवीरः—कनेर (करवीरो हयमारः—अभि० ४।२०३)
२. वीरुध् (वीरुत्)—बहुत डालों वाली लता (गुल्मिन्युलपवीरुधः—अभि० ४।१८४)
३. मातरिश्वा—वायु (मातरिश्वा जगत्प्राणः—अभि० ४।१७३)
४. रसातिसर्जनात्—पानीयवर्षणात् ।

९. षट्पदाञ्जनभरं लतालयः[1], सविधाय सुमलोचनेषु च ।
वल्लभा इव मुदं ददुस्तरां, तस्य संविहरतो वनान्तरे ॥

लताओं ने अपने सुमन रूपी लोचनों में भौरों रूपी अंजन आंजकर, वन के बीच विचरण करने वाले महाराज भरत को, प्रियाओं की भांति आनन्दित किया ।

१०. मत्तभृङ्गरुतशिञ्जिनीरवं, पुष्पचापमधिरोप्य मन्मथम् ।
संतुतोष स निजानुहारिणं, वीक्ष्य काननगतं जयावहम् ॥

महाराज भरत ने अपने समान रूप-रंग वाले विजयी कामदेव को कानन में आए हुए देखकर मत्त भृङ्ग के गुञ्जारव रूपी प्रत्यंचा की टंकार वाले पुष्प-धनुष्य से उसे संतुष्ट किया ।

११. उन्मिषत्कुसुमकुड्मलस्तनीश्चंपकप्रसवगौररोचिषः ।
कोकिलास्वरभृतः सितच्छदध्वाननूपुरमनोरमक्रमाः ॥
१२. कुन्दसुन्दरदतीः[2] परिस्फुरच्चञ्चरीकनयनाः सुमस्मिताः[3] ।
पल्लवाधरवतीर्वनावनी[4]र्वर्णिनी[5]रिव विलोक्य सोऽतुषत् ॥

—युग्मम् ।

भरत वनस्थलियों को देखकर सन्तुष्ट हुआ । वे सुन्दर स्त्रियों की भांति प्रिय लग रही थीं । वे विकसित पुष्पगुच्छ रूपी स्तनों वाली, चम्पक के फूलों सी गौर कांति वाली, कोकिलाओं के स्वर से भरी पूरी, हंसों के शब्द रूपी नूपुरों से मनोरम चरणवाली, कुन्द फूलों सी सुन्दर दाँतों वाली, उड़ते हुए भौंरों सी आंखों वाली, फूलों की तरह हंसने वाली और पल्लव रूपी अधरों वाली थीं ।

१३. सर्वतोस्य फलिनीलता[6]ऽसिते, व्योमकीर्णमिह कौमुदं रजः[7] ।
पक्षिपक्षपवनैः प्रपञ्चितं[8], कौमुदीभ्रममतीतनत्तराम् ॥

सर्वत्र व्याप्त प्रियंगुलता से श्यामल वन में उड़ते हुए पक्षियों के पक्ष से उठने वाली हवा

१. लतालयः—लतानां आलयः—पंक्तयः ।
२. कुन्दसुन्दरदतीः—कुन्दवत् सुन्दरा दन्ता यासां तास्ताः ।
३. सुमस्मिताः—सुमानि—पुष्पाणि तद्वत् स्मितं—हसितं यासां, तास्ताः ।
४. वनावनिः—काननवसुधा ।
५. वर्णिनी—स्त्री (वर्णिनी महिलाऽबला—अभि० ३।१६८)
फलिनीलता—प्रियंगु की लता (प्रियंगु फलिनी श्यामा—अभि० ४।२१५)
कौमुदं रजः—कुवलयोत्थः परागः ।
पाठान्तरम्—पक्षिपक्षपवनप्रपञ्चितम् ।

से विस्तृत आकाश में बिखरा हुआ कुमुद का पराग महाराज भरत को चांदनी का भ्रम पैदा कर रहा था।

१४. केकयाऽब्दसुहृदां[1] तदा वनं, कामिनो[2]र्वददितीव वामिह[3]।
खेलतं कलयतं फलं श्रियोऽमूदृशो ह्यवसरो दुरासदः॥

उस समय वह वन मयूरों की केका से मानो कामी स्त्री-पुरुषों से यह कह रहा हो कि ये जैसे नाच रहे हैं वैसे तुम (युगल) भी नाचो और वनश्री की शोभा को लूटो, क्योंकि ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है।

१५. संश्रितः स ललनाभिरुल्लसद्दो[4]रुरोजकमलाभिरञ्जसा।
वल्लरीः फलमृणालशोभिनीः, स्पर्धयेव दधतां महीरुहाम्॥

उल्लसित भुजा और स्तनश्री वाली ललनाओं ने भरत का आलिंगन किया। मानो कि वे फल और मृणाल से शोभित वल्लरियों को धारण करने वाले वृक्षों से स्पर्धा कर रही हों।

१६. अन्वभूवमहमद्य शुद्धतां, भारतेश्वरसमागमादिति।
वातधूतनवपल्लवच्छलान्, नृत्यतीव तरुराजिरग्रतः॥

भरत चक्रवर्ती के समागम से मैंने आज शुद्धता का अनुभव किया है—मानो कि यह दिखलाती हुई आगे की तरु-राजि पवन से कंपित नव पल्लवों के मिष से नाचने लगी।

१७. उद्धतं नभसि मातरिश्वना, प्रोन्मिषत्स्थलसरोजिनीरजः।
उत्तरीयमिव काननश्रिया, न्यस्तमात्मशिरसि प्रियागमात्॥

पवन ने विकसित होती हुई स्थल-कमलिनी के पराग को आकाश में उछाल दिया। उस समय ऐसा लग रहा था मानो कि कानन की लक्ष्मी ने अपने स्वामी भरत के आगमन से उत्तरीय को अपने शिर पर ओढ लिया हो।

१८. पल्लवैः स्वयमशोकशाखिनः, कापि तेन निहता हृदन्तरे।
हृष्यतिस्म दयिते प्रियाजनः, प्रीतिकातरधिया हि तुष्यति॥

१. अब्दसुहृद्—मयूर (नीलकण्ठो मेघसुहृच्छिखी—अभि० ४।३८५)
२. कामिनोः—स्त्रीपुरुषयोः।
३. वाम्—युवाम्।
४. दोः—भुजा (भुजो बाहुः प्रवेष्टो दोः—अभि० ३।२५३)

भरत ने अशोक के पत्तों से स्वयं एक कामिनी के हृदय को आहत किया। आहत होने पर भी वह प्रसन्न हुई। क्योंकि प्रेमालु स्त्रियां प्रेम में कायल होती हैं। वे अपने प्रेमी से प्रसन्न होती हैं।

१६. मामपास्य किमनेन पूर्वतस्ताडितेयममुना हता त्वहम्।
चूर्णमुष्टिमिति तन्मुखं रुषान्वक्षिपन्नयनतान्तिकारिणीम् ॥

इस भरत ने मुझे छोड़कर पहले इस स्त्री को अशोक के पत्तों से क्यों आहत किया है? इसने मुझे चोट पहुँचाई है। यह सोचकर एक कामिनी ने रुष्ट होकर भरत के मुँह को लक्ष्य कर आँखों में क्लान्ति पैदा करने वाला मुट्ठी भर चूर्ण उछाला।

२०. युक्तमेवमनया कृतं दृशोर्दण्ड एव विदधे यथोचितम्।
कान्तयेति निहतोपि सोऽतुषत्, प्रेमणीह विपरीतता हि का ?

उस वल्लभा ने चूर्ण उछालकर उचित ही किया। उसने मेरी आंखों को यथोचित दंड दिया—यह सोचकर कान्ता से ताड़ित होने पर भी भरत प्रसन्न हुआ। प्रेम में विपरीतता कैसी ?

२१. काचिदुन्नतमुखी प्रतिद्रुमं, हस्तदुर्लभतमप्रसूनकम्।
स्वीयमंसमधिरोप्य नायिता, चित्तकाममसुना ह्यशारदा[1] ॥

कोई लज्जारहित स्त्री हाथ से दुष्प्राप्य पुष्प वाले वृक्षों के आगे (फूल तोड़ने की इच्छा से) ऊर्ध्वमुखी हो गई। उस समय भरत ने उसे कंधे पर चढ़ाकर उसके चित्त की अभिलाषा को पूरा किया।

२२. काचनापि कुसुमानि चिन्वती, कण्ठदाम दयितस्य गुम्फितुम्।
चुम्बितेयमधरोष्ठपल्लवे, चञ्चरीकतरुणेन तत्क्षणात् ॥

कोई अंगना अपने पति के लिए माला गूंथने के लिए फूल चुन रही थी। इतने में ही एक भ्रमर रूपी तरुण ने उसके अधर-ओष्ठ रूपी पल्लवों का चुंबन कर लिया।

२३. चुम्बितं मधुकरेण तन्मुखं, वीक्ष्य कापि दयितारुषं दधौ।
भ्रूविभङ्गकुटिलेन चक्षुषा, तर्जयन्त्यपि निरागसं प्रियम् ॥

'मधुकर ने मेरे मुँह का चुम्बन ले लिया है'—यह देखकर वह स्त्री अपने कुटिल भौंहों

१. अशारदा—अलज्जावती।

वाली आंखों से निरपराधी पति को भी तर्जना देती हुई कुपित हो गई।

२४. खञ्जनाक्षि! तव मन्तुरादधे, नो मया प्रणयभङ्गभीरुणा।
साक्षिणी तव सखीति मानिनी, तेन कापि मुहुरन्वनीयत ॥

तब पति ने कहा—'हे खञ्जनाक्षि! प्रणय भंग से भयभीत मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है। तुम्हारी सखी इस बात की साक्षी है'—यह कहकर उसने उस मानिनी स्त्री का अनुनय किया, उसके क्रोध को शांत किया।

२५. कोपने! त्वमधुना निगद्यसे, युक्तमेव दयितेन तत्कथम्।
मन्यसे प्रणयिनं न दुर्मदाद्, गर्वितासि भृशमात्मनः कृते ॥

२६. ईदृशः प्रियतमो न हि त्वया, प्राप्य एव किमनेन दुर्लभा।
त्वादृगेव दयिताऽलिरन्वशात्, तामिति प्रणयकर्कशं वचः ॥

—युग्मम्।

सखी ने नायिका से कहा—'हे कोपने! तुम्हारे पति ने आज तुमको उचित ही कहा है।' उसने कहा—'यह कैसे?' तब उस सखी ने प्रणय-कर्कश वाणी में उसे कहा—'तुम अपने आप में बहुत गर्वीली हो गई हो। तुम दुर्मद के कारण अपने प्रेमी को कुछ नहीं समझती। इस प्रकार का पति तुम्हें कभी प्राप्त नहीं हो सकता। तुम्हारे जैसी स्त्री क्या उसके लिए दुर्लभ है?'

२७. आगतेन सखि! नागतेन किं, प्रेयसेतरनिबद्धचेतसा।
कापि शृण्वति विलासिनीति[1] तामालिमाह सुभगत्वगर्विता ॥

अपने सौभाग्य पर गर्व करती हुई किसी सुन्दरी ने पति को सुनाते हुए उस सखी से कहा—'हे सखि! जिसका मन दूसरी प्रेयसी में निबद्ध है, उसे पति के आने और न आने से क्या?'

२८. मुञ्च मानिनि! रुषं प्रियेऽधुना, यत्तवैव विरहो भविष्यति।
व्याजमाप्य निहनिष्यति स्मरस्त्वां पुनः प्रियसखीत्युवाच ताम् ॥

प्रिय सखी ने उससे कहा—'मानिनी! तुम अब अपना क्रोध छोड़ दो। हे प्रिये! पति के साथ विरह तुम्हारा ही होगा। इस विरह रूपी मित्र को प्राप्त कर कामदेव तुम को पीड़ित करेगा।'

---

१. विलासिन्—पतिः तस्मिन्—विलासिनि।

२९. जीविते सति निवेदनं सखि ! , प्रेयसश्च सुखदुःखयोरिति ।
प्रीतकातरमना निशम्य तत् , सस्वजे सरभसं स मानिनीम् ॥

'सखि ! यदि पति जीवित रहा तो मैं उसे सुख-दुख का निवेदन करूंगी'—यह सुनकर प्रेम से कायल मन वाले प्रेमी ने हठात् उस सुन्दरी को बाहों में भर लिया ।

३०. क्लृप्तपुष्पशयनं लतालयं , कापि कान्तमुपनीय कामिनी ।
तत्क्षणोच्चितसुमस्रजा दृढं[1] , बध्यमानमिति सागसं जगौ ॥

वहां एक लतागृह में पुष्पशय्या बिछी हुई थी । एक कामिनी अपने पति को वहां ले आई । उसे अपराधी मानकर तत्काल के चुने हुए पुष्पों से बनी हुई माला से उसे दृढ़ता से बांधती हुई वह बोली—

३१. संयतोऽसि निविडं मयाऽधुना , गन्तुमक्षमपदो भवानितः ।
मानसं तु तव तत्र[2] संगतं[3] , स्वागसः फलमवाप्नुहि द्रुतम्[4] ॥

'नाथ ! मैंने तुमको सघनता से बांध दिया है। अब तुम इस लता-मंडप से एक पग भी चलने में समर्थ नहीं हो ! तुम्हारा मन तो अपनी प्रिया में आसक्त है। अब तुम निश्चित ही अपने अपराध का फल भोगोगे।'

३२. पुष्परेणुपरिपिञ्जरास्ययोर्व्यक्तिरेव विदिता न वां मया ।
काञ्चिदेवमनुनीय दक्षिणः , स्वापराधविफलत्वमाचरत् ॥

'हे प्रिये ! पुष्पों के पराग से पीत-रक्त हुए तुम्हारे दोनों के चेहरों में मैंने कोई भेद नहीं देखा'—यह कहते हुए उदार नायक ने किसी एक सुन्दरी का अनुनय कर अपने अपराध को विफल बना डाला ।

३३. प्रेयसि प्रणयविह्वलं मनो , योषितः समनुनीय तत्सखी ।
इत्युवाच बहुवल्लभे प्रिये , का रतिस्तव गजेन्द्रगामिनि ! ?

नायिका का अपने पति के प्रति प्रेम-विह्वल मन को लक्षित कर उसकी सखी ने कहा—'हे गजगामिनी ! बहु पत्नीवाले पति के प्रति तेरा कैसा अनुराग ?'

---

१. 'गले' इत्यपि।
२. तत्र इति प्रियाजने ।
३. संगतं—आसक्तम् ।
४. द्रुतम्—निश्चितम् ।

३४. ईरितेति सहसं जगाद सा, न त्वयोचितमुदीरितं वचः ।
किं न वेत्सि सकलप्रिया सुधा, स्वाद्यते करगता हि भाग्यतः ॥

ऐसा कहे जाने पर वह सुन्दरी सहसा बोल उठी—'तूने उचित बात नहीं कही। क्या तू यह नहीं जानती कि अमृत सबके लिए प्रिय होता है, किन्तु भाग्य से हस्तगत होने पर ही उसका आस्वाद लिया जा सकता है'।

३५. ज्ञातनैकललनारसः प्रियो, मानकोपकलनामवैति यत् ।
सख्यवेत्तरि न मानकारिता, मन्थने हि सलिलस्य को रसः ?

'जिसके पति ने अनेक ललनाओं के प्रेम रस को जान लिया है, वह उन स्त्रियों के मान, कोपन आदि कलनाओं को भी भली भाँति जान लेता है। हे सखि! कुछ भी नहीं जानने वाले पति के समक्ष मानकारिता नहीं होती क्योंकि पानी को मथने से कौन सा रस पैदा होता है?'

३६. काञ्चन प्रसवरेणुमुष्टिना, घूर्णिताक्षिकमलां प्रवञ्च्य सः ।
चुम्बतिस्म दयितामुखाम्बुजं, कोविदो हि कुरुते मनीषितम् ॥

महाराज भरत ने एक सुन्दरी के प्रति मुट्ठी भर पुष्प पराग फेंका। सुन्दरी की आंखें घूर्णित हो गई। इस प्रकार उसे ठगकर महाराज ने उस कान्ता का चुम्बन ले लिया। क्योंकि विचक्षण व्यक्ति ही अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

३७. एहि एहि वर! देहि मोहनं[1], नेतरासु हृदयं विधेहि रे ।
एवमक्षरमयीं सुमस्रजं, कापि वल्लभगले निचिक्षिपे ॥

'नाथ! चल, चल, मुझे रतिज सुख दे। दूसरी स्त्रियों के प्रति अपना मन मत लगा'—इस प्रकार की अक्षरमयी फूलों की माला किसी सुन्दरी ने अपने प्रिय के गले में डाल दी।

३८. कापि कुड्मलहता विलासिनी, वल्लभोपरि पपात संभ्रमात् ।
एतदीयमथ तत्सखीजनैर्निस्त्रपत्वमुररीकृतं न हि ॥

फूलों के गुच्छों से आहत होने पर एक विलासिनी संभ्रम के साथ अपने वल्लभ पर जा गिरी। उसकी सखियों ने उसके इस कृत्य को लज्जाजनक नहीं माना।

---

१. मोहनं—मैथुन (सुरतं मोहनं रतम्—अभि० ३।२००)

भूमि में प्रवेश पाने की इच्छुक की भांति नीचा मुंह किए वह कहीं लतागृह में चली गई।

४९. वच्मि देवि ! भवती चकार किं, रागिणि प्रियतमे हि किं क्रुधा।
श्रीरिव त्वमसि तस्य चेतसो, देवता जलरुहः किमन्यया ?
५०. त्वद्वियोगविधुरः स जीविते, संशयं परिजनस्य कल्पते।
रङ्गभङ्ग उचितत्वमञ्चति, प्रस्तुते महविधौ न तत्तव ॥
५१. तन्नियोगवशतस्त्वदन्तिकं, सङ्गतास्मि मम देहि तद् गिरम्।
साथ दूतिमितिवादिनीं जगौ, कोपभङ्गिपरिनर्तितेक्षणा ॥

—त्रिभिः कुलकम्।

उसके पास एक दूती आकर बोली—'अरी देवी ! तुमने यह क्या किया ? अनुरक्त पति के प्रति क्रोध करने का क्या अर्थ ? कमल के लक्ष्मी की भांति तुम उसके चित्त की देवता हो। उसे दूसरे से क्या प्रयोजन ?'

'देवी ! तुम्हारे वियोग से विधुर होकर वह अपने परिजन के जीवन में संदेह कर रहा है। उत्सव का प्रसंग प्रस्तुत होने पर उसके रंग में भंग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।'

'तुम्हारे पति की आज्ञा से मैं तुम्हारे पास आई हूं। तुम मुझे वहां चलने का वचन दो।' दूती के इस प्रकार कहने पर उस नायिका ने कोप-भंगिमा से आंखों को नचाते हुए कहा—

५२. दूति ! सत्यमुदितं त्वया वचो, न प्रवेष्टुमहमस्य हृद् विभुः।
वर्णिनीशतसमाकुलं यतः, प्रीतिरस्य शतधा विभज्यते ॥

'दूति ! तू ने सत्य बात कही है कि मैं उसके हृदय में प्रविष्ट होने में समर्थ नहीं हूं, क्योंकि उसका हृदय सैकड़ों सुन्दरियों से समाकुल है और उसका प्रेम भी उन सैकड़ों में विभाजित हो गया है।'

५३. का सुधा मृगदृशां हि वल्लभः, प्रीतितत्परमना भवेद् यदि।
प्राणनाथकरगामि जीवितं, योषितामिति वदन्ति सूरयः ॥

यदि पति प्रीतिपरायण हो तो स्त्रियों के लिए अमृत भी क्या है ? कुछ नहीं। विद्वान् ठीक ही कहते हैं कि स्त्रियों का जीवितव्य उनके पति के हाथ में होता है।

५४. पूर्वमेव हृदयं विलासिना, मे गृहीतमथ किं करोम्यहम्।
तन्मनश्च न मया ददे तदा, विज्ञ एव स न चाहमीदृशी ॥

लग रहा था मानो कि शिव द्वारा धनुष को तोड़ डालने पर कामदेव अपने स्कंध देश पर तलवार धारण कर रहा हो।

४४. उच्चिताभिनवचम्पकस्रजा, पुष्परेणुपरिपाण्डुरा तनुः।
शारदोदकमुचामिवावलिविद्युतेव सुदृशां व्यरोचत ॥

तत्काल चुने हुए अभिनव चम्पक के फूलों की माला से विकीर्ण पुष्परेणु से धूसरित स्त्रियों का शरीर शरद् ऋतु के मेघों में चमकने वाली बिजली की तरह दीप्त हो रहा था।

४५. स्वेदलुप्ततिलके प्रियानने, पुष्पधूलिपरिधूसरत्विषि।
स व्यधत्त वदनानिलं मुहुर्जीवयन्निव मनीषितां धृतिम् ॥

प्रिया के आनन का तिलक पसीने से धुल गया था। उसकी कांति पुष्पधूलि से धूसरित हो गई थी। भरत हृदय की इच्छित तुष्टि को प्राणवान् करता हुआ अपनी वल्लभा के मुंह पर अपने मुँह से हवा झलने लगा, फूंक देने लगा।

४६. इत्यमूं कथयतिस्म तत्सखी, तत्त्वदीयसुभगत्वमेव यत्।
रम्भयाऽपि कमनीय[1]मीदृशो, वल्लभः किमनया वशीकृतः ?

उसकी सखी उसको कहने लगी—'यह तेरा ही सौभाग्य है कि इन्द्राणी भी उसकी अभिलाषा करती है। उसके मन में भी यह वितर्क उत्पन्न हुआ है कि इस कान्ता ने ऐसे वल्लभ को कैसे वश में कर लिया ?'

४७. गोत्रविस्खलितमेवमभ्यधात्, कापि तं प्रणय एकपक्षतः।
न प्रयाति हृदयं तयाकुलं, मानसे यदति तन्मुखे भवेत् ॥
४८. इत्युदीर्य पतदश्रुलोचना, निर्जगाम सहसा तदन्तिकात्।
संप्रवेष्टुमिव सा धरान्तरं, न्यङ्मुखी क्वचिदिता लतालयम् ॥

—युग्मम्।

पति ने अपनी कान्ता को गलत नाम से संबोधित किया, तब वह इस प्रकार बोली—'मेरा प्रेम एकपक्षीय है। आपका उस स्त्री से आकुल मन उस प्रेम तक नही पहुंच पा रहा है। जो मन में होता है वही मुंह पर छलक जाता है।'

इस प्रकार कहकर वह आंखों से आंसू बहाती हुई शीघ्र ही उसके पास से चली गई।

१. कमनीयं—अभिलषनीयम्।

भूमि में प्रवेश पाने की इच्छुक की भांति नीचा मुंह किए वह कहीं लतागृह में चली गई।

४६. वच्मि देवि ! भवती चकार किं, रागिणि प्रियतमे हि किं क्रुधा।
श्रीरिव त्वमसि तस्य चेतसो, देवता जलरुहः किमन्यया ?
५०. त्वद्वियोगविधुरः स जीविते, संशयं परिजनस्य कल्पते।
रङ्गभङ्ग उचितत्वमञ्चति, प्रस्तुते महविधौ न तत्तव ॥
५१. तन्नियोगवशतस्त्वदन्तिकं, सङ्गतास्मि मम देहि तद् गिरम्।
साथ दूतिमितिवादिनीं जगौ, कोपभङ्गिपरिनर्तितेक्षणा ॥
—त्रिभिः कुलकम्।

उसके पास एक दूती आकर बोली—'अरी देवी ! तुमने यह क्या किया ? अनुरक्त पति के प्रति क्रोध करने का क्या अर्थ ? कमल के लक्ष्मी की भांति तुम उसके चित्त की देवता हो। उसे दूसरे से क्या प्रयोजन ?'

'देवी ! तुम्हारे वियोग से विधुर होकर वह अपने परिजन के जीवन में संदेह कर रहा है। उत्सव का प्रसंग प्रस्तुत होने पर उसके रंग में भंग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।'

'तुम्हारे पति की आज्ञा से मैं तुम्हारे पास आई हूं। तुम मुझे वहां चलने का वचन दो।' दूती के इस प्रकार कहने पर उस नायिका ने कोप-भंगिमा से आंखों को नचाते हुए कहा—

५२. दूति ! सत्यमुदितं त्वया वचो, न प्रवेष्टुमहमस्य हृद् विभुः।
वर्णिनीशतसमाकुलं यतः, प्रीतिरस्य शतधा विभज्यते ॥

'दूति ! तू ने सत्य बात कही है कि मैं उसके हृदय में प्रविष्ट होने में समर्थ नहीं हूं, क्योंकि उसका हृदय सैंकड़ों सुन्दरियों से समाकुल है और उसका प्रेम भी उन सैंकड़ो में विभाजित हो गया है।'

५३. का सुधा मृगदृशां हि वल्लभः, प्रीतितत्परमना भवेद् यदि।
प्राणनाथकरगामि जीवितं, योषितामिति वदन्ति सूरयः ॥

यदि पति प्रीतिपरायण हो तो स्त्रियों के लिए अमृत भी क्या है ? कुछ नहीं। विद्वान् ठीक ही कहते हैं कि स्त्रियों का जीवितव्य उनके पति के हाथ में होता है।

५४. पूर्वमेव हृदयं विलासिना, मे गृहीतमथ किं करोम्यहम्।
तन्मनश्च न मया ददे तदा, विज्ञ एव स न चाहमीदृशी ॥

'हे सखि ! पति ने मेरा हृदय पहले ही छीन लिया है अतः अब मैं क्या करूं ? मैंने उसका हृदय नहीं लिया । वही विज्ञ है । मैं वैसी नहीं हूं ।'

५५. योषितामवतरेन्न मानसात् , प्रीतिपूर्णहृदयो हि नायकः ।
राजहंस इव पद्मिनीवनाच्छुद्धपक्षयुगलप्रतीतिभाक् ।।

'जो नायक प्रेमपूर्ण हृदयवाला होता है, वह स्त्रियों के मन से नीचे नहीं उतरता । जैसे शुद्ध पक्ष-युगल का प्रत्यय देने वाला राजहंस पद्मिनी के वन से नीचे नहीं उतरता ।'

५६. सस्यरत्नवसनादयस्त्वमी , संश्रयन्ति विषयाः पुराणताम् ।
एक एव[1] निबिडो युवद्वयीप्रीतिरीतिनिचयो[2] न कुत्रचित् ।।

'धन-धान्य, रत्न, वस्त्र आदि पदार्थ जीर्ण हो जाते है किन्तु दो युवा हृदयों के बीच होने वाला अद्वितीय सघन प्रेम कभी-कहीं पुराना नहीं होता, जीर्ण नहीं होता ।'

५७. विस्मरन्ति दयिता न वल्लभं , जीवितादधिक एव यत् प्रियः ।
तद्वियोगविधुरा मृगीदृशो , मन्वते तृणवदत्र जीवितम् ।।

'स्त्रियाँ अपने पति को कभी नहीं भूलतीं । वे पति को अपने जीवन से भी अधिक मानती हैं । पति के वियोग से विधुर हुई स्त्रियाँ अपने जीवन को तृणवत् तुच्छ समझती हैं ।'

५८. प्राणनाथविरहासहाः स्त्रियो , जातवेदसमुपासतेतराम् ।
ताभिरप्यनुनयो विधीयते , साहसस्य भविता हि का गतिः ।।

'स्त्रियाँ अपने प्राणनाथ का विरह सहन नहीं कर सकतीं । विरह प्राप्त कर वे अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं । फिर भी उन्हें ही अपने पति का अनुनय करना पड़ता है, क्योंकि उनके साहस की क्या गति होगी, कौन जाने ?'

५९. पादयोर्निपतिता स एव मे , नाहमप्यनुनयं समाश्रये ।
एत्वधिज्यधनुरप्यनन्यजो , धीरता सहचरी हि योषिताम् ।।

'वही मेरे पैरों में आकर गिरेगा । भले ही कामदेव धनुष्य में प्रत्यंचा ताने हुए आए फिर भी मैं अनुनय नहीं करूंगी, क्योंकि धीरता ही स्त्रियों की सहचरी है ।'

१. एक एव—अद्वितीय ।
२. युवद्वयीप्रीति······—युवयुवतियुगलप्रणयस्वभावसमुदयः ।

६०. इत्युदीरितवतीमुवाच तां , दूतिरस्खलितवाक्परम्पराम् ।
जीवितेन सह विग्रहस्त्वयारभ्यते यदवगण्यते प्रियः ॥

नायिका ने अस्खलित वाणी में सारी बातें कही । तब दूती ने कहा—'तुमने अपने पति की अवगणना कर अपने जीवन के साथ विग्रह प्रारम्भ कर दिया है ।'

६१. किं न वेत्सि विधुरभ्युदेष्यति , प्रीतिवल्लिपरिवृद्धिमण्डपः ।
मानिनीहृदयमानसंग्रहग्रन्थिमोक्षणपरिस्फुरत्करः ॥

'क्या तुम नहीं जानती कि प्रेम रूपी वल्लरी की परिवृद्धि के लिए मंडप के समान और मानिनी स्त्रियों के मन में रहने वाले मानसंग्रह रूपी ग्रन्थियों को तोड़ने में समर्थ, अभिव्यक्त किरणों वाला चन्द्रमा उदित होगा ?'

६२. प्रेतभूः प्रमदकाननं शराः , कौसुमा रतिपतेरयोमयाः ।
चन्द्रमास्तरणिरित्यवेहि ते , वैपरीत्यमवशे हृदीश्वरे ॥

'तुम्हारे पति के तुम्हारे अधीन न होने पर यह प्रमद कानन, श्मशान हो जाएगा । कामदेव के कुसुममय बाण लोहमय हो जायेंगे और यह चन्द्रमा सूर्य जैसा तपने लगेगा । तुम समझो, सब कुछ विपरीत हो जाएगा ।'

६३. मौनमेवमनयाप्युदीरिता , यावदाश्रितवती त्वधोमुखी ।
तावदेत्य सहसा लतान्तराश्लिश्लिषे प्रणयिनाऽथ मानिनी ॥

दूती के कहने पर भी नायिका मौन हो नीचे मुंह किए खड़ी रही । इतने में ही उसका पति लताओं के बीच से अकस्मात् आया और उस कामिनी को अपनी बाहों में भर लिया ।

६४. सर्वदैव चतुरासि भामिनि ! , प्रीणने वनविहार ईदृशः ।
सद्रवो[1]लय[2] इवातिदुर्लभः , कोपमानसमयं न वेत्सि किम् ?

६५. आददे हृदयमेव मे त्वया , नेतरा वसितु[3]मत्र तत्क्षमा ।
अंह अंह[4] इति वादिनी वधूश्चुम्बिता सरभसं विलासिना ॥

—युग्मम् ।

---

१. सद्रवः—रवेण—परिहासेन सह वर्तमान इति सद्रवः वनविहारः ।
२. लयः—गीतनृत्यवाद्यत्रयी ।
३. वसिग् आच्छादने धातुः न तु 'वसन्निवासे ।
४. अंह-अंह—सम्बोधने अव्ययः ।

भरत ने कहा—'हे भामिनी ! तुम संतुष्ट करने में सदा ही चतुर रही हो। यह परिहास युक्त वन-विहार लय (गीत, नृत्य, और वाद्य से युक्त विलास) की भांति अत्यन्त दुर्लभ है। प्रिये ! क्या तू कोप और मान के अवसर को नहीं जानती ?'

'तुमने मेरा हृदय ही चुरा लिया है। उस हृदय को दूसरी कोई भी स्त्री आच्छादित करने में समर्थ नहीं है।' तब वह नायिका 'नहीं, नही,' कहती रही और भरत ने उसका हठात् चुंबन ले लिया।

६६. चन्द्रमा इव महीपतिर्व्यभादङ्गनास्तदनुगा इव त्विषः ।
उल्ललास च तदा परस्परं, चित्तभूप्रमदपाथसां पतिः[1] ॥

राजा भरत चंद्रमा की भांति शोभित हो रहे थे। जिस प्रकार चंद्रमा के पीछे-पीछे किरणें चलती हैं, उसी प्रकार राजा के पीछे-पीछे अंगनाएं चल रही थीं। उस वन-विहार के समय एक दूसरे के चित्त में उत्पन्न हर्ष का सागर उछल रहा था।

६७. पञ्चवर्णमयपुष्पभङ्गियुक्तालवृन्तवरवीजनेन सः ।
अन्वभूत् प्रणयिनीकरेरिणा, चामरादपि सुखं युवाऽधिकम् ॥

कान्ताएं अपने हाथों से पांच वर्ण वाले पुष्पों की सजावट से युक्त तालवृन्त के पंखे झल रही थीं। उस समय युवक भरत ने चंवर डुलाने से उत्पन्न सुख से भी अधिक सुख का अनुभव किया।

६८. सर्वजातिकुसुमश्रियाञ्चितं, छत्रमस्य शिरसि व्यधाद् वधूः ।
राजचिन्हललितातपत्रतश्चाधिकं प्रणुदती मुदां भरम् ॥

राजचिह्न वाले मनोज्ञ छत्र से भी अधिक प्रमोद को प्रेरित करती हुई एक सुन्दरी ने सभी जाति वाले पुष्पों की शोभा से युक्त छत्र को भरत के मस्तक पर ताना।

६९. प्रस्थितोऽथ जलकेलये नृपः सावरोध[2]वनिताजनस्ततः ।
फुल्लपङ्कजदलाननश्रियं, राजहंस इव केलिपल्वलम्[3] ॥
७०. पद्मिनीनिचयसञ्चितोत्सवं, राजहंसविनिषेवितान्तिकम् ।
ऊर्मिपाणिमिलनोत्सुकं रयात्, स्पर्धमानमिव भूमिवल्लभम् ॥

—युग्मम् ।

१. चित्तभू······—मानसोत्पन्नहर्षाब्धिः ।
२. अवरोधः—अन्तःपुर (अन्तःपुरमवरोधोवरोधनम्—अभि० ३।३९१)
३. केलिपल्वलम्—क्रीडा-सरोवर ।

अब भरत अपने अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ जलक्रीडा करने के लिए राजहंस की तरह क्रीडा-सरोवर की ओर चल पड़ा। वह सरोवर विकसित कमलों की शोभा से युक्त था। वह भरत से स्पर्धा कर रहा था—उसकी बराबरी कर रहा था।

वह सरोवर कमलिनी-निचय से संचित उत्सव वाला था और भरत पद्मिनी स्त्रियों से युक्त था। उस सरोवर के तटों पर राजहंस रहते थे और भरत की सेवा में राजहंस-श्रेष्ठ राजे रहते थे। वह सरोवर वेगपूर्वक ऊर्मि रूपी हाथों से भरत से मिलने को उत्सुक हो रहा था।

७१. आगतोद्गतसरोजिनीचयैर्मेखलारणितभृङ्गकूजितैः ।
चक्रहंसकलनूपुरारवैः, सद्रसान्तरगतैः सरो बभौ ॥

भृंग-कूजन रूपी करधनी के शब्दों तथा चक्रवाक और हंसों की कलध्वनि रूपी नूपुरों के शब्दों से युक्त और स्वच्छ पानी के मध्य में विद्यमान आपात उत्पन्न कमलिनियों के समूह से वह सरोवर शोभित हो रहा था।

७२. पुण्डरीकनयनैर्विकासिभिर्लोकमानमिव केलिपल्वलम् ।
चक्रसारसविहङ्गमस्वनैराह्वयन्तमिव स व्यलोकत ॥

विकसित कमल रूपी नयनों से देखे जाते हुए तथा चक्रवाल, सारस आदि पक्षियों के शब्दों द्वारा बुलाए जाते हुए भरत ने उस क्रीडा-सरोवर को देखा।

७३. योषितां प्रतिकृतिर्जलाशये, पश्यतामिति वितर्कमादधे ।
स्वं स्वरूपमिह सिन्धुसोदरे, किं श्रियेव बहुधा व्यभज्यत ॥

जलाशय में देखती हुई स्त्रियों के प्रतिबिम्ब ने यह वितर्क किया—क्या इस सिन्धु के सहोदर जलाशय में लक्ष्मी ने अपने आपको अनेक रूपों में विभक्त कर डाला है?

७४. एतदग्रत इमा जलात्मजाः, किं नलिन्य इति पङ्किला ह्रिया ।
हीयतेस्म नलिनीगणस्तदा, शुद्धपक्षयुगलैः सितच्छदैः ॥

भरत की इन सुन्दरियों के समक्ष जड (जल) से उत्पन्न होने के कारण लज्जा से पंकिल बनी हुई, इन नलिनियों का अस्तित्व ही क्या है—इस वितर्क से उन सफेद पांखों वाले हंसों ने उस नलिनी समूह को छोड़ दिया।

७५. सावरोधनृपतेः समागमादुच्छलन्निव तरङ्गपाणिभिः ।
स हसन्निव विकासिपद्मिनीकाननैः समतुषत् सरोवरः ॥

अपने अन्तःपुर के साथ आए हुए नृपति को देखकर वह सरोवर अपने तरंग रूपी हाथों से उछलता हुआ और विकसित कमलिनियों के कानन से मुस्कराता हुआ अत्यन्त प्रसन्न हुआ!

७६. क्रीडातटाकमवनीपतिराजगाहे,[1]
सार्धं वधूभिरिभराज इव द्विपीभिः[2] ।
हस्तोद्धृताम्बुरुहिणीनिचयः समन्ता-
दावर्तमानशफरी[3]समलोचनाभिः ॥

जैसे यूथपति अपनी हथिनियों के साथ सरोवर का अवगाहन करता है, वैसे ही घूमती हुई मछलियों की भांति दृष्टिवाली वधूओं के साथ महाराज भरत ने हाथ से कमलिनी समूह को उखाड़कर, उस क्रीडा-सरोवर का चारों ओर से अवगाहन किया।

७७. काभिश्चन व्यरचि लोचनकज्जलौघैः,
श्यामं जलं शुचितरं स्तनचन्दनैश्च ।
एवं वितर्क इह केलिसरोवरेऽभूत्,
सङ्गः खरांशुतनया[4]सुरकुल्ययोः[5] किम् ?

सुन्दरियों के लोचन काजल से आंजे हुए थे। उसके कारण सरोवर का पानी कृष्णवर्ण वाला हो रहा था। उनके स्तनों पर चन्दन का लेप था। उसके कारण पानी सफेद हो रहा था। उस समय उस क्रीडा-सरोवर को देखकर यह वितर्क उत्पन्न हुआ कि क्या यहाँ यमुना और गंगा का संगम हो रहा है ?

७८. धम्मिल्ल[6]भारकुसुमैः पतितैर्जलान्तः,
प्राभातिकाम्बरमिवस्थिततुच्छतारम् ।
चूर्णीकृतोर्मिवलयं स्तनशैलशृङ्गैः,
क्रीडासरो विविधरूपमतान्यमूभिः ॥

---

१. आजगाहे—विलोडयामास ।
२. द्विपीभिः—हस्तिनीभिः ।
३. शफरी—मछली (अभि० ४।४१२)
४. खरांशुतनया—यमुना (कालिन्दी सूर्यजा यमी—अभि० ४।१४६) ।
५. सुरकुल्या—गङ्गा (कुल्या इति नदी ।)
६. धम्मिल्लः—केश-रचना (धम्मिल्लः संयताः केशाः—अभि० ३।२३४)

उन सुन्दरियों की केश-रचनाओं में फूल लगे हुए थे। जलक्रीडा के समय वे फूल पानी में गिर पड़े। उस समय वह सरोवर थोड़े तारों से युक्त प्रभात के अकाश की भांति लग रहा था। सुन्दरियों के स्तन रूपी शैल-शृंगों से टकरा कर उस सरोवर की ऊर्मियों का वलय टूट चुका था। इस प्रकार उन सुन्दरियों के कारण वह क्रीडा-सरोवर विविध रूप धारण कर रहा था।

७९. आकाशसंचरसितच्छदवीजितस्य,
हा! शैत्यमभ्यधिकमम्बुचयस्य किं वा?
किं वा प्रफुल्लनयनाङ्गसमागमस्य,
प्रोचान एवमयमुत्पुलको[1] वभूव॥

'आकाशगामी हंसों द्वारा प्रकंपित सरोवर का पानी ज्यादा शीतल है अथवा स्त्रियों के अंग का समागम'—ऐसा कहता हुआ भरत रोमांचित हो उठा।

८०. अद्भिर्व्यपासि किल कज्जलकालिमा दृग्-
द्वन्द्वान्न किञ्चिदपि पाटलताधरोष्ठात्।
स्त्रीणामिति व्यरचि चान्यनिजाववोधो,
नैसर्गिकी हि कमला क्वचिदप्यनेत्री॥

सरोवर के पानी ने उन सुन्दरियों के नयन-युगल के कज्जल की कालिमा को धो डाला किन्तु अधर-ओष्ठ की पाटलता (रक्तता) को दूर नहीं किया। सरोवर के इस व्यवहार ने स्वर-पर का वोध करा दिया। क्योंकि स्वाभाविक संपदा कहीं भी छीनी नहीं जा सकती।

८१. यावत् सहस्रकिरणो गगनावगाही,
तावत् कुरङ्गनयने! न हि नो वियोगः।
गन्ताऽयमस्तमचिरादिति दीनवक्त्रे,
कोके प्रियां वदति भूमिभृता न्यवर्त्ति॥

उदासीन चक्रवाक अपनी प्रिया से कह रहा था—'हे कुरंगनयने! जब तक सूर्य गगन का अवगाहन करता रहेगा तब तक हमारा वियोग नहीं होगा। किन्तु यह सूर्य अब शीघ्र ही अस्त हो जाने वाला है।' यह सुनकर चक्रवर्ती भरत वहाँ से लौ गया।

---

१. उत्पुलकः—रोमाञ्चित।

८२. धम्मिल्लभारशिथिलालकबिंदुसेकै-
रुज्जीवयन्त्य इव शङ्करदग्धकामम् ।
क्रीडातटाकमवगाह्य तटं तरुण्याः,
सूक्ष्माम्बरप्रकटिताङ्गरुचः प्रयाताः ॥

जूडे के शिथिल केशों पर लगे जल बिन्दु के सेक से शंकर द्वारा दग्ध कामदेव को पुनः उज्जीवित करती हुई वे सुन्दरियाँ क्रीडा-सरोवर का पूरा अवगाहन कर तट पर आ गईं । उस समय सूक्ष्म वस्त्रों के भीतर से उनके शरीर की कान्ति प्रकट हो रही थी ।

८३. नरपतिरिति स्नात्वा क्रीडासरस्तटमागत-,
स्तदनुहरिणीनेत्रा नीराभिषिक्तकचोच्चयाः ।
प्रणयिहृदयं नातिक्रामन्त्यनन्यहृदस्त्वमूः,
प्रसरतितरां प्राच्यात् पुण्योदयाद् हि सुखं नृणाम् ॥

इस प्रकार स्नान आदि से निवृत्त हो महाराज भरत क्रीडा-सरोवर के तट पर आ गए। उनके पीछे-पीछे भीगे हुए केशों वाली सुन्दरियाँ भी तट पर आ गईं । अनन्य हृदय वाली ये स्त्रियाँ अपने पति के हृदय की भावना का अतिक्रमण नहीं करतीं । क्योंकि मनुष्यों का सुख उनके पूर्वार्जित पुण्योदय से ही प्रसरित होता है ।

—इति वनविहारक्रीडावर्णनो नाम सप्तमः सर्गः—

आठवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत की सेना का वह्ली प्रदेश की ओर प्रस्थान।
श्लोक परिमाण—	७५
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें, सर्ग २ का विवरण।

कथावस्तु—

भरत की अंगनाओं के केशों से पानी की बूंदें टपक रही थीं। उस समय ऐसा लग रहा था मानो सरोवर के तट पर मोती बिखर रहे हों। राजा ने वहां कुछ विश्राम किया। सूर्य अस्ताचल की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा था। सूर्य अस्त हो गया। चांद अभी उदित नहीं हुआ था। चारों ओर अन्धकार फैलता जा रहा था। राजा वहां से चलकर अपने पड़ाव पर आ पहुंचा। अंगनाएं अपने-अपने पटगृह में चली गईं। वे पटगृह रत्न-दीपों से जगमगा रहे थे। महाराज भरत भी समयोपयुक्त वेश पहनकर पटगृह में गए।

अन्यान्य राजे भी अपनी-अपनी कान्ताओं से क्रीडा करने के लिए पटगृह में चले गए। नाना प्रकार से अपने पतियों को रिझाती हुई कामिनियां पटगृहों में आनन्दित हो रही थीं। परस्पर मिलने से होने वाले रसातिरेक से दम्पतियों ने बीतने वाले समय को सुधामय, सुखमय, प्रमोदमय, कामदेवमय और एकतान माना।

चांद उगा। चांदनी का विस्तार हुआ। सारा संसार सफेद सा प्रतीत होने लगा। प्रातःकाल हुआ जानकर कुछ सैनिक जागृत हो गए। हस्तिपाल और अश्वपाल अपने-अपने हाथी-घोड़ों को खोजने लगे। अनेक वर्ण वाले हाथी-घोड़े एक सफेद वर्ण के हो जाने के कारण उनमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक सा था। वे परस्पर विवाद करने लगे।

सेना ने वहां से प्रस्थान किया। सेना की टुकड़ियों के सेनापति आगे-आगे चलने लगे। उनके वेष भिन्न भिन्न थे। चतुरंग सेना के प्रयाण से अपूर्व कोलाहल होने लगा। हाथियों के चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट और रथों के चीत्कार से सारा भू-आकाश ध्वनित हो उठा।

सूर्योदय हुआ। महाराज भरत ने वहां से प्रयाण किया। कई राजे अपनी पत्नियों को साथ लेकर और कई राजे उन्हें वहीं छोड़कर भरत के साथ-साथ चल पड़े। भरत श्वेत हाथी पर आरूढ थे। शेष राजे घोड़ों और रथों पर आसीन थे।

अष्टमः सर्गः

१. अथावरोधेन समं प्रयान्तं, नमस्यतीव क्षितिराजमारात्।
सरस्तटोत्सर्पितरङ्गहस्तैः, सतां स्थितिं केऽप्यवधीरयन्ति ?

राजा ने अपने अन्तःपुर के साथ उस सरोवर से प्रयाण किया। उस समय वह सरोवर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कि तट की ओर बढते हुए तरंग रूपी हाथों से वह महाराज भरत को दूर से ही नमस्कार कर रहा हो। क्या कोई सज्जन व्यक्तियों की स्थिति की अवमानना करता है ?

२. स्नानार्द्रमुक्तालकबिन्दुपंक्तिव्याजेन मुक्ताभिरिवावकीर्णः।
पद्माकरस्तीरगताङ्गनाभी, रसावहानां न हि संभवेत् किम् ॥

तट पर आई हुई सुन्दरियों के, स्नान से भीगे हुए बिखरे केशों से पानी की बूंदें टपक-टपक कर भूमि पर नीचे गिर रही थीं। जल की बूंदों के व्याज से ऐसा लग रहा था मानो कि उस सरोवर पर मोती बिखरे हुए हों। क्योंकि रस का वहन करने वालों के लिए क्या सम्भव नहीं होता ? सब कुछ सम्भव होता है।

३. सितच्छदानां चरतामनन्ते, जलस्थलाम्भोरुहिणीविबोधः।
जलस्थपालिस्थितपद्मिनीभिर्लोलालकालिप्रसराभिरासीत् ॥

जल में और सेतु पर स्थित सुन्दरियों के बिखरे हुए केश रूपी भ्रमरों के प्रसार के कारण आकाश में उड़ने वाले हंसों को जल और स्थल में होने वाले कमलों का बोध हो रहा था।

४. धम्मिल्लमुक्तालकवल्लरीणां, नृत्यक्रियाकल्पनसूत्रधारः।
तं सावरोधं तटसन्निविष्टं, मुहुः सिषेवे सरसोसमीरः ॥

राजा अपने अन्तःपुर के साथ तट पर बैठा था। सुन्दरियों के जूडों से मुक्त केश-वल्लरियाँ पवन के झोंकों से हिल रही थीं। उनकी नृत्य-कला का सूत्रधार सरोवर का पवन भरत की बार-बार सेवा कर रहा था।

१०. नभस्थलं तारकमौक्तिकाढ्यं, विभावरीभीरु[1]शिरोविराजि ।
राजागते[2]र्मङ्गलसंप्रवृत्त्यै, वैडूर्यकस्थालमिव व्यभासीत् ॥

चन्द्रमा के उदित होने पर मंगल प्रवृत्ति के लिए विभावरी रूपी स्त्री के शिर पर तारक रूपी मोतियों से सम्पन्न नभ-स्थल वैडूर्य के थाल की भाँति शोभित हो रहा था ।

११. अस्तं प्रयाते किल चक्रबन्धा[3]वनुद्यते राजनि तेजसाढ्ये ।
चौरैरिव व्याहतदृष्टिचारैस्तमोभरैर्व्यानशिरे दिगन्ताः ॥

सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा दीप्तिमान चाँद के न उगने पर दृष्टि को व्याहत करने वाला अन्धकार चोरों की भाँति सभी दिगन्तों में व्याप्त हो गया ।

१२. आप्लावयामास जगत्तमोभिर्विकाशितालीवनराजिनीलैः ।
संवर्तपाथोधिरिव त्रियामा क्षणः पयोभिः परितः प्रवृद्धैः ॥

जैसे प्रलयकाल का समुद्र सब ओर से बढ़े हुए जल से जगत् को प्लावित कर देता है वैसे ही रात्रि के समय ने विकसित ताली वनराजी की भाँति नीले अन्धकार के द्वारा समूचे जगत् को आप्लावित कर दिया ।

१३. हंसः[4] प्रयातश्चरमाद्रिचूलां, तमिस्रकाकः प्रकटीबभूव ।
स्थाने[5] रथाङ्गाह्वसतां[6] वियोगः, पापेऽधिके किं सुखमुत्तमानाम् ?

सूर्य अस्ताचल पर्वत पर चला गया और अन्धकार रूपी काक प्रकट हो गया । ऐसी स्थिति में चक्रवाक रूपी सज्जनों का वियोग उचित ही है । पाप के बढ़ जाने पर क्या उत्तम व्यक्तियों को सुख मिलता है ?

१४. समत्ववैषम्यसतत्त्ववेदस्तमोभरे व्याप्नुवति प्रकामम् ।
आसीन्नदृष्ट्येकनिबद्धचारे, दौर्जन्यभावस्वान्त इवासिताभे ॥

---

१. भीरुः—स्त्री (कान्ता भीरुर्नितम्बिनी—अभि० ३।१६८)
२. राजागतेः—चन्द्रागमनात् ।
३. चक्रबन्धुः—सूर्य ।
४. हंसः—सूर्य (ब्रध्नो हंसश्चित्रभानुः—अभि० २।१०)
५. स्थाने—युक्तम् ।
६. रथाङ्गाह्वसतां—कोकमहात्मनाम् ।

दृष्टि के संचरण को रोकने वाले तथा दुर्जन व्यक्ति के अन्तःकरण की भाँति कृष्ण कान्ति वाले अन्धकार के अत्यन्त व्याप्त हो जाने पर समता और विषमता के स्वरूप का कोई ज्ञान नहीं हो रहा था।

१५. विनिस्सरच्चञ्चलचञ्चरीकव्याजात् तदा कैरविणीभिरौज्झि।
वियोगवन्हेरिव धूमपंक्तिर्विभावरीकान्त[1]करोपलम्भात् ॥

चन्द्रमा की किरणों को प्राप्त कर कमलिनियों ने बाहर निकलने वाले चपल भ्रमरों के व्याज से वियोग की वह्नि से उठने वाली धूमपंक्ति को छोड़ा।

१६. कलिन्दकन्या[2]पयसेव सिक्तं, कस्तूरिकावारिभरेण किं वा।
किं वाञ्जनाम्भोभिरसेचि भूमीतलं तदानीं तमसैवमासीत् ॥

उस समय वह भूमितल अन्धकार के कारण ऐसा लग रहा था मानो कि वह यमुना के पानी अथवा कस्तूरिका के पानी अथवा काजल के पानी से सींचा गया हो।

१७. अनेकवर्णाढ्यमपि प्रकाममासीदिदानीं जगदेकवर्णम्।
तमःक्षितीशे प्रभुतां प्रपन्ने, प्रभुत्वमेतादृशमेव विश्वे ॥

अनेक वर्णों से सम्पन्न जगत् भी उस रात्रि-वेला में एक वर्ण वाला प्रतीत हो रहा था। विश्व में जब अन्धकार रूपी राजा की प्रभुता बढ़ती है तब ऐसा ही प्रभाव होता है।

१८. त्वं पश्चिमाशा[3]मधुना गतोऽसि, त्रयीतनो[4]! दैववशेन[5] हन्त।
त्वमभ्युदेता च रवेर्द्विजाना[6]माशा इतीवाशिषमर्पयन्त्यः ॥

दिशाओं ने अस्तंगत सूर्य को पक्षियों की चहचहाहट से आशीर्वाद देते हुए कहा—'सूर्य! अभी तुम भाग्यवश पश्चिम दिशा में चले गए हो, इसका मुझे खेद है किन्तु तुम पुनः उदित होओगे।'

---

१. विभावरीकान्तः—चन्द्रमा।
२. कलिन्दकन्या—यमुना (कालिन्दी सूर्यजा यमी—अभि० ४।१४६)।
३. आशा—दिशा (काष्ठाशा दिग् हरित् ककुप्—अभि० २।८०)।
४. त्रयीतनुः—सूर्य (त्रयीतनुर्जगच्चक्षुः—अभि० २।१२)।
५. दैवं—भाग्य (दैवं भाग्यं भागधेयं—अभि० ६।१५)।
६. द्विजः—पक्षी (द्विजपक्षिविष्किर······—अभि० ४।३८२)

१९. आरामलक्ष्म्येव विनिर्मिताभिरस्नेहदीपावलिभिर्निशान्तर्[1] ।
प्रादुर्भवद्ध्वान्तभरापनुत्त्यै , पदे पदेप्यौषधिभिर्विदीपे ॥

रात के मध्य में प्रगट होते हुए अन्धकार को दूर करने के लिए मानो बगीचों की सम्पदा से विनिर्मित, बिना तेल वाले दीपों की श्रेणी की भांति विभिन्न प्रकार की औषधियां (वनस्पतियां) पग-पग पर दीप्त हो रही थीं ।

२०. प्रकल्पिताकल्पविधि: क्षितीश: , सहावरोधेन ततो जगाम ।
रत्नप्रदीपद्युतिदृश्यमानमार्ग: पटागारवरं प्रदोषे ॥

समय के उपयुक्त वेश पहन कर राजा अपने अन्त:पुर के साथ सायंकाल के समय पटगृह में गया । उस समय रत्न-प्रदीपों की किरणें उसके मार्ग को आलोकित कर रही थीं ।

२१. शुद्धान्तवेषस्य बभूव शोभा , या वासरे सा समये रजन्या: ।
ऊहेऽधिकत्वं स्मरसाहचर्यात् , मणिप्रदीपाभ्यधिकप्रकाशात् ॥

अन्त:पुर की सुन्दरियों के वस्त्रों की जो शोभा दिन में थी, उससे अधिक शोभा रात्री के समय होने लगी । इसके दो कारण थे—एक तो यह कि उस समय कामदेव का साहचर्य प्राप्त था और दूसरा मणियों के प्रदीपों का अत्यधिक प्रकाश विद्यमान था ।

२२. विलासिनीभिर्ययिरे युवानो , यथालिनीभि: कुमुदप्रदेशा: ।
रुचां कलापै: पुनरुद्दिदीपे , निकेतरत्न[2]प्रचयस्य सौधे ॥

जिस प्रकार भ्रमरियां श्वेत कमल के प्रदेशों की ओर जाती हैं, उसी प्रकार स्त्रियां युवक पतियों की ओर गईं । उस समय प्रासाद में दीपकों के समूहों से उठने वाली किरणें प्रदीप्त हो उठीं ।

२३. काचिद् विवृन्तैर्विविधै: प्रसूनै: , स्वाभ्यां कराभ्यां विरचय्य शय्याम् ।
पुष्पेषु[3]बाणाग्रहताङ्गयष्टि: , स्वकान्तमार्गं मुहुरीक्षतेस्म ॥

कामदेव के बाणाग्र से आहत शरीर वाली कोई सुन्दरी अपने हाथों से विविध प्रकार के फूलों से शय्या तैयार कर अपने पति के आने के मार्ग को बार-बार निहार रही थी ।

१. निशान्तर्—नक्तमध्ये ।
२. निकेतरत्नं—दीपक (स्नेहप्रियो गृहमणि:—अभि० ३।३५१)
३. पुष्पेषु:—कामदेव ।

२४. आस्तीर्य शय्यां विरचय्य दीपं, कान्तेऽनुपेते स्वसखीमुवाच ।
ससंभ्रमं स्नेहभरादुपेते, प्रिये मनो हृष्यति काचिदेवम् ॥

किसी सुन्दरी ने शय्या बिछाई और दीपक जलाया किन्तु अपने पति को आते हुए न देखकर वह उतावली होकर स्नेहिल वचनों से अपनी सखी से बोली—'सखी ! अब तो प्रिय पति के आने पर ही मन प्रसन्न हो सकता है ।'

२५. काचिद् वितर्क्यागममात्मभर्तुः, प्रियालि ! पश्यायमुपैति नेति ।
छलादितीयं विजनं चकार, पश्चात् प्रियाप्तौ च ददौ कपाटम् ॥

किसी सुन्दरी ने अपने पति के आगमन की वितर्कणा कर सखी से कहा—'प्रिय सखी ! देख, मेरे पति आ रहे हैं या नहीं ।' यह कहकर वह छलपूर्वक एकान्त में चली गई । जब पति आ पहुँचा तब उसने दरवाजे बन्द कर दिए ।

२६. ससंभ्रमं काचिदुपेत्य कान्ता, श्लिष्टा प्रियेणेति जहास कान्तम् ।
हृदि स्थिता या तुदति त्वदीये, गाढं न संश्लेषमतो विधत्से ॥

किसी प्रिय ने शीघ्रता से आकर अपनी प्रिया का आलिंगन किया । तब वह उसका मजाक करती हुई बोली—'तुम्हारे हृदय में स्थित सुन्दरी को व्यथा का अनुभव न हो जाए इसलिए तुम गाढ आलिंगन नहीं कर रहे हो ।'

२७. नखक्षतं काचिदवेक्ष्य कान्ते, निजं परस्यास्त्विति संवितर्क्य ।
मां मुञ्च मुञ्चेति रुषा वदन्ती, यूना व्रजन्ती विधृता पटान्ते ॥

अपने पति के शरीर पर नखों के घाव देखकर एक सुन्दरी के मन में यह वितर्क उठा कि ये घाव मेरे द्वारा कृत हैं या दूसरी स्त्री द्वारा ? यह सोच, वह कुपित होकर बोल पड़ी—'मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो ।' जब वह छुड़ाकर जाने लगी तब उस युवक ने उसको वस्त्र के अंचल से थाम लिया ।

२८. कादम्बरीस्वादविघूर्णिताक्षी, छायां निजां वीक्ष्य तदीयधाम्नि ।
एषा परेति प्रतिपाद्य रोषाद्, यूना व्रजन्ती कथमप्यरक्षि[1] ॥

एक सुन्दरी की आँखें मदिरापान के कारण अर्द्धनिद्रित सी हो रही थीं । उसने अपनी छाया को देखकर सोचा कि मेरे पति के पास यह कोई दूसरी स्त्री है । कुपित होकर

१. पंजिकाकार ने इस श्लोक को पूर्व श्लोक का पाठान्तर माना है—इदं पूर्वस्यैव वृत्तस्य पाठान्तरम्—पत्र ३१ ।

उसने यह बात पति से कही। जब वह वहाँ से जाने लगी तब उस युवक पति ने उसे किसी प्रकार रोक कर रखा।

२९. उपस्थितेन प्रथमं प्रियेण, प्रियाक्रुधे किञ्चन कौतुकार्थम्।
लाक्षारसेनालिखितं रसायां, काचित् पदं वीक्ष्य चुकोप पत्ये॥

पहले आए हुए पति ने कुतूहलवश अपनी प्रिया को कुपित करने के लिए भूमि पर लाक्षारस से चरण आलेखित कर दिए। उन्हें देखकर वह प्रिया पति पर कुपित हो गई।

३०. पटीमुपादाय मुखे च कान्ता, छलेन निद्रामधिगम्यमाना।
नोन्निद्रनेत्रेयमथो विधेया, वदन्निति द्राग् जगृहे कयाचित्॥

एक सुन्दरी मुँह पर कपड़ा ओढ़कर नींद लेने का बहाना करती हुई कपट रूप से सो गई। पति ने आकर देखा और कहा—'इसे जगाना ठीक नहीं है।' इतने में ही उठकर उसने शीघ्रता से पति को पकड़ लिया।

३१. पराङ्मुखी काचन कान्तरूपं, निजाङ्गुलीकुञ्चिकया लिखन्ती।
निमील्य नेत्रे सहसा कराभ्यामचुम्बि पृष्ठोपगतेन नेत्रा॥

एक सुन्दरी पीठ फेरकर अपनी अंगुलियों की तूलिका से अपने पति का रूप चित्रित कर रही थी। इतने में ही उसका पति आ पहुंचा। पीठ की ओर से आए हुए पति ने सहसा उसकी आँखें मूंदकर उसका चुम्बन ले लिया।

३२. काञ्च्याभिरामं जघनं विधाय, पादौ पुनर्नूपुरस्वनादौ।
स्मरं सहायञ्च सकङ्कपत्रं[1], काचिन्निशीथे[2]ऽभिससार कान्तम्॥

कोई अभिसारिका अपनी कमर को करधनी से सुसज्जित कर, चरणों में मनोज्ञ नाद करने वाले नूपुर पहन, बाणयुक्त कामदेव को सहायक बनाकर अर्द्धरात्रि की वेला में अपने पति के पास गई।

३३. निःश्वासहार्यांशुकवीक्ष्यमाणवपुः समग्राङ्गपिनद्धभूषा।
हृदीशितुर्वासगृहं समेता, काचिद् दृशोरुत्सवमाततान॥

एक सुन्दरी निःश्वास से उड़ने वाले कपड़ों को पहने हुए थी, इसलिए उसका शरीर

१. कंकपत्र—बाण (अभि० ३।४४२)
२. निशीथः—आधी रात (निशायास्त्वर्द्ध रात्रो महानिशा—अभि० २।५९)

स्पष्ट दीख रहा था। उसने सारे अंगों पर आभूषण धारण कर रखे थे। उसने वासगृह (शयनकक्ष) में आकर अपने पति की आँखों को आनन्दित किया।

३४. वितन्वती काचिदपूर्वभूषाविधिं विलोक्य स्फुटमात्मदर्शे।
सखा न चेत् प्रीतिपराङ्मुखस्ते, किं तद्ध्यनेनैवमलज्जि सख्या॥

एक सुन्दरी कांच में देख-देखकर विशेष सज्जा कर रही थी। 'यदि तुम्हारा पति तुम्हारे प्रेम से पराङ्मुख नहीं है तो फिर इससे क्या'—यह कहकर उसकी सखी ने उसे लज्जित किया।

३५. प्रियालि! यादृक् प्रणयो न तादृग्, भूषाविधिर्भ्राजति भामिनीनाम्।
भूषाविधौ रूपविधौ वितर्कं, करोति यः स प्रिय एव नाऽत्र॥

'प्रिय सखी! स्त्रियों का प्रेम जैसी शोभा पाता है वैसी शोभा उनकी सज्जा नहीं पाती। जो प्रेमी सज्जा और रूप की वितर्कणा करता है, वह वास्तव में प्रेमी ही नहीं होता।'

३६. प्रिये! त्वदीया पदवी विशेषान्मयाद्य दृष्टा त्वमिता कथं न
निद्राऽपि ते सख्यमलङ्घ्यमाना, प्रामूमुदत् कश्चिदितीत्वरीं[1] च॥

'प्रिये! आज मैं विशेष रूप से तुम्हारा मार्ग देखता रहा। तुम क्यों नहीं आई? निद्रा ने भी तुम्हारी मित्रता नहीं छोड़ी, नींद भी नहीं आई'—यह कहते हुए किसी रसिक ने अभिसारिका को प्रसन्न किया।

३७. इति प्रियं सागसमीरयन्ती, जहास काचिद् दयिता कथं न।
श्लिष्टा त्वया हारमपास्य हा[2]ऽरं[3], मुक्ताङ्कितं ते हृदयं यदस्ति॥

किसी प्रिया ने अपने अपराधी पति का उपहास करते हुए कहा—'हा! तुमने वल्लभा का आश्लेप हार को दूर रखकर क्यों नहीं किया? क्योंकि तुम्हारा हृदय मोतियों से चिह्नित है।' (इससे लगता है कि तुमने किसी दूसरी स्त्री का आश्लेप किया है।)

३८. त्वयाऽथवा तत्स्मृतये न लुप्तं, तद् दृष्टमागः[4] स्वदृशा तवैतत्॥
प्रोणन्ति यूनो हि रताङ्कितानि[5], रणे भटस्येव गजाभिघाताः॥

---

१. इत्वरी—कुलटा (असतीत्वरी—अभि० ३।१९२)
२. हा—खेदे।
३. अरं—अत्यर्थम्।
४. आगस्—अपराध (मन्तुर्व्यलीकं विप्रियागसी—अभि० ३।४०८)
५. रतम्—मैथुन (मुरतं मोहनं रतम्—अभि० ३।२००)

अथवा तुमने अपने प्रिया की स्मृति रखने के लिए अपने हृदय पर लगे मुक्ता-चिह्नों को नहीं मिटाया। मैंने तुम्हारा यह अपराध अपनी आँखों से देख लिया है। क्योंकि जैसे रणभूमि में योद्धाओं को गज-प्रहार संतोष देते हैं, वैसे ही युवकों को संभोग-चिह्न संतोष प्रदान करते हैं।

३९. श्लेषात् तवैवाह्नि वामनेत्रे !, ममेदृशं जातमदो हि वक्षः।
त्वत्तः परा का मम वल्लभास्ति, प्रामोदि कापीति निगद्य नेत्रा॥

'हे वामनेत्रे ! दिन में तुम्हारा आश्लेष लेने के कारण ही मेरा यह वक्ष इस प्रकार हो गया है। तुम्हारे से ज्यादा मुझे कौन प्रिय है'—यह कहते हुए नायक ने अपनी प्रिया को प्रमुदित किया।

४०. यदीय नामापि करोति दूरादङ्गं समग्रं पुलकाङ्कुराढ्यम्।
यदागमः स्विन्नमपीति तस्मिन्, मानः कथं काचिदुवाश कान्तम्॥

'जिसका नाम मात्र दूर से ही समूचे शरीर को रोमांचित कर देता है और जिसका आगमन शरीर को पसीने से तरबतर कर देता है, उसके प्रति कैसा अहंकार'—यह कह कर कामिनी ने अपने प्रेमी को वश में कर लिया।

४१. प्रसूनशय्या नवकण्टकालेररुंतुदा रोदनसन्निकाशः।
अयं विनोदो भयदं विलासगृहं भवेदालि ! विना प्रियं मे॥
४२. सख्याः पुरः स्वैरमुदीरितायामिति[1] प्रियायामपराधसत्ता।
विलासिना केनचन न्यवारि, स्वचेतसो व्योम्न इव द्रुवल्ली॥

—युग्मम्।

उस कामिनी ने अपनी सखी से कहा—'हे सखी ! प्रियतम के विना यह कुसुम-शय्या अभिनव कंटक-पंक्ति से भी अधिक मर्मभेदी है। यह विनोद रुदन के समान और यह विलासगृह भयप्रद है।'

अपनी सखी के समक्ष इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्वक कहने पर पति ने अपनी प्रिया के अपराधों को मन से वैसे ही निकाल दिया जैसे आकाश से वृक्षलता निकलती है।

४३. विश्वाधिराजः कदलीविलासगेहं विवेशाथ विकीर्णपुष्पम्।
लोकत्रयीस्त्रैणविशेषितश्रिमृगेक्षणारत्नविभूषितं सः॥

---

१. पञ्जिकायां—स्वैरमुदीरयन्त्याम्, उदीरितायां वा पाठः।

४४. रत्नप्रदीपप्रहतान्धकारं , चन्द्रोदयद्योतितमध्यदेशम् ।
दंदह्यमानागुरुधूमधम्रधामाङ्कितं पुण्यवतां च योग्यम् ।।

—युग्मम् ।

अब चक्रवर्ती ने केलों से बने क्रीडा-गृह में प्रवेश किया । वह क्रीडा-गृह तीनों लोकों के नारी समूह की विशेषताओं से विशेषित स्त्री-रत्न से शोभित था । उसमें चारों ओर फूल बिखरे पड़े थे ।
वह रत्न-प्रदीपों से जगमगा रहा था । उसका मध्यभाग चंद्रमा के उदय से देदीप्यमान था । वहाँ अगरु धूप जल रहा था और उसका धूँआँ चारों ओर फैल रहा था । वह पुण्यशाली व्यक्तियों के निवास-योग्य था ।

४५. तयोर्विलासा विविधाः प्रसस्रुः , रम्भामरुन्नायकयोर्यथाऽत्र ।
शृङ्गारजन्मक्षितिराजरत्योर्यथा प्रसन्नत्वपयोधिचन्द्राः ।।

उस विलासगृह में भरत दंपति के विविध विलास, जो प्रसन्नता रूपी समुद्र की वेला-वृद्धि के लिए चंद्रमा के समान थे, सभी ओर उसी प्रकार फैल गए जैसे इन्द्र और इन्द्राणी तथा कामदेव और रति के विलास फैलते हैं ।

४६. अन्योन्यसंपर्करसातिरेकाद् , युवद्वयी तं समयं विवेद ।
सुधामयं सौख्यमयं प्रमोदमयं मनोभूमयमेकतानम् ।।

परस्पर मिलन (संभोग) से होने वाले रसातिरेक से दंपतियों ने बीतने वाले समय को सुधामय, सुखमय, प्रमोदमय, कामदेवमय और एकतान माना ।

४७. प्रसन्नतैवं जगति प्रवृत्ता , मयि प्रभौ कैरविणीषु नेति ।
प्रसन्नतायै सितरोचिरासां , ससर्ज पीयूषभरं करेण ।।

चन्द्रमा ने सोचा—'मेरे स्वामी हो जाने पर जगत् में प्रसन्नता फैल गई किन्तु कुमुदिनियों में अभी प्रसन्नता नहीं फैली ।' तब उनकी प्रसन्नता के लिए चन्द्रमा ने अपनी किरणों से अमृत बरसाया ।

४८. शृङ्गारदध्नो नवनीतपिण्डो , मुक्तामणिः किं त्रिपुरारिमौलेः[1] ?
स्तनः खलक्ष्म्याः किमु चन्दनार्द्रः , क्रीडातटाकः प्रमदस्य[2] किं वा ?

४९. किं कन्दुकः श्रीतनुजस्य[1] किं वा, रतेर्विलासालयकुम्भ एषः?
किमुत्सवच्छत्रमिति व्यतर्कि, शरच्छशाङ्को युवभिस्तदानीम्?

—युग्मम्।

उस समय तरुणों ने शरद् ऋतु के चन्द्रमा को देखकर यह वितर्कणा की कि क्या यह शृंगार-रस के दही से निकला हुआ नवनीत पिंड है या शिव के शिर पर शोभित होने वाला मुक्तामणि है या गगन रूपी लक्ष्मी का चन्दन से लिप्त स्तन है या आनन्द का क्रीड़ा-सरोवर है या लक्ष्मी के पुत्र कामदेव का कंदुक है या कामदेव की पत्नी रति के विलासगृह का कुंभ है या उत्सव का छत्र है?

५०. विलोक्य दीपान्नृपसौधसंस्थान्, बलद्विषाऽकारि किमेष दीपः?
स्वचन्द्रशालाशिखराग्रदेशेऽभ्युद्यन् विधुः कैश्चिदतर्कि चैवम्॥

कुछ तरुणों ने उगते हुए चन्द्रमा को देखकर यह सोचा कि क्या राजमहलों में स्थित रत्न-दीपों को देखकर इन्द्र ने अपनी चन्द्रशाला के शिखर पर यह दीप जलाया है?

५१. सितद्युतौ दूरमुदित्वरेऽपि, विकासलक्ष्याज्जहसे कुमुद्भिः।
रागी विदूरे स्थितवानदूरे, भवेन्न किं चित्तविनोदकारी?

चन्द्रमा के बहुत दूर उदित होने पर भी विकचित होने के बहाने से चन्द्रविकासी कमल प्रफुल्लित हो गए। क्या रागवान् व्यक्ति, चाहे दूर हो या समीप, मन में विनोद पैदा नहीं करता?

५२. इन्दोः करस्पर्शनतः प्रमादं[2], तत्याज वेगेन कुमुद्वती च।
का वामनेत्रा न जहाति निद्रामुपस्थिते भर्त्तरि संनिकृष्टम्॥

चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श होते ही कुमुदिनी ने प्रमाद (निद्रा) का त्याग शीघ्र ही कर दिया। कौन ऐसी स्त्री होगी जो अपने पति के निकट आने पर निद्रा का त्याग नहीं करती?

५३. कराः सितांशोः परितः स्फुरन्तः, सुधाम्बुराशेरिव वीचिवाराः।
तथा सितीचक्रुरिलान्तरिक्षे, यथा न वर्णान्तरदृष्टिरत्र॥

सुधा-समुद्र की तरंग-समूह की भांति चारों ओर स्फुरित होती हुई चन्द्रमा की किरणों

१. श्रीतनुजः—कामदेव (प्रद्युम्नः श्रीनन्दनश्च—अभि० २।१४२)
२. प्रमादः—निद्रा।

ने पृथ्वी और आकाश को सफेद बना डाला। उस समय समूचे लोक में श्वेत वर्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा वर्ण दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

५४. एतद्वयस्याः कुमुदिन्य एताः, पश्यन्तु सुप्ताः पुनरम्बुजिन्यः।
विधुर्विचार्येति निशाङ्गनायास्तमिस्रवासः सहसा चकर्ष ॥

'रात्री की सखियाँ ये कुमुदिनियां देखें कि कमलिनियां सोई हुई हैं'—ऐसा सोचकर चन्द्रमा ने अपनी पत्नी रात्री का अंधकार रूपी कपड़ा सहसा खींच लिया।

५५. एवं प्रविस्तारवति द्विजेन्द्रोदयेऽवदातीकृतविश्वविश्वे।
भृत्याः प्रतिष्ठासु[1] बलं प्रगे[2] तत्, स्वकृत्यमादध्म इति प्रबुद्धाः ॥

इस प्रकार चन्द्रमा के उदय का विस्तार होने पर उसकी चांदनी से सारा संसार सफेद हो गया। 'प्रातःकाल होते ही सेना आगे बढ़ेगी। हम अपना-अपना कार्य पूरा करें'—ऐसा सोचकर सेवक जागृत हो गए।

५६. श्यामार्जुनाभद्विपयोर्विवादो, निषादिनो[3]र्जागृतयोर्बभूव।
समानतुङ्गत्वरदप्रमाणवर्णैवयदत्तभ्रमयोस्तदानीम् ॥

एक हाथी काला था और एक सफेद। दोनों की ऊंचाई और दांत बराबर थे। उनके महावत जागृत थे। चन्द्रमा की चाँदनी ने दोनों हाथियों को सफेद बना दिया। उस भ्रम के कारण दोनों महावतों में विवाद हो गया।

५७. आधोरणा[4] अभ्युदिते शशाङ्के, क्षुभ्यत्सुधाम्भोधितरङ्गगौरे।
आदाय मालूर[5]फलानि नागकर्णेषु शंखभ्रमतो बबन्धुः ॥

क्षुब्ध हुए अमृत समुद्र के तरंगों की भांति गौर चन्द्रमा के उदित होने पर हस्तिपालों ने शंख के भ्रम से बिल्व फलों को हाथियों के कानों में बांध दिया।

---

१. प्रतिष्ठासु—चिलनिषु।
२. प्रगे—प्रातःकाल (प्रगे प्रातरहर्मुखे—अभि० ६।१६६)
३. निषादिन्—महावत (महामात्रनिषादिनः—अभि० ३।४२५)
४. आधोरणाः—महावत (आधोरणा हस्तिपकाः—अभि० ३।४२६)
५. मालूरः—बिल्व (मालूरः श्रीफलो बिल्वः—अभि० ४।२०१)

५८. विचित्रवर्णाः स्फुटमेकवर्णा, बभूवुरश्वा उडुपोदयाद्[1] द्राक्।
तेषामलब्ध्वा चमरांश्च[2] केचिन्, निगालबद्धा[3] विदधुर्द्रुशाखाः ॥

चन्द्रोदय होते ही शीघ्र ही अनेक वर्ण वाले घोड़े एक वर्ण वाले (सफेद) हो गए। इसलिए कई अश्वारोहियों को उनकी पूंछे नहीं मिलीं तब उन्होंने वृक्षों की शाखाओं को ही (पूँछ मानकर) सांकल से बांध दिया।

५९. केचिद् रथस्योपरितोऽधुनैवं, चन्द्रोदयोऽयं भवताद् विचार्य।
कृत्वा च चन्द्रोदय[4]शून्यमेव, प्राचीचलन् स्यन्दनमत्यमन्दाः ॥

'रथों के ऊपर यह चन्द्रोदय अभी होने ही वाला है'—ऐसा सोचकर [बहुत उद्यमी कई रथिकों ने अपने-अपने रथों के चारों ओर डाले हुए 'चँदोवों' को हटा वहां से प्रयाण कर दिया।

६०. विचित्रवेषा विशदैकवेषाः, पदातिधुर्याः पुरतः प्रसस्रुः।
शिरोग्रविन्यस्तमयूरपिच्छाः, किं हंसपक्षाः शिरसीति तर्क्याः ॥

सेनानायक विभिन्न प्रकार के वेश पहने हुए आगे-आगे चल रहे थे। किन्तु उस समय वे सब एक सफेद वेश पहने हुए से लग रहे थे। उनके मस्तिष्क के अग्र-भाग में मयूर-पिच्छ लगे हुए थे। उन्हें देख ऐसी तर्कणा हो रही थी कि क्या उनके शिर पर हंसों के पंख लगे हुए हैं?

६१. एवं तदानीं चतुरङ्गसैन्यकोलाहलः प्रादुरभूत् स कोऽपि।
किन्नर्य उन्निद्रदृशो बभूवुर्येनाग्रतो मन्दरकन्दरस्थाः ॥

इस प्रकार उस समय चतुरंग सेना के प्रयाण से ऐसा कोई कोलाहल होने लगा जिससे मन्दरगिरी की सुदूर कन्दराओं में रहने वाली किन्नरियाँ जाग उठीं।

६२. इदं गृहाण त्वमिदं विमुञ्च, त्वं तिष्ठ गच्छ त्वमुपेहि सद्यः।
त्वं सज्जयेत्यादि वचोभिरेभिस्तस्य ध्वजिन्यास्तुमुलः[5] ससार।

---

१. उडुपः—चन्द्रमा।

२. चमरः—पूंछ (चामरं चमरोपि च इति पुंस्त्वम्)

३. पंजिकाकार ने निगाल का अर्थ—'घोड़े का गला' किया है। आप्टे ने इसका दूसरा अर्थ—'सांकल (A chain) माना है। यहां यही अर्थ उपयुक्त लगता है।

४. चन्द्रोदयः—चंदोवा (वितानं कदकोऽपि च। चन्द्रोदये—अभि० ३।३४५)

५. तुमुलः—कोलाहल (तुमुलो व्याकुलोरवः—अभि० ३।४६३)

उस सेना में कोई कह रहा है 'तुम यह लो', 'तुम इसे छोड़ो,' 'तुम ठहरो,' 'तुम चलो', 'तुम जल्दी ही मेरे पास आओ', 'तुम सज्जित हो जाओ'—इस प्रकार के वचनों से चारों ओर कोलाहल होने लगा।

६३. निःस्वानभम्भानकतूर्य[1]नादै रश्वेभहेषारवबृंहितैश्च ।
प्रवर्धमानः सरितामिवौघो, भरैः स सिन्धोस्तटमुत्ससर्प ।।

उस समय सेना में मंगल-वाद्यों, भम्भा, भेरी और बाजाओं के शब्द हो रहे थे। साथ-साथ घोड़ों की हिनहिनाहट और हाथियों के चिंघाड़ से वे शब्द और अधिक तीव्र हो गए थे। इस प्रकार वह प्रवर्धमान कोलाहल समुद्र की ओर बढ़ा, जैसे निर्झरों से पवर्धमान नदियों का समूह समुद्र की ओर बढ़ता है।

६४. आकर्णि यो दिक्करिभिः स्वकर्णतालैकलोलत्वमपास्य दूरात् ।
'किमेतदित्यौहि सुराङ्गनाभिर्ब्रह्माण्डभाण्डं स्फुटतीव यस्तु ?

दिक्कुंजरों ने अपने कर्णपुट की चपलता को छोड़कर दूर से उस सैन्य-कोलाहल को सुना और देवांगनाओं ने उसे सुनकर वितर्कणा की कि क्या यह ब्रह्माण्ड का भांड फूट रहा है?

६५. सितांशु[2]वाहास्तुमुलेन तेन, त्रस्ता इवास्ताद्रिगुहां निलीनाः ।
शीतांशु[3]लक्ष्मीरपि राजवक्त्रं, भियेव लिल्ये त्वकुतोभयं हि ।।

उस तुमुल नाद से भयभीत होकर चन्द्रमा के अश्व अस्ताचल की गुफा में छिप गए। चन्द्रमा की शोभा ने भी मानो भय के कारण निर्भीक राजा के मुख का आश्रय ले लिया।

६६. इयं वराकी विरहे प्रियस्य, मुहुर्मुहू रोदिति चक्रवाकी ।
इतीव तीक्ष्णद्युतिमाजुहाव[4], घनैर्विरावैश्चरणायुधो[5]ऽपि ।।

'यह बेचारी चकवी अपने पति के वियोग में बार-बार रो रही है'—यह सोचकर मुर्गे तेज शब्दों से सूर्य का आह्वान किया।

६७. बभूव कान्तानुनयप्रणामैर्न मानमुक्तिर्निशि मानिनीनाम् ।
सा ताम्रचूडेन रुतैर्वितेनेऽनुसैन्यकोलाहलमुच्छलद्भिः ।।

---

१. निःस्वान—मंगल-वाद्य; भम्भा—नगाडा; आनक—भेरी; तूर्य—बाजा।
२. सितांशुः—चन्द्रमा (सिताः—श्वेताः, अंशवः—किरणाः, सन्ति यस्य सः)
३. शीतांशुः—चन्द्रमा (शीताः—शीतलाः, अंशवः—किरणाः, सन्ति यस्य सः)
४. आजुहाव—आकारयामास।
५. चरणायुधः—मुर्गा (कृकवाकुश्चरणायुधः—अभि० ४।३६०)

रात्री में पति द्वारा किए गए अनुनय और विनय से भी सुन्दरियों ने अपना अहं (हठ) नहीं छोड़ा। उस अहं को सेना के कोलाहल के साथ उछलने वाले मुर्गे के शब्दों ने तोड़ डाला।

६८. प्रातः प्रयाणाभिमुखोऽस्मि कान्ते ! , सङ्गः कुतो नौ पुनरप्यमूदृक् ।
न नेतुरुक्त्येति जहौ हठं या , सा कुक्कुटोक्त्या[1] प्रियमालिलिङ्ग ॥

पति ने अपनी प्रिया से कहा—'कान्ते ! मैं प्रातःकाल ही यहाँ से प्रयाण करने वाला हूं। हमारा ऐसा संगम पुनः कहां होगा' ? पति के द्वारा इतना कहने पर भी पत्नी ने हठ नहीं छोड़ा, किन्तु मुर्गे की बाँग सुन उसने हठ छोड़ दिया और वह पति से जा लिपटी।

६९. जगत्त्रये कस्तुमुलोयमद्य , येनाहमुज्जागरितोप्यकाण्डे[2] ।
तं द्रष्टुमर्कः प्रथमाद्रिचूलामध्यारुरोहेव रुषेति ताम्रः ॥

'आज तीनों लोक में यह क्या कोलाहल हो रहा है जिससे कि मुझे असमय में ही जागना पड़ा'—यह सोचकर सूर्य क्रोध से लाल होता हुआ उस कोलाहल को देखने के लिए उदयाचल पर जाकर उदित हुआ।

७०. रथाङ्गनाम्नोर्विरहप्रदानाद् , दुष्टेयमत्यन्तमहं तु मित्रः ।
इतीर्ष्ययेवाचकृषे तमिस्रवासो रजन्या द्युपतिः करेण ॥

सूर्य ने अपनी किरणों से रात्री के अंधकार रूपी वस्त्र को, इस ईर्ष्या से खींच लिया कि इस रात्री ने चक्रवाक-युगल को विरह दिया है, इसलिए यह अत्यन्त दुष्टा है, शत्रु है और मैं उस विरह को समाप्त करता हूँ, इसलिए मैं इसका मित्र हूँ।

७१. सरोजिनीभिः किल वासरान्ते , प्रसह्य याम्यासि दशा प्रगे सा ।
कुमुद्वतीभिश्च न वैपरीत्यं , जायेत किं राज्यविपर्यये हि ?

दिन के अवसान की वेला में कमलिनियों ने जिस दशा (व्यवस्था) को स्वीकार किया था, उसी दशा को कुमुदिनियों (रात्रि में खिलनेवाली कमलिनियों) ने प्रातःकाल स्वीकार किया[3]। राज्य की व्यवस्था बदलने पर क्या दूसरी सारी चीजें नहीं बदल जातीं ?

---

१. पाठान्तरेण—कुक्कुटोक्त्या।

२. अकाण्डे—असमये।

३. दिन में प्रफुल्लित होने वाले कमल रात्रि में मुरझा जाते हैं और रात्रि में प्रफुल्लित होने वाले कमल दिन में मुरझा जाते हैं। यही भाव इस श्लोक का प्रतिपाद्य है।

७२. निशाविरामो[1]न्मिषदब्जराजीमुखानि संचुम्ब्य मुहुर्ननन्द ।
कासारवासौकसि सौरभाढ्ये, कामीव तस्मिंश्च वने नभस्वान् ॥

रात्री का अन्त होने पर अत्यन्त सुगन्धित और तालाब रूपी वासगृह वाले वन में प्रभात में विकसित होने वाला कमल समूह खिल उठा। उस समय वहाँ का पवन उन खिली हुई कमलिनियों के मुंह का, कामुक व्यक्ति की भांति, बार-बार चुम्बन करता हुआ आनन्दित हो उठा।

७३. इत्युद्यते भानुमति प्रभाते, विहाय केचित् सुदृशश्च केचित् ।
समं समादाय ततः प्रचेलुर्महीभुजा भारतराजराजः ॥

सूर्य के उदित होने पर उस प्रभात की वेला में चक्रवर्ती भरत ने वहां से प्रयाण किया। कई राजे अपनी पत्नियों को साथ लेकर और कई राजे उन्हें वहीं छोड़कर भरत के साथ-साथ चल पड़े।

७४. भरतनृपतिसैन्याम्भोनिधिः संचचार,
स्फुटतुरगतरङ्गस्तुङ्गमातङ्गनक्रः ।
रथवहनविदीप्रश्चैतदग्रे,
सकलजगतिपीठाप्लावनोद्दामशक्तिः ॥

अब भरत चक्रवर्ती का सेना रूपी समुद्र उसके आगे-आगे चल पड़ा। उसमें घोड़े रूपी कल्लोल उठ रहे थे और प्रोन्नत हाथी रूपी मगरमच्छ भरे पड़े थे। उस समुद्र के ऊपर रथ रूपी जहाज शोभित हो रहे थे। वह सैन्य-समुद्र समस्त भूमण्डल को आप्लावित करने में उत्कट पराक्रम वाला था।

७५. शय्यां विहाय कुसुमास्तरणोपपन्नां,
प्रातस्तनं पुनरशेषविधिं विधाय ।
पुण्योदयार्चनभरं भरताधिराजो,
नागाधिपं रजतकान्तमयारुरोह ॥

प्रातःकाल के समय महाराज भरत फूलों के बिछौने वाली शय्या का परित्याग कर पुण्योदय की अर्चना से भरी-पूरी प्रातःकालीन सारी विधियों को सम्पन्न कर, चांदी की चमक वाले श्वेत हाथी पर आरूढ हुए।

—इति सैन्यप्रस्थानवर्णनो नाम अष्टमः सर्गः—

१. निशाविरामः—प्रभात।

नौवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत का अपनी सेना के साथ वह्ली प्रदेश की सीमा पर पड़ाव डालना।
श्लोक परिमाण—	७७
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें, सर्ग २ का विवरण।

कथावस्तु—

महाराज भरत की सेना का प्रयाण सुनकर सुन्दरियों के हृदय धड़कने लगे, क्योंकि उन्हें आज अपने पतियों से पृथक् होना पड़ रहा था। कोई कान्ता अपने पति के साथ जाने का हठ कर रही थी तो कोई पति को वहीं रुकने का आग्रह दिखा रही थी। विरह से दीन बने हुए दम्पतियों के विविध प्रलाप होने लगे।

एक दिशा की ओर प्रयाण करने वाली भरत की सेना अब सैंकड़ों मार्गों की ओर बढ़ चली। वह मार्गगत राजाओं को जीतती हुई चली जा रही थी। पैदल सैनिक सारे भूमंडल पर और आकाशगामी विद्याधर सारे आकाश में व्याप्त हो गए। भरत की सेना अयोध्या से बहुत दूर निकल गई। आगे चलने वाले घुड़सवारों से लोग पूछते तो वे यही कहते कि सेना पीछे आ रही है और पीछे वालों को पूछते तो वे भी यही कहते कि सेना पीछे आ रही है। इस प्रकार उस सेना का अनुमान लगाना कठिन हो रहा था। सेना और आगे बढ़ी।

एक योजन भूमि पार कर लेने पर सुषेण सेनापति ने भरत से कहा—'देव! अब हमें कुछ विश्राम करना चाहिए क्योंकि सभी थकावट का अनुभव कर रहे हैं।' राजा ने विश्राम का आदेश दिया और अपने गुप्तचरों को बहली प्रदेश में गुप्त रहस्य जानने के लिए भेजा। कोशल देश की सीमा का वह अंतिम छोर था। आगे बहली प्रदेश की सीमा प्रारम्भ हो जाती थी। सेना का पड़ाव गंगा नदी के तट पर डाला। वहां एक सुन्दर कानन था। उसमें एक चैत्य था।

महाराज भरत उस कानन को देखने चल पड़े।

० ०

नवमः सर्गः

१. करैरिवांशोः पुरतः स्फुरद्भिः, कीर्णावनीचक्रनभोन्तरालैः ।
तेजस्विनस्तस्य नितान्ततीव्रैर्व्याप्यन्त साकेतवनानि सैन्यैः ॥

आगे से आगे प्रकट होने वाली और भूमंडल तथा आकाश में फैलने वाली सूर्य की नितान्त तीव्र किरणों की भांति तेजस्वी भरत की सेनाएँ साकेत के वनों में व्याप्त हो गईं।

२. भूचारिराजन्यबलातिरेकैर्महो ललम्बे सनयैरिव श्रीः ।
शून्यं नभो मास्त्वधुनेति विद्याधरैर्विमृश्याकलितं विहायः[1] ॥

जैसे न्याय-परायण व्यक्ति लक्ष्मी से व्याप्त हो जाते हैं वैसे ही चक्रवर्ती भरत के साथ-साथ चलने वाले राजाओं की सेनाओं से भूमि व्याप्त हो गई। 'आज आकाश भी शून्य न रहे'—यह सोचकर विद्याधर आकाश में फैल गए।

३. कृतान्तवक्त्रं बहलीशयुद्धं, तत्र प्रवेशो मम सांप्रतं तत् ।
गच्छ प्रिये ! गेहमिति न्यषेधि, कान्तेन कान्ताथ सह व्रजन्ती ॥

अपने साथ-साथ चलने वाली प्रिया का निषेध करते हुए पति ने कहा—'प्रिये ! तू घर चली जा, मेरे साथ मत आ। बाहुबली का यह युद्ध मृत्यु के मुख के समान है। उस युद्ध में मेरा प्रवेश अभी होने वाला है।'

४. प्रेयोवचः स्फूर्जथु[2]कल्पमेवमाकर्ण्य कान्ता निजगाद कान्तम् ।
त्वयैव गेहं मम तत्त्वदीयं, छायेव मुञ्चामि न सन्निधानम् ॥

अपने पति के वज्र-ध्वनि के सदृश कठोर वचनों को सुनकर कान्ता ने कहा—'नाथ ! तुम ही मेरे घर हो, इसलिए मैं तुम्हारे साथ छाया की भांति रहूंगी, तुम्हारा सान्निध्य नहीं छोड़ूंगी।

१. विहायस्—आकाश (विहाय आकाशमनन्तपुष्करे—अभि० २।७७)
२. स्फूर्जथुः—वज्र की ध्वनि (स्फूर्जथुर्ध्वनिः—अभि० २।६५)

५. अमङ्गलं मास्तु यियासतोऽस्य, पतत् कयाचिद् धृतमश्रमन्तः ।
तेनैव सिक्तस्य वियोगवन्हेर्निःश्वासधूमावलिमुद्वमन्त्या[1] ॥

पति को रण की ओर जाते देखकर किसी कान्ता की आँखों में आंसू छलकने लगे। उसने उन आंसुओं को यह सोचकर आंखों में ही रोक लिया कि उनके गिरने से, युद्धस्थल की ओर जाने के इच्छुक मेरे प्रिय पति के कहीं अमंगल न हो जाए। उसने अपने उन्हीं आंसुओं से वियोग की अग्नि का सेचन किया और वह निःश्वास रूपी धुएं का वमन करने लगी।

६. कयाचन द्वारि वितत्य बाहू, न्यवर्त्ति पक्षाविव राजहंस्याः ।
गमाय तेऽहं प्रिय ! नादिशामीत्युदीरयन्त्या प्रणयेन कान्तः ॥

किसी कान्ता ने द्वार पर राजहंसी की फैली हुई पांखों की भांति अपनी बांहें फैलाकर, 'प्रिये ! मैं तुम्हें जाने के लिए आदेश नहीं दे सकती'—यह कहते हुए पति को प्रेमपूर्वक रोक लिया।

७. वियोगदीनाक्षमवेक्ष्य वक्त्रं, तदैव कस्याश्चन सङ्गराय ।
बाष्पाम्बुपूर्णाक्षियुगः स्वसौधान्, न्यगाननः कोपि भटो जगाम ॥

एक सुभट वियोग से उदासीन अपनी प्रिया के चेहरे को देखकर नीचा शिर किए उसी समय युद्ध के लिए अपने घर से चल पड़ा। उसकी आंखें आँसुओं से भर गई थी।

८. गन्तैष बाले ! दयितो भवत्याः, कुरुष्व तन् मा मुखमद्य दीनम् ।
त्वं वीरपत्नी[2] भव काचिदेवं, व्यबोधि सख्या रुदती तदानीम् ॥

उस समय सखी ने रोती हुई कामिनी को समझाते हुए कहा—'बाले ! तुम्हारा यह पति रण के लिए जाने ही वाला है। इसलिए आज तुम अपना मुंह दीन मत करो। तुम वीरपत्नी बनो।'

९. आश्लिष्य दोर्वल्लियुगेन काचित्, कान्तं बभाषे गलदश्रुनेत्रा ।
बद्धो मया त्वं कुत एव गन्ता, रुद्धो गजेन्द्रोऽपि वशत्वमेति ॥

कोई कामिनी अपनी दोनों भुजाओं से पति का आलिंगन करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से

---

१. 'उद्वहन्त्या' इत्यपि पाठः।
२. वीरपत्नी—(वीरपत्नी वीरभार्या—अभि० ३।१७६)

बोली—'मैंने तुम्हें बांध लिया है। अब तुम कहां जाओगे ? बंधा हुआ हाथी भी वश में हो जाता है।'

१०. कुन्ताग्रधारा विषहिष्यसे त्वं , कथं यतो वृन्तमरुंतुदं ते ।
इतीरिणीं काञ्चिदुवाच कान्तस्त्विदं वचोऽरुंतुदमेव ते मे ।।

कान्ता ने पति को सम्बोधित कर कहा—'नाथ ! डंठल का प्रहार भी तुमको व्यथित कर देता है तो भला तुम भाले की तीखी नोक के प्रहार को कैसे सहन कर सकोगे ?' यह सुनकर उसने कहा—'प्रिये ! तेरी यह वाणी मुझे भाले से भी अधिक पीड़ित कर रही है।'

११. मनो मदीयं भवता सहैतं , मुक्तास्मि तन्वा त्विह जीवितेश !।
उवाच कान्तो हृदयं ममापि , त्वय्येव साधुव्यतिहार एषः ।।

कान्ता ने कहा—'प्राणनाथ ! मेरा मन तुम्हारे साथ ही जा रहा है। मैं इस घर में केवल शरीर के द्वारा ही रह रही हूँ।' तब पति ने कहा—'प्रिये ! मेरा हृदय भी तेरे ही साथ है। यह परिवर्तन (तेरा मन मेरे साथ और मेरा हृदय तेरे साथ) कितना अच्छा है।'

१२. पोतन्ति तारुण्यजलेऽबलानां , हृदीश्वराः कामचलत्तरङ्गे ।
प्रिये ! ऽत्र यूनां तरणाय दिष्टं , धात्रा सुनेत्राकुचकुम्भयुग्मम् ।।

पत्नी बोली—'पति (हृदयेश्वर) नारियों के तारुण्य जल, जिसमें काम-वासना की चंचल तरंगें उछलती हैं, में यानपात्र के समान होते हैं।' पति ने कहा—'प्रिये ! विधाताने युवकों के लिए स्त्रियों के ये स्तन रूपी दो कलश तारुण्यजल को तर जाने के लिए ही बनाए हैं।'

१३. नवैः प्रसूनैः परिकल्प्य शय्यां , मार्गो मयालोकि तवैव नक्तम् ।
प्रसूनशय्यानियमोस्तु तावद् , यावन्न सङ्गो मम ते च भावी ।।

पत्नी बोली—'प्रिय ! नए फूलों की शय्या बिछाकर मैं रात भर तुम्हारा ही मार्ग देखती रही।' पति बोला—'प्रिये ! जब तक तेरा पुनः संगम नहीं होगा तब तक मुझे फूलों की शय्या पर सोने का नियम है, व्रत है।'

१४. शृङ्गारयोनेः[1] कुसुमानि बाणा , विना त्वया लोहमयाः शरा मे ।
द्वेधाऽनुभूतिर्मम मार्गणानां , भविन्त्र्यनङ्गस्य शरास्त्वसह्याः ।।

---

१. शृङ्गारयोनेः—कामदेवस्य ।

पत्नी ने कहा—'प्रिय ! तुम्हारे बिना कामदेव के फूलों के बाण भी मेरे लिए लोहमय बन जायेंगे।' यह सुनकर पति ने कहा—'प्रिये ! तेरे बिना मुझे दो प्रकार की अनुभूति होगी—(संग्राम में) लोहमय बाणों की और (तेरे बिना) कामदेव के कुसुममय बाणों की। लोहमय बाण सहे जा सकते हैं किन्तु कामदेव के कुसुममय बाण असह्य होते हैं।'

१५. आचामयं स्वेदलवान् रतोत्थान् , मत्पाणिधूतव्यजनानिलैस्ते ।
संवेशनं त्वद्वशमेव बाले !, कुतो मम स्वेदकणास्तदुत्थाः ॥

पत्नी बोली—'प्रिय ! मेरे हाथों से चालित पंखे की हवा से मैंने मैथुन से उत्थित तुम्हारे पसीने की बूंदों का आचमन किया था।' पति ने कहा—'बाले ! मैथुन तो तेरे ही अधीन है। अतः उससे उठने वाले स्वेदबिन्दु अब मेरे शरीर पर कहां से होंगे ? (क्योंकि आज मैं तुमसे दूर चला जा रहा हूं।)'

१६. स्वप्नान्तरे त्वं व्यवलोकनीयो , मया प्रिय ! प्रीतिनिमग्नदृष्ट्या ।
प्रिये ! ममोपैष्यति नैव निद्रा , त्वया विना तर्हि कथं त्वमीक्ष्या ॥

पत्नी ने कहा—'प्रिय ! मैं स्वप्न में भी तुमको प्रेमभरी दृष्टि से देखूंगी।' पति ने कहा—'प्रिये ! तेरे बिना मुझे नींद ही नहीं आएगी तो मैं तुझे कैसे देख पाऊंगा ?'

१७. प्रेयोजयश्रीवरणोत्सुकस्त्वं , विस्मारयेर्मा मम दूरगायाः ।
प्रिये ! पुरस्ताद् बहलीश्वरस्य , कुतो जयश्रीप्रतिलम्भ एव ॥

'हे प्रिय ! तुम अपनी अत्यन्त प्रिया जय रूपी लक्ष्मी का वरण करने के लिए उत्सुक हो गए हो। मैं तुम्हारे से बहुत दूर हूँ, किन्तु मुझे कभी भूल मत जाना।' पति ने कहा 'प्रिये ! बाहुबली के आगे जयश्री को प्राप्त करने की बात ही कहां है ?'

१८. इत्थं विचेर्रुविरहातिदीना युवद्वयीनां विविधाः प्रलापाः ।
निरन्तरे हि प्रणयातिरेके , हृदालये शल्यति विप्रयोगः ॥

इस प्रकार दम्पतियों के विरह से अति दीन बने हुए विविध प्रलाप होने लगे। यह सच है कि जहां प्रणय का निरन्तर अतिरेक होता है वहां वियोग हृदय में शल्य की भांति चुभता रहता है।

१९. कान्तैर्न्यवार्यन्त मुहुः प्रबन्धात्[1], सह व्रजन्त्यो दयितास्तदानीम् ।
स्वस्वामिकृत्याधिकदत्तचित्तैः, शैलैस्तटिन्याप इवापतन्त्यः ॥

सभी सुभट अपने स्वामी के कार्यों के प्रति दत्तचित्त थे। उनकी प्रयाण-वेला में उनकी कान्ताएं साथ चलने का हठ कर रही थीं। उस समय उन सुभटों ने हठ करने वाली अपनी कान्ताओं को बार-बार उसी प्रकार निवारित किया जैसे पर्वत नदियों के आने वाले पानी को निवारित करते हैं।

२०. विषीद मा तन्वि ! चरालयं स्वं, श्यामं मुखं मा कुरु साञ्जनास्रैः ।
श्वस्ते समेता दयितः प्रियाल्या, निन्ये गृहं काचिदिति प्रबोध्य ॥

'सुन्दरी ! तू खेद मत कर ! तू अपने घर जा। कज्जल के कारण काले बने हुए आंसुओं से अपने मुंह को काला मत बना। प्रातःकाल तेरा पति आ जाएगा'—इस प्रकार कहकर नायिका की प्रिय सखी उसे घर ले गई।

२१. वियोगतः प्राणपतेः पतन्ती, विसंस्थुलं[2] पाणिधृतापि सख्या ।
चैतन्यमापय्य च तालवृन्तानिलैरनायि स्वगृहं मृगाक्षी ॥

अपने प्रिय पति के वियोग से एक नायिका अपनी सखी द्वारा हाथ का सहारा दिये जाने पर भी व्याकुलता से गिर रही थी। तब ताल के बने पंखे से हवा देकर सखी ने उसे सचेत कर घर पहुँचाया।

२२. अमुञ्चती स्थानमिदं विमोहात्, प्रेयःपदन्यासमनुव्रजन्ती ।
काचिद् गलद्बाष्पजलाविलाक्षी, सख्येरिताप्युत्तरमार्पयन्न ॥

एक कान्ता की आंखें आंसुओं से पंकिल हो रही थीं। वह अत्यन्त विमूढ होकर अपने स्थान से नहीं हट रही थी। वह अपने पति के चरणों के पीछे-पीछे चल रही थी। उस अवस्था में सखी के द्वारा कुछ कहे जाने पर भी वह उत्तर नहीं दे रही थी।

२३. का विप्रयुक्तिः प्रणयश्च कीदृग्, विषण्णता केयमितीरणेन ।
मुग्धे ! पुरा त्वं सकलानुभूतिस्तदाद्य सख्येति दधेऽथ काचित् ॥

एक सखी ने नायिका को यह कहकर सान्त्वना दी कि—'हे सुन्दरी ! आज तुझे इन

---

१. प्रबन्धात्—आग्रहात् ।

२. विसंस्थुलं—व्याकुलतया चीवराद्यसंभालनशक्तिपूर्वं यथा स्यात् तथा ।

सबका अनुभव हो रहा है कि विरह क्या होता है ? स्नेह कैसा होता है ? विषण्णता कैसे होती है ? इससे पूर्व मुझे इन सबकी जानकारी नहीं थी ।'

२४. अशोकमालम्ब्य लतेव काचित् , सिषेच नेत्राश्रुजलैरितीव ।
प्रवृद्ध एष प्रविधास्यते मां , सेकादशोकां दयितागमेन ।।

एक कान्ता ने लता की भांति अशोक वृक्ष का आलंबन लेकर उसे अपने आंसुओं से यह मानकर सींचा कि यह वृक्ष सिंचन से बड़ा होकर पति के आगमन से मुझे भी अ-शोक—शोक रहित कर देगा ।

२५. खिन्नेव काचिद् विरहातिभारात् , पदे पदे वाष्पजलैर्गलद्भिः ।
प्रेयःपदन्यासरजांसि मुक्ताफलैरिवैतावकिरन्त्य[1]तूर्णम् ।।

एक कान्ता विरह के भार से अत्यन्त खिन्न होकर पग-पग पर मोतियों की भांति आंसू बिखेर रही थी । वह अपने प्रिय पति के पदन्यास की रजों को इन मोतियों से वर्धापित करती हुई धीरे-धीरे चलने लगी ।

२६. कान्तस्य यातस्य पदव्यलोकि[2] , त्वया हि यावन्न रजोन्तराभूत् ।
अथ स्थिता किं वितनोषि बाले !, संभाष्य सख्यैवमवालि काचित् ।।

सखी ने किसी कान्ता को यह कहकर घर की ओर मोड़ा कि—'बाले ! तू यहाँ बैठी-बैठी क्या कर रही है ? तू प्रयाण करने वाले अपने पति के मार्ग को तब तक देख चुकी है जब तक कि वह मार्ग धूली से ओझल नहीं हो गया था ।'

२७. दुरुत्तरोयं विरहाम्बुराशिर्मया भुजाभ्यां दयिते प्रयाते ।
आशातरी चेन्न निमज्जने को , विघ्नोन्तरेतीरयतिस्म काचित् ।

एक कान्ता ने अपनी सखी से कहा—'सखे ! पति के प्रयाण कर जाने पर विरह के इस समुद्र को भुजाओं से पार करना मेरे लिए शक्य नहीं है । यदि आशा रूपी नौका न हो तो बीच में ही डूब मरने में कौनसी बाधा हो सकती है ?'

२८. जहीहि मौनं रचयात्मकृत्यं , सखीजने देहि दृशं मृगाक्षि ! ।
दधासि किं धत्तकुमुद्दशां त्वं , संबोध्य नीतेति च काचिदाल्या ।।

---

१. अवकिरन्ती—वर्धापयन्ती ।

२. पदवी—मार्ग (पदव्येकपदी पद्या—अभि०, ४।४९)

सखी किसी कान्ता को यह कहकर घर ले गई कि—'वाले ! तू मौन को छोड़ दे और अपना काम कर। हे मृगाक्षी ! तू अपनी सखियों की ओर देख। तू दिन में मुरझा जाने वाले श्वेत कमल की अवस्था को क्यों धारण कर रहीहै ?'

२९. स्निग्धाभिरेवात्र सुलोचनाभिः, संतप्यते जीवितनाथपृष्ठे[1]।
किं स्नेहभाजो न तिला विमर्द्यास्तेषां खलः केन च नापि मर्द्यः ॥

इस संसार में स्नेहिल स्त्रियाँ पति के चले जाने पर संतप्त होती हैं। क्या स्नेहिल तिल नहीं पीले जाते? अवश्य पीले जाते हैं। किन्तु तिलों की खल को कोई भी नहीं पीलता।

३०. अथैकदिक्संमुखसंचरिष्णुश्चकार सेना शतशश्च मार्गान्।
स्ववाहिनीवान्तरुपेतभूभृद्विभेदिनी[2] भारतकामचारा ॥

एक दिशा की ओर प्रयाण करने वाली भरत की सेना अब सैकड़ों मार्गों की ओर बढ़ चली। जिस प्रकार गंगा नदी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में वहती हुई अपने बीच में आने वाले पर्वतों को तोड़कर आगे बढ़ती जाती है वैसे ही भरत की सेना भी विभिन्न मार्गों से प्रयाण करती हुई मार्गगत राजाओं को जीतती हुई चली जा रही थी।[3]

३१. विश्वंभराव्योमचरैर्धरित्रीं, नभः पुनर्मातुमिव प्रवृत्तैः।
भटैस्तदीयैः स्वकरार्पितास्त्रैः, समंततो व्यानशिरे दिगन्ताः ॥

उस समय भरत चक्रवर्ती के वीर सुभट अपने हाथों में अस्त्रों को लेकर सभी दिशाओं में व्याप्त हो गए। भूमि पर चलनेवाले सुभट और आकाश में उड़ने वाले विद्याधर इस प्रकार फैल गए मानो कि वे धरती और आकाश को मापने के लिए निकल पड़े हों।

---

१. जीवितनाथपृष्ठे—जीवननाथपरोक्षे सति।
२. शैलविभेदिनी—इत्यपि पाठः।
३. श्लेष—सेनापक्षे
एकदिक्संमुखसंचरिष्णुः—एकाशाभिमुखसंचरणशीला।
अन्तरुपेतभूभृद्विभेदिनी—अन्तरालायातपृथ्वीपालपातिनी।
भारतकामचारा—चक्रवर्तीच्छाचारिणी।
गंगानदीपक्षे—
एकदिक्'''—एकाशाभिमुखसंचरणशीला।
अन्तरुपेत'''—अन्तरालायातपर्वतघातिनी।
भारतकामचारा—भरतक्षेत्रे कामं—अत्यर्थं, चारः—संचारो, यस्याः।

३२. अस्योद्यदातोद्यरवैर्ध्वजिन्या, दूरादिवाहूयत नाकलोकात्।
स्वाहाभुजां सञ्चय इत्युदीर्य, कुतूहलं किं भवदालयान्तः ?

भरत की सेना में वाद्यों का उछलने वाला निर्घोष दूर से मानो देवलोक से देवों के समूह को बुलाकर यह कह रहा हो कि तुम्हारे स्वर्ग में क्या कुतूहल हो रहा है ?

३३. महोष्ट्रवामीशतसङ्कुलायां, कोलाहलः कोऽप्यभवद् ध्वजिन्याम्।
येनाटवीश्वापदजातियूथैर्भयादलीयन्त गुहा गिरीणाम्॥

भरत की सेना सैंकड़ों बड़े-बड़े ऊंटों और घोड़ियों से संकुल थी। उसके प्रयाण से ऐसा कोलाहल हो रहा था, जिसे सुनकर अटवी के हिंसक पशुओं के समूह भयभीत हो गए और वे सभी पहाड़ों की गुफाओं में जा छिपे।

३४. गन्धेभसिन्दूरभरातिरक्तपथिद्रुमं तद् वनमावभासे।
चम्वास्य धूलीनवमेघपङ्क्त्या, चरिष्णुसन्ध्याभ्रमिव क्षपास्यम्।

गन्धहस्ती के सिन्दूर-संचय से अधिक रक्त मार्गगामी वृक्षों वाला वह वन भरत की सेना से वैसे शोभित हुआ जैसे सेना से उठे रजकणों की नवमेघ की पंक्ति से संचरणशील संध्याकालीन मेघ वाला रात्रिमुख शोभित होता है।

३५. दूरंगतानामथ सैनिकानां, साकेतसौधाग्रशिरोऽप्यदृश्यम्।
बभूव चैतन्यमिवातिशुद्धं, स्मरातुराणामसमाहितानाम्॥

भरत के सैनिक बहुत दूर तक चले गए। उन्हें साकेत नगर के सौध-शिखर अब वैसे ही दीखने बंद हो गए जैसे अत्यन्त निर्मल चैतन्य कामातुर और असमाहित व्यक्तियों को दीखना बन्द हो जाता है।

३६. दन्तावलैः केलिनगोपपन्ना, हर्म्योपपन्ना च रथैर्बृहद्भिः।
अस्य प्रयाणेऽपि जनैरमानि, स्फुरद्ध्वजा जङ्गमकोशलेयम्॥

लोगों ने भरत की सेना के प्रयाण काल में उस सेना को ही फहराती हुई ध्वजाओं वाली जंगम अयोध्या मान लिया था। बड़े-बड़े हाथियों के कारण वह सेना क्रीड़ा-पर्वतों से उपपन्न-सी दीख रही थी और विशाल रथों के कारण वह प्रासाद वाली लग रही थी।

तुरङ्गमैरग्रसरैः खुराग्रैः, क्षुण्णं रजो यावदुपैत्यनन्तम्।
तावद् गजैः पृष्ठचरैर्मदाम्भोभरैरधोरक्षि नवीव पङ्कैः॥

सेना के आगे चलने वाले घोड़ों के खुराग्रों से क्षुण्ण रजें जब आकाश में ऊपर उठती हैं तब घोड़ों के पीछे चलने वाले मदोन्मत्त हाथियों के मद-प्रकर्ष से वे वैसे ही नीचे गिर जाती हैं जैसे भव्य व्यक्ति पाप के कारण नीचे गिर जाता है।

३८. पुरस्सरैरेति बलं च पृष्ठे, तुरङ्गिभिः[1] पृष्ठचरैरपीदम्।
ऊचे जनानामिति पृच्छतां नो, पुरो बहु प्राग् बहु संनिबोधः॥

आगे चलनेवाले घुड़सवारों से लोग पूछते तो वे यही कहते कि सेना पीछे आ रही है और पीछे चलने वालों से पूछते तो वे भी यही कहते कि सेना पीछे आ रही है। इस प्रकार प्रश्न करने वाले लोगों को यह ज्ञात नहीं हो पाता था कि सेना आगे अधिक है या पीछे अधिक है।

३९. कण्डूयमानैः करटं करीन्द्रैस्त्वगुन्ममन्थे पथि भूरुहाणाम्।
धर्मस्थितिश्चारुदृशां विलासैरिवाधिकप्रौढितया प्रपन्नैः॥

हाथी अपने गण्डस्थल को खुजलाते हुए मार्ग के वृक्षों की छाल उखाड़ रहे थे, जैसे कि स्त्रियों के अत्यन्त प्रपंच से संयुक्त उनके हावभाव धर्मस्थिति का उन्मथन कर देते हैं, उनको उखाड़ देते हैं।

४०. विद्याधरैर्व्योमपथो जगाहे, ततो निधानैर्वडवामुखं[2] च।
भूचारिभिर्भूमितलं च सैवं, बभूव गङ्गेव चमूस्त्रिमार्ग्याम्॥

विद्याधरों ने आकाश का, निधानों ने पाताल का और पैदल सेना ने भूमि का अवगाहन किया। इस प्रकार वह सेना गंगा की तरह त्रिपथगा—तीन मार्गगामी हो गई।

४१. प्रवर्तितैस्तद्बलकामचारैर्विषीदतिस्मायननिम्नगापि।
सद्यो नवोढेव रसोनकत्वपङ्ककालुष्यमरातिदीना॥

भरत की सेना के यथेष्ट और विस्तृत संचरण के कारण तथा पानी की न्यूनता से होने वाली कीचड़ की मलिनता के कारण मार्ग की नदियां नई वधू की भांति तत्काल विषण्ण हो रही थीं।

४२. नाव्या नदी सुप्रतरा बभूव, प्रकाशमासीद् गहनं वनं च।
स्थलान्यभूवन् सलिलाशयाश्च, क्रमाद् बलैरस्य जयोद्यतस्य॥

१. तुरङ्गी—घुड़सवार (सादी च तुरगी च सः—अभि० ३।४२५)
२. वडवामुखं—(पातालं वडवामुखम्—अभि० ५।५)

विजय के लिए उद्यत भरत की सेना के लिए क्रमशः नौका द्वारा तरने योग्य नदी भी सुखपूर्वक ऐसे ही तरने योग्य हो गई, गहन वन भी प्रकाशित हो गए और सभी जल-स्थान स्थल की तरह हो गए।

४३. सुषेणसैन्याधिपतिः समेत्य, जगाद राजानमिदं स्वसैन्यम्।
तापाल्ललाटंतपसप्तसप्तेर्विषीदति व्रात इवांडजानाम्॥

इतने में ही सुषेण सेनापति भरत के पास आकर बोला—'राजन्! इस चिलचिलाती धूप में हमारी सेना उसी तरह तिलमिला रही है जैसे पक्षियों का समूह मध्याह्न वेला में आतप से तिलमिलाता है।

४४. बन्धूक[1]पुष्पाणि विकासवन्ति, वीक्षस्व सिन्दूरभरच्छवीनि।
वियोगिवक्षस्थलशोणिताक्ता, बाणाः किमेते स्मरवीरमुक्ताः॥

'राजन्! सिन्दूर की अत्यधिक कांति वाले इन विकसित 'दुपहरिया' के लाल फूलों को देखें। क्या ये वीर कामदेव द्वारा छोड़े गए बाण हैं जो कि वियोगियों के वक्षस्थल के खून से सींचे हुए हैं?'

४५. तीक्ष्णांशुतप्त्या परितप्यमानाः, प्रसूननेत्रैर्मकरन्दबाष्पान्।
विमुञ्चतीः प्रेयसि सापराधे, लता मृगाक्षीरिव पश्य राजन्!॥

'राजन्! आप इन लताओं को देखें। जैसे प्रिय पति के प्रति अपराध हो जाने पर कान्ताएँ आंसू बहाती हैं, वैसे ही ये लताएं सूर्य के ताप से संतप्त होती हुई अपने पुष्प रूपी नेत्रों से मकरन्द रूपी बाष्प को छोड़ रही हैं।'

४६. लोलल्लतामण्डपमध्यलीनो, विलोक्यतां पान्थजनोयमारात्।
निस्त्रिंश[2]सूनध्वज[3]बाणघातभीत्येव नीतः परिलग्नतृष्णः॥

'राजन्! प्रकंपित लता वाले इस मंडप में बैठे हुए उस पथिक को निकटता से देखें। वह काम-वासना से अत्यन्त तृषातुर है। ऐसा लग रहा है कि वह क्रूर कामदेव के बाण-प्रहार के भय से भयभीत है।'

---

१. बन्धूकः—दुपहरिया नामक फूल (बन्धूको बन्धुजीवकः—अभि०, ४।२१५)
२. निस्त्रिंशः—क्रूर (क्रूरे नृशंसनिस्त्रिंशपापा—अभि० ३।४०)
३. सूनध्वजः—कामदेव (सूनं—पुष्पं, ध्वजा अस्ति यस्य, सः)

४७. अयं पशूनां समजः[1] समन्तात्, सरस्तटं धावति लग्नतृष्णः।
कामीव कान्ताधरबिम्बपित्सुः[2], पश्य त्वमुत्थाणुरजोभरत्वात् ॥

'राजन् ! धूली के गुब्बारों के ऊंचे उठने से ज्ञात हो रहा है कि तृषातुर पशुओं का समूह प्यास बुझाने के लिए तालाब के तीर की ओर उसी प्रकार दौड़ रहा है जिस प्रकार एक कामातुर व्यक्ति (काम-वासना को मिटाने) अपनी प्रेयसी के अधरबिम्ब का पान करने के लिए दौड़ता है।'

४८. मर्माद्धिरेषा भरताधिपस्याभवत् कृतार्था न मरन्द[3]लक्षात्।
सरोजनेत्रैः परिरोदितीव, तदुज्झनीयो न जलाशयोयम् ॥

'राजन् ! यह सरोवर कमलनेत्रों से मकरन्द को बहाने के मिष से यह सोचकर रो रहा है कि मेरी यह सारी संपदा भरत-चक्रवर्ती के लिए कृतकृत्य नहीं हुई—प्रयोजनीय नहीं हुई। इसलिए आप सरोवर को न छोड़ें।'

४९. हस्त्यश्वपृष्ठ्या[4] निपतन्ति राजन् !, भाराधिरोपाध्वलनक्रमाच्च।
नीराशयोदञ्चितकन्धरश्च, महोक्षवर्गः श्रममाविभर्ति ॥

'राजन् ! भार की अधिकता और प्रवास के कारण ये हाथी, घोड़े और बैल भूमि पर गिर रहे हैं। बड़े-बड़े बैलों का यह समूह जलाशय की खोज में ऊंची ग्रीवा किए हुए खिन्न हो रहा है।'

५०. स्वेदोदबिन्दूनधिभालपट्टं, स्वसैनिकानां नुदति प्रसह्य।
वनं तवातिथ्यविधिं विधातुं, प्रफुल्लपद्माकरमारुतेन ॥

'राजन् ! यह अरण्य आपका आतिथ्य करना चाहता है। इसलिए यह आपके सैनिकों के भालपट्ट पर छलकने वाली पसीने की बूंदों का, अपने विकसित कमल वाले सरोवर की ठंडी वायु से, सहसा अपनयन कर रहा है।'

५१. आयोजनं भूमिरपि व्यतीता, सेनानिवेशः क्रियते कथं न।
मध्यस्थतामेत्य महोनिधिः किं, क्षणं न विश्राम्यति पश्य भानुः ?

---

१. समजः—पशुओं का समूह (समजस्तु पशूनां स्यात्—अभि० ६।५०)
२. पित्सुः—पिपासुः।
३. मरन्दः—फूल का रस (मकरन्दो मरन्दश्च—अभि० ४।१९३)
४. पृष्ठ्यः—बैल (स्थौरी पृष्ठ्यः पृष्ठवाह्यो—अभि० ४।३२९)

महाराज भरत ने यह जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त किया कि तक्षशिला के राजा बाहुबली क्या कर रहे हैं ? उनकी सेना में कौन-कौन वीराग्रणी हैं ? उनकी सेना कैसी है ?

५७. श्वः कुत्र भावी ध्वजिनीनिवेशः, स्वदेशसीमा कटकैर्ललङ्घे ।
अतः परं गम्यमरातिदेशे, बलाबलव्यक्तिररिं विना का ।।

भरत ने सेनापति से कहा—'सेनाओं ने अपने देश की सीमा को लाँघ दिया है। कल सेना का पड़ाव कहाँ होगा ? इसके आगे हमें शत्रु के देश में जाना होगा। शत्रु के आमने-सामने हुए बिना पराक्रम और अपराक्रम की अभिव्यक्ति नहीं होती।'

५८. इतीरितः सोथ सुषेणसैन्याधिपः सदर्पो निजगाद भूपम् ।
महौजसामात्मपराऽविमर्शा, न साहसश्रीः समुदेति किञ्चित् ?

इस प्रकार कहे जाने पर सुषेण सेनापति ने दर्प के साथ राजा भरत से कहा—'राजन् ! क्या पराक्रमी व्यक्तियों की, अपने और पराए के विचार से रहित, साहसश्री समुदित नहीं होती ? अवश्य होती है।'

५९. किं काश्यपी[1] दैन्यवतोपचर्या, संगृह्यते साहसिभिः क्षितीश ! ।
एकोपि दाना[2]र्द्रकपोलभित्तीन्, न हेलया हन्ति हरिर्गजान् किम् ?

'राजन् ! क्या दीन व्यक्ति पृथ्वी पर अधिकार कर सकते हैं ?' कभी नहीं। साहसी व्यक्ति ही उसे अपने अधीन कर सकते हैं। क्या अकेला सिंह मद से भीगे हुए कपोल वाले हाथियों को बात ही बात में नहीं मार डालता ?'

६०. एषां भटानां समरोत्सुकानां, भवन्निदेशोस्ति महान्तरायो[3] ।
रवेः पुरः किं न तदीयपादा, भूमीभृदाक्रान्तिनिबद्धकक्षाः[4] ?

'राजन् ! युद्ध के लिए समुत्सुक इन वीर सुभटों के लिए आपका आदेश महान् विघ्नकारी है। क्या सूर्य के आगे-आगे चलने वाली उसकी किरणें पर्वतों को आक्रान्त करने के लिए उत्सुक नहीं होतीं ? अवश्य होती हैं।'

---

१. काश्यपी—पृथ्वी (काश्यपी पर्वताधारा—अभि० ४।३)
२. दानं—मद (मदो दानं प्रवृत्तिश्च—अभि० ४।२४६)
३. अन्तरायः—विघ्न (विघ्नेऽन्तरायप्रत्यूहः—अभि० ६।१४५)
४. ······निबद्धकच्छाः इत्यपि पाठः ।

६१. तवानुजोऽयं तनयो युगादेर्भमायमूहो भरताधिराज ! ।
नो चेदयं को मम सांयुगीनोऽधुना विमर्शो मम ते निदेशः ॥

'भरताधिराज ! बाहुबली आपके अनुज हैं और ऋषभ के पुत्र हैं—इसलिए मेरा यह वितर्क है। अन्यथा यह कौन मेरा रणकुशल प्रतिद्वन्द्वी है ? बस, अब आपका आदेश ही मेरा विमर्श है।'

६२. हठाद् रिपूणां वसुधा विशेषात् , कान्ता मृगाक्षीव सुखाय पुंसाम् ।
उत्सङ्गमेते समरोत्सवे हि , किं कातरत्वं विदधाति धीरः ?

'राजन् ! विशेष रूप से अकस्मात् आक्रान्त शत्रुओं की भूमि पुरुषों के लिए वैसे ही सुखकारक होती है, जैसे अकस्मात् आक्रान्त सुन्दरी सुखकारक होती है। युद्धोत्सव के निकट आने पर क्या धीर पुरुष कायरता दिखाता है ?'

६३. पश्य स्वसेनां हरिदुःप्रधर्षां , दोष्णोर्युगे देहि दृशं नरेश ! ।
तावद् बली सोऽपि न यावदीये , त्वया विरोधिक्षितिभञ्जनेन ॥

'राजन् ! आप अपनी सेना को देखें। वह इन्द्र के द्वारा भी दुष्प्रधर्ष है। देव ! आप बाहु-युगल की ओर दृष्टि करें। वैरियों की वसुधा के टुकड़े-टुकड़े करने वाले आप जब तक सामने नहीं आते तब तक ही वह बाहुबली शक्तिशाली लगता है।'

६४. ममाद्भुतं वाक्यमतः परं त्वं , कर्णामृतं स्वीकुरु सार्वभौम ! ।
इतो मया चारवरा नियुक्ताः , सेनानिविष्ट्यै निजबुद्धितो ह्यः[1] ॥

'हे चक्रवर्त्तिन् ! अब इसके आगे आप मेरी आश्चर्यकारी और अमृत के समान मधुर वाणी को ध्यानपूर्वक सुनें। इधर मैंने अच्छे-अच्छे गुप्तचरों को, अपनी बुद्धिमत्तापूर्वक सेना की व्यूह-रचना करने के लिए, कल ही नियुक्त कर डाला है।'

६५. तैरेत्य सानन्दमनोभिरेवं , विज्ञापितोऽहं प्रियसत्यवाक्यैः ।
अस्त्युत्तरस्यां दिशि दाव[2]मेकमदूरगं चैत्ररथा[3]दनूनम् ॥

'राजन् ! प्रसन्न चित्त वाले उन गुप्तचरों ने यहाँ आकर प्रिय और सत्यवाणी में मुझे यह

१. ह्यः—गतवासरे।
२. दावः—कानन (काननं वनं, दवो दावः—अभि० ४।१७६,१७७)
३. चैत्ररथं—कुबेर का वन (चैत्ररथं वनं—अभि० २।१०४)

सूचना दी है कि उत्तर दिशा में यहाँ से निकट ही कुबेर के कानन के समान एक सुन्दर कानन है।'

६६. स भूरुहो नास्ति जगत्त्रयेऽपि , यः काननेस्मिन् न विवृद्धिमागात् ।
गुणोद्भवः सर्वविदीव चारुफलोल्लसच्छ्रीभरभासुराङ्गे ॥

'राजन् ! वह कानन सुन्दर फलों की अतिशय शोभा से सुशोभित है। जैसे सारे गुणों की उत्पत्ति सर्वज्ञ में वृद्धिगत होती है, वैसे ही तीनों लोकों में एक भी ऐसा वृक्ष नहीं है जो उस कानन में वृद्धिगत न हुआ हो।'

६७. गीर्वाणविद्याधरसुन्दरीणां , सङ्केतलीलानिलया नितान्तम् ।
अनेकधा यत्र विभान्ति वृक्षाः, प्रसूनचापातपवारणानि[1] ॥

'उस कानन में अनेक प्रकार के वृक्ष शोभित होते हैं। वे देवता और विद्याधरों की सुन्दरियों के संकेत-लीला के स्थल और कामदेव के छत्र के समान हैं।'

६८. पुष्पद्रुशाखा उपरि भ्रमन्ती , रोलम्वराजिर्जलदालिनीला ।
कादम्बिनी[2]भ्रान्तिमिहातनोति , कलापिनां[3] नृत्यरसोत्सुकानाम् ॥

'राजन् ! इस कानन के पुष्पित द्रुमों की शाखाओं पर परिभ्रमण करती हुई, मेघमाला की भाँति श्याम वर्णवाली भ्रमर-पंक्ति, नृत्य करने के लिए उत्सुक मयूरों के लिए मेघ समूह की भ्रांति पैदा करती है।'

६९. यदीयसौन्दर्यमुदीक्ष्य दूरान्नभो विमानेन विगाहमानः ।
किं नन्दनोद्यानमिदं ममेति , शक्रोऽपि शङ्कां हृदये विभर्त्ति ॥

अपने विमान के द्वारा आकाश का अवगाहन करता हुआ इन्द्र दूर से इस कानन के सौन्दर्य को देखकर—'क्या यह मेरा नन्दन वन ही तो नहीं है'—इस प्रकार हृदय में शंका करता है।

७०. श्रीमद्युगादेर्जगदीश्वरस्य , तदन्तरेकोऽस्ति महान् विहारः ।
जाम्बूनदाद्रे[4]रिव शृङ्गदेशः , किं दर्त्रभिन्नः कलधौत[5]रूपः ?

---

१. प्रसूनचापः—कामदेव। आतपवारणं—छत्र (छत्रमातपवारणम्—अभि० ३।३८१)
२. कादम्बिनी—मेघ समूह (कादम्बिनी मेघमाला—अभि० २।७९)
३. कलापी—मयूर।
४. जाम्बूनदाद्रिः—स्वर्णपर्वत, मेरुपर्वत (जाम्बूनदं—स्वर्ण—जाम्बूनदं शातकुम्भं—अभि ४।१११)
५. कलधौतं—स्वर्ण (कलधौतलोहोत्तम······अभि० ४।११०)

'राजन् ! उस कानन के अन्तराल में युग के आदिकर्त्ता भगवान् ऋषभ का एक वि
विहार (मन्दिर) है। वह स्वर्ण की भाँति चमकीला है। उसे देखकर यह वितर्क
है कि क्या यह स्वर्णपर्वत (मेरुपर्वत) का वज्र से तोड़ा हुआ शिखर का खण
नहीं है ?'

७१. महामणिस्तम्भविराजितश्रीः, कल्याण[1]ताडङ्क[2] इवायमस्ति ।
आरामलक्ष्म्यास्तरुराजराजिविराजमानावयवाङ्गयष्टेः ॥

'राजन् ! महान् रत्नमय स्तम्भों की शोभा से युक्त यह विहार कानन रूपी लक्ष्मी
स्वर्णमय कुंडल के समान है। यह काननलक्ष्मी श्रेष्ठ वृक्षों की श्रेणी से शोभित अवयव
से युक्त शरीर वाली है।'

७२. नवीनचामीकरनिर्मलाभा, विहारभित्तिर्मुकुरैकलीलाम् ।
आत्मस्वरूपव्यवलोकनाय, धत्तेतरां काननभूरुहाणाम् ॥

'नये स्वर्ण की निर्मल आभा वाली विहार की भित्ति दर्पण की शोभा को विशेष रूप
से धारण कर रही है, जिससे कि कानन के वृक्ष अपना स्वरूप उसमें देख सकें।'

७३. जीवो यथा पुण्यभरेण देहो, यथात्मनाऽब्जेन यथा तटाकः ।
युगादिबिम्बेन तथायमुच्चैः, प्रासादराजः परिभाति राजन् ! ॥

'राजन् ! यह श्रेष्ठ विहार ऋषभदेव की प्रतिमा से वैसे ही अत्यधिक शोभित हो रहा
है जैसे पुण्य के अतिशय से जीव, आत्मा से देह और कमल से तालाब सुशोभित
होता है।'

७४. मुक्तावली काननराजलक्ष्म्या, मन्दाकिनी कण्ठगतेव भाति ।
चरिष्णुचन्द्रातपगौरवीचिच्छलाद् हसन्त्या इव शीतकान्तिम्[3] ॥

'उस कानन के निकट गंगा नदी बहती है। वह इस प्रकार शोभित होती है मानो
कि वह काननराज की लक्ष्मी के गले का मुक्तावली हार हो। वह नदी चमकती हुई
चाँदनी के समान गौर लहरों के मिष से चन्द्रमा का उपहास कर रही हो—ऐसी
लगती है।'

---

१. कल्याणं—स्वर्ण (कल्याणं कनकं—अभि० ४।१०९)
२. ताडङ्कः—कुंडल (ताडंकस्तु ताडपत्रं कुण्डलं—अभि० ३।३२०)
३. शीतकान्तिः—चन्द्रमा ।

७५. डिण्डीरपिण्डा[1] इव राजहंसा, विभान्ति यत्तीरगता नितान्तम्।
सेनानिवेशस्तव तत्र राजन्!, सदोचितः पुण्यवतां यथा स्वः[2] ॥

'राजन्! उस नदी के तट पर बैठे हुए राजहंस फेन के समूह की भांति अत्यन्त शोभित होते हैं। देव! आपकी सेना के पड़ाव के लिए वह स्थान वैसे ही नितान्त उचित है जैसे पुण्यशाली के लिए स्वर्गलोक उचित होता है।'

७६. इत्थं वचः सैन्यपतेर्निशम्य, चचाल राजा सह सैन्यलोकैः।
प्रासादलक्ष्मीकमनीयताढ्यं, द्रष्टुं तमाराममतस्तदैव ॥

सुषेण सेनापति की यह बात सुनकर, मन्दिर रूपी लक्ष्मी की कमनीयता से सम्पन्न उस कानन को देखने के लिए, महाराज भरत अपनी सेना के साथ तत्काल चल पड़े।

७७. वनं सप्रासादं नृपतिरुपगन्तुं सह बलैः,
कृतोद्योगः सागःक्षितिपतिमनःशल्यसदृशः[3]।
प्रतस्थे सैन्येन्द्राग्रतरपरिनुन्नः[4] परभुवं,
सुधीस्तादृक्कार्ये विमृशति न पुण्योदयरुचिः[5] ॥

उद्यमशील महाराज भरत ने शत्रु की भूमि में स्थित मन्दिर वाले उस कानन की ओर अपनी सेनाओं के साथ प्रस्थान किया। भरत अपराधी राजाओं के लिए मानसिक शल्य के समान थे। उनके आगे-आगे मार्गदर्शक के रूप में सेनापति चल रहा था। धर्म के उदय की अभिरुचि रखने वाला विद्वान् व्यक्ति ऐसा कार्य करने में कभी विमर्श नहीं करता।

—इति बाहुबलिदेशसीमाप्रयाणो नाम नवमः सर्गः—

---

१. डिण्डीरपिण्डाः—फेनप्रकराः (डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनो—अभि० ४।१४३)
२. स्वः—स्वर्ग।
३. सागःक्षितिपति···—सापराधभूपालहृदयशल्यतुल्यः। (अगः—अपराध)
४. परिनुन्नः—प्रेरितः।
५. पुण्योदयरुचिः—धर्माभ्युदयाभिलाषी (पुण्यं—धर्मः—अभि० ६।१५)

दसवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भगवान् ऋषभ के चैत्यवाले उद्यान में भरत चक्रवर्त्ती की अवस्थिति।
श्लोक परिमाण—	७५
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें, सर्ग २ का विवरण।

कथावस्तु—

चक्रवर्ती भरत की सेना बाहुबली की सीमा में प्रविष्ट हुई। महाराज भरत नदी के तट पर स्थित कानन में गए। मन्दिर को देख वे हाथी से नीचे उतर गए। उन्होंने सारी उत्तरासंग विधि सम्पन्न कर मन्दिर में प्रवेश किया। तीन बार प्रदक्षिणा कर, पंचांग नमस्कार कर उन्होंने भगवान् ऋषभ की स्तुति की। वे रमणीय स्थानों को देखते हुए मन्दिर में घूम रहे थे। इतने में ही उन्होंने एक मुनि को ध्यानस्थ अवस्था में देखा। उन्होंने मुनि को पहचान लिया। मुनि ने आँखें खोली। महाराज भरत ने मुनि की स्तुति करते हुए पूछा—'मुने ! आपने दीक्षा क्यों ली ? आपके शान्त रस का कारण क्या है ? आप यहाँ क्यों आए हैं ?'

मुनि ने कहा—'महाराज भरत ! तुम्हारे साथ युद्ध लड़ने के बाद हम (मैं, नमि और विनमि) विरक्त हो गए। हम तीनों ने अपना-अपना राज्यभार पुत्रों को सौंप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। हम भगवान् ऋषभ के चरणों में संयम जीवन यापन करने लगे। राजन् ! भगवान् की अनुज्ञा पाकर मैं तीर्थाटन करने निकला हूं। तीर्थयात्रा कर मैं पुनः वहीं चला जाऊँगा—इतना कहकर मुनि मौन हो गए। महाराज भरत ने कहा—'मुने ! आप भगवान् ऋषभ के चरणों में मेरा वन्दन निवेदित करें।'

महाराज भरत चैत्य से अपने निवास-स्थान पर आ गए और गुप्तचरों की प्रतीक्षा करने लगे। उन्होंने वहाँ कई दिन बिताए।

○ ○

दशमः सर्गः

१. पताकिनी श्रीभरतेश्वरस्य , सीमान्तरं तक्षशिलाधिपस्य ।
सा शङ्कमाना मुहुराससाद , वधूर्नवोढेव विलासगेहम् ॥

भरत चक्रवर्ती की सेना बार-बार शंकित होती हुई बाहुबली की सीमा में प्रविष्ट हुई, जैसे नववधू विलासगृह (शयनकक्ष) में शंकित होती हुई प्रविष्ट होती है ।

२. तत्काननान्ता युगपत्तदीयैः , सैन्यैरगम्यन्त सविभ्रमाङ्काः ।
शनैर्विलासैरिव कामिनीनां , तारुण्यलावण्यजुषः प्रतीकाः ॥

भरत की सेना ने पक्षियों के आवागमन के स्थान वाले उस कानन के छोर को एक साथ धीरे-धीरे प्राप्त किया, जैसे कामिनी स्त्रियों के विलास यौवन की लवणिमा से युक्त अवयवों को प्राप्त करते हैं ।

३. रजस्वलाः काननवल्ल्य एता , एषामदृश्याः किल मा भवन्तु ।
इतीव वाहैः पवनातिपातैर्नभो ललम्बे परिहाय भूमिम् ॥

'ये वन-लताएं रजस्वला हैं (रजयुक्त हैं), अतः सैनिकों के लिए अदर्शनीय न हों'—मानो कि यह सोचकर भरत की सेना के वायु से तेज चलने वाले घोड़े भूमि को छोड़कर आकाश में उछलने लगे ।

४. कदर्थिता सा वनराजिरुच्चैर्नवोढकन्येव बलैस्तदीयैः ।
हठात्तशाखाकवरी[1] तदानीं , चुक्रोश गाढं वयसां[2] विरावैः ॥

जैसे नायक नई वधू की वेणी पकड़कर उसकी कदर्थना करता है वैसे ही भरत की सेना ने उस वनराजि की शाखा रूपी वेणी को बलपूर्वक पकड़कर उसकी कदर्थना की । तब वह वनराजि पक्षियों के घोर कलरव से चीख उठी ।

१. कवरी—वेणी ।
२. वयसां—विहङ्गमानाम् ।

५. चमूचरान् केतक[1]कण्टकैः सा, तुतोद[2] यूनो वनराजिलक्ष्मीः ।
किलोपरिष्टात् पततो विमर्दान्, नखैरिवात्यन्तकठोरधारैः ॥

जब सेना उस उद्यान में प्रविष्ट हुई तब सेना के युवक सुभट वहाँ के केतकी के वृक्षों से संघट्टन कर चलने लगे। उस संघट्टन से उस वृक्ष के कांटे ऊपर से नीचे गिरने लगे। उस वनराजि की लक्ष्मी ने उन युवक सुभटों को नखों की भांति अत्यन्त कठोर अग्रभाग वाले केतकी के कांटों से पीड़ित किया।

६. फुल्ललतामण्डपमध्यमीये, केचिन्निषेदुर्निलयाभिरामे ।
महीरुहस्कन्धनिबद्धवाहाः, सुरा इव स्वर्गवनान्तराले ॥

जैसे देव अपने नन्दनवन के अन्तराल में आनन्दपूर्वक बैठे रहते हैं, वैसे ही कई सुभट अपने-अपने घोड़ों को वृक्षों के तनों से बाँधकर, घर की भांति मनोज्ञ उस विकसित लतामंडप के बीच में आनन्दपूर्वक बैठ गए।

७. श्रान्ताः प्रसूनास्तरणेषु[3] केचित्, महाभुजः संविविशुः सुखेन ।
नागाः सरस्या इव तीरदेशे, महीरुहच्छायनिवारितोष्णे ॥

जैसे आतप को निवारित करने वाले सघन छायादार वृक्षों से युक्त सरोवर के तीर पर हाथी सुखपूर्वक सो जाते हैं वैसे ही कुछ थके हुए शक्तिशाली सुभट वहाँ फूलों के बिछौने पर सुखपूर्वक निद्राधीन हो गए।

८. केचित् तरुच्छायमुपेत्य वीरा, विशश्रमुर्वासरयौवनेऽथ ।
लतावलीनर्तनसूत्रधारैस्तनूकृतस्वेदलवैर्मरुद्भिः ॥

उस मध्याह्न वेला में कुछ सुभट वृक्ष की छाया के नीचे विश्राम करने लगे। तब लतावली को नचाने वाले सूत्रधार पवन ने उनके स्वेद-बिन्दुओं को कम कर डाला।

९. मन्दाकिनीतीरलतालयेषु, केचिन्निलीनाः परितप्यमानाः ।
पटालयान्[4] केऽपि वितत्य वीरा, निषेदिवांसः परितो विहारम् ॥

कुछ सुभट संतप्त होकर गंगा नदी के तट पर स्थित लतागृहों में जा बैठे और कुछ

१. केतकः—केतकी का वृक्ष (केतकः क्रकचच्छदः—अभि० ४।२१८)
२. तुतोद—तुदङ् व्यथने धातोः णबादेः रूपम् ।
३. प्रसूनास्तरणम्—फूलों का बिछौना ।
४. पटालयः—तम्बू ।

वीर सुभट उस विहार के चारों ओर अपने तम्बुओं को तानकर विश्राम करने लगे।

१०. विलासिनीविभ्रमचारुलीला, विलोक्य वीचीः सुरशैवलिन्याः।
केऽपि स्मरन्तस्तुरगाधिरूढा, निपेतुरालेख्यकृता इव द्राक् ॥

कुछ घुड़सवार सुभट गंगा नदी की तरंगों को देखकर अपनी कान्ता के कटाक्ष के मनोज्ञ विलासों को याद करते हुए शीघ्र ही चित्रवत् स्थित हो गए।

११. कालागुरु[1]स्कन्धनिबद्धनागकटेषु[2] पेतुर्मधुपा विहाय।
पुष्पद्रुमान् कोऽपि विशिष्टवस्तुप्राप्तौ प्रमाद्येन्नु ससंज्ञचित्तः ॥

पुष्पित वृक्षों को छोड़कर भ्रमर काले अगर के वृक्षों के तने से बँधे हुए हाथियों के कपोलों पर गिरने लगे। ऐसा कौन सचेतन व्यक्ति होगा जो विशिष्ट वस्तु प्राप्त होने पर प्रमाद करे ?

१२. दूर्वाङ्कुरग्रासनिबद्धकामा, वाहा विचेरुः सरितस्तटेषु।
स्वस्वार्थचिन्ताविधिमाततान, स सैन्यलोकोऽपि तदा समग्रम् ॥

दूब के अंकुरों को खाने में तल्लीन घोड़े नदी के तट पर घूमने लगे। उस समय सैनिक अपने समस्त कार्यों के प्रति दत्तचित्त हो गए।

१३. अथ क्षितीशोऽवरुरोह नागाद्, विलोक्य दूराद् भगवन्निवासम्।
अमीदृशानामुचितक्रियासु, नैपुण्यमाशंसति कोपि किञ्चित् ?

मन्दिर को देखकर दूर से ही महाराज भरत हाथी से नीचे उतर गए। भरत जैसे बुद्धिमान् व्यक्तियों को योग्य कार्य के प्रति निपुणता रखने के लिए क्या कोई भी व्यक्ति कुछ भी निवेदन करता है ? नहीं, वे स्वयं उसका निर्वाह करते हैं।

१४. ततः समग्रा अपि भूमिपाला, यानावरूढा विधिमस्य चक्रुः।
अधीश्वराचीर्णमलङ्घनीयं, सेवापरैः कृत्यमिह ह्यशेषम् ॥

यह देखकर वाहनों पर चढ़े हुए सभी राजाओं ने भरत की विधि का अनुसरण किया—सभी अपने-अपने वाहनों से नीचे उतर गए। क्योंकि सेवापरायण व्यक्ति अपने स्वामी के किसी भी आचरण का कभी उल्लंघन नहीं करते।

---

१. कालागुरुः—काले अगर का वृक्ष।
२. कटः—हाथी का गण्डस्थल (गण्डस्तु करटः कटः—अभि० ४।२८१)

१५. सर्वोत्तरासङ्गविधिं विधाय, विवेश राजा जिनराजवेश्म ।
स निर्वृतेरास्यमिवाभिरुच्यं, सुवर्णभास्वत्कमनीयताढ्यम् ॥

महाराज भरत ने सारी उत्तरासंग-विधि[3] सम्पन्न कर मन्दिर में प्रवेश किया। वह मन्दिर मोक्ष के मुख की भांति मनोज्ञ, स्वर्ण की तरह देदीप्यमान और सुन्दरता से परिपूर्ण था।

१६. प्रदक्षिणीकृत्य धराधिपस्त्रिश्चकार पञ्चाङ्गनतिं युगादेः ।
तीर्थेशनत्यैव हि नम्रभावं, भजन्ति भूपा अपि शुद्धिमत्या ॥

महाराज भरत ने तीन बार प्रदक्षिणा कर ऋषभ को पंचांग[4] नमस्कार किया। क्योंकि तीर्थंकर को पवित्रतायुक्त नमस्कार करने से ही राजा भी दूसरे राजाओं से नमस्कृत होते हैं।

१७. न चातिदूरान्तिकसन्निषण्णः, संयोज्य पाणी भरताधिराजः ।
तुष्टाव तीर्थेशमिति प्रतीतैः, पदैरनेकैः किलताररावैः[5] ॥

महाराज भरत ऋषभ की प्रतिमा के सम्मुख, न अति दूर और न अति निकट, हाथ जोड़कर बैठ गए। उन्होंने उच्च स्वर से अनेक परिचित पदों द्वारा तीर्थंकर ऋषभ की स्तुति की—

१८. भवं तितीर्षोर्भविनस्त्वमेवाधारस्त्रिविश्वार्च्यपदारविन्द ! ।
त्वमेव पाता तमसस्त्रिलोक्याः, सृष्टेर्विधाता भवतो न चान्यः ॥

'तीनों लोकों में पूजनीय चरण वाले भगवन् ! संसार रूपी भव से तैरने के इच्छुक प्राणियों के लिए तुम ही आधार हो। तुम ही तीनों लोकों को अन्धकार (पाप) से उबारने वाले हो। तुम से भिन्न कोई सृष्टि का विधाता नहीं है।'

१९. त्वमेव संसारदवाग्निदाहप्रशान्तये वारिदवारिधारा ।
त्वमेव पीताब्धिरघाम्बुराशिशोषैकदक्षस्त्वविधोर्जिनेन्द्र ! ॥

---

१. निर्वृतिः—मोक्ष ।
२. अभिरुच्यं—मनोज्ञम् ।
३. उत्तरीय वस्त्र को मुंह पर बांधना ।
४. पांच अंग—दो हाथ, दो घुटने और एक मस्तक ।
५. पाठान्तरं—ताररावः ।

'भगवन् ! संसार रूपी दावाग्नि को बुझाने में सक्षम तुम ही पानी बरसाने वाले मेघ हो। जिनेन्द्र ! तुम ही पाप के समुद्र को सुखाने में निपुण अगस्त्य ऋषि हो।'

२०. त्वमेव नैयायिकवाक्प्रपञ्चैर्विभुः प्रमेयोऽसि लसत्प्रताप ! ।
त्वमेव भोक्ता शिवसंपदो हि, वेदान्तसिद्धान्तमताभितर्क्य ! ।।

'हे तेजस्विन् ! नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार तुम विभु—सर्वव्यापी और प्रमेय—प्रमिति के विषय हो। हे वेदान्त सिद्धान्तमत से अभितर्क्य ! तुम ही मोक्ष संपदा के भोक्ता हो।'

२१. त्वमेव मोक्ता भवदुःखराशेस्त्वमेव तीर्णः कलि[1]वारिराशिम् ।
त्वमेव चन्द्रस्तरणिस्त्वमेव, तमोहरत्वाज्जगदीश ! तात ! ।।

'देव ! तुम ही संसार के दुःखों से मुक्त कराने वाले हो। तुम विवाद के समुद्र को तैर गए हो। हे जगदीश ! अन्धकार का नाश करने के कारण तुम ही चन्द्रमा हो और तुम ही सूर्य हो।'

२२. दुरुत्तरोऽयं भववारिनाथस्त्वयैव तार्यः सकषायमीनः ।
मनोभवोल्लोलभरातिभीष्मो, वोहित्थकेनेव[2] युगादिदेव ! ।।

'हे युगादिदेव ! यह संसार-समुद्र कषाय रूपी मत्स्यों से भरा पड़ा है। यह कामवासना के कल्लोलों से अत्यन्त दारुण और दुरुत्तर है। देव ! तुम ही नौका बनकर प्राणियों को इससे पार पहुँचा सकते हो।'

२३. स्तुत्वा च नत्वा च[3] युगादिदेवममन्दमामोदमुवाह भूपः ।
निस्तोकलोकस्पृहणीयभावं[4], पीयूषधामानमिव प्रदोषः ।।

ऋषभदेव की स्तुति और वन्दना कर महाराज भरत वैसे ही अत्यन्त आनन्दित हो उठे जैसे प्रदोष (संध्या) समग्रलोक में कमनीय स्वरूप वाले चन्द्रमा को पाकर आनन्दित हो उठता है।

---

१. कलिः—युद्ध, विवाद (युद्धं तु संख्यं कलिः—अभि० ३।४६०)
२. वोहित्थं—नौका (वोहित्थं वहनं पोतः—अभि० ३।५४०)
३. द्वौ चकारौ तुल्यकालं द्योतयतः ।
४. यह विशेषण 'आमोद' के साथ भी लग सकता है। वहां 'भाव' का अर्थ होगा अभिप्राय—पञ्जिका पत्र ३८—इदं विशेषणमामोदस्यापि तत्र पक्षे भावोभिप्रायः ।

२४. करद्वयीचालितचामरौघपाञ्चालिका[1] शाश्वतताण्डवाढ्यम् ।
तुलीकृतप्राक्चरमाद्रिलक्ष्मि, चन्द्रोपलश्याममणि[2]प्रभाभिः ॥
२५. विचित्रचित्रार्पितचित्तचित्रं, दीप्रप्रभाजालहसद्विमानम् ।
कल्याणशैलोन्नतजातरूपभित्तिद्युतिव्रातहृतान्धकारम् ॥
२६. शृङ्गाग्रदेशार्पितहेमकुम्भं, स्फुरत्पताकापटकिङ्किणीजुक्[3] ।
महामणिस्तम्भविनिर्यदंशुचरिष्णुचामीकरतोरणाङ्कम् ॥
२७. कल्पद्रुमच्छायतिरोहितार्करत्नोष्णरश्मि[4]ज्वलनातिरिक्तम् ।
भूपीठनद्धैः क्वचिदिन्द्रनीलैर्दर्साकन्या[5]जलवीचिशङ्कम् ॥
२८. चन्द्रोदयोल्लासितमण्डपश्रि, नेत्रोत्सवारम्भिगवाक्षदेशम् ।
निर्णिक्त[6]मुक्ताफलक्लृप्तजालं, ददर्श तीर्थेशगृहं नरेशः ॥

—पञ्चभिः कुलकम् ।

महाराज भरत ने ऋषभदेव के मन्दिर को देखा। वहाँ दोनों हाथों से चामरों को डुलाती हुई पुतलियाँ सदा नृत्य करती थीं। चन्द्रकान्त और वैडूर्य रत्नों की प्रभाओं से वह मंदिर उदयाचल और अस्ताचल की शोभा को सदृश कर रहा था।

उस मंदिर के विविध आलेख मन को विस्मित करने वाले थे। वहाँ के दीपकों का कांति-समूह देवलोक को भी पराभूत कर रहा था। सुमेरु पर्वत की भाँति उन्नत स्वर्ण भित्तियों की द्युति से वहाँ का सारा अंधकार नष्ट हो रहा था।

उस मंदिर के शिखर पर स्वर्णकलश चढ़ा हुआ था। छोटी घंटिकाओं (घुघुरुओं)से युक्त ध्वजा शिखर पर फहरा रही थी। वह मंदिर मणिमय विशाल स्तंभों से निकलने वाली किरणों से चमकते हुए स्वर्ण के तोरण से युक्त था।

वह मंदिर कल्पवृक्ष की छाया से तिरोहित था। अतः सूर्य सूर्यकान्त मणि में ज्वलन पैदा नहीं कर पा रहा था। कहीं-कहीं भूतल पर जड़े हुए इन्द्रनील रत्नों के कारण यमुना नदी की तरंगों की आशंका पैदा हो जाती थी।

वह मंदिर चन्द्रमा के उदय से उल्लसित मण्डप की शोभा की भाँति सुशोभित था।

---

१. पाञ्चालिका—पुतली (सालभञ्जी पाञ्चालिका च पुत्तिका—अभि० ४।८०)
२. श्याममणिः—वैडूर्यरत्न (पंजिका पत्र ३८)
३. किङ्किणी—घुंघुरू (किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका—अभि० ३।३२६)
४. अर्करत्नं—सूर्यमणि। उष्णरश्मिः—सूर्य।
—यमुना।
—स्वच्छ, शोधित (निर्णिक्तं शोधितं मृष्टम्—अभि० ६।७३)

उसके वातायन आंखों में उत्सव पैदा करने वाले थे। मंदिर की जालियां निर्मल मोतियों से निर्मित थीं।

२९. धन्यः स येनारचि चैत्यमीदृक्, तेनैव लक्ष्म्याः फलमप्यवापि।
कर्त्तुः प्रशंसामिति सार्वभौमो, विनिर्ममे क्षोणिभुजां समक्षम्॥

राजाओं के समक्ष चैत्य के निर्माता की प्रशंसा करते हुए महाराज भरत ने कहा—'धन्य है वह जिसने ऐसे चैत्य का निर्माण किया है। उसने ही अपने धन का फल पाया है।'

३०. विहारमध्ये विजहार राजा, पदानि रम्याणि विलोकमानः।
वसुन्धराधीशपरिच्छदाढ्यः[1], स्वर्मेदिनीनाथ इवामराद्रौ[2]॥

अनेक राजाओं के परिवार से परिवृत महाराज भरत रमणीय स्थानों को देखते हुए चैत्य में वैसे ही घूम रहे थे जैसे इन्द्र मेरु पर्वत पर क्रीड़ा के लिए घूम रहा हो।

३१. आसेदिवांसं मणिहेममय्यां, वेद्यामवेदावधृतावधानम्[3]।
मुक्तेः शिलायामिव सिद्धमन्तर्महोभरोद्दीपितदिग्विभागम्॥
३२. कल्याणगौरं वपुरुद्वहन्तं, स्थिरं सुवर्णाद्रिमिवातितुङ्गम्।
मन्दाकिनीवीचिभरातिगौरध्यानद्वयीप्रापितचित्तवृत्तिम्॥
३३. ललाटपट्टोन्नतिमत्त्वसूचिभाग्यश्रियं भासुरदीप्तिमन्तम्।
तेजोभिराशान्तविसारिभिर्द्राङ्, मुनिस्थितेर्दीपमिवातिदीप्तैः॥
३४. युवानमिन्दीवरपत्रनेत्रमाजानुबाहुं[4] धृतिकेलिसद्म।
शृङ्गारजन्माधिकरूपलक्ष्म्या, वारां निधिं वारितवैरिवेगम्॥
३५. तृणीकृतस्त्रैणरसं रसस्य, शान्तस्य राजा नवराजधानीम्।
विलोक्य विद्याधरसाधुधुर्यं, ननाम निम्नोत्तमकायदेशः[5]॥

—पञ्चभिः कुलकम्।

महाराज भरत ने विद्याधर साधु-प्रवर को देखा। उन्हें शिर झुकाकर प्रणाम किया। रत्न और स्वर्णमय स्वच्छ वेदी पर बैठे हुए वे विद्याधर मुनि ऐसे लग रहे थे मानो कि

---

१. परिच्छदः—परिवार (परिच्छदः परिबर्हः—अभि० ३।३८०)
२. अमराद्रिः—मेरुपर्वत।
३. अवेदावधृतावधानम्—अवेदेषु—सिद्धेषु, अवधृतं—आरोपितं, अवधानं—समाधानं, येन, असौ, तम्।
४. आजानुबाहुं—जानुविलंबिभुजद्वयम्।
५. पाठान्तरं—नम्रोत्तम···।

सिद्ध पुरुष मुक्तिशिला पर बैठे हों। वे सिद्धों की ओर ध्यान केन्द्रित किये हुए थे। वे अपने भीतर से निकलने वाले किरण-समूहों से दिग्-विभागों को प्रकाशित कर रहे थे।

उनका शरीर स्वर्ण की भांति गौर वर्ण वाला था। वे अत्यन्त उन्नत और मेरुपर्वत की भांति अडोल थे। उनका चित्त गंगा की तरगों की तरह शुभ्र धर्म्यध्यान और शुक्ल-ध्यान में लीन था।

उनका उन्नत ललाट भाग्य रूपी लक्ष्मी की सूचना दे रहा था। वे देदीप्यमान, मनोज्ञ, अत्यन्त तेजस्वी, दिगन्तों में फैलने वाली तेज राशि से युक्त और मुनि-मर्यादा के लिए दीपक के समान थे।

वे मुनि तरुण थे। उनकी आँखें कमल-पत्र के समान विशाल थीं। उनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं। वे धैर्य के क्रीडास्थल और कामदेव से भी अधिक रूपलक्ष्मी के समुद्र थे। उन्होंने वैरियों के प्रवाह को निवारित कर दिया था।

उन्होंने स्त्रियों के प्रति होने वाली आसक्ति को नष्ट कर डाला था और वे शान्तरस की नई राजधानी के समान थे।

३६. नत्वाथ साधुं निषसाद भूपः, पुरो धरोत्सङ्गमनूनभक्तिः।
न चौचिताधानविचक्षणत्वं[1], सन्तः प्रभुत्वादिह विस्मरन्ति ॥

महाराज भरत परिपूर्ण भक्ति से मुनि को नमस्कार कर उनके आगे पृथ्वी की गोद में बैठ गए। महान् व्यक्ति अपनी प्रभुता के कारण योग्य कार्य करने की निपुणता को कभी नहीं भूलते।

३७. प्रज्ञावतां प्राग्रहर[2]स्तमूचे, पुरावलोकादुपलक्ष्य चक्री।
दृष्टं श्रुतं वस्तु न विस्मरन्ति, मनस्विनः सर्वविदां हि तुल्याः ॥

प्रज्ञावान् व्यक्तियों में श्रेष्ठ चक्रवर्ती भरत ने, पहले देखे हुए होने के कारण, विद्याधर मुनि को पहचान कर कुछ कहा। क्योंकि मनस्वी पुरुष दृष्ट और श्रुत वस्तु को कभी नहीं भूलते। वे सर्वज्ञ-तुल्य होते हैं।

---

१. औचिताधानविचक्षणत्वं—योग्यताकरणचातुर्यम्।
२. प्राग्रहरः—श्रेष्ठ, प्रधान (अनुत्तरं प्रागहरं प्रवेकं—अभि० ६।७४)

३८. दृष्टः पुरा त्वं विजयार्धशैले, विद्याधराधीश ! नमेरनीके ।
भटा मम त्वद्भुजचण्डिमानमद्यापि संस्मृत्य शिरो धुनन्ति ॥

भरत ने कहा—'हे विद्याधरों के अधिपति ! मैंने आपको इससे पूर्व वैताढ्य पर्वत पर राजा नमि की सेना में देखा था। आज भी मेरे सुभट आपकी भुजाओं की प्रचण्ड शक्ति का स्मरण कर अपने शिर को धुनने लग जाते हैं।'

३९. अंसौ त्वदीयौ विजयप्रशस्तेः, स्तम्भावभूतां भरतार्धशैले ।
सर्वत्र विद्याधरराजलक्ष्मीकरेणुकासंयमनाय सज्जौ ॥

'मुने ! आपके ये दोनों बाहु वैताढ्य पर्वत पर विजय-प्रशस्ति के स्तम्भ थे। ये सर्वत्र विद्याधरों की राज्यलक्ष्मी रूपी हथिनी को नियंत्रित करने के लिए सज्जित थे।'

४०. युवासि विद्याधरमेदिनीश !, वैराग्यरङ्गः समभूत् कुतस्ते ।
रसाधिराजं[1] हि विना कुतोऽत्र, सिद्धिर्भविष्यत्यनघा[2]ऽर्जुनस्य[3] ॥

'हे विद्याधरनाथ ! आप अभी युवा हैं। आपको वैराग्य का रंग कैसे लगा ? क्योंकि पारद के विना स्वर्ण की निर्मल सिद्धि कहाँ से हो सकती है ?'

४१. विद्याभृतामीश ! वदामि किं ते, स्वजन्मनः प्रापि फलं त्वयैव ।
यन्मादृशैरत्र हृदाप्यवाह्यं, स्थलैरिवाम्भः सरसीवरेण ॥

'हे विद्याधरनाथ ! मैं आपको क्या कहूं, आपने ही अपने जन्म का यथार्थ फल प्राप्त किया है। मेरे जैसा व्यक्ति मुनिपन को मन से भी वहन नहीं कर सकता, जैसे ऊँची भूमि पर स्थित तालाब पानी को वहन नहीं कर सकता।'

४२. केपीह भोगानसतः कमन्ते, सतोऽपि केचित् परिहाय शान्ताः ।
तेषामपूर्वं[4] सुरराजकन्यास्तानेव कैवल्यवधूरपीच्छेत् ॥

'विचित्र है यह संसार ! यहाँ कुछ मनुष्य अप्राप्त भोगों की कामना करते हैं और कुछ मनुष्य प्राप्त भोगों को छोड़कर उपशान्त हो जाते हैं। इनमें अपूर्व—दूसरे प्रकार

---

१. रसाधिराजः—पारद
२. अनघा—पवित्रा।
३. अर्जुनं—स्वर्ण (अर्जुननिष्ककार्तस्वरकर्बुराणि—अभि० ४।११०)
४. अपूर्वे—अप्रथमा, अत्र वृत्ते प्रथमं भोगवांछका उक्ताः, तदन्ये त्यागिनः।

के पुरुष (जो प्राप्त भोगों का त्याग करते हैं) वे इन्द्रों द्वारा पूजनीय होते हैं और उन्हें ही कैवल्य रूपी वधू वरण करना चाहती है।'

४३. धिगस्तु तृष्णातरलं तदीयं, मनो मनोजन्म[1]पिशाचसङ्गात्।
लीलावतीभिः परिभूय येषां, वैराग्यलीला दलिता क्षणेन॥

'मुने! स्त्रियों ने कामदेव रूपी पिशाच के संग से जिन पुरुषों के मन को पराभूत कर उनकी वैराग्यलीला को क्षण भर में ही नष्ट कर डाला, उन पुरुषों के तृष्णा-तरलित मन को धिक्कार है।'

४४. अङ्गारधानी[2]स्तपसां वधूस्त्वं, हित्वा तपस्वित्वमुरीचकर्थ।
तच्छ्लाघनीयोऽत्र भवानशेषैस्त्यागी न केनाप्यवमाननीयः॥

'मुने! तप को जलाने के लिए अंगीठी के सदृश वधूओं का त्यागकर आप तपस्वी बने हैं।' आप समस्त पुरुषों द्वारा श्लाघनीय हैं। किसी भी व्यक्ति को त्यागी पुरुष की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।'

४५. तारुण्यलीलाः सकला अपि त्वां, रुन्धन्ति नो भीरुलताप्रतानैः।
इतीह चित्रं हृदये न माति, ममाऽपि विद्याधरनाग! किञ्चित्॥

'हे विद्याधरों में श्रेष्ठ! मेरे हृदय में यह आश्चर्य नहीं समा रहा है कि यौवन की समस्त लीलाएँ, स्त्रियों के लता वितान से, आपको आच्छादित क्यों नहीं करतीं?' आपको मुनि-मार्ग में जाने से क्यों नहीं रोकतीं?'

४६. शौर्याब्जिनीखण्डसरोवरस्त्वमत्रापि कंदर्पशरापनुन्त्यै।
शक्तो हि सर्वत्र परां विभूषां, लभेत लक्ष्मीमिव वासुदेवः॥

'मुने! आप इस तरुण अवस्था में पराक्रम रूपी कमलिनियों के सरोवर के समान होकर भी कामदेव के बाणों का भेदन करने में समर्थ हैं, जैसे वासुदेव सर्वत्र लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, वैसे ही आप सर्वत्र परम शोभा को प्राप्त कर रहे हैं।'

४७. त्वच्चित्तवृत्तिप्रथमाद्रिचूलां, शमांशुमाली समुदेत्युपेत्य।
ततोऽस्मदीयं हृदयारविन्दं, विकासितामेति विलोकनेन॥

---

१. मनोजन्म—कामदेव।
२. अङ्गारधानी—अंगीठी (हसन्यङ्गाराच्छकटीधानीपात्यो हसन्तिका—अभि० ४।८६)।

'मुने ! शान्तरस का सूर्य आपकी चित्तवृत्ति रूपी उदयाचल को प्राप्त कर उदित होता है। इसलिए हमारे हृदय-कमल आपके दर्शन मात्र से विकसित हो जाते हैं।'

४८. त्वमेव साधो ! समलोष्टरत्नः, स्त्रैणे[1] तृणे साम्यमुपैषि शश्वत्।
तत् सिद्धिवध्वां भवतोभिलाषः, संसिद्धिमेष्यत्यचिराद् भवेऽस्मिन्॥

'मुने ! आप पत्थर और रत्न तथा स्त्री और तृण में सदा समभाव रखते हैं। इसीलिए इसी भव में सिद्धि-रूपी वधू को वरण करने की आपकी अभिलाषा शीघ्र ही पूरी हो जाएगी।'

४९. गीर्वाणनाथादपि सार्वभौमात्, सुखं मुनेरभ्यधिकं जगत्याम्।
गवां प्रपञ्चं त्विति तीर्थनेतुः, पिबामि पीयूषमिवेन्दुबिम्बात्॥

'इस संसार में मुनि का सुख इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख से भी अधिक है। इसलिए मैं तीर्थनाथ ऋषभ की वाणी के विस्तार का उसी आदर से पान करता हूँ जैसे चन्द्रमा के अमृत का पान किया जाता है।'

५०. इच्छामि चर्यां भवतोपपन्नां, कर्माणि मे नो शिथिलीभवन्ति।
तैरेव बद्धो लभतेऽत्र दुःखं, जीवस्तु पाशैरिव नागराजः॥

'मुने ! मैं आप द्वारा स्वीकृत चर्या को पाना चाहता हूँ, किन्तु मेरे कर्म शिथिल नहीं हो रहे हैं। जैसे बंधनों से बँधा हुआ हाथी दुःख पाता है वैसे ही कर्मों से बँधा हुआ संसारी जीव संसार में दुःख पाता है।'

५१. यतोऽत्र सौख्यं तत एव दुःखं, यतोऽत्र रागस्तत एव तापः।
यतोऽत्र मैत्री तत एव वैरं, तत्सङ्गिनो ये न त एव धन्याः॥

'मुने ! इस संसार में जो सुख के कारण हैं, वे ही दुःख के कारण हैं, जो राग के हेतु हैं, वे ही ताप के हेतु हैं और जो मैत्री के कारण हैं, वे ही वैर के कारण हैं। जिनके ये सब नहीं हैं, वे ही इस ससार में धन्य हैं।'

५२. कोपानलः क्षान्तिजलेन कामं, निर्वापितो मार्दवसिंहनादात्।
मदद्विपः शाठ्यतरुस्त्वदम्भपरश्वधेनादलि[2] लोभमुक्त !॥

---

१. स्त्रैणं—स्त्रीणां समूहः।
२. परश्वधः—परशु (परश्वधः स्वधितिश्च—अभि० ३।४५०)

'हे लोभमुक्त मुने ! आपने क्रोध रूपी अग्नि को क्षमा के जल से सर्वथा उपशान्त कर दिया है। आपने मान रूपी हाथी को मार्दव के सिंहनाद से पराजित कर दिया है और आपने माया रूपी वृक्ष का ऋजुता के परशु से उच्छेद कर दिया है।'

५३. अस्मादृशाः संप्रति राज्यलीलाकूलङ्कषाकूलमहीरुहन्ति ।
चेद् भद्रभाजः खलु तत्र तर्हि, तातप्रसादाच्छिवगा भवद्वत् ॥

'मुने ! हमारे जैसे व्यक्ति तो आज राज्यलीला रूपी नदी के तट पर वृक्ष की भाँति हैं। यदि वहाँ भी हम कल्याण के इच्छुक हों तो पूज्य पिताश्री की कृपा से आपकी भाँति मोक्षपक्ष के अनुगामी हो सकेंगे।'

५४. त्वया तपस्या जगृहे मुनीश !, कस्यान्तिके कस्तवशान्तहेतुः ?
अत्र प्रदेशे कथमागमस्ते, तत् सर्वमाशंस ममाग्रतस्त्वम् ॥

'मुनीश ! आपने किसके पास तपस्या (दीक्षा) स्वीकार की ? आपके शान्तरस का हेतु कौन है ? आप इस प्रदेश में क्यों आए हैं ? आप यह सब मुझे बतायें।'

५५. एतावदुक्त्वा विरते क्षितीशे, मुनिर्मुखं मुद्रयतिस्म वाचा ।
निजप्रवृत्तिप्रथिमानमुच्चैरित्युद्वहन्त्या खमिव त्विषेन्दुः ॥

इस प्रकार कहकर महाराज भरत विरत हुए। मुनि ने अपना मुँह खोला। जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से आकाश को प्रकाशित करता है वैसे ही मुनि की वाणी उनके चरित्र की गरिमा का प्रचुर उद्वहन कर रही थी, प्रकाशित कर रही थी।

५६. पृच्छापरश्चेद् भरताधिराज !, त्वं तर्हि सर्वां शृणु मत्प्रवृत्तिम् ।
पृच्छापराणां पुरतो हि वाक्यं, प्रणीयमानं सुभगत्वमेति ॥

'हे भरत क्षेत्र के अधिपति भरत ! यदि तुम पूछना ही चाहते हो तो मेरे समूचे वृत्तान्त को सुनो। क्योंकि प्रश्न करने वालों के समक्ष ही कहा जाने वाला वाक्य सौभाग्यशाली होता है।'

५७. भूभृत्सुनासीर ! रणं विधाय, समं त्वया शूरिमवारिराशिः ।
नमिः सबन्धुर्बुबुधे तदानीमेकान्तराज्यं नरकान्तमेव ॥

'हे राजाओं के इन्द्र भरत ! तुम्हारे साथ युद्ध करने के बाद, पराक्रम के समुद्र नमि और विनमि ने राज्य को एकान्ततः नरक ही माना।'

५८. मयापि तन्मार्ग उरीकृतोऽयं, चन्द्रातपेनेव तुषारभानुः ।
स्वनन्दनेषु[1] प्रतिरोप्य राज्यं, वयं विरक्ता अभवाम राजन् ! ।।

'राजन् ! अपने-अपने पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर हम (मैं, नमि और विनमि) सब विरक्त हो गए। जैसे चाँदनी चन्द्रमा के मार्ग का अनुसरण करती है, वैसे ही मैंने भी उनके इस मार्ग का अनुसरण किया है।'

५९. त्रयोपि हंसा इव राज्यभारसरोवरं तं परिहाय लीनाः ।
युगादिदेवं चरणैकलीलां, विधातुमाकाशपथेन सद्यः ।।

'राजन् ! इस राज्य भार रूपी सरोवर को छोड़कर हम तीनों (मैं, नमि और विनमि) ऋषभ के चरणों में लीन हो गए हैं। जैसे हंस सरोवर को छोड़कर आकाशमार्ग में क्रीड़ा करने के इच्छुक होते हैं वैसे ही हम संयम में क्रीड़ा करने के इच्छुक हो गए है।'

६०. युगादिदेवं व्रतमेत्य बुद्धा, एवं त्रयोऽपि व्रतमाचराम ।
संसारतापातुरमानवानां, जिनेन्द्रपादा अमृतावहा हि ।।

'राजन् ! इस प्रकार हम ऋषभ क पास पहुँचे और शीघ्र ही संबुद्ध हो गए। उनसे हमने दीक्षा स्वीकार करली। क्योंकि ससार के ताप से व्याकुल मनुष्यों के लिए जिनेन्द्र देव के चरण मोक्ष-प्रदाता होते हैं।'

६१. युगादिनेतुश्चरणारविन्दे, वयं त्रयोऽपि भ्रमरायमाणाः ।
अमन्दमामोदमदध्म कामं, नित्यं त्वतिष्ठाम सुनिश्चलाशाः ।।

'हम तीनों ऋषभदेव के चरण-कमल में भ्रमर की भाँति लुब्ध हैं। हम वहाँ सदा प्रचुर आनन्द का अनुभव करते हैं और हमारे भाव सुनिश्चल हैं।'

६२. अधीत्य पूर्वाणि चतुर्दशापि, निःशेषसिद्धान्तरसं निपीय ।
वयं विनीता व्यहराम भूमीपीठे समं श्रीजगदीश्वरेण ।।

'हमने चौदह पूर्वो का अध्ययन कर सम्पूर्ण सिद्धान्त के रस का पान किया है। अब हम विनीत भाव से जगदीश्वर के साथ-साथ पृथ्वी तल पर विहार करने लगे है।'

---

१. पाठान्तरं—स्वनन्दनेभ्यः ।

६३. सर्वत्र योगे सुयता महीश !, प्रणीतमार्ग[1] त्वचराम शीलैः ।
तपो द्विधा दुस्तपमाचराम, क्रियासु नालस्यमुपाचराम ॥

'हे राजन् ! हम सर्वत्र मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में संयत हैं । हम तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग का साधुवृत्ति से आचरण करने लगे । हमने दोनों प्रकार की (बाह्य और आभ्यन्तर) तपस्याओं में कठोर तप तपा है । हम आवश्यक क्रियाओं में कभी प्रमाद नहीं करते ।'

६४. चामीकराम्भोजनिवेशितांह्रिपद्मः सपद्मः सदनं गुणानाम् ।
वारामिवाब्धिर्गणनातिगानां, प्रणामयन् वैरिचयानिव द्रून् ॥

६५. त्रिछत्रराजी पुरुहूतहस्तविधूतवालव्यजनः समन्तात् ।
भामण्डलं भानुविडम्बि बिभ्रत्, सधर्मचक्रं निहताघचक्रम् ॥

६६. अथान्यदा सर्वसुरासुरेन्द्रैः[2], संसेव्यमानांह्रिरलंचकार ।
लक्ष्मीप्रभोद्यानमनूनलक्ष्मि, देवो नभोमध्यमिवांशुमाली ॥

—त्रिभिर्विशेषकम् ।

'स्वर्ण-कमल पर पैर रखकर चलने वाले, श्री-सम्पन्न, जल के लिए समुद्र की भाँति असंख्य गुणों के आश्रय, शत्रु-समूह की भाँति वृक्षों को प्रणत करते हुए, तीन छत्रों से शोभित, चारों ओर इन्द्र के हाथों द्वारा चामर से वीजित, सूर्य को विडंबित करने वाले प्रभामंडल और पाप-चक्र को प्रहृत करने वाले धर्म-चक्र को धारण करने वाले, सब सुर और असुर इन्द्रों द्वारा सेवित भगवान् ऋषभ ने किसी समय परिपूर्ण शोभावाले इस 'लक्ष्मीप्रभ' उद्यान को अलंकृत किया था, जैसे आकाशमध्य को अंशुमाली अलंकृत करता है ।'

६७. प्रावोचमन्येद्युरिति प्रणम्य, नाभेयदेवं नतविश्वदेवम् ।
भवन्निदेशाद् भगवन् ! मदीयस्तीर्थेषु कामोस्ति गुणेष्विवार्थः[3] ॥

एक बार समस्त देवों द्वारा वन्दनीय ऋषभदेव को वन्दना कर मैंने कहा—'भगवन् ! आपकी आज्ञा से मैं तीर्थों में जाना चाहता हूँ, जैसे गुणों में सम्पदायें जाती हैं ।'

६८. इतीरितं मे विनिशम्य लाभालाभादिविज्ञानविशेषदक्षः ।
युगादिदेवः किल मां जगाद, यदृच्छया वत्स ! चरेति तीर्थे ॥

१. पाठान्तरम्—सर्वत्र योगेष्वयातमहीशप्रणीतमार्गं—सर्वत्र योगेषु—मनोवाक्कायनिरोधाख्येषु, अयतामहि—प्रयत्नं कृतवन्तः······ईशप्रणीतमार्गं — प्रभुकथिताध्वानम्—पंजिका पत्र ४० ।
२. सर्वसुरासुरेन्द्रैः—सकलवैमानिकभुवनपतिनाथैः ।
३. गुणेष्विवार्थः—गुणेषु—शौर्यादिषु अर्थ इव, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः इति वचनात् ।

लाभ और अलाभ को जानने में विशेष दक्ष भगवान् ऋषभ ने मेरी बात सुनकर कहा—'वत्स ! तू अपनी इच्छा के अनुसार तीर्थों का पर्यटन कर ।'

६९. आज्ञां तदीयामधिगम्य राजन्निहागतोहं जिनवन्दनाय ।
वाचंयमानां खलु तीर्थयात्रा, फलं मनोज्ञं किमिहान्यदेव ।।

'राजन् ! उनकी आज्ञा पाकर मैं यहां जिनेश्वर देव को वंदन करने आया हूँ । मुनियों की तीर्थ यात्रा का परिणाम मनोज्ञ होता है । उनके लिए इससे बढ़कर और मनोज्ञ है ही क्या ?'

७०. इदं नवं तीर्थमकारि बाहुबलेस्तनूजेन महाबलेन ।
चन्द्रामलं चन्द्रयशोभिधेन, तदीययात्राकृतयेऽहमागाम् ।।

'चन्द्र की भाँति उज्ज्वल इस नए तीर्थ का निर्माण बाहुबली के पराक्रमी पुत्र चन्द्रयशा ने करवाया है । मैं उसकी यात्रा करने के लिए यहाँ आया हूँ ।'

७१. युगादिदेवांह्रिनिषेवणाय, तत्रैव गन्तास्मि पुनर्नरेन्द्र ! ।
विना शशाङ्कं धृतिमुद्वहेत, नान्यत्र कुत्रापि चकोरशावः ॥

'नरेन्द्र ! वहाँ से मैं पुनः वहीं (लक्ष्मीप्रभ उद्यान में) ऋषभ के चरण-कमल की सेवा करने के लिए चला जाऊँगा, क्योंकि चकोर का शिशु चन्द्रमा के बिना कहीं भी धृति (तुष्टि) को प्राप्त नहीं करता ।'

७२. इतीरयित्वा विरतं मुनीन्द्रं, पुनर्ववन्दे भरताधिराजः ।
श्रीतातपादस्य नतिर्मदीया, वाच्या विशेषादिति भाषमाणः ॥

यह कहकर मुनि मौन हो गए । महाराज भरत ने उन्हें पुनः वन्दना करते हुए कहा—'मुने ! ऋषभदेव के चरणों में मेरा विशेष वंदन निवेदित करें ।'

७३. अभ्यर्च्य देवं प्रणिपत्य साधुं, ततः स्वमावासमियाय भूभृत् ।
सर्वेऽपि भूपास्तदनु[1] स्वकेषु, गेहेष्वऽवात्सुर्नृपतेर्निदेशात् ।।

ऋषभदेव की पूजा कर और मुनि को वंदन कर महाराज भरत अपने निवास स्थान पर आ गए । तत्पश्चात् उनकी आज्ञा से सभी राजे अपने-अपने निवास स्थान पर चले गए ।

१. तदनु—तदनन्तरम् ।

कथावस्तु—

गुप्तचर लौटकर आ गए। द्वारपाल ने महाराज भरत को इसकी सूचना दी। गुप्तचर आस्थान मंडप में गए। महाराज भरत ने पूछा—'बताओ ! मेरा भाई बाहुबली नत होना चाहता है या युद्ध लड़ना ?' तब गुप्तचरों में से एक निपुण गुप्तचर ने कहा—'महाराज ! बाहुबली के नत होने की बात ही कहां है। वे तो युद्ध के लिए समुत्सुक हैं। उनके वीर सुभटों में भी अपार उत्साह है। सब युद्ध की तैयारी में लगे हुए हैं। वहां की नारियां भी अपने पुरुष सुभटों के पराक्रम रूपी अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। राजन् ! आपके सभी शत्रु राजे उनसे जा मिले हैं। विद्याधरों का स्वामी रत्नारि भी बाहुबली के पास आ गया है। बाहुबली का प्रधानमन्त्री 'सुमंत्र' अत्यन्त बुद्धिशाली है। उसने बाहुबली को युद्ध न लड़ने की सलाह दी है। किन्तु आपके अनुज किसी की बात मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे आपको रणभूमि में मिलने ही वाले हैं।'

महाराज भरत ने गुप्तचरों की बात सुनी और मन ही मन सोचा—मेरा भाई कैसा मूढ है। वह मेरे आगे कैसे टिक पाएगा ! कहां तो मैं छह भूखण्डों का स्वामी चक्रवर्त्ती और कहां वह एक भूभाग का सामन्त ! कहां सूर्य और कहां एक छोटा सा टिमटिमाता तारा !

० ०

एकादशः सर्गः

१. अथाऽसौ कल्पिताकल्पो[1], विमानमिव वासवः ।
अनूनश्रीभराकीर्णं, तस्थावास्थानमन्दिरम् ॥

२. भूपालकोटिकोटीर[2]पद्मरागप्रभाभरैः ।
प्रभातमिव रक्तांशु, हरत्प्रादुर्भवत्तमः ॥

३. राकामुख[3]मिवोदञ्चच्चन्द्रोदयविराजितम् ।
रत्नमौक्तिकनक्षत्रतारामण्डलमण्डितम् ॥

४. चारुवारवधूधूतचामरांशुकरम्बितम्[4] ।
सुधाम्भोधिरिव क्षीरं, शीतांशुकरचुम्बितम्[5] ॥

५. कुन्देन्दुविशदच्छत्रप्रभामण्डलमण्डितम् ।
विलसद्राजहंसौघं[6], गङ्गातीरमिवाद्भुतम् ॥

—पञ्चभिः कुलकम् ।

महाराज भरत ने वेष बदला । वे अत्यन्त शोभास्पद उस आस्थान मन्दिर में उसी प्रकार आ बैठे जैसे इन्द्र विमान में आ बैठता है ।

वह आस्थान मन्दिर हजारों राजाओं के मुकुटों में जड़े हुए पद्मराग के प्रभा-समूह से प्रभात में उगने वाले लाल सूर्य की भाँति लग रहा था और वह प्रकट होने वाले अंधकार का नाश कर रहा था ।

रत्न-रूपी नक्षत्र और मौक्तिक रूपी ताराओं से भूषित वह आस्थान मन्दिर चन्द्रोदय से शोभित पूर्णिमा की संन्ध्या की तरह शोभित हो रहा था ।

वहाँ सुन्दर वारांगनायें चामर झल रही थीं । उनकी इस क्रिया से प्रस्फुटित किरणों से वह मिश्रित था । उस समय वह ऐसा लग रहा था मानो कि चन्द्रमा की किरणों से संयुक्त क्षीर समुद्र का पानी हिलोरें ले रहा हो ।

---

१. आकल्पः—वेष (वेषो नेपथ्यमाकल्पः—अभि० ३।२९९)
२. कोटीरं—मुकुट (मौलिः किरीटं कोटीरं—अभि० ३।३१५)
३. राकामुखं—पूर्णिमा की संध्या (पूर्णमासिप्रदोषं)
४. करम्बितम्—मिश्रितम् ।
५. शीतांशु……—चन्द्रकिरणसंयुक्तम् ।
६. विलसद्राजहंसौघं—शोभद्नृपालश्रेष्ठसंदोहं । गंगातीरपक्षे—[illegible]

वह श्वेत-पीत चन्द्रमा की भांति निर्मल छत्रों के प्रभामंडल से विभूषित था। वह गंगा नदी के तट की भांति विस्मयकारी लग रहा था। जैसे गंगा नदी के तट पर राजहंसों का समूह क्रीड़ा करता है वैसे ही वहां उत्तम राजाओं के समूह क्रीड़ा करते थे।

६. आस्थानी[1] भरतेशस्य, सुधर्मेव सुरप्रभोः।
विस्फुरद्विबुधा रेजे, गुरुमङ्गलधारिणी[2] ॥

विशाल मंगल को धारण करने वाली तथा विबुधजनों से युक्त महाराज भरत की वह सभा इन्द्र की सुधर्मा सभा की भांति शोभित हो रही थी।

७. द्रुतं राजानमानम्य, वेत्रपाणिरदोऽवदत्।
एतास्त्वत्प्रेषिताश्चारास्तिष्ठन्ति द्वारि वारिताः ॥

इतने में ही द्वारपाल ने महाराज भरत को नमस्कार करते हुए यह कहा—'देव ! आप द्वारा भेजे गए गुप्तचर आ पहुँचे हैं और वे द्वार पर रुके हुए हैं।'

८. एतान् प्रवेशयाह्नाय[3], राज्ञेति स्वयमीरितः।
श्रीविलासानिव न्यायः, स भूपंताननीनयत् ॥

महाराज भरत ने स्वयं कहा—'उन्हें शीघ्र ही भीतर ले आओ।' तब द्वारपाल ने उन गुप्तचरों को राजा के समक्ष उपस्थित किया जैसे न्याय के समक्ष लक्ष्मी के सारे विलास उपस्थित किये जाते हैं।

९. तानपृच्छदिति क्ष्मापो, निर्नंसु[4]र्मे स बान्धवः।
युद्धश्रद्धापरः किं वा, निर्णीयाख्यत हेरिकाः ! ॥

भरत ने उनसे पूछा—'हे गुप्तचरो ! तुम यह निर्णय करके बताओ कि मेरा भाई मेरे सामने नत होना चाहता है या युद्ध करना चाहता है ?'

---

१. आस्थानी—सभा।
२. किं विशिष्टा आस्थानी ? विस्फुरद्विबुधा—विराजत्पंडिता, सुधर्मापक्षे—विराजद्विबुधा—देवाः, पुनः किं विशिष्टा ? गुरुमंगलधारिणी—विशालश्रेयःशालिनी, सुधर्मापक्षे—वाक्पति-वक्रावहा।
३. अह्नाय—शीघ्र (मङ्क्ष्वह्नाय च सत्वरं—अभि० ६।१६६)
४. निर्नंसुः—नमश्चिकीर्षुः।

१०. इत्याकर्ण्य वचो भर्त्तुस्तेषामेकोऽभणच्चरः ।
निर्बन्धाद्[1] बन्धुसंबन्धं[2], मन्मुखाच्छृणु सांप्रतम् ॥

अपने स्वामी का यह वचन सुनकर, उनमें से एक गुप्तचर ने कहा—'राजन् ! आप मेरे मुख से आग्रहपूर्वक अपने भाई का वृत्तान्त सुनें[3] ।'

११. त्वदाज्ञाभ्रमरी भूप ! , नास्त तद्देशचंपके ।
सुमनोभिरताप्युच्चैर्भाविनी हि गरीयसी ॥

'राजन् ! देवताओं द्वारा अत्यन्त अभिप्रेत आपकी आज्ञा रूपी भ्रमरी बाहुबली के देश के चम्पक वृक्षों पर भी नहीं ठहरती । क्योंकि भवितव्यता महान् होती है ।'

१२. स्वामिन् ! सीमवधूः स्वीया, बलात् परकर्दथिता ।
उन्निद्रदर्पदावाग्निरेष चक्रे चरैरिति ॥

'स्वामिन् ! अपनी सीमा रूपी वधू शत्रु के द्वारा हठात् कदर्थित हो रही है, यह कहकर बाहुबली के गुप्तचरों ने बाहुबली को जागृत दर्प रूपी दावाग्नि वाला बना दिया ।'

१३. अवामंस्त वचस्तेषां, घूर्णिताक्षस्ततस्त्वसौ ।
स्वमस्थिभुजां[4] स्वैरमुन्मत्त इव वारणः ॥

'दर्प की निद्रा से घूर्णित लोचन वाले बाहुबली ने उन गुप्तचरों के कथन की अवगणना की जैसे उन्मत्त हाथी कुत्तों के शब्दों की भरपूर अवगणना करता है ।'

१४. बहुकृत्वः प्रविज्ञप्तो, भटैः शौर्यरसार्णवैः ।
यात्राभेरीं स सावज्ञमात्मभृत्यैरवादयत्[5] ॥

'महाराज भरत ! पराक्रम के समुद्र सुभटों द्वारा बहुत बार निवेदन करने पर बाहुबली ने अपने सेवकों से अवज्ञापूर्वक यात्रा-भेरी बजवाई ।'

---

१. निर्बन्धः—आग्रह (निर्बन्धोऽभिनिवेशः स्यात्—अभि० ६।१३६)
२. बन्धुसंबन्धं—बाहुबलिव्यतिकरम् ।
३. इससे आगे का संपूर्ण वर्णन महाराज भरत के गुप्तचरों द्वारा कथित है । उन्होंने बाहुबली के प्रदेश में जो कुछ देखा-सुना था, उसका पूरा वर्णन भरत के समक्ष प्रस्तुत किया है ।
४. अस्थिभुक्—कुत्ता (अस्थिभुग् मषणः सारमेयः—अभि० ४।३४५)
५. पाठान्तरं—स्वादयत् ।

१५. तदा दक्षिणदिग्नेता[1], चकम्पे दण्डधार्यपि ।
मम्भानादात् सुवर्णाद्रिकम्पात् किं कम्पते न भूः ?

'उस समय भेरी के शब्द से दक्षिण दिशा का दण्डधारी नेता यम भी कांप उठा। क्या सुमेरु पर्वत के कंपित होने से पृथ्वी प्रकंपित नहीं हो जाती ?'

१६. भम्भाया वाद्यमानायाः, सुघोषाया इव ध्वनिः ।
सज्जीचकार कृत्याय, सैनिकांस्त्रिदशानिव ॥

'भृत्यों द्वारा बजाई जानेवाली भेरी की ध्वनि ने सैनिकों को अपने कार्य के लिए सज्जित कर दिया, जैसे सुघोषा घण्टा की ध्वनि देवताओं को सज्जित कर देती है।'

१७. पञ्चवाण[2] इवोद्धत्यमानन्दमिव वल्लभः ।
शौर्यं जागरयामास, भटानां स रवः क्षणात् ॥

'उस नाद ने योद्धाओं में तत्काल शक्ति को जागृत कर डाला, जैसे कामदेव उन्माद को और प्रिय पति आनन्द को जागृत करता है।'

१८. सारङ्गाणामिवाम्भोदध्वनी रसधरागमे[3] ।
पुपोषामन्दमानन्दं, भम्भानादस्ततः क्षणात् ॥

'भेरी के नाद ने क्षणभर में सभी सुभटों के मन में प्रचुर आनन्द उत्पन्न कर दिया, जैसे वर्षा ऋतु में मेघ की ध्वनि चातकों में प्रेम उत्पन्न करती है।'

१९. अवला[4] भीरवोप्युच्चैः, कातरत्वं स्वभावजम् ।
विहायोत्तेजयामासुर्भटानां शौर्यमद्भुतम् ॥

'अपनी स्वाभाविक कायरता को छोड़कर भीरु अवलाओं ने भी सुभटों के पराक्रम को विचित्र प्रकार से उत्तेजित कर डाला।'

---

१. दक्षिणदिग्नेता—यमराज (यमः कृतान्तः पितृदक्षिणाशा प्रेतात्पतिः—अभि० २।९८)
२. पञ्चवाणः—कामदेव ।
३. रसधरागमे—प्रावृट्काले ।
४: अवलाः—स्त्रियः ।

२०. कान्त ! स्वस्वामिकृत्याय, मा विषीद मनागपि ।
स्वर्भाणु[1]मुखगं चन्द्रं, पश्यतो धिग् हि तारकान् ॥

वे बोलीं—'पतिदेव ! आप अपने स्वामी के कार्य के प्रति किंचित् भी विषाद न करें। क्योंकि राहु के मुख का ग्रास बने हुए चन्द्रमा को देखने वाले तारकों को धिक्कार है।'

२१. नाथ ! संस्मृत्य मां चित्ते, मुखं मा वालयेर्निजम् ।
वलमानमुखा वीरा, न भवन्ति कदाचन ॥

'नाथ ! मन में मेरी स्मृति कर आप रणभूमि से अपना मुंह न मोड़ लें। युद्ध-भूमी से जो मुँह मोड़ते हैं वे कभी भी वीर नहीं हो सकते।'

२२. ताम्बूलीरागसंपृक्तं, यथास्यं भाति तेऽधुना ।
क्षरद्रुधिरधारावतं, तथा त्वं दर्शये रणे ॥

'नाथ ! जैसे आपका मुंह अभी ताम्बूल के रंग से संपृक्त होकर शोभित हो रहा है, वैसे ही रण में आप अपने मुँह को झरती हुई शोणित की धारा से सिक्त दिखायें।'

२३. त्वद्विक्रान्तिर्महावीर !, त्रैलोक्येऽपि विदित्वरी ।
सुधाभित्तिरिव म्लानीकार्या नाऽकीर्त्तिकज्जलैः ॥

'हे महान् वीर ! आपका पराक्रम तीनों लोकों में विदित है। वह चूने से पुती हुई भींत की तरह निर्मल है। आप उसे अयश रूपी कज्जल से म्लान न कर डालें।'

२४. सुमेरुस्त्वमसि स्वामिमानसे भुजवैभवैः ।
त्वं तृणीभूय संग्रामान्, मुखं मा दर्शयेर्मम ॥

'नाथ ! आप अपनी भुजाओं के पराक्रम के कारण अपने स्वामी के मन में सुमेरु की भाँति हैं। आप संग्राम में तिनके बनकर मुझे कभी अपना मुंह न दिखायें।'

२५. भटानां पर[2]वीरास्त्रैर्जीवितान् मरणं वरम् ।
धिगस्तु धरतः प्राणान्, भीरून्नाक्रोशकश्मलान् ॥

'शत्रु-योद्धाओं के अस्त्रों से मर जाना वीर सुभटों के लिए जीवित रहने से अधिक श्रेष्ठ

१. स्वर्भाणुः—राहु (स्वर्भाणुस्तु विधुन्तुदः—अभि० २।३५)
२. परः—शत्रु (शत्रौ प्रतिपक्षः परो रिपुः—अभि० ३।३९२)

है। उन कायर सुभटों को धिक्कार है जो अपमान से कलंकित प्राणों को धारण करते हुए जीते हैं।'

२६. सुरभि[1]स्त्वं यशःकुन्दैः[2], सुरभीकुरु मामपि।
मलये चन्दनायन्ते, सर्वेऽपि क्ष्मारुहा यतः॥

'पतिदेव! आप स्वयं वसंत ऋतु के समान हैं। मुझे भी आप यश रूपी कुन्द के फूलों से सुरभित करें। क्योंकि मलय पर्वत पर सारे वृक्ष चन्दन की भांति महक देने वाले बन जाते हैं।'

२७. यशश्चन्द्रोदये[3] स्फीते, भटिमादिगुणै[4]स्तव।
रणव्योम्नि भटोत्तंस!, मूर्ध्नि न स्यात् परातपः[5]॥

'हे वीर शिरोमणे! युद्ध के नभस्तल में जब आपके पराक्रम के धागों से बुना हुआ यशरूपी विस्तृत चन्दोवा तन जायेगा तब शत्रुओं का आतप आपके मस्तिष्क पर नहीं पड़ेगा।'

२८. उत्सङ्गसङ्गिनी तेऽस्तु, जयश्रीः समराङ्गणे।
सपत्न्यापि तया बाढं, नाऽहं सेर्ष्या त्वयि प्रिय!॥

'हे प्रिय! समरांगण में जयश्री आपके उत्संग में बैठी रहे। वह निश्चित ही मेरी सौत (सपत्नी) होगी, फिर भी मैं आपके प्रति ईर्ष्या नहीं करूँगी।'

२९. ज्ञातस्त्वं सर्वदा कान्त!, रतेऽपि करुणापरः।
तत्त्वया न कृपा कार्या, वीर! वैरिरणक्षणे॥

'नाथ! मैंने सदा यही जाना कि आप संभोग में भी करुणापर हैं। किन्तु हे वीर! शत्रुओं के साथ युद्ध करने के क्षण में आप कभी करुणा न करें।'

३०. मां विहाय यथा यासि, प्रमना[6]स्त्वं रणाङ्गणे।
न तथा वीरतां हित्वाऽत्राऽऽगम्यं भवता गृहे॥

---

१. सुरभिः—वसन्त ऋतु (वसन्त इष्यः सुरभिः—अभि० २।७०)
२. यशःकुन्दैः—कीर्तिकुन्दकुसुमैः।
३. चन्द्रोदयः—चन्दोवा (अभि० ३।३४५)
४. गुणः—तन्तु (शुल्वं तन्त्री वटी गुणः—अभि० ३।५६२)
५. परः—शत्रुः, तस्य आतपः।
६. प्रमनाः—प्रसन्न चित्त वाला (प्रमना हृष्टमानसः—अभि० ३।९९)

'जिस प्रकार आप मुझे छोड़कर प्रसन्नचित्त से रणक्षेत्र में जा रहे हैं, वैसे ही आप वीरता को छोड़कर पुनः यहाँ घर पर न आयें।'

३१. कातरत्वं ममाभ्यर्णे[1], मुक्त्वा त्वं धाव संयते[2]।
प्राहुः पुराविदोप्येवं, स्त्रीत्वं धैर्यविलोपि हि ॥

'नाथ ! आप कायरता को मेरे पास छोड़कर संग्राम की ओर वेग से चले जायें। प्राचीन विद्वानों ने भी यही कहा है कि स्त्रीत्व धैर्य का लोप करने वाला होता है।'

३२. युद्धे शस्त्रप्रहारोऽयं, कोशलाबहलीशयोः।
इति कीर्तिश्चिरं वीर !, तवाङ्गे स्थास्यति ध्रुवम् ॥

'हे वीर ! यह शस्त्र-प्रहार भरत-बाहुबली के युद्ध में लगा था—ऐसी कीर्ति चिरकाल तक सदा आपके साथ रहेगी।'

३३. त्वं तु पाणिग्रहेऽन्यस्या, मद्गुणेषु मनो न्यधाः।
जयश्रीवरणे[3] वीर !, मानसं मयि मा कृथाः ॥

'वीर ! आपने दूसरी कान्ता के साथ विवाह करने के समय मेरे गुणों में अपने चित्त को आरोपित किया था। किन्तु अब जय रूपी लक्ष्मी के वरणकाल में मेरे प्रति चित्त न करें।'

३४. स्खलति स्नेहशैलेन्द्रे, तटिनीव रसा[4] मम।
प्राणैरपि यशश्चेयं, प्रशस्या हि यशोधनाः ॥

'नाथ ! जैसे नदी पर्वत के पास पहुंचकर स्खलित होती है, वैसे ही मेरी जीभ स्नेह रूपी पर्वत से टकरा कर स्खलित हो रही है। देव ! प्राण देकर भी यश को पुष्ट करना है। क्योंकि यशस्वी व्यक्ति ही प्रशंसनीय होते हैं।'

३५. त्वं दाक्षिण्यपरो[5] यादृक्, तादृग् नान्यो भुवस्तले।
नात्र दाक्षिण्यमाधेयमस्थाने ह्यमृतं विषम् ॥

---

१. अभ्यर्णम्—निकट (अभि० ६।८७)
२. संयते—संग्रामाय।
३. इत्यत्र निमित्तात् कर्मयोगे सप्तमी।
४. रसा—जीभ (अभि० ३।२४६ शेष)
५. दाक्षिण्यपरः—लज्जाशीलः।

'प्रियतम ! आप जितने लज्जाशील हैं उतने लज्जाशील पुरुष इस संसार में कोई नहीं है। किन्तु संग्राम में आप इस लज्जा को छोड़ दें। क्योंकि अस्थान में अमृत भी विष बन जाता है।'

३६. वीरसूर्जननी तेऽस्तु, पिता वीरः पुनस्तव।
त्वदेव सांप्रतं वीर!, वीरपत्नी भविष्यहम्॥

'हे वीर! आपकी माता वीर पुत्रों को पैदा करनेवाली बने और आपके पिता भी वीर पुत्र के पिता हों। देव! अब मैं आपसे ही वीर की पत्नी होऊंगी।'

३७. सत्वरं त्वं मम स्नेहादागतो ग्रामतः प्रिय!।
संग्रामे न त्वरा कार्या, स्वामिचित्तानुगो भवेः॥

'हे प्रिय! आप मेरे स्नेह के वशीभूत होकर गाँव से शीघ्र ही मेरे पास आ जाते थे, किन्तु संग्राम में आप जल्दबाजी न करें। आप अपने स्वामी के चित्त के अनुसार कार्य करने वाले हों।'

३८. मम वक्षसि निःशङ्कं, पातिताः करजा[1] यथा।
त्वया मत्तेभकुम्भेषु, प्रापणीयास्तथा शराः॥

'देव! आपने निःशंक होकर मेरे वक्षस्थल पर नखों के प्रहार किए। इसी प्रकार आप युद्ध-स्थल में मदोन्मत्त हाथियों के कुंभस्थलों पर अपने बाणों से प्रहार करें।'

३९. रणव्योम्नि परे वीरास्तव तेजोनिधेः पुरः।
तारका इव नश्यन्तु, त्वत्प्रतापोऽस्तु वृद्धिमान्॥

'नाथ! आप तेज के निधान हैं—सूर्य हैं। युद्धाकाश में आपके आगे शत्रुओं के सुभट तारों की भांति नष्ट हो जाएं! आपका प्रताप सतत वृद्धिगत होता रहे।'

४०. भटशौर्यबृहद्भानु[2]दीपनाय घृतं वचः।
सर्वासामिति नारीणां, निर्ययौ मुखभाण्डतः॥

'इस प्रकार वहां की समस्त नारियों के मुख से ऐसे वचन निकल रहे थे जो कि सुभटों के पराक्रम रूपी अग्नि को उद्दिप्त करने के लिए घृत का काम कर रहे थे।'

१. करजः—नख (करजो नखरो नखः—अभि० ३।२५८)
२. बृहद्भानुः—अग्नि (वह्निर्बृहद्भानुर्हिरण्यरेतसौ—अभि० ४।१६३)

४१. सुधामय इवानन्दमयस्त्विव तदाऽभवत् ।
स क्षणः[1] सक्षणो[2] युद्धाकांक्षिभिर्वलिभिर्मतः ॥

'चक्रवर्त्तिन् ! उस समय वह क्षण अमृतमय और अ............... आकांक्षी पराक्रमी सुभटों ने उस क्षण को एक उत्सव के रूप में माना ।'

४२. दोर्दण्डचण्डिमौद्धत्याद्, ये तृणन्ति जगत्त्रयम् ।
तेऽपि वीरा यशःक्षीरार्णवास्तं प्रययुस्तदा ॥

''जो वीर अपनी भुजाओं की चंडिमा से उद्धत होकर तीनों लोकों को तृणवत् तुच्छ मानते हैं और जो कीर्त्ति के क्षीर-समुद्र हैं वे भी संग्राम के समय वाहुवली के पास चले गए ।'

४३. मन्दरा इव प्रत्यर्थिवार्हिनीश्वरमन्थने ।
भूभृतश्चण्डदोर्दण्डशाखिनः केऽपि तं ययुः ॥

'कई राजे जो शत्रु रूपी समुद्र का मन्थन करने में मेरु पर्वत की भांति थे और जो प्रचंड भुजा रूपी शाखा वाले थे, वे भी वाहुवली के पास पहुँच गए ।'

४४. ये भवन्तमवज्ञाय, नृपं वाहुवलिं श्रिताः ।
तेऽपि विद्याधराधीशा, अभूवन् प्रगुणा[3] युधे[4] ॥

''राजन् ! जो विद्याधरों के स्वामी आपकी अवज्ञा कर महाराज वाहुवली की शरण में चले गए, वे भी आज संग्राम के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं ।'

४५. विद्याधरवधूवर्गवैधव्यव्रतदानतः[5] ।
यस्यासि[6]र्गुरुवद्वन्द्योऽनिलवेगः स दुःसहः ॥

'राजन् ! विद्याधरों की स्त्रियों को वैधव्य की दीक्षा देने के कारण जिसकी तलवार

---

१. क्षणः—अवसर (समये क्षणः—अभि० ६।१४५)
२. सक्षणः—सोत्सवः (उत्सवे—महः क्षणोद्धवोद्धर्षा—अभि० ६।१४४)
३. प्रगुणाः—सज्जाः ।
४. युधे—संग्रामाय ।
५. व्रतदानं—दीक्षार्पणम् ।
६. असिः—तलवार (असिमृष्टिरिष्टी—अभि० ३।४४६)

गुरु की तरह वन्दनीय है, वह अनिलवेग अत्यन्त दुःसह है—रणभूमि में उसका सामना करना कठिन है।'

४६. वहलीनाथपाथोधिः, सर्वथैव दुरुत्तरः।
भीष्मश्चौर्वानलेनेवानिलवेगेन दोष्मता॥

'राजन्! महान् भुज-पराक्रमी और वाडवाग्नि की भांति अनिलवेग के रहते हुए बाहुबली रूपी रौद्र समुद्र को तर पाना सर्वथा दुष्कर है।'

४७. पुनर्भारतभूपाल!, विद्याधरधराधवः।
रत्नारिस्तमुपागच्छद्, दर्शे[1] विधुरिवारुणम्॥

'हे भारत के भूपाल! एक बात और भी है। विद्याधरों का स्वामी रत्नारि उस बाहुबली के पास वैसे ही आ मिला है जैसे अमावस्या के दिन चन्द्रमा सूर्य से जा मिलता है।'

४८. अमी विद्याभृतो वीरा, बहुशो बहलीशितुः।
अभ्यर्णं तूर्णमाजग्मुः, प्रवाहा इव वारिधिम्॥

'राजन्! ये अनेक विद्याधर वीर बाहुबली के पास शीघ्र ही वैसे ही आ गए हैं जैसे पानी के प्रवाह समुद्र के पास आ जाते हैं।'

४९. किराताः[2] पातितारातिदुर्मदाचलदोर्द्रुमाः।
उत्साहा इव देहाढ्यास्तमुपागत्य चाऽनमन्॥

'अपने शत्रुओं के दुरहंकार रूपी पर्वत की भुजा रूपी वृक्षावली को नष्ट करने वाले किरात ऐसे हैं, मानो मूर्तिमान् उत्साह हों। वे भी बाहुबली के पास जाकर नत हो गए हैं।'

५०. सन्नद्धबद्धसन्नाहाः[3], कण्ठप्रापितकार्मुकाः[4]
मूर्त्ता इव धनुर्वेदास्तस्येयुर्लक्षशः सुताः॥

'बाहुबली के लाखों पुत्र सज्जित होकर, कवच पहनकर तथा गले में धनुष्य को धारण

१. दर्शः—अमावस्या (दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः—अभि० २।६४)
२. किरातः—भील (माला भिल्लाः किराताश्च—अभि० ३।५९८)
३. सन्नाहः—कवच (सन्नाहो वर्म कङ्कटः—अभि० ३।४३०)
४. कार्मुकम्—धनुष्य (कोदण्डं धन्व कार्मुकम्—अभि० ३।४३९)

कर बाहुबली के पास आ गए हैं। वे ऐसे लगते हैं मानो धनुर्वेद ही मूर्तिमान् हो गया हो।'

५१. सभासीनमदीनास्ते, कीनाशमिव दुर्धरम्।
परिवव्रुस्तदैवैनं, तरणिं किरणा इव॥

'राजन्! सभा में बैठे हुए तथा यम की भांति दुर्धर बाहुबली को उस समय उन प्रसन्न सुभटों ने उसी प्रकार घेर लिया जैसे किरण-जाल सूर्य को घेरे रहता है।'

५२. अथ मन्त्री सुमन्त्राख्यः[1], सुरमन्त्रीव मन्त्रवित्।
निर्व्याजं व्याजहारेति, पुरस्तात् तस्य भूपतेः॥

'राजन्! बाहुबली के मंत्री का नाम 'सुमंत्र' है। वह बृहस्पति की भांति मंत्रणा देने में निपुण है। उसने बाहुबली के समक्ष निष्कपट भाव से कहा—

५३. देव! त्वं मद्वचः स्वैरं, कुरुतात् कर्णगोचरम्।
चिन्त्या हितविदोऽमात्याः, कार्यारम्भे हि राजभिः॥

'देव! आप मेरे वचन को ध्यानपूर्वक सुनें। नीतिकारों ने भी कहा है कि कार्य के प्रारम्भ में राजाओं को हितचिन्तक अमात्यों से मन्त्रणा करनी चाहिए।'

५४. यथा पयोधरोन्नत्याद्, बालाया यौवनोद्गमः।
तथा स्वामिबलोद्रेकान्, मन्त्रिभिर्ज्ञायते जयः॥

'जैसे कुमारी के स्तनों के उभार से उसके यौवन के आगमन को जान लिया जाता है वैसे ही मंत्री भी अपने स्वामी के पराक्रम के अतिरेक से होने वाली विजय को जान लेते हैं।'

५५. प्रबलेन सह स्वामिन्!, विधेया न विरोधिता।
पश्य पाथोजिनीनेत्रा[2], संक्षिप्यन्ते तमांसि हि॥

'स्वामिन्! प्रबल व्यक्ति के साथ विरोध नहीं रखना चाहिए। आप देखें, सूर्य अंधकार को नष्ट कर ही देता है।'

---

१. पाठान्तरम्—सुमन्त्रोशः।
२. पाथोजिनीनेत्रा—सूर्येण।

'आपके कुल में भरत ज्येष्ठ हैं और चक्रवर्ती हैं। इसलिए आप वहाँ जाकर उनको प्रणाम करें। इसमें आपको कोई लज्जा नहीं है।'

६२. एतस्मै न नताः के कैर्नास्याज्ञा शिरसा धृता।
कैरातङ्कोऽस्य नो दध्रे, बलिनो जयिनोऽत्र हि॥

'भरत के आगे कौन राजे नत नहीं हुए? किन राजाओं ने इनकी आज्ञा शिरोधार्य नहीं की? किसने इनका भय नहीं माना? क्योंकि इस संसार में बलशाली व्यक्ति ही विजयी होते हैं।'

६३. बलं यदीयमालोक्य, सुरा अपि चकम्पिरे।
मर्त्यकीटास्ततः केऽमी, पुरस्तादस्य भूभुजः?

'उनके पराक्रम को देखकर देवता भी प्रकंपित हो गए हैं। उनके सामने इन मनुष्य-कीट राजाओं की बात ही क्या?'

६४. षट्खण्डी किंकरीभूय, सेवतेऽस्य पदाम्बुजम्।
रजनीव सुधाभानु[1]ममन्दानन्दकन्दलम्॥

'छहों खंड सेवक की भांति महाराज भरत के चरण-कमलों की सेवा करते हैं, जैसे रात अधिक आनन्ददायक चन्द्रमा की सेवा करती है।'

६५. त्वां विना कोपि विश्वेऽत्र, न्यक्करोत्यस्य शासनम्।
राहोरेव पराभतिर्विद्यते हि त्रयीतनोः[2]॥

'आपके बिना इस विश्व में चक्रवर्ती भरत के अनुशासन का कौन तिरस्कार कर सकता है? सूर्य के लिए राहु ही पराभव है, दूसरा कोई नहीं।'

६६. द्वात्रिंशन्मेदिनीपालसहस्राण्यस्य किङ्कराः।
अनृणीकर्तुमात्मानमीहन्तेप्यसुभी रणे॥

'चक्रवर्ती भरत के बत्तीस हजार राजे सेवक हैं। वे युद्धस्थल में प्राणों की बलि देकर भी अपने-आपको उऋण करना चाहते हैं।'

---

१. सुधाभानुः—चन्द्रमा।
२. त्रयीतनुः—सूर्य (त्रयीतनुर्जगच्चक्षुः—अभि० २।१२)

'महान् तेजस्वी आप ही अकेले ऐसे हैं जो अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को निवारित कर सकते हैं। किन्तु उनके चक्र से उद्गत अग्नि की ज्वालाएं आपके सैनिकों को तृण की भांति भस्मसात् कर डालेंगी।'

७३. तद् विचार्य महोपाल !, कुरुष्वात्महितं त्वितिं।
ताततुल्यमिमं ज्येष्ठं, भ्रातरं भरतं नम॥

'इसलिए हे राजन् ! आप अपने हित की बात सोचकर पिता तुल्य अपने इस ज्येष्ठ भ्राता भरत को प्रणाम करें।'

७४. इति मन्त्रिगिरा क्रुद्धो, यावद् वक्ति क्षितीश्वरः।
तावद् विद्याधराधीशोऽनिलवेगस्तमभ्यधात्॥

'मंत्री के ये वचन सुनकर बाहुबली अत्यन्त कुपित हो गए।' वे कुछ कहने ही वाले थे कि विद्याधरों के अधिपति अनिलवेग ने मंत्री से कहा—

७५. सचिवोत्तंस ! निस्त्रिंशं[1], वृथैव वदनानिलैः।
आत्मदर्शमिवोद्दीप्रं, कश्मलीकुरुषे प्रभोः॥

'सचिव शिरोमणे ! तुम अपने मुख के श्वासों से व्यर्थ ही अपने स्वामी बाहुबली की कांच की भांति निर्मल तलवार को मलिन कर रहे हो।'

७६. प्रार्थ्यमानश्चिरं युद्धोत्सवो वीरमनोरथैः।
चातकैरिवपायोदस्तत्र वात्यायते[2] भवान्॥

'मंत्रीवर्य ! हमारे वीर सुभट इस रणोत्सव की चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहे थे। आज उनका मनोरथ वैसे ही सफल हो रहा है जैसे जलधर से चातकों का मनोरथ फलित होता है। ऐसी स्थिति में तुम प्रचंड पवन की तरह आचरण कर रहे हो[3]।'

७७. कोऽतिरिक्तमतिश्चित्ताज्ज्वलनात् कः प्रतापवान् ?
कः पण्डितः सुराचार्यात्, को देवादधिको बली ?

---

१. निस्त्रिंशः—तलवार (करवालनिस्त्रिंशकृपाणखड्गाः—अभि० ३।४४६)
२. वात्यायते—वातूलवदाचरति।
३. जैसे पवन जलधर को बिखेर देता है वैसे ही तुम वीर सुभटों के उत्साह को बिखेर रहे हो, नष्ट कर रहे हो।

८३. परक्ष्माक्रमणोद्दामविक्रमी सिंहविक्रमः ।
यमायान्तमुपाकर्ण्य , वैरिभिर्ययिरे नगाः ॥

'यह 'सिंहविक्रम' शत्रुओं की भूमि पर आक्रमण करने के लिए प्रचंड पराक्रमी है। इसको आते हुए सुनकर शत्रु पर्वतों में जा छुपते हैं।'

८४. सिंहसेनोऽरिसेनासु , केशरीव बलोत्कटः ।
क्ष्वेडाभिर्गजसेनासु , मदर्दुभिक्षमातनोत् ॥

'यह 'सिंहसेन' अत्यन्त पराक्रमी है। यह शत्रुओं की सेना में केशरीसिंह की भांति है। इसने अपने सिंहनाद से हाथियों की सेना को निर्वीर्य बना डाला था।'

८५. इत्यमी तनयाः पञ्च , देवपादस्य विश्रुताः ।
बाणाः पञ्चेव पञ्चेषोः , कस्य पञ्चत्वदा न हि ?

'बाहुबली के ये पांचों पुत्र अत्यन्त विश्रुत हैं। ये पांचों कामदेव के पांच बाणों की भांति किसको मृत्युधाम तक नहीं पहुंचा देते ?'

८६. मूच्छाला मेदिनीपालाः , सन्त्यन्येऽपि सहस्रशः ।
संग्रामायोपतिष्ठन्ति , सज्जीकृतमहायुधाः ॥

'और भी हजारों 'मूंछाले' (मूंछवाले) राजे ऐसे हैं जो अपने-अपने शस्त्रों को सज्जित कर युद्ध की प्रतीक्षा में बैठे हैं।'

८७. अयं वैरिवधूहारसंहारपरिदीक्षितः ।
रत्नारिर्देवपादेभ्यः , पुरो भवति संयते ॥

'यह 'रत्नारि' युद्ध के समय अपने स्वामी बाहुबली के आगे रहता है। यह शत्रुओं की स्त्रियों के हारों को तोड़ने में अभ्यस्त है अर्थात् यह उनको विधवा बनाने में दक्ष है।'

८८. लक्षत्रयी तनूजानां , नृपबाहुबलेः श्रुता ।
जेतुं तदन्तरेकोऽपि , विभुर्विद्वेषिवाहिनीम् ॥

'महाराज बाहुबली के तीन लाख अंगज हैं। उनमें से प्रत्येक वीर शत्रुओं की सेना को जीतने में समर्थ है।'

९७. यात्रान्हि जिनमभ्यर्च्य, भवानिव करीश्वरम्।
श्वेतं मूर्त्तमिव श्रेयोऽध्यारुरोह विशां पतिः॥

—चतुर्भिः कलापकम्।

'इस बाहुबली ने अपनी कीर्ति-सुधा से हमको धवलित किया है—यह सोचकर वाद्य-ध्वनि से मुखर दिग्मुखों ने दूर से ही बाहुबली की निःशंक रूप से स्तुति की।

जैसे मेरु पर्वत कल्पवृक्षों से अनुगत होता है वैसे ही सर्वत्र भूमी और आकाश को भरनेवाली सेना से अनुगत, छत्र, चामर तथा सुन्दर शोभास्पद हार और कुण्डल से अलंकृत, तेज और ओज से भूमी पर साक्षात् इन्द्र की भांति अवतीर्ण महाराज बाहुबली यात्रा के दिन जिनेश्वर देव की अर्चा कर मूर्तिमान् श्रेय की भांति श्वेत हाथी पर उसी प्रकार बैठे जैसे आप (भरत) बैठे थे।'

९८. स्त्रीणामालोकनोत्कण्ठाकूतव्यालोलचक्षुषाम्।
शतचन्द्रात् गवाक्षान् स, ततान वदनैर्दिने॥

'देखने को उत्सुक तथा अभिप्राय से चपल चक्षुवाली स्त्रियों के वदनों से बाहुबली ने दिन में भी वातायनों को शतचन्द्र बना दिया।'

९९. निर्ययौ नगरात्तूर्णं, कन्दरादिव केशरी।
एकोऽप्यजेय एवाऽयं, सुरैरिति वितर्कितः॥

'जैसे केशरीसिंह अपनी गुफा से बाहर निकलता है वैसे ही वह नगर से शीघ्र ही बाहर निकला। यह देख देवों ने यह वितर्कणा की कि यह अकेला भी अजेय है।'

१००. त्वं जेता विश्वविश्वस्य, न त्वां जेष्यति कोऽपि च।
इत्यस्य शुभशंसीनि, शकुनान्यभवंस्ततः॥

'तुम संपूर्ण विश्व के विजेता हो। कोई भी तुम्हें जीत नहीं सकेगा'—इस प्रकार उनके अनेक शुभ सूचना वाले शकुन हुए।

१०१. सैन्याश्वखुरतालोद्यत्त्यानेऽभूदन्तरा रजः।
तेजो सह्यं मयाप्यस्य, रविरित्यवहन् मुदम्॥

सेना के घोड़ों की खुरताल से उठती हुई रजें आकाश के अन्तराल में छा गईं। 'क्या मैं इस बाहुबली का तेज सहन कर सकूँगा'—यह सोचकर सूर्य ने प्रसन्नता का अनुभव किया।

बारहवां सर्ग

प्रतिप —	युद्धोत्साह को उद्दीपित करने वाले वातावरण का निर्माण।
श्लोक परिमाण—	७३
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें, सर्ग २ का विवरण।

कथावस्तु—

गुप्तचरों का संवाद सुनकर महाराज भरत गंभीर हो गए। उन्होंने अपने सामन्तों से युद्ध के विषय में चर्चाएं की और उन्हें धैर्य रखने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कहा—'जिनमें तनिक भी कायरता हो वे यहां से चले जाएं। यद्यपि मेरी सेना वहुत विशाल है और वाहुवली की सेना छोटी है, किन्तु संग्राम में पराक्रमी सेना ही विजय प्राप्त करती है, छोटी वड़ी नहीं। जो आत्माभिमानी सुभट युद्धस्थल में सवसे पहले अपने प्राणों की आहुति देते हैं वे स्वामी के ऋण से उऋण हो जाते हैं। वे ही वीर सुभट संसार में यश प्राप्त करते हैं जिनके तीर हाथियों के कुंभस्थलों को भेदने में दक्ष होते हैं। छह खंडों को जीतकर जिस यश का मैंने संचय किया है, उसे आप धूमिल न कर डालें।'

तव सेनापति सुषेण ने आकर भरत से कहा—'महाराज! ये हजारों राजे और करोड़ों सुभट युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

तत्पश्चात् सुषेण ने वाहर से आए हुए मालव, मगध, कुरु, जांगल आदि जनपदों के राजाओं का परिचय दिया और कहा—'देव! इसी प्रकार सीमान्तवासी किरात और हजारों देव आपके साथ हैं।' महाराज भरत का उत्साह शतगुणित हो गया। उन्होंने कहा—'जव तक मैं वाहुवली को नहीं जीत लूंगा तव तक मुझे शांति नहीं मिलेगी। उसके जीतने पर ही मेरा साम्राज्य मुझे संतुष्टि दे सकेगा।' इतने में ही वाहुवली के दूत भरत के पास आकर वोले—'प्रभो! हमारे स्वामी जानना चाहते हैं कि रणभूमी का निश्चय कहां किया गया है?' चक्रवर्ती भरत ने कहा—'यहां पास में ही गंगा नदी है, उसी के तट पर हमारा युद्ध होगा। तुम्हारा स्वामी अपने देश की सीमा पर पड़ाव डाले। कल हम वहां मिलेंगे।'

द्वादशः सर्गः

१. इतीरितां चारगिरं निशम्य, सगौरवं सोऽथ गुरुर्नृपाणाम्।
बभाण भूपान् सनयान्निदेशे, ह्युपस्थिते गौरवमाचरन्ति ॥

उक्त प्रकार से कथित गुप्तचर की वाणी को सुनकर चक्रवर्ती महाराज भरत ने नीतिज्ञ राजाओं से गौरवपूर्वक कहा कि आज्ञा प्राप्त होने पर नीतिज्ञ पुरुष गौरव का आचरण करते हैं।

२. अवैमि तस्यापि भवद्भुजानां, बलं क्षितीशा! मम दृष्टपूर्वम्।
बलद्वयी संक्रमणात्मदर्शो, ममास्ति चित्तं हितमुद्दिशेत्तत् ॥

भरत ने कहा—'राजाओ! मैं आपके और बाहुबली के भुजबल को जानता हूँ। मैंने उस पराक्रम को प्रत्यक्ष देखा है। मेरे मन रूपी कांच में दोनों पक्षों के बल का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। वह चित्त हित का ही उपदेश दे रहा है।'

३. युष्माभिरेवारचि वैरिभङ्गः, पुरापि दिक्चक्रजये जयज्ञैः।
कूलङ्कषाणां हि कषन्ति कूलं, लहर्य एवाम्बुधरप्रवृद्धाः ॥

'इससे पूर्व भी विजय को प्राप्त करने वाले आप लोगों ने ही दिशाओं के विजय-प्रसंग में शत्रुओं का नाश किया था। क्योंकि मेघ के बरसने से बढ़ी हुई लहरें ही नदियों के तटों को तोड़ती हैं।'

४. रथन्ति भूपाः किल तत्र वीरा, धुरं धरन्ति स्थितिसेवितारः।
विना प्रवीरान्न जयन्ति भूपा, यतो धुरं वोढुमलं महोक्षाः[1] ॥

'युद्ध-स्थली में राजे रथ के समान और अनुशासित वीर योद्धा धुरा के समान होते हैं।

---

१. महोक्षः—बड़ा बैल (महोक्षः स्यादुक्षतरो—अभि० ४।३२४)

'महान् पराक्रमी, महान् भुजाओं का धनी बाहुबली आज युद्ध करने के लिए आ रहा है—यह सोचकर उसके साथ युद्ध करने के इच्छुक आप अपने समक्ष दीनता को न आने दें।'

१०. सैन्यैः समेता रचितारिदैन्यैर्बन्धुर्मम श्वः सहसत्वरो[1] माम्।
स्वःशैवलिन्योघ[2] इवाम्बुराशि, पाथोभरैः पातितपादपौघैः॥

'जैसे वृक्षों के समूह को धराशायी करने वाला तथा पानी से भरा-पूरा गंगा नदी का प्रवाह समुद्र में जा मिलता है वैसे ही मेरा भाई बाहुबली शत्रुओं को दीन बनाने वाली अपनी सेना के साथ कल शीघ्र ही मुझ से आ मिलेगा।'

११. बलोत्कटैरेव भटैस्तदीयैश्चेतश्चमत्कारि तथा व्यधायि।
जगज्जनानां न यथेतरेषां, हृदोवकाशं बलमश्नुतेऽतः॥

'बाहुबली के अत्यन्त पराक्रमी भटों ने चित्त को चमत्कृत करने वाला ऐसा कार्य किया कि जगत् के दूसरे लोगों के पराक्रम के लिए हृदय मे अवकाश ही नहीं रहा।'

१२. करैरिवांशुर्मकरैरिवाब्धिर्ह्रदैस्तटिन्योघ इवातिदुर्गः।
तनूजलक्षैः परिवारितोयं, मामेति रोद्धुं तमवच्छशाङ्कम्॥

'जैसे किरणों से सूर्य, मगरमच्छों से समुद्र और अथाह जलवाले नद से नदियां अत्यन्त दुर्गम होती हैं, वैसे ही यह बाहुबली अपने लाखों पुत्रों मे परिवारित होकर मुझे रोकने के लिए आ रहा है, जैसे अन्धकार चन्द्रमा को रोकने के लिए आता है।'

१३. अपि प्रभूता ध्वजिनी मदीया, तनीयसश्चापि बलस्य तस्य।
रणे कथञ्चित्समतां गमित्री, जयावहा वीरभुजा हि नान्यत्॥

'यद्यपि मेरी सेना बहुत विशाल है और उसकी सेना छोटी है, फिर भी संग्राम में ज्यों-ज्यों समान हो जाएगी। पराक्रमी सेना ही विजयवती होती है, छोटी-बड़ी नहीं।'

१४. ततो भटीभूय भवद्भिराजि[3]र्निर्व्याजमाधायि पुराऽधुनापि।
विधीयतां वीररसस्तस्त्वं, सर्वत्र वः शाश्वतमायुगान्तात्॥

---

१. सहसत्वरः—सत्वरेण सहितः—शीघ्रं।
२. स्वःशैवलिनी—गंगा।
३. आजिः—युद्ध (आस्कन्दनाजिः—अभि० ३।४६१)

१९. प्रत्यर्थि[1]नासीर[2]हयक्षुराग्रोद्धतं रजश्चुम्बति यच्छिरांसि।
तैरेव कीर्त्तिर्मलिनीकृता द्राक्, पयोदवातैरिव दर्पणाभा ॥

'आगे चलनेवाली शत्रुओं की सेना के घोड़ों के खुरों से उठे हुए रजकण जिन सुभटों के शिरों पर आ गिरते हैं, वे ही कीर्त्ति को शीघ्र मलिन कर डालते हैं जैसे कि मेघ की सीलनभरी हवा से दर्पण की आभा मलिन हो जाती है।'

२०. तद्यूयमुद्यच्छथ संप्रहारं[3], कर्त्तुं त्रिलोकीजनताभिवन्द्यम्।
वीरा यमाकर्ण्य धरन्ति शौर्यं, कराः खरांशोरिव चण्डिमानम् ॥

'आप त्रिलोकी जनता के द्वारा स्तुत्य उस युद्ध के लिए उद्यत हो जाएं, जिसकी गाथा सुनकर वीर योद्धाओं का पराक्रम सूर्य की किरणों की भांति प्रचण्ड हो जाता है।'

२१. षाड्गुण्य[4]नैपुण्यभरं भजन्तु, सर्वे धनुर्वेदमनुस्मरन्तु।
भवन्तु खड्गाग्रविहस्त[5]हस्ता, भटा! भवन्तः श्रमयन्तु बाहून् ॥

'हे वीर सुभटो! आप छह गुणों—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध (भेदनीति) और आश्रय—की निपुणता को धारण करें और सभी धनुर्वेद का अनुस्मरण करें। आप

---

१. प्रत्यर्थी—शत्रु (प्रत्यर्थ्यमित्रावभिमात्यराती—अभि० ३।३९३)
२. नासीरं—आगे चलनेवाली सेना (नासीरं त्वग्रयानं स्यात्—अभि० ३।४६४)
३. संप्रहारः—युद्ध (संग्रामाहवसंप्रहारसमराः—अभि० ३।४६०)
४. षाड्गुण्य—राजनीति के छह गुण। वे ये हैं—
   १. सन्धि—कर देना स्वीकार कर या उपहार आदि देकर शत्रुपक्ष से मेल करना।
   २. विग्रह—अपने राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में जाकर युद्ध, दाह आदि करते हुए विरोध करना।
   ३. यान—चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान करना।
   ४. आसन—शत्रुपक्ष से युद्ध नहीं करते हुए अपने दुर्ग या सुरक्षित स्थान में चुपचाप बैठ जाना।
   ५. द्वैध—एक राजा के साथ सन्धिकर अन्यत्र यात्रा करना, अथवा दो बलवान् शत्रुओं में वचनमात्र से आत्मसमर्पण करते हुए दोनों पक्षों का (कभी एक पक्ष का कभी दूसरे पक्ष का) गुप्त रूप से आश्रय करना।
   ६. आश्रय—बलवान् शत्रु से युद्ध करने में स्वयं समर्थ नहीं होने पर किसी दूसरे अधिक बलवान् राजा का आश्रय करना। (अभिधान चिन्तामणि ३।३९९ पृ० १८०,१८१)
५. विहस्तः—व्याकुल (विहस्तव्याकुलौ व्यग्रे—अभि० ३।३०)

'ऐसा युद्ध आपने पहले कभी नहीं देखा है इसलिए आप संग्राम में सावधान रहें। जिसके हृदय में धैर्य सदा क्रीड़ा करता रहता है, वही धीर व्यक्ति यहां रण में लड़ सकेगा।'

२७. श्रीआदिदेवस्य तनूरुहत्वान्न विस्मयो बाहुबलेर्बले मे।
भटास्तदीया मम सैन्यनीरनिधिं विलोक्याऽदधते च धैर्यम् ॥

'बाहुबली ऋषभ के पुत्र हैं, इसलिए मुझे उनके बल में कोई विस्मय नहीं है। उनके सुभट मेरे सैन्य रूपी समुद्र को देखकर धैर्य धारण करते हैं।'

२८. ये धैर्यवन्तः पुरतः सरन्तु, तेऽत्यन्तमौदार्यगुणावदाताः।
विशेद्धि यन्मानसकन्दरेषु, निरन्तरं शौर्यहरिः स शक्तः ॥

'जो धैर्यवान् हैं और औदार्य गुणों से अत्यन्त निर्मल हैं, वे आगे चलें। जिसकी मन रूपी कन्दरा में शौर्य रूपी सिंह निरन्तर रहता है, वही शक्तिशाली होता है।'

२९. रथाश्च वाहाश्च गजाश्च सर्वे, पदातयश्चापि भवन्तु सज्जाः।
नृदेवविद्याधरकुञ्जरेषु, रणो न हीदृग् भविता जगत्याम् ॥

'सभी रथ, घोड़े, हाथी और पदाति सैनिक सज्जित हो जाएं। इस संसार में विशिष्ट मनुष्यों, देवों और विद्याधरों में इस प्रकार का युद्ध कभी नही होगा।'

३०. सुषेणसैन्याधिपते! स्वसैन्यं, विलोकय त्वं मम सन्नियोगात्।
दोर्दण्डकण्डूतिरिहाप्यशेषा, भटैर्भुजेभ्यो हि निवारणीया ॥

'सेनापति सुषेण! तुम मेरी आज्ञा से अपनी सेना का निरीक्षण करो। सुभटों की भुजाओं में खाज चल रही है। उसका सम्पूर्ण निवारण इस रण में भुजाओं से ही करना होगा।'

३१. कालं कियन्तं न मयाऽजिलीला, चक्रे स्वयं सापि करिष्यतेऽत्र।
भानोरनूरुः पुरतो निहन्ति, तमस्तम[1] जेतुमलं न कोऽपि ॥

'मैंने स्वयं इतने समय तक युद्धलीला नहीं की, किन्तु आज मुझे वह करनी होगी। सूर्य का सारथि सूर्य के आगे अन्धकार का नाश करता है किन्तु राहु को जीतने में सूर्य के सिवाय कोई समर्थ नहीं होता।'

---

१. तमः—राहु (तमो राहुः सैंहिकेयो—अभि० २।३५)

'राजन् ! आपने निःशंक होकर मगध आदि तीर्थों को साधा है। अब आपके समक्ष महाराज बाहुबली का अस्तित्व ही क्या है? शेषनाग के समक्ष पृथ्वी के भार को वहन करने वाला दूसरा कौन हो सकता है?'

३८. न नाम नम्यादिरणे महेन्द्र ! , चित्तोन्नति[1]स्ते सुरशैलतुङ्गा।
कुण्ठीभवेत् किं हरि[2]हस्तमुक्तदम्भोलि[3]धारा गिरिपक्षहृत्यै ?

'महेन्द्र ! नमि आदि के साथ युद्ध करने में आपका अहं मेरु की भांति ऊँचा रहा। क्या पर्वतों की पांखों को काटने के लिए इन्द्र के हाथ से मुक्त वज्र की धारा कहीं कुंठित होती है?'

३९. श्रितस्त्वमेवाभ्यधिकोदयत्वाद् , गीर्वाणवृन्दैरभिवन्द्यसत्त्वः।
विश्राणनैरिभ्य इवाऽतदीयैः , संपादितात्युन्नतिसन्निधानैः॥

'अधिक भाग्यशाली होने के कारण अभिवन्दनीय पराक्रम वाले आप देवताओं द्वारा वैसे ही आश्रित हैं जैसे दान के द्वारा इभ्य। वे देवता आत्मीय न होते हुए भी उन्नति का सम्पादन करने में आपके निकटवर्ती रहते हैं।'

४०. त्वमेव चक्री विजयी दिगन्तजेता सुरैः सेवित एव च त्वम्।
किं तर्हि सामन्तजयाय तर्कः , करी प्रभुः किं व्रततीहृते न ?

'राजन् ! आप ही चक्रवर्त्ती हैं, विजेता हैं, दिगन्तों को जीतने वाले हैं और आप ही देवताओं द्वारा उपास्य हैं। ऐसी स्थिति में सामन्त को जीतने की बात ही क्या है? क्या हाथी लता को उखाड़ने में समर्थ नहीं होता?'

४१. त्वामात्मतुल्यं गणयत्यजस्रं , शक्रोऽपि भूशक्रशिरोवतंस ! ।
चिन्तामणिं कोऽपि जहाति हस्तात् , कः पौरुषाद् रोषयते कृतान्तम् ?

'हे राजाओं के मुकुट भरत ! इन्द्र भी आपको सदा अपने समान मानता है। क्या कोई चिन्तामणि रत्न को हाथ से गंवाता है? क्या कोई अपने पौरुष से यमराज को कुपित करता है?'

---

१. चित्तोन्नतिः—अहंकार (मानश्चित्तोन्नतिः स्मयः—अभि० २।२३१)।
२. हरिः—इन्द्र (इन्द्रो हरिर्दुश्च्यवनोऽच्युताग्रजो—अभि० २।८३)
३. दम्भोलिः—वज्र (दम्भोलिर्भिदुरं भिदुः—अभि० २।९४)

'राजन् ! ये हजारों राजे और ये करोड़ों सुभट आपके साथ हैं। वे अपनी भुजाओं रूपी नौकाओं से इस दुस्तर रण-समुद्र को तैरना चाहते हैं।'

४७. अवन्तिनाथोयमुदग्रतेजा, भवन्निदेशार्पितचित्तवृत्तिः ।
यस्य प्रतापज्वलनप्रतप्ता, धारागृहे[1]ष्वप्यरयस्तपन्ति ॥

'यह प्रचण्ड तेजस्वी राजा अवन्ति देश का है। इसने आपकी आज्ञा में ही अपनी मनोवृत्तियों को समर्पित कर रखा है। इसकी प्रताप रूपी अग्नि से संतप्त शत्रु जलगृहों में भी ताप का अनुभव करते हैं।'

४८. स्वप्नान्तरेपि द्विषतां ददाति, दृष्टोयमातङ्कमशङ्कचेताः ।
निःश्वासधूमैश्च पराङ्गनाभिः, सितापि[2] सौधालिरकारि नीला[3] ॥

'जब शत्रु इस निर्भय राजा को स्वप्न में भी देख लेते हैं तो वे भयभीत हो जाते हैं। शत्रुओं की स्त्रियां इसको देखकर निःश्वास छोड़ने लग जाती हैं और तब निःश्वास के धूएं से श्वेत प्रासाद की श्रेणी भी काली हो जाती है।'

४९. अयं पुनर्मागधभूमिपालो, विपक्षकालोऽग्रत एव तेऽस्ति ।
यस्योग्रसैन्यानि हयक्षुराग्रोद्धतै रजोभिः पिदधुर्दिनेन्द्रम् ॥

'मगध देश का यह भूपाल आपके समक्ष ही खड़ा है। यह शत्रुओं के लिए मौत के समान है। इसकी उग्र सेनाओं ने अपने घोड़ों के खुराग्रों से उठे हुए रजःकणों से सूर्य को भी ढक दिया था।'

५०. स सिन्धुनाथः पुरतः स्थितस्ते, यन्नामसंसाध्वसपन्नगेन ।
मूर्च्छन्ति दष्टाः किल भूमिपाला, न जाङ्गुलीकै[4]रपि चेतनीयाः ॥

'आपके समक्ष सिन्धु देश का स्वामी स्थित है। इसके नाम रूपी भयानक सर्प द्वारा डसे हुए राजे मूर्च्छित हो जाते हैं और वे विष-चिकित्सकों से भी सचेतन नहीं हो पाते।'

---

१. धारागृहं—जलगृह ।
२. सितः—सफेद (श्वेतः श्येतः सितः शुक्लः—अभि० ६।२८)
३. नीलः—काला (कालो नीलोऽसितः शितिः—अभि० ६।३३)
४. जाङ्गुलिकः—विष-चिकित्सक (जाङ्गुलिको विषभिषक्—अभि० ३।१३८)
(जाङ्गुलीकः इत्यपि)

५६. शार्दूलमुख्या इतरेऽपि पुत्राः, पवित्रगोत्रा[1]स्तव सन्ति राजन् !।
यदीयवाणासन[2]मुक्तवाणास्तीक्ष्णांशुतप्तं शमयन्ति विश्वम् ॥

'राजन् ! आपके पवित्र वंश वाले शार्दूल आदि दूसरे अनेक पुत्र हैं। धनुष्य की डोरी से छूटे हुए उनके वाण सूर्य से संतप्त विश्व को भी शान्त कर देते हैं।'

५७. विद्याधरेन्द्रास्त्वनवद्यविद्या, रणाय वैताढ्यगिरेः समेताः।
सेवाकृते ते बहुशो विमानैः, सुरा इवेन्द्रस्य ततोत्सवस्य ॥

'आपकी सेवा करने के लिए पवित्र विद्याओं के ज्ञाता विद्याधरों के स्वामी अपने अनेक विमानों को लेकर युद्ध के लिए वैताढ्य गिरि से आए हुए हैं। जैसे विशाल उत्सव वाले इन्द्र के लिए देव आते हैं।'

५८. उदीच्यवर्षार्धमहीभृतोऽपि, त्वामन्वयुस्ते समरोत्सवाय।
सेवां यदीयां रचयन्ति नित्यं, संयोज्य पाणींस्त्रिदशा अपीह ॥

'राजन् ! इस युद्धोत्सव में भाग लेने के लिए उत्तर क्षेत्रार्ध के राजे भी आपके पीछे-पीछे आए हैं। देवता भी हाथ जोड़कर उन राजाओं की सदा सेवा करते हैं।'

५९. षट्खण्डदेशान्तनिवासिनोऽमी[3], एयुः किराताः कृतपत्रिपाताः।
भवन्तमुत्खातविपक्षवृक्षा, मदोत्कटं नागमिव द्विरेफाः ॥

'ये छह खण्डों के सीमान्तवासी किरात आपके चरणों में अपने वाणों को न्योछावर कर आपके पास आए हुए हैं। जैसे भौंरें मदोन्मत्त हाथी को उखाड़ देते हैं, विचलित कर देते हैं, वैसे ही ये किरात भी शत्रु रूपी वृक्षों को उखाड़ देने वाले हैं।'

६०. सहस्रशस्त्वां परिचर्यन्ति, स्वाहाभुजः[4] स्वीकृतशासनाश्च।
तथापि ते तक्षशिलाक्षितीशजये विमर्शः किमकाण्डरूपः ॥

'हजारों देवता आपके अनुशासन को मान्यकर आपकी परिचर्या कर रहे हैं। फिर भी

---

१. गोत्रं—वंश (गोत्रन्तु सन्तानोऽन्ववायोऽभिजनः कुलम्—अभि० ३।१६७)

२. वाणासनं—धनुष्य की डोरी (शिञ्जा वाणासनं द्रुणा—अभि० ३।४४०)

३. अमी एयुः—इत्यत्र 'असंधिरदसोमुमी'—अनेन सूत्रेणासंधिः।

४. स्वाहाभुक्—देव (स्वाहास्वधाक्रतुसुधाभुजः—अभि० २।२)

'महान् सेनाओं के समूह से अतिभीष्म इस बाहुबली को जीतने पर ही मैं कृती (निपुण) कहला सकूंगा। उसको जीत लेने पर ही छह खंडों का यह साम्राज्य मुझे संतुष्ट कर सकेगा, अन्यथा नहीं।'

६६. इत्थं गिरं व्याहरति क्षितीशे, निःस्वाननादाः पुरतः प्रसस्रुः।
रजस्वलाश्चाप्यभवन् दिशो द्राग्, भूभामिनी कम्पमपि व्यधासीत्॥

भरत चक्रवर्ती यों कह ही रहे थे कि इतने में ही युद्धवाद्यों के शब्द चारों ओर फैल गए। सारी दिशाएं शीघ्र ही रजस्वला हो गईं—रजों से व्याप्त हो गईं और पृथ्वी रूपी भामिनी कांपने लगी।

६७. ततो मुहूर्तेन रथाश्वनागपत्तिध्वनिः प्रादुरभूत् समन्तात्।
ततः परं बाहुबलेर्निदेशान्नरेन्द्रमागत्य चरास्तदोचुः॥

कुछ समय पश्चात् रथ, अश्व, हाथी और पैदल—इन चारों सेनाओं की ध्वनि चारों ओर से प्रगट हो गई। उसके बाद बाहुबली की आज्ञा से गुप्तचर भरत के पास आकर बोले—

'६८. अस्मन्मुखेन क्षितिराजराज!, त्वां पृच्छतीति प्रभुरस्मदीयः।
संकेतिता क्वापि रणस्य भूमिर्यत्रावयोः सङ्गम एष भावी?

'हे चक्रवर्त्तिन्! हमारे स्वामी बाहुबली हमारे मुख से आपको यह पूछ रहे हैं कि क्या रणभूमी का कहीं निश्चय किया है, जहाँ कि हम दोनों-(भरत-बाहुबली) का यह संगम होगा?'

६९. अस्मत्क्षितीशः समराय राजन्!, भटान् स्वकीयांस्त्वरते विशेषात्।
महाबलाः प्रस्तुतयुद्धकेलिं, कर्तुं यदुत्साहरसं धरन्ति॥

'राजन्! हमारे राजा बाहुबली अपने सुभटों को संग्राम के लिए विशेष रूप से त्वरित कर रहे हैं। उनके महान् पराक्रमी सुभट प्रस्तुत युद्ध-क्रीड़ा करने के लिए उत्साह-रस को धारण कर रहे हैं।'

७०. त्वं पश्य राजन्! प्रभुरागतो नः, सैन्यैरमेयैः परिवारितोऽयम्।
यदीयभारान्नमतीह किञ्चित्, सर्वंसहा[1] खेदभरं धरन्ती॥

---

१. सर्वंसहा—पृथ्वी (सर्वंसहा रत्नगर्भा—अभि० ४।३)

तेरहवां सर्ग

प्रतिपाद्य--	वाहुवली का अपनी सेना के साथ संग्रामभूमी में आगमन।
श्लोक परिमाण—	६७
छन्द—	वंशस्थ।
लक्षण—	देखें, सर्ग १ का विवरण।

कथावस्तु—

युद्ध की वात सुनकर सुभट प्रफुल्लित हो गए। सभी सुभट अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो गए। कुछ सुभट देवताओं से विजय की याचना करने लगे। कुछ ने ऋषभ को याद किया, कुछ ने अग्नि में आहुतियां दीं और कुछ शुभ शकुन की प्रतीक्षा करने लगे।

महाराज वाहुवली भी युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। उन्होंने युद्धोत्साह के रस से छलाछल, रोमांचित करने वाली और धैर्ययुक्त वाणी से अपने पराक्रमी पुत्रों, सुभटों और राजाओं को प्रेरणा दी।

उन्होंने कहा—'आप लोगों ने अभी तक किसी युद्ध में भाग नहीं लिया है इसलिए आप उसकी व्यूह रचनाओं को नहीं जानते। मेरे पुत्र भी युद्ध से अनजान हैं। अच्छा यही है कि मैं स्वयं भरत से लड़कर उसे जीतूं। भरत में शक्ति और चक्र का गर्व है। मैं उस गर्व को चकनाचूर कर डालूंगा। मेरी भुजाएं उसे पछाड़ देंगी।' यह सुनकर पुत्र सिंहरथ ने कहा—'इतने सारे पुत्रों और राजाओं के होते हुए भी यदि आप स्वयं युद्ध में जाएं तो हमारे लिए लज्जा की वात होगी। हमें भी अपना पराक्रम दिखाने का अवसर दें।' पुत्रों की वाणी से वाहुवली प्रसन्न हुए और सिंहरथ को सेनापति वना दिया।

सुभटों ने रात को व्यवधान माना और वे सूर्योदय की प्रतीक्षा करने लगे। प्रभात हुआ। महाराज वाहुवली श्वेत वस्त्र पहन कर ऋषभ के चैत्य की ओर गए। भगवान की स्तुति की। स्तुति संपन्न कर वे चैत्य से वाहिर आए और आयुधों से सज्जित होकर भरत से पहले ही रणभूमी में आ पहुंचे।

त्रयोदशः सर्गः

१. उपेत्य तौ विन्ध्यहिमाद्रिसन्निभौ , परिस्फुरत्केतनकाननाञ्चितौ ।
दिनात्ययेऽनुत्रिदशापगातटं , ततो निवेशं बलयोर्वितेनतुः ॥

विन्ध्य और हिमालय पर्वत के सदृश तथा फहराती हुई ध्वजाओं रूपी कानन से युक्त बाहुबली और भरत—दोनों सायंकाल के समय गंगा के तट पर आये । वहाँ उन्होंने अपनी-अपनी सेनाओं का पड़ाव डाला ।

२. सुरासुरेन्द्राविव मत्तमत्सरौ , दिनेशचन्द्राविव दीप्रतेजसौ ।
न्यषीदतां स्वर्गनदीतटान्तिके , पताकिनीप्लावितभूतलाविमौ ॥

वे दोनों सुरेन्द्र और असुरेन्द्र की भांति मत्त और मत्सरी तथा सूर्य और चन्द्रमा की भांति प्रचण्ड तेजस्वी थे । दोनों अपनी-अपनी सेनाओं से भूतल को आप्लावित करते हुए गंगा नदी के तट के समीप ठहर गए ।

३. अवाचयेतामिति वेत्रपाणिभिः , स्वसैनिकांस्तौ भविता इव आहवः ।
तदत्र सज्जा भवत प्रभूदितैर्गजाः प्रणुन्ना इव कर्कशाङ्कुशैः ॥

दोनों राजाओं ने अपने सैनिकों को प्रहरी के द्वारा यह कहलाया कि कल युद्ध प्रारम्भ होने वाला है, अतः सब सैनिक स्वामी की आज्ञा से सज्जित हो जाएँ, जैसे कर्कश अंकुश से प्रेरित हाथी युद्ध के लिए तैयार होते हैं ।

४. गिरं भटा वेत्रभृतां निपीय ते , मुदं परां प्रापुरिति स्वचेतसि ।
उपस्थितो नः समरोत्सवश्चिराद् , रथाङ्गनाम्नामिव भास्करोदयः ॥

प्रहरियों से युद्ध की बात सुनकर वे सभी सुभट मन में यह सोचकर बहुत [illegible]
कि आज यह युद्धोत्सव हमें चिरकाल से प्राप्त हुआ है जैसे चकवों के [illegible]
उदय ।

कर कहा—'राजाओ ! आप लोग चक्रवर्ती की महान् सेना को देखकर युद्ध-क्षेत्र में कम्पित मत हो जाना ।'

१०. महारणोर्वीधर एष दुर्गमश्चरिष्णुकण्ठीरवनादभीषणः ।
समुच्छलच्चक्रदवानलज्वलत्प्रभाप्रतप्ताखिलवीरभूरुहः ॥

'यह भरत महान् रण रूपी पर्वत के समान है। यह दुर्गम और चारों ओर गूंजनेवाले सिंहनादों से भीषण है। इसने उछलती हुई चक्र की ज्वालाओं की तप्त प्रभा से सम्पूर्ण वीर सुभट रूपी वृक्षों को संतप्त कर डाला है।'

११. अयं समादाय बलं त्वमूदृशं, समागतो योधयितुं प्रसह्य माम् ।
ततो न हेया सहचारिधीरता, जयः कलौ धैर्यवतां हि सम्भवेत् ॥

'यह भरत इस प्रकार की सेना को लेकर युद्ध करने के लिए सहसा मेरे सामने आ पहुँचा है। इसलिए हमें अपने सहचारी धैर्य को नहीं खोना है। क्योंकि युद्ध में जय उन्हें ही प्राप्त होती है जो धैर्यशाली होते हैं।'

१२. भटास्तदीयाः कलिकर्मकर्मठा, भवद्भिरालोकि रणो न कुत्रचित् ।
रणप्रवृत्तिर्हृदयङ्गमा यतो, भवेद् दविष्ठैव[1] न चात्मवर्तिनी ॥

'भरत के सुभट युद्ध करने में कर्मठ हैं। आपने कहीं युद्ध देखा नहीं है। क्योंकि युद्ध की प्रवृत्ति दूसरे के साथ लड़ने से ही हृदयंगम होती है, अपने आप हृदयंगम नहीं होती।'

१३. सुलोचनानां मुखमेव मोहने, न सङ्गरे वीरमुखं व्यलोक्यत ।
भटा ! भवन्तः कुचकुम्भमर्दिनः, करीन्द्रकुम्भस्थलपातिनो न वा ॥

'सुभटो ! आपने रति-काल में स्त्रियों का मुख ही देखा है किन्तु युद्ध में वीरों का मुख नहीं देखा। आप सब स्त्रियों के स्तन रूपी कलशों का मर्दन करने वाले हैं, किन्तु हाथियों के कुम्भस्थल का मर्दन करने वाले नहीं हैं।'

१४. सुता मदीया अपि च स्तनन्धया, विदन्ति नो सङ्गरभूमिचारिताम् ।
अमीभिराप्यो विजयः कथं कलौ, खपुष्पवत् प्रौढिमतां[2] हि सिद्धयः ॥

'मेरे पुत्र भी छोटे हैं। वे युद्ध-भूमी के आचरण को नहीं जानते। वे युद्ध में आकाश-कुसुम

१. दविष्ठा—दूरस्थिता—अपरसंबद्धेति तात्पर्यम् ।
२. प्रौढिमान्—उद्यमशील (प्रौढिरुद्योगः नियदेशिका—अभि० २।२१४)

संशय को स्थान न दें। भरत अपनी सेना के साथ मेरे सामने भले ही आएँ, मैं उसे अपनी इन भुजाओं के परिवार से ही सहन कर लूंगा।'

२०. अथाहवोत्साहरसोच्छलच्छिरोरुहप्ररूढोद्धतधैर्यवर्यया।
महारथः सिंहरथः पितुर्गिरा, त्वितीरितो व्याहरतिस्म सस्मयम्॥

इस प्रकार बाहुबली ने युद्धोत्साह के रस से छलाछल, रोमांचित करनेवाली और प्रचण्ड धैर्य से युक्त वाणी द्वारा अपने पुत्र महारथ और सिंहरथ को युद्ध के लिए प्रेरित किया। पिता की वाणी सुन अत्यन्त विस्मित होकर सिंहरथ ने कहा—

२१. इदं भवद्भिर्न हि युक्तमीरितं, यतोऽप्यनेके तनयास्तवाग्रतः।
अमी स्थिता वर्महराः क्षितिश्वरा, रणाय वांछन्ति तवैव शासनम्॥

'पिता जी! आपने यह उचित नहीं कहा। आपके समक्ष आपके अनेक पुत्र युद्ध के लिए तैयार हैं। शत्रुओं के कवचों का हरण करनेवाले ये भूपाल आपके सामने बैठे हैं। युद्ध के लिए ये केवल आपकी ही आज्ञा चाहते हैं।

२२. विदित्वरी देव! भवद्भुजद्वयी, जयाय जिष्णोरपि नुश्च[1] का कथा।
अमीषु सत्स्वङ्गरुहेषु यत् पिता, स्वयं विगृह्णाति किमु ह्रिये न तत्?

'देव! आपकी ये दोनों भुजायें इन्द्र को जीतने में प्रसिद्ध हैं, फिर मनुष्य की बात ही क्या? इन पुत्रों के होते हुए भी यदि पिता स्वयं युद्ध में जाए तो क्या यह हमारे लिए लज्जास्पद बात नहीं है?'

२३. क्षितीश्वरे पृष्ठमधिष्ठिते भटा, रणागतान् यच्च जयन्ति विद्विषः।
प्रभोर्महत्त्वाय तदेव सांप्रतं, दुरुत्तरोऽम्भोनिधिरूर्मिभिर्यतः॥

'राजा द्वारा पीठ थपथपाए जाने पर वे सुभट युद्ध में आये हुए शत्रु-सुभटों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। स्वामी के महत्त्व के लिए यही उचित है। क्योंकि ऊर्मियों के कारण ही समुद्र दुरुत्तर होता है।'

२४. विलोकतां नः समरं तथाविधं, पिता स्वचित्ते च बिभर्त्तु संमदम्।
यदुद्वहा[2] वैरिविलापनोविनः, स एव तातो जगतीह कीर्त्तिमान्॥

---

१. नुः—मनुष्यस्य।

२. उद्वहः—पुत्र (उद्वहोऽङ्गात्मजः सूनुः—अभि० ३।२०६)

'पिताश्री ! आप हमारे उस प्रकार के युद्ध को देखें और अपने मन में प्रसन्न रहें। जिस पिता के पुत्र शत्रुओं की सेना को भगा देने में समर्थ होते हैं, वही पिता इस संसार में कीर्तिमान् होता है।'

२५. त्रपेत तातस्तनुजैरकिञ्चनैः, पितामहः श्रीवृषभध्वजोऽपि नः।
युयुत्सवोऽतस्तनुजाश्च भूभुजो, भवन्निदेशात् प्रसरन्तु संयते।

'निर्वीर्य पुत्रों से हमारे पिता आप और हमारे पितामह ऋषभदेव भी लज्जित होंगे। इसलिए हम और ये सारे राजा युद्ध करने के इच्छुक हैं। आपकी आज्ञा से ये युद्ध के लिए प्रसरण करें।'

२६. कृतं स्वनामापि न येन विश्रुतं, भुवस्तले जीवति वाऽनुपद्रवम्।
स एव पश्चात् पितुरेष किं जनः, करिष्यति ह्यात्मभुवः पितुर्मुदे ॥

'जो पुत्र अपने पिता की जीवित अवस्था में ही अपने नाम को निर्विघ्न रूप से विश्रुत नहीं कर देता, वह पिता के मर जाने पर क्या करेगा? क्योंकि पुत्र ही पिता के लिए आनन्ददाता होते हैं।'

२७. यदा समेता समरे तवाग्रजस्तदैव तातेन रणो विधित्स्यते।
द्वयोः समानत्वमवाप्य सङ्गरे, मनोजयश्रीरपि संशयेत हि ॥

'जब आपके बड़े भाई युद्ध-स्थल में आयें, उसी समय आप उनके साथ लड़ें। युद्ध में दोनों की समानता देखकर मन रूपी विजयलक्ष्मी भी संशय में पड़ जाएगी।'

२८. ततोऽनुमन्यस्व रणाय भूभुजो, निजांस्तनूजांश्च परं निषिध्य[1] मा।
कथं सुता बाहुबलेर्बलोत्कटा, भवन्ति नो वाच्यमिति श्रयेम यत् ॥

'इसलिए आप राजाओं और अपने पुत्रों को रण के लिए प्रस्थान करने की आज्ञा दें। परन्तु आप निषेध न करें। अन्यथा हमें यह सुनने को मिलेगा कि बाहुबली के पुत्र पराक्रमी नहीं हैं।'

२९. इतीरिणि स्वैरमुदात्तविक्रमे, प्रसादमाधत्त नृपो दृशाङ्गजे।
नृपाः प्रसीदन्ति दृशैव नो गिरा, विदुर्दृशं येऽत्र त एव वाग्मिनः ॥

पुत्रों का उदात्त पराक्रम और हर्षोत्फुल्ल वाणी को सुनकर बाहुबली का मन प्रसन्नता

१. षिधूच्—संराद्धौ इति धातोः तुदादेः मध्यमपुरुषस्य एकवचनम्।

से भर गया। उन्होंने प्रेमभरी आँखों से पुत्रों को देखा। राजा आँखों से ही प्रसन्नता व्यक्त करते हैं, वाणी से नहीं। जो राजाओं की आँखों को पढ़ना जानते हैं, वे ही वाक्पटु होते हैं।

३०. अथ प्रगल्भं नृपतिर्निजात्मजं, तमेव सेनाधिपतिं चकार सः।
य एव नासीरतया[1] प्रवर्तते, स एव धुर्यो भवति प्रयोजने॥

तब बाहुबली ने अपने प्रतिभा-सम्पन्न उस पुत्र (सिंहरथ) को ही सेनापति बना दिया। जो पुरुष अग्रणी होकर प्रवृत्त होता है वही, प्रयोजन उपस्थित होने पर प्रमुख बन जाता है, नेता बन जाता है।

३१. अमुं चमूनाथमवाप्य सैनिका, मुदं परां प्रापुरुदग्रतेजसम्।
महान्धकारे रजनीमुखे जनाः, करे सदीपे न मुदं वहन्ति के?

उस प्रचण्ड तेजस्वी सेनापति को पाकर सारे सैनिक बहुत प्रसन्न हुए। ऐसे कौन व्यक्ति होंगे जो सघन अन्धकार वाली रात्री में दीपक वाले हाथ को पाकर प्रसन्न न होते हों?

३२. अमंसत श्रीबहलीक्षितीशितुर्भटास्तदौत्सुक्यरसात् कलेरिति।
युधो व्यवायो[2] रजनी यतो हि नो, रविं विनैनां न हि कोप्यपास्यति॥

युद्ध करने की अत्यन्त उत्सुकता के कारण बाहुबली के सुभटों ने यह माना कि यह रात हमारे युद्ध के लिए विघ्न हो रही है। सूर्य के विना इसे कोई भी दूर नहीं कर पायेगा।

३३. भविष्यति श्वः समरो नरेशितुर्नरा वदन्तीति निशम्य केश्चन।
किमद्य नो युद्ध्यत एवमूहितं, रताहवौ मोदयुतौ हि भाविनौ॥

राजा के लोग यह कह रहे हैं कि 'कल युद्ध होगा।' यह सुनकर कुछ सुभटों ने यह तर्कणा की कि क्या आज युद्ध नहीं होगा? युद्ध में रत होने पर ही ये दोनों भाई (महारथ और सिंहरथ) मोदयुक्त होंगे।

३४. मधुव्रतव्रातसहोदरं तमः, ससार सर्वत्र दृशीव कज्जलम्।
रुचो रजन्यामिति दोष्मतां पुनः, प्रसत्तु्रद्यापि कियत्पसौ तता॥

१. नासीरतया—अग्रगामितया।
२. व्यवायः—विघ्न (विघ्नेन्तरायप्रत्यूहव्यवायाः—अभि० ६।१४५)

जैसे आंखों में कज्जल व्याप्त होता है, वैसे ही रात्री में सर्वत्र भौरों के समूह जैसा सघन काला अन्धकार चारों ओर फैल गया। यह देखकर भुज-पराक्रमी सुभटों का रात्री के प्रति रोष उभर आया। उन्होंने सोचा—'अभी भी यह रात कितनी लम्बी है?'

३५. तमो निरस्यत्सहसा प्रभाभरैर्विलोक्य वीराः समरोत्सुकारततः।
परस्परामूचुरिति प्रभाकरोऽभ्युदेति किं वाऽयमुदेति चन्द्रमाः ?

प्रभा के समूह से सहसा अन्धकार नष्ट हो गया। यह देखकर संग्राम के लिए उत्सुक वीर सुभटों ने परस्पर यह तर्कणा की कि क्या सूर्य उदित हो रहा है या चन्द्रमा ?

३६. शशाङ्ककान्तेन समं मिलन्त्यसौ, विराममायाति न किं विभावरी।
तमिस्रकास्तूरिकयक्षकर्दमक्षयान् मृगाक्षी न रते हि तुष्यति॥

अपने पति चन्द्रमा के साथ संगम करती हुई यह रात्री विराम क्यों नहीं लेती? क्योंकि काली कस्तूरी के मिश्रण से बने हुए सुगन्धित लेप के क्षीण हो जाने पर सुन्दरी रति-काल में संतुष्ट नहीं होती।

३७. इमा नलिन्यो विनिमिल्य लोचने, निशि प्रसुप्तास्तरणेर्वियोगतः।
अलोकयन्त्यः सकलं निशाकरं, रुचिर्हि भिन्ना मनसो जगत्त्रये॥

ये कमलिनियां सूर्य के वियोग से आंखें मूंदकर रात्री में सो रही हैं। ये पूर्ण चन्द्रमा को भी नहीं देख पा रही हैं। क्योंकि तीनों जगत् में प्राणियों की मानसिक रुचि भिन्न-भिन्न होती है।

'हे चन्द्र ! आकाश रूपी लक्ष्मी का ताराओं से चपल और विचित्र मुंह को चारों ओर से देखकर चक्रवाकों के युगल वियुक्त हो गए। इसलिए रात्री आनन्ददायी नहीं है।'

४०. अयं बलाद् बाहुबलिः क्षितीश्वरो, युयुत्सु[1]रादास्यति मामकं रथम्।
इतीव साशङ्कतया गभस्तिमा[2]नुदेति नाद्यापि न याति यामिनी॥

'युद्ध के इच्छुक महाराज बाहुबली मेरे रथ को बलात् ग्रहण न कर लें'—इस आशंका से सूर्य अभी भी उदित नहीं हो रहा है और रात नहीं बीत रही है।

४१. इयं त्रियामेति मता तमस्विनी, वदन्ति यच्छास्त्रविदस्तदन्यथा।
अभूदियं त्वद्य सहस्रयामभुक्, युयुत्सवस्तेऽन्तरिति व्यतर्कयत्॥

'शास्त्रकार यह मानते और कहते हैं कि रात त्रियामा (तीन यामों वाली) होती है। किन्तु यह बात अन्यथा हो रही है। यह तो आज हजारों यामों वाली बन गई है—योद्धाओं ने मन में ऐसी वितर्कणा की।

४२. महाहवौत्सुक्यभृतां तरस्विनां, सुधावदेषां भवतिस्म सङ्गरः।
ततस्तदीयापि बभूव तादृशी, प्रवृत्तिरिष्टं हि मनोविनोदकृत्॥

महान् युद्ध की उत्सुकता से भरे उन पराक्रमी सुभटों के लिए युद्ध अमृत की भांति था। उन सुभटों की प्रवृत्ति भी वैसी ही हो गई। क्योंकि इष्ट प्रवृत्ति मन का विनोद करने वाली होती है।

४३. इतीरिणः केचन संलयान्तरे, मम क्व वर्मास्त्रकलापवाजिनः।
समुद्यता योद्धुमलं निवारिता, बहुस्त्रियामेत्यनुगैश्च चानुगैः॥

'मेरा कवच, अस्त्र, तरकस और घोड़ा कहां है—इस प्रकार वितर्कणा करते हुए कुछ सुभट नींद में ही युद्ध करने के लिए उद्यत हो गये। तब उनके अनुगामियों ने यह कहकर उन्हें रोक दिया कि अभी रात बहुत बाकी है।

४४. रविः किमद्यापि न हन्ति शर्वरीं, कथं न शीतांशुरपैत्यदृश्यताम्?
दिशः प्ररुष्टा इव नो वदन्त्यमूः, कथं विरावैरिति केचिदब्रुवन्॥

---

१. युयुत्सुः—योद्धुमिच्छुः।
२. गभस्तिमान्—सूर्य।

कुछ सुभटों ने यह कहा—'सूर्य अब तक भी रात को पूरी क्यों नहीं करता ? चांद आँखों से ओझल क्यों नहीं हो जाता ? रूठे हुए व्यक्तियों की भाँति ये दिशायें पक्षिय के कलरव से मुखरित क्यों नहीं हो रही हैं ?'

४५. इति क्रमाद् युद्धरसाकुलैर्भटैः, प्रभापितेव क्षणदा[1] क्षयं गता ।
ततः शशाङ्कोऽपि निलीनवान् क्वचिद्, वधूवियोगे विधुरीभवेन्न कः ?

इस प्रकार युद्ध के रस से आकुल हुए सुभटों द्वारा मानों डरी हुई रात क्रमशः पूरी हो गई । उसके बाद चांद भी कहीं विलीन हो गया । पत्नी के वियोग में कौन पुरुष विधुर नहीं होता ?

४६. निमीलिताक्षा हि कुमुद्वतीततिस्तदा वियोगाच्छशिनोऽप्यजायत ।
अयं विवस्वान्न विलोक्य एव मे, किमत्र सत्यन्यतरावलोकिनी ?

चन्द्रमा के वियोग से कुमुदिनी की श्रेणी ने अपनी आँखें मूंद लीं, वह सिकुड़ गई। उसने सोचा—'मैं इस सूर्य को देखूं ही नहीं । क्योंकि जो पर-पुरुष को देखती है, वह कैसी सती ?

४७. करीन्द्रकुम्भप्रतिमेयमानिनीस्तनद्वयाघट्टनमन्थरो मनाक् ।
सरिद्वरा[2]वारिजपांसुपिञ्जरो, विभातवायुर्विललास भूतले ।।

प्रभात का पवन सारे भूतल पर बहने लगा । वह पवन गंगा नदी में खिले कमलों के पराग से पीत-रक्त होकर हाथी के कुम्भस्थल से प्रतिमेय सुन्दरियों के स्तनों के संघट्टन के कारण धीरे-धीरे बह रहा था ।

४८. अथावनीशक्रमिति स्तुतिव्रता, व्यबूबुधन् सस्तुतिभिर्वचोभरैः ।
उपस्थिता द्वारि वुवूर्षया[3] तवाधुना जयश्रीर्जगदीशनन्दन ! ।।

स्तुतिकारों ने प्रशंसायुक्त वचनों से महाराज बाहुबली की स्तुति करते हुए कहा—'हे जगदीशनन्दन ! अभी आपको वरण करने की इच्छा से विजयश्री द्वार पर उपस्थित है ।'

४९. त्वयैव सावज्ञतया न हीयते, महीन्द्र ! शय्या सहजेव धीरता ।
अमी च संनह्य भटाः सुतास्तवाजये चिकीर्षन्ति मनस्त्वदाज्ञया ।।

---

१. क्षणदा—रात्री (शर्वरी क्षणदा क्षपा—अभि० २।५५)
२. सरिद्वरा—गंगा ।
३. वुवूर्षा—वरितुमिच्छा ।

'राजन् ! आप अवज्ञा से उसका त्याग न करें। जैसे शय्या सहज होती है, वैसे ही राजाओं में भी धीरता सहज होनी चाहिए। ये सभी सुसज्जित भट और आपके ये पुत्र जय प्राप्त होने तक आपकी आज्ञा से युद्ध लड़ने की इच्छा रखते हैं।'

५०. अयं नभोध्वा भविताद्य संकुलः, सकौतुकाकूतनभश्चरागमैः।
वितर्क्य ताराभिरितीव दृश्यताऽनुपाश्रिता ह्यर्तिकरः परागमः॥

'आज कुतूहलवश आने वाले विद्याधरों से यह आकाशमार्ग संकुल हो जाएगा'—ऐसी वितर्कणा कर तारे भी लुप्त हो गए। क्योंकि अपने स्थान में दूसरों का आगमन पीड़ाकारक होता है।

५१. हरिन्नवोढेव च शातमन्यवी[1], नितान्तमाक्रम्यत तिग्मतेजसा।
अपश्चिमोर्वीधरवाससद्मनि, प्रक्लृप्तकश्मीररुहा[2]ङ्गरागिणी॥

पूर्वाचल के वासगृह में रहने वाली तथा कुंकुम का अंगराग की हुई पूर्व दिशा को सूर्य ने नवोढा की भाँति आक्रान्त कर डाला।

५२. तमाल[3]तालीवनराजिविभ्रमं, तमो निलिल्येऽस्तमहीधरोदरम्।
उदित्वरे भास्वति संभवेत्तरां, कियच्चिरं क्षोणिप ! कश्मला स्थितिः ?

'तमाल और ताली वनराजि जैसा अत्यन्त काला अन्धकार अस्ताचल के उदर में विलीन हो गया। राजन् ! प्रकाशवान् सूर्य के उदित होने पर मलिन स्थिति (अंधकार) कितने काल तक टिक सकता है ?'

५३. विभो ! तवालोकरवं ददत्यमूर्दिशः प्रभातोत्थविहङ्गमारवैः॥
इयं रणक्षोणिरपीहतेतरां, भवन्तमेकान्तसतीव वल्लभम्॥

'प्रभो ! ये दिशायें भी प्रभातकाल में होने वाले पक्षियों के कलरव से आपके लिए प्रकाश का गीत गा रही हैं। जैसे पवित्र सती अपने प्रियतम को ही चाहती है वैसे ही यह रणभूमी भी आपको चाह रही है।'

---

१. शातमन्यवी—ऐन्द्री—पूर्व दिशा। (Belonging or relating to Indra—Apte.)
२. कश्मीररुहः—कुंकुम (काश्मीरजन्म घुसृणं—अभि० ३।३०८)
३. तमालः—तमालवृक्ष (तापिञ्छस्तु तमालः स्यात्—अभि० ४।२१२)

५४. भवानमुं नागमनन्तविक्रमं, युधे समारोहतु दानशालिनम् ।
वृषेव[1] हाराञ्चितकण्ठकन्दलः, पुनर्दृशामुत्सवमातनोतु ॥

'राजन् ! आप युद्ध के लिए इस अनन्त विक्रमशाली तथा झरते हुए मदवाले हाथी पर इन्द्र की भांति आरूढ़ हों और हार से सुशोभित कंठ वाले आप हमारे नयनों में उत्सव भरें ।'

५५. समीरितो मागधवाग्भिरित्यसौ, जहौ विधिज्ञः शयनीयमञ्जसा ।
क्वचित् प्रमाद्यन्ति न हीदृशाः क्षितौ, मृगारयो जाग्रति किं मृगारवैः ?

मंगल-पाठकों के वचनों से इस प्रकार प्रेरित होकर विधिज्ञ राजा बाहुबली तत्काल अपनी शय्या से उठे । संसार में ऐसे व्यक्ति कहीं प्रमाद नहीं करते । क्या सिंह हिरणों के शब्द से जागृत होते हैं ? कभी नहीं ।

५६. दिवामुखत्याज्यविधिं विधाय स, सिताब्जशुभ्रे परिधाय चांशुके ।
युगादिदेवस्य जगाम मन्दिरं, शशीव बिभ्रच्छरदभ्रविभ्रमम् ॥

प्राभातिक विधि (शौच आदि नित्यकर्म) को सम्पन्न कर महाराज बाहुबली ने श्वेत कमल की भांति शुभ्र उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने और शरद्ऋतु के बादलों की शोभा वाले उस ऋषभदेव के मन्दिर में चन्द्रमा की भाँति प्रवेश किया ।

५७. स्तवप्रसूनाक्षतसंचयैस्ततः, स पूजयामास मुदाऽतिमेदुरः ।
उपार्जयन् कीर्त्तिजयश्रियः सुखीभवेत् स एवात्र हि यो जिनार्चकः ॥

बाहुबली ने अत्यन्त प्रमुदित होकर भगवान् ऋषभ की स्तवनाओं, पुष्पों और अक्षतों से पूजा की । जो पुरुष जिनेश्वर देव की पूजा करता है वह कीर्त्ति, विजय और लक्ष्मी का उपार्जन कर इस संसार में सुखी होता है ।'

५८. अथार्चयित्वा विधिवत् क्षितिश्वरो, जिनेश्वरं भक्तिभरातिभासुरः ।
स्तवैस्तनूजीवविरागितामयैः, स्वयं च तुष्टाव सतां ह्ययं क्रमः ॥

भक्ति के भावों से अत्यन्त देदीप्यमान महाराज बाहुबली ने जिनेश्वरदेव की विधिवत् पूजा की और शरीर तथा आत्मा में वैराग्य उत्पन्न करने वाली स्तवनाओं से स्वयं ने उनकी स्तुति की । क्योंकि सज्जन व्यक्तियों की यही विधि होती है ।

---

१. वृषा—इन्द्र (वृषा शुनासीरसहस्रनेत्रौ—अभि० २।८६)

५९. सनाथा जीवेन प्रसभमुपभुंक्षे सुखचयं ,
त्वनेन त्वं त्यक्ता क्वचन लभसे नादरभरम् ।
यथा ते जीवोऽयं सुखयतितरामस्य सुखदं ,
तनो ! पञ्चाङ्ग्यातः प्रणम जिनराजं किल तथा ॥

'हे शरीर ! तुम आत्मा से सनाथ होकर हठपूर्वक सुखों का उपभोग करते हो । एक दिन यह तुमको छोड़ देगा । उस समय तुम्हें कहीं आदर नहीं मिलेगा । जिस प्रवृत्ति से तुम्हारी यह आत्मा सुखी हो सके वैसी प्रवृत्ति करो—आत्मा के लिए सुखद जिनराज को तुम पंचांग नमस्कार करो ।'

६०. भवत्यां लुब्धाशः कलयति तनो ! दुःखमसुमान् ,
न हस्ती हस्तिन्यामिव किमु वशास्पर्शरसिकः ?
तनूरेषा नो ते त्वमपि न हि तन्वा भवसि वा ,
जिनार्चातः शस्या भवतु तदनित्या स्थितिरियम् ॥

'हे शरीर ! तुम्हारे प्रति आसक्त मनुष्य स्त्री के स्पर्श का रसिक होकर क्या हथिनी के प्रति आसक्त हाथी की भांति दुःख को प्राप्त नहीं होता ? आत्मन् ! यह शरीर तुम्हारा नहीं है और न तुम उसके हो । तुम दोनों की यह अनित्य स्थिति भगवान् की पूजा से प्रशंसनीय हो ।'

६१. व्यपास्ता जीवो मा क्वचिदपि गमी काञ्चन गतिं ,
तदस्मिन् भोक्तव्या इह हि बहुधा भोगततयः ।
न सन्देहो देह ! त्वयि परमयं त्वय्यविरतो ,
न वेत्त्येवं जीवो न हि जिनगिरा त्वां तुदति यत् ॥

शरीर सोचता है कि 'यह जीव मुझे कहीं भी छोड़ देगा और किसी गति में चला जायेगा इसलिए इसके रहते हुए मुझे बहुत प्रकार के भोगों का सेवन कर लेना चाहिए ।' 'देह ! तुम्हारे इस चिन्तन में कोई सन्देह नहीं किन्तु यह जीव तुम्हारे प्रति अविरत है —असंयत है इसलिए वह यह नहीं जानता जो कुछ तुम्हें कष्ट हो रहा है, वह जीव के असंयम के कारण है, न कि जिन भगवान् की वाणी के कारण ।'

६२. नियन्ता जीवोऽयं तदनु करणः स्यन्दननिभः ,
षडक्षोक्षग्रामः पृथगयनगत्युत्सुकमनाः ।
त्वदीयं चातुर्यं तदि यदि जिनादिष्टपदवी ,
त्वया नोल्लंघ्येताक्षरनगरसंप्राप्तिनिपुणा ॥

'जीव सारथि है। उसके पीछे-पीछे चलने वाला यह शरीर रथ के सदृश है। छह इन्द्रियां रथ को खींचने वाले छह बैल हैं। ये भिन्न-भिन्न मार्गों में जाने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु हे सारथि! तुम्हारा चातुर्य तब है जब तुम मोक्ष नगर की प्राप्ति में निपुण तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का उल्लंघन न करो।'

६३. भवन्नत्यै मौलिर्व्यरचि मम हस्ताब्जयुगली,
जिन! त्वत्पूजायै चरणयुगली चापि विधिना।
भवत्कल्याणालीविशदवसुधास्पर्शनकृते,
ममेत्येते कायावयवविसराः सन्तु सफलाः ।।

'हे जिनेश्वर! आपको प्रणाम करने के लिए मेरे मस्तक की, आपकी पूजा के लिए मेरे दोनों हाथों की और आपके पंच कल्याणों द्वारा निर्मल बनी हुई भूमि का स्पर्श करने के लिए मेरे इन दोनों चरणों की भाग्य ने रचना की है। इस प्रकार मेरे शरीर के ये सारे अवयव सफल हों।'

६४. स्तुत्वेति क्षितिवासवो जिनवरं श्रीनाभिराजाङ्गजं,
चैत्यादेत्य बहिश्च कङ्कट[1]वरं व्याधाम[2]धारापहम्।
संग्रामाय दधौ विभावसुरिव प्रोद्दीप्रमंशुव्रजं,
तूणीरद्वितयं च पाणिकमले द्राक् कालपृष्ठं धनुः ।।

इस प्रकार नाभिराज के पुत्र भगवान् ऋषभ की स्तुति सम्पन्न कर महाराज बाहुबली चैत्य से बाहर आए। उन्होंने संग्राम के लिए वज्र के प्रहारों को झेलने में समर्थ कवच धारण किया। जैसे सूर्य प्रचण्ड किरणों के समूह को धारण करता है वैसे ही उन्होंने तीखे तीरों से भरे-पूरे दो तूणीर धारण किए और अपने हाथ में कालपृष्ठ धनुष्य लिया।

६५. आरोहद् द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं निर्यन्मदाम्भोधरं,
मूर्तं मानमिव प्रमाणरहितं प्रोद्यत्प्रभालक्षणम्।
कोटीरद्युतिदीप्रभालतिलको विश्वम्भरावल्लभो,
भूपालैः परिवारितश्च तनुजैः पुण्यैः सदेहैरिव ।।

महाराज बाहुबली मेरु पर्वत की भांति विशाल हाथी पर सवार हुए। उस हाथी के कुंभस्थल से मद झर रहा था। वह ऐसा लग रहा था कि मानो कि अमित मान ही मूर्त्त बनकर आ गया हो। वह अत्यन्त देदीप्यमान था। महाराज बाहुबली

१. कङ्कटः—कवच (सन्नाहो वर्म कङ्कटः—अभि० ३।४३०)
२. व्याधामः—वज्र (व्याधामः कुलिशः—अभि० २।९५)

के मुकुट की दीप्ति से ललाट पर लगा तिलक चमक रहा था। वे राजाओं और अपने पुत्रों से परिवृत होकर चले। उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो कि पुण्य ही देह धारण कर आ गया हो।

६६. मूर्ध्नाऽधार्यत भूवरेण च शिरस्त्राणं रिपुत्रासकृत् ,
शृङ्गं मेरुमहीभृतेव सकलौन्नत्यस्पृशा नन्दनैः ।
अश्रान्तं परिवारितेन तनुभिः शैलेरिवायोवनं ,
क्ष्मापीठं प्रयियासुना वहुविधैरस्त्रैश्च दीप्तद्युता ।।

'छोटे पर्वतों से परिवृत तथा समस्त उन्नति का स्पर्श करने वाले मेरु पर्वत की भांति अपने पुत्रों से परिवृत, वहुविध दीप्तिमान् अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित, रणभूमी की ओर प्रयाण करने के इच्छुक वाहुवली ने शत्रुओं को त्रास देने वाले शिरस्त्राण को वैसे ही धारण किया जैसे मेरु पर्वत शृंग को धारण करता है।

६७. राजा वाहुवलिर्वलेन सहितः पूर्वं समभ्यागमत् ,
संग्रामक्षितिमुद्यति द्युतिपतौ मातङ्गवाहानुगः ।
दुर्धर्षः परभूभुजां करटिनां पञ्चास्यवन्नन्दने-
रुत्साहैरिव मूर्तिमद्भिरधिकप्रोत्सर्पिपुण्योदयः ।।

महाराज वाहुवली अपनी सेना के साथ सूर्य के उगते-उगते ही भरत से पहले रणभूमि में आ पहुंचे। उनके पीछे हाथी और घोड़े चल रहे थे। वे शत्रु-राजाओं के लिए वैसे ही दुर्धर्ष थे जैसे हाथियों के लिए सिंह दुर्धर्ष होता है। वे मूर्तिमान् उत्साह की तरह अपने पुत्रों से अधिक वृद्धिगत पुण्योदयवाले लग रहे थे।

—इति वाहुवलिसंग्रामभूम्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः—

चौदहवाँ सर्ग

प्रतिपाद्य—	दोनों ओर की सेनाओं का रणभूमी में आगमन और स्तुतिपाठकों द्वारा अपने-अपने शत्रुओं का परिचय-कथन।
श्लोक परिमाण—	७९
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें, सर्ग २ का विवरण।

कथावस्तु :—

चक्रवर्ती भरत प्रातःकालीन विधियों को सम्पन्न कर विशिष्ट आयुधों से सज्जित हुए। काव्यकार ने उनके आयुधों के विशिष्ट नामों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

कवच का नाम था—जगज्जय।
शिरस्त्राण का नाम था—गीर्वाणशृंगार।
दो तूणीरों के नाम थे—जय और पराजय।
धनुष्य का नाम था—त्रैलोक्यदंड।
खड्‌ग का नाम था—दैत्यदावानल।

इसी प्रकार काव्यकार ने सेनापति सुषेण तथा भरत के ज्येष्ठ पुत्र सूर्ययशा के आयुधों का भी नामोल्लेखपूर्वक उल्लेख किया है।

महाराज भरत अपने सवा कोटि पुत्रों तथा बत्तीस हजार राजाओं के साथ चल पड़े। उस समय दस-लाख युद्ध-वाद्य, अठारह लाख भेरियां और सोलह लाख नगाड़े बज रहे थे। महाराज भरत ने अपने मंगलपाठक वृहस्पति को यह आदेश दिया कि वह शत्रु-सैनिकों के नाम, ध्वज-चिन्ह और यान के विषय में बताये। वृहस्पति ने बाहुबली की सेना के सुभटों का परिचय प्रस्तुत करते हुए उनके नाम, ध्वज-चिन्ह और यान का वर्णन किया। बाहुबली के तीन लाख पुत्र युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर आए थे। बाहुबली ने भी अपने मंत्री 'सुमंत्र' को शत्रु-सेना का परिचय प्रस्तुत करने के लिए कहा। मन्त्री ने उनके नाम, ध्वज-चिन्ह और वाहन का वर्णन किया। दोनों सज्जित सेनाएं रणभूमी में आ डटीं। सुभट युद्धारम्भ की प्रतीक्षा करने लगे।

कर रहे थे। कुछ सुभटों ने हाथियों को तैयार किया। कुछ सुभटों ने रथों में घोड़ों और कुछ ने बैलों को जोड़ा।

५. केचित् कृपाणान् बिभराम्बभूवुश्चापान् समारोपयितुं च केचित्।
केचित् गदामुद्गरशक्तिकुन्तान्, पुनः पुनश्चालयितुं प्रवृत्ताः॥

'कुछ सुभटों ने तलवारें धारण कीं और कुछ सुभटों ने धनुष्यों पर बाण चढ़ाए। कुछ सुभट गदा, मुद्गर, शक्ति (सांग) और भालों को बार-बार चलाने लगे।

६. केचिद् द्विपक्षार्पितगृध्रपक्षाश्रयां श्रयन्तिस्म शकुन्तलक्ष्मीम्।
संग्राहयामासुरिभैर्यदेके, करैश्च पक्षैश्च कृपाणकुन्तान्॥

कुछ सुभट दोनों पार्श्वों में तूणीरों को धारण कर पक्षियों की शोभा को पा रहे थे। कुछ सुभटों ने हाथियों की सूंडों और दोनों पार्श्वों में कृपाण और भालों का संग्रह किया।

७. कृतान्तकल्पो बहलीश्वरोस्ति, यतो रणे तन्मुखमीक्षणीयम्।
इत्यन्तराविर्भवदुग्रचिन्तादीनाभिरेके विधुरा वधूभिः॥

'बहली देश के स्वामी बाहुबली यमराज (मृत्यु) के समान हैं। युद्ध-स्थल में उनका मुंह देखना होगा'—इस प्रकार अन्तर्मन में उत्पन्न होने वाली उग्र चिन्ता से दीन बनी हुई वधूओं से कुछ सुभट विधुर हो गए।'

८. प्रवर्धमानाधिकधैर्यशौर्यरसोच्छलत्कुन्तलमञ्जुलास्याः।
रणं तृणीकृत्य पुरः प्रसस्रुः, स्वस्वामिनः केचन शूरसिंहाः॥

वीरों में सिंह के समान कुछ सुभट युद्ध को तुच्छ समझते हुए अपने स्वामी भरत के आगे-आगे चले। वृद्धिगत अत्यधिक धैर्य और शौर्य रस से उछलते हुए केशों से उनका मुंह सुंदर लग रहा था।

९. रणक्षितिं तक्षशिलाक्षितीशः, पूर्वं समेतः क्रियते भवद्भिः।
अद्यापि किं नोदयतिस्म सेनाधीशः स्वपुंभिस्त्विति वीरधुर्यान्॥

महाराज बाहुबली रणभूमी में पहले ही आ पहुंचे हैं। आप सब अब तक क्या कर रहे हैं? इस प्रकार सेनापति सुषेण अपने आदमियों द्वारा वीर सुभटों को प्रेरित कर रहा था।

१०. अम्भोजभम्भा'बककाहलानां', स्वैर्दिगन्तप्रसरैर्चितेने।
उदात्तशब्दैकमयं त्रिविश्वं, किं मथ्यतेऽम्भोनिधिरित्यमोहि ॥

कमल के आकार वाली भंभाओं और वक के आकार वाले काहलों की दिगन्त में प्रसरणशील ध्वनि ने त्रैलोकी को उदात्त ध्वनिमय बना डाला। इस ध्वनि के कारण यह वितर्क हो रहा था कि *क्या समुद्र का मन्थन हो रहा है?*

११. ततः स्वयं भारतवासवोऽपि, प्रातस्तनं कृत्यविधिं विधाय।
स्नात्वा शुचीभूतवपुर्विवेश, वलृप्ताङ्गरागो जिनराजगेहम् ॥

इसके पश्चात् महाराज भरत ने भी प्रातःकालीन करणीय विधियों को सम्पन्न कर स्नान किया और स्वच्छ शरीर पर सुगंधित लेप कर ऋषभ देव के मन्दिर में गए।

१२. हिरण्मयं रत्नमयं युगादेरानर्च बिम्बं हरिचन्दनेन।
स्वभावसाधर्म्यजुषा ततोऽसौ, त्रैलोक्यपूज्यत्वमिवादधेऽस्य ॥

महाराज भरत ने स्वभाव से समानधर्मा अर्थात् शांतिकारक गोशीर्षचन्दन से ऋषभ-देव की स्वर्ण और रत्नमय प्रतिमा की अर्चा की। तीनों स्थानों (मस्तक, हृदय और चरण) पर की गई अर्चा भगवान् के त्रैलोक्य-पूज्यत्व की सूचना दे रही थी।

१३. आमोदवाहैः कुसुमैः स्तवैश्च, तथाक्षतैरक्षतकादिभिः सः।
त्रिधा विधिज्ञो विधिवद् व्यधत्त, पूजां युगादेर्जगदीश्वरस्य ॥

महाराज भरत तीनों प्रकार की पूजा-विधियों के ज्ञाता थे। उन्होंने पहले सुगन्धित फूलों से, फिर स्तुतियों से और अन्त में अखण्डित अक्षतों से जगदीश्वर ऋषभ की विधिवत् पूजा सम्पन्न की।

१४. इत्यर्चयित्वा विधिवद् जिनेन्द्रं, जिनालयादेत्य बहिश्च चक्री।
जगज्जयं नाम बभार वर्म, तेजोंऽशुमालीव नभोन्तमाप्तम् ॥

इस प्रकार जिनेन्द्र देव की विधिवत् पूजा कर चक्रवर्ती भरत जिनालय से बाहर आये और उन्होंने 'जगज्जय' नाम वाले कवच को वैसे ही धारण किया जैसे सूर्य आकाश के छोर तक व्याप्त तेज को धारण करता है।

---

१५. गीर्वाणशृङ्गारसुनामधेयं , दधौ शिरस्त्राणमसौ स्वमूर्ध्ना ।
राकासु[1] पूर्वाद्रिरिवाभिपूर्णं , शशाङ्कबिम्बं नयनाभिरामम् ॥

उन्होंने अपने सिर पर 'गीर्वाणशृंगार' नाम वाले शिरस्त्राण को धारण किया, जैसे पूर्णिमा के दिन उदयाचल पर्वत पूर्ण मण्डल वाले नयनाभिराम चन्द्रबिम्ब को धारण करता है।

१६. जयः कलापोऽक्षयकङ्कपत्रैस्ततो द्वितीयोऽपि पराजयश्च ।
इत्यस्य पार्श्वद्वितये निषङ्गौ[2], भातःस्म पक्षाविव पक्षिराजः[3] ॥

उन्होंने अपनी दोनों बाहुओं पर अक्षय तीरों से भरे हुए दो तूणीर धारण किये। एक का नाम था 'जय' और दूसरे का नाम था 'पराजय'। वे दोनों तूणीर ऐसे शोभित हो रहे थे जैसे पक्षिराज गरुड़ के दोनों ओर दो पाँखें शोभित होती हैं।

१७. त्रैलोक्यदण्डं कलयाञ्चकार , करे स कोदण्डमुदग्रतेजः ।
अधिष्ठितं दानववैरिवृन्दैः , सचन्दनारण्यमिव द्विजिह्वैः ॥

भरत ने 'त्रैलोक्य दंड' नाम के प्रचंड तेज वाले धनुष्य को हाथ में लिया। वह धनुष्य देवताओं के समूह से वैसे ही सेवित था जैसे कि सर्पों से चन्दनवन सेवित होता है।

१८. स दैत्यदावानलनामधेयं , जग्राह खड्गं निहतारिवर्गम् ।
अष्टाङ्गुलानूनकरप्रमाणं , सहस्रदेवैर्विनिषेव्यमाणम् ॥

उन्होंने शत्रुओं के समूह को मृत्युधाम पहुँचाने में समर्थ 'दैत्यदावानल' नामवाला खड्ग धारण किया। वह खड्ग एक हाथ आठ अंगुल प्रमाणवाला और हजारों देवों द्वारा सेव्यमान था।

१९. पुरोहितोदीरितमङ्गलाशीस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिव द्विपारिः ।
आरोहदुच्चैः करिणं रथाङ्गपाणिः कुरुक्ष्मापतिदत्तपाणिः ॥

पुरोहित ने आशीर्वचन सुनाया। जैसे सिंह हाथी की ऊंची पीठ पर जा बैठता है वैसे

२६. संकेतिताजेर्जगतीं जगाम, स राजराजो विहिताभियोगः[1] ।
भूयस्तनूजैश्च समन्वितो द्राक्, क्षत्रव्रतो मूर्तिमिवोपपन्नः ॥

—त्रिभिर्विशेषकम् ।

अनेक पुत्रों से परिवृत अत्यन्त उत्साही चक्रवर्ती भरत निर्दिष्ट रणभूमी में जा पहुँचे। वे ऐसे लग रहे थे मानो कि क्षत्रियपन मूर्त्त होकर आ गया हो। उस समय दस लाख युद्ध-वाद्य, अठारह लाख भेरियाँ तथा सोलह लाख युद्ध के नगाड़े बज रहे थे। इनके साथ-साथ स्फूर्तिमान् मंगल-पाठकों के समूह चक्रवर्ती भरत के वंश में हुए वीर पुरुषों के कुल और नाम का कीर्तन कर रहे थे। भरत आगे चल रहे थे और उनके पीछे-पीछे महान् शब्द हो रहे थे।

२७. पीयूषपाथोधिमहोर्मिगौरी, द्वयोर्ध्वजिन्योरपि मागधोक्ता ।
भोगावली[2] श्रीजिननाभिसूनुस्तुतिप्रधाना मुहुरुल्ललास ॥

उस समय दोनों ओर की सेनाओं में भी स्तुतिपाठकों द्वारा कृत जिनेश्वर देव ऋषभ की स्तुतिमय तथा सुधा समुद्र की महान् ऊर्मियों की भांति शुभ्र विरुदावली वार-वार उल्लसित हो रही थी।

२८. चमूरियं वैरिचमूं विलोक्य, केतुच्छलाद् व्योमनि नृत्यतीव ।
समानतां प्राप्य रणे विवादे, न कोपि नृत्येद् विजयाभिलाषी ?

भरत की सेना अपनी शत्रु-सेना को देखकर पताका के व्याज से मानो आकाश में नर्तन करने लगी। विवाद और रण में समानता को पाकर कौन विजयाभिलाषी पुरुष नहीं नाच उठता ?

२९. ते कोशलातक्षशिलाधिपत्योर्विरेजतुस्तुल्यतया ध्वजिन्यौ ।
प्राचीनपाश्चात्यमहोर्मिमालावेले इवान्योन्यसमागमेच्छे ॥

एक ओर कोशल देश के अधिपति महाराज भरत की सेना और दूसरी ओर तक्षशिला के अधिपति महाराज बाहुबली की सेना समान रूप से वैसी लग रही थी जैसे पूर्व और पश्चिम के समुद्र की वेला एक-दूसरे से समागम करने की इच्छुक हो।

३०. अनीकयोर्वाद्यरवास्तदानीं, सद्वन्दि[3]कोलाहलकामपीनाः ।
प्रापुर्दिगन्तांस्तदनुक्रमेण, यशोधनानामिव कीर्त्तिचाराः ॥

---

१. अभियोगः—उद्यम, पराक्रम ।
२. भोगावली—विरुदावली (ग्रन्थो भोगावली भवेत्—अभि० ३।४५६)
३. बन्दी—स्तुतिपाठक (वन्दी मङ्गलपाठकः—अभि० ३।४५८)

योद्धाओं का नामपूर्वक परिचय कराने लगा। उनमें कुछ शतयोधी, कुछ सहस्रयोधी, कुछ लक्षयोधी और कुछ कोटियोधी थे।

३६. अथ स्वयं शृण्वति भारतेशे, बलाधिराजो मगधाधिराजम्[1]।
बृहस्पतिं नाम विशेषविज्ञं, पप्रच्छ शत्रुध्वजनामवाहान् ॥

महाराज भरत के सुनते हुए सेनापति सुषेण ने स्तुतिपाठकों के अग्रणी, विशेषविज्ञ बृहस्पति से शत्रुओं के ध्वजचिह्न, नाम और घोड़ों के विषय में पूछा।

३७. तमाह वैतालिक[2]सार्वभौमो, गिरा विशेषाद् रिपुकीर्तिमत्या।
यत्प्राप्तरूपा मुखरीभवन्ति, पृष्टाः पुनर्मौनजुषोऽन्यथैव ॥

तब स्तुतिपाठकों का अग्रणी, शत्रुओं की कीर्त्ति करने वाली विशेष वाणी में सुषेण सेनापति के प्रश्नों का उत्तर देने लगा। विद्वान् व्यक्ति पूछे जाने पर मुखर हो जाते हैं, अन्यथा वे मौन ही रहते हैं।

३८. अयं पुरस्तक्षशिलाक्षितीशः, सिंहध्वजः शात्रव[3]दन्तिसिंहः।
गजाधिरूढः समराय धैर्यनिवासभूर्धावति सूनुयुक्तः ॥

'ये आगे हाथी पर आरूढ़ तक्षशिला के स्वामी बाहुबली हैं। ये सिंह की ध्वजा वाले, शत्रु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान और धैर्य की निवास भूमी हैं। ये अपने पुत्रों से परिवृत होकर युद्ध के लिए आये हैं।'

३९. दोर्दण्डदम्भोलिरमुष्य राज्ञः, पक्षच्छिदे भूमिभृतां सहत्वम्।
बिभर्त्ति यच्चित्रमिदं तदीयं, तेषां पुनः पक्षवृधे नतानाम् ॥

'इन महाराज बाहुबली का भुजदंड रूपी वज्र राजाओं (पक्ष में पर्वतों) के पक्षों का छेदन करने में समर्थ है। किन्तु इनके विषय में यह अद्भुत बात है कि जो इनके समक्ष नत हो जाते हैं, उनके पक्षों की वृद्धि होती है।'

४०. अस्यात्मभूश्चन्द्रयशाः शशाङ्ककेतुः शशाङ्काभरथाधिरूढः।
यस्मिन् प्ररुष्टे कटका[4]स्थिरत्वचिन्ता वितेने द्विषदङ्गनाभिः ॥

---

१. मगधः—स्तुतिपाठक (मागधो मगधः—अभि० ३।४५९)
२. वैतालिकः—मंगलपाठक (वैतालिका बोधकराः—अभि० ३।४५८)
३. शात्रवः—शत्रु (शात्रवः प्रत्यवस्थाता—अभि० ३।३९२)
४. कटकः—कंकण (कटको वलयं पारिहार्यावापी च कङ्कणम्—अभि० ३।३२७)

४५. अयं बलानां पुर एव दृश्यो, रविर्ग्रहाणामिव तेजिताशः ।
पुनः पुनश्चापभृतो रणाय, प्रणोदयन् स्कन्द[1] इवादितेयान्[2] ॥

'जैसे समस्त ग्रहों में दिशाओं को दीप्त करने वाला सूर्य आगे देखा जाता है वैसे ही यह वीर सेनाओं के आगे ही देखा जाता है। जैसे कार्त्तिकेय देवताओं को प्रेरित करता है वैसे ही यह धनुर्धारी वीर सुभटों को युद्ध के लिए बार-बार प्रेरित करता है।'

४६. सैन्याग्रवर्ती किल सिंहसेनः, सेराह[3]वाजी शरभ[4]ध्वजोयम् ।
यन्नाममात्राद् द्विषदङ्गनाभिर्विहाय हारांश्च कचा ध्रियन्ते ॥

'सेना के आगे चलने वाला यह सिंहसेन है। इसके अश्व सफेद और ध्वज-चिन्ह अष्टापद है। इसके नाम-मात्र से भयभीत होकर वैरियों की स्त्रियां अपने हारों को छोड़कर (अपनी वेणी को निर्बन्ध कर अपनी छाती पर) केशों को धारण करती हैं।'

४७. चापादवारोपयदेष किञ्चिद्, रथी गुणं न स्वयमभ्यमित्रम् ।
सुधीः कृतज्ञत्वमिव स्वचित्तादनन्यसौजन्यरसोऽभिरामात् ॥

'यह रथी (सिंहसेन) शत्रुओं की ओर तानी हुई धनुष्य की प्रत्यंचा को स्वयं कभी नहीं उतारता, जैसे असाधारण सौजन्य वाला सुधी अपने कमनीय चित्त से कृतज्ञता के भाव को नहीं उतारता।'

४८. श्येनध्वजः सादितशत्रुपक्षः, पराक्रमी विक्रमसिंह एषः ।
क्रियाह[5]वाहः किल कुन्तधारी, पितुर्निदेशं स्वयमीहते द्राक् ॥

'इसका नाम विक्रमसिंह है। यह अत्यन्त पराक्रमी और शत्रुपक्ष को जीतने वाला है। इसका ध्वज-चिन्ह है बाजपक्षी और अश्व हैं लाल। इसके हाथ में भाला है और यह अपने पिता की आज्ञा की शीघ्रता से प्रतीक्षा कर रहा है।'

४९. अयं रथी वैरिभिरेकमूर्तिः, सहस्रधा लोकयत एव युद्धे ।
दोर्दण्डकण्डूतिरमुष्य जेतुः, प्रत्यर्थिवक्षोभिरतो व्यपास्या ॥

'रथ पर आरूढ इस वीर को शत्रुओं के सुभटों ने हजारों बार युद्ध में देखा है। यह

१. स्कन्दः—कार्त्तिकेय।
२. आदितेयाः—देवता (अभि० २।२)
३. सेराहः—अमृत या दूध के समान रंगवाला (घोड़ा) (पीयूषवर्णे सेराहः—अभि० ४।३०४)
४. शरभः—अष्टापद (शरभः कुञ्जराराति:—अभि० ४।३५३)
५. क्रियाहः—लाल (घोड़ा) (क्रियाहो लोहितो हयः—अभि० ४।३०४)

सदा एकरूप रहता है। इस विजेता वीर की भुजदंड की खुजली वैरियों की छाती में प्रहार करने से ही दूर हो सकती है।'

५०. सोयं विनीलाश्वरथो कनीयान् , सर्वेषु पौत्रेषु युगाविनेतुः ।
विपत्करौ पत्ररथेन्द्र[1]केतोर्भुजद्वयी यस्य चिरं रिपूणाम् ॥

'नीले घोड़ों वाले रथ पर आरूढ़ यह वीर ऋषभदेव के पौत्रों में सबसे छोटा है। इसका ध्वज-चिन्ह गरुड़ है। इसका बाहु-युगल वैरियों के लिए चिरकाल तक विपत्ति उपस्थित करने वाला है।'

५१. महाबलाख्यो बलसिन्धुनाथः , पित्रा निषिद्धोऽपि रणाय तूर्णम् ।
धावत्यसौ तीर इवास्त्र[2]मुक्तस्तेजस्विनो यल्लघवोऽपि वृद्धाः ॥

'यह महाबल पराक्रम का समुद्र है। पिता के द्वारा निषेध करने पर भी यह युद्ध के लिए धनुष्य से मुक्त तीर की भांति वेग से दौड़ता है। क्योंकि तेजस्वी लघु होने पर भी महान् होते हैं।'

५२. उपात्तनानायुधयानलीला , लक्षत्रयी बाहुबलेः सुतानाम् ।
एवं बलोद्धत्यरसाज्जगन्ति , तृणन्ति तेजस्विषु किं नु चित्रम् ?

'बाहुबली के तीन लाख पुत्र नाना प्रकार के आयुध और यानों से सज्जित हैं। इस प्रकार वे अपने उद्धत पराक्रम से समूचे जगत् को तृणवत् मानते हैं। तेजस्वी के लिए ऐसा करने में आश्चर्य ही क्या है ?'

५३. विद्याधरेन्द्रोऽनिलवेग एष , व्यालध्वजो व्यात्तमुखोऽभ्युपैति ।
युधि द्विषद्ग्रासकृते तरस्वी , रथेन चित्राश्वयुजा खमार्गात् ॥

'विद्याधरों का अधिपति यह अनिलवेग चितकबरे घोड़ों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर आकाश-मार्ग से मुंह बांए आ रहा है। इसका ध्वज-चिन्ह सर्प है। यह युद्ध में शत्रुओं का ग्रास करने में अत्यन्त पराक्रमी है।'

५४. वितन्वताऽनेन विहारलीला , विहारलीला[3] युवती रिपूणाम् ।
विलोक्य चित्रं प्रमदाप्रकाशं , मदप्रकाशं[4] च कृतं विशेषात् ॥

---

१. पत्ररथेन्द्रः—पत्ररथ का अर्थ है पक्षी । पक्षियों का इन्द्र—गरुड़ ।
२. अस्त्रम्—धनुष्य (धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः—अभि० ३।४३६)
३. विहारलीलाः—विगता हारस्य लीला यासां, ताः विहारलीलाः (द्वितीय...
४. मदप्रकाशं—अत्र मदप्रकाशः इति युक्तम् ।

'विहरण की क्रीड़ा करते हुए इस अनिलवेग ने शत्रुओं की युवतियों को हार से शून्य किया है। उसने प्रमदाओं की विचित्र अभिव्यक्तियों को देखकर विशेषरूप से मद प्रदर्शित किया।'

५५. रत्नारिरेष प्रकटप्रतापश्चक्राङ्गकेतुर्भटचक्रचक्री।
गर्जन् गदाव्यग्रकरः समेति, सावज्ञनेत्रो रणवामधुर्यः॥

'यह सुभट शिरोमणी रत्नारि है। इसकी तेजस्विता अत्यन्त स्पष्ट है। इसका ध्वज-चिन्ह है हंस। इसकी आंखों से वैरियों के प्रति अवज्ञा का भाव झांक रहा है। यह युद्ध की प्रतिकूल स्थितियों को सहन करने में अग्रणी है। देखो, इसका हाथ गदा से व्यग्र है और यह गर्जता हुआ आ रहा है।'

५६. अयं नमेराहवकौशलस्य, सैन्यप्रभो! स्मारयिता तवैव।
गजध्वजस्तुङ्गगजाधिरूढो, भुजोष्मणा हारयिता हरेः किम्?

'हे सेनापते! यह रत्नारि आपको युद्ध-कौशल में नमि की याद दिला देगा। हाथी के ध्वज-चिन्ह वाला यह वीर उन्नत हाथी पर आरूढ़ है। क्या इन्द्र अपनी भुजाओं की ऊष्मा से इसे हरा सकता है?'

५७. नानास्त्रयानध्वजशालिनोऽमी, सहस्रशोऽन्येपि रणं समेताः।
उद्बाहवो बाहुबलेः क्षितीशा, यथोत्सवाः पुण्यकृतो निकेतम्॥

'अनेक प्रकार के अस्त्र, यान और ध्वजा वाले ये वीर सुभट तथा हजारों दूसरे राजे इस रण में समागत हैं। बाहुबली के पक्ष के ये सभी भूपाल उद्‌बाहु हैं। जैसे उत्सव पुण्यशाली पुरुषों के लिए निकेतन होते हैं, वैसे ही ये वीर पराक्रम के निकेतन हैं।'

५८. एकोप्यजय्यो युधि चैष राजा, भटैः किमेभिः परिवारितोऽयम्।
विलोकनीयो न दृशापि तिग्ममरीचिवद्वासरयौवनान्तः॥

'युद्ध में यह अकेला राजा भी अजेय है। सुभटों से परिवृत होने पर इसका कहना ही क्या? तीक्ष्ण रश्मि वाला सूर्य वैसे ही आँखों से नहीं देखा जा सकता, फिर मध्यान्ह वेला में उसे देखने की बात ही क्या?'

६५. महायुधा ये युधि भारतेया , विशिष्य नासीरतया प्रतीताः ।
निःशङ्कमातङ्कमपास्य तेषामाशंस नामध्वजयानवाहान् ॥

उन्होंने कहा—'मंत्रीवर्य ! इस रणस्थली में महाराज भरत के जो महान् योद्धा हैं और जो विशेष रूप से सेना का पथ-दर्शन करने के लिए विश्रुत हैं, तुम निःशंक और निर्भय होकर उन सबके नाम, ध्वज-चिन्ह, यान और घोड़ों के विषय में बताओ ।'

६६. तवाग्रजोऽयं स गजाधिरूढो , महाभुजो भारतराजराजः ।
यस्य प्रभावान्निलयान् विहाय , गुहागृहा एव भवन्त्यमित्राः ॥

तब मंत्री ने कहा—'राजन् ! हाथी पर आरुढ ये आपके बड़े भाई भुजबली चक्रवर्ती भरत हैं। इनके प्रभाव से शत्रुगण अपने घरों को छोड़कर गुहावासी ही हो जाते हैं ।'

६७. साकूतहेतुः पुरुहूत[1]केतुर्विजेतुकामो निखिलारिवर्गम् ।
अयन् सुषेणेन रणे नृपोऽयं , न्यषेधि लोभेन यथा विवेकः ॥

'इन्द्र के ध्वज-चिह्न वाला चक्रवर्ती समस्त शत्रुवर्ग को जीतने के सहेतुक अभिप्राय से जब रण में जा रहा था तब सुषेण सेनापति ने उसे वैसे ही रोका जैसे लोभ विवेक को रोकता है ।'

६८. अयं सुषेणो ध्वजिनीमहेन्द्रो , हर्यक्षकेतुर्युधि धूमकेतुः ।
पत्युः पुरश्चालयते रथं स्वं , गौरांशुगौराश्वजुषं प्रसह्य ॥

'यह है सुषेण सेनापति । यह युद्ध में अग्नि की भाँति सब कुछ भस्म करने वाला है। इसका ध्वज-चिह्न सिंह है । यह अपने स्वामी भरत के आगे-आगे श्वेत किरणों की भाँति श्वेत अश्वों से युक्त रथ को स्वयं वेग के साथ चला रहा है ।'

६९. जयी सुषेणानुज एष कोक[2]केतुः कपोताभहयः पुरस्तात् ।
रथाधिरूढः समराय चैति , निस्त्रिंशपाणिर्जगदेकवीरः ॥

'यह सुषेण सेनापति का छोटा भाई 'जयी' है । 'चकवे' के ध्वज-चिह्न वाला यह वीर कबूतर के रंगवाले घोड़ों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध के लिए आगे जा रहा है । इसके हाथ में तलवार है और यह जगत् का एकमात्र वीर है ।'

१. पुरुहूतः—इन्द्र ।
२. कोकः—चकवा (कोको द्वन्द्वचरोऽपि च—अभि० ४।३९६)

७०. ज्येष्ठोऽङ्गजश्चक्रधरस्य[1] सैष, सूर्योल्वणः सूर्ययशा यशोब्धिः ।
यस्यावलोकात्प्रतिपक्षघूको, लीनो वने क्वापि निमील्य नेत्रे ॥

'भरत चक्रवर्ती का यह ज्येष्ठ पुत्र 'सूर्ययशा' है। यह सूर्य की भांति तेजस्वी और यश रूपी समुद्र है। इसको देखते ही शत्रु रूपी उल्लू अपनी आंखें बन्द कर कहीं वन में छुप जाता है।'

७१. आदित्यकेतुर्नृपनीतिसेतुर्हारिद्रवाहः[2] स्थितिवारिवाहः ।
पितुः पुरः स्यन्दनसन्निविष्टस्त्रिविष्टपं जेतुमपि क्षमोऽयम् ॥

'सूर्य के ध्वज-चिह्न और पीले घोड़े युक्त रथ वाला यह वीर राजा की नीति के लिए सेतु के समान और मर्यादा रूपी जल को वहन करने वाला जलधर है। तीनों लोकों को भी जीतने में सक्षम यह अपने पिता के आगे रथ पर बैठा है।'

७२. देव ! त्वयं देवयशास्तदीयानुजो महावीरतया प्रकाशः ।
मयूरकेतुर्मथितारिवर्गो, मयूरवाजीरथसन्निषण्णः ॥

'देव ! सूर्ययशा का छोटा भाई यह देवयशा है। यह महान् वीरता के लिए विश्रुत है। इसका ध्वज-चिह्न है मयूर। शत्रुओं को मथने वाला यह वीर मयूर के रंग वाले घोड़ों से जुते हुए रथ पर बैठा है।'

७३. वैरिद्रुवारो युधि वीरमानी, सोऽयं रथी वीरयशाः सशौर्यः ।
वज्रध्वजो[3] बभ्रु[4]हयोऽरिसर्पान्, हन्तुं नदीष्णो[5] भुज एव यस्य ॥

यह वीरमानी रथी वीरयशा है। यह युद्ध में शत्रु-रूपी वृक्षों का उन्मूलन करने में महापराक्रमशाली है। इसका ध्वज-चिह्न है वज्र। इसके रथ में जुते हुए घोड़े पीत-रक्त वर्ण वाले हैं। इसकी भुजाएँ ही शत्रु रूपी सर्पों को नष्ट करने में निपुण हैं।

७४. धैर्याम्बुधिर्धूम्रहयश्च धूमध्वज[6]ध्वजोऽयं कलिभूतधात्रीम् ।
अभ्येति सद्यः सुयशा निकेतं, दीप्त्युल्वणो दीप इव प्रदोषे ॥

---

१. श्रेष्ठो... इत्यपि पाठः।
२. हारिद्रवाहः—पीला घोड़ा (हारिद्रः पीतलो गौरः—अभि० ६।३०)
३. बभ्रुध्वजो इत्यपि पाठः।
४. बभ्रुः—पीत-मिश्रित लाल रंग (बभ्रुः कद्रुः कडारश्च—अभि० ६।३३)
५. नदीष्णः—निपुण (अथ प्रवीणे क्षेत्रज्ञो नदीष्णो निष्ण इत्यपि—अभि० पृ०
६. धूमध्वजः—अग्नि।

'जैसे रात्रि के प्रारम्भ में देदीप्यमान दीपक घर में लाया जाता है (जलाया जाता है) वैसे ही धैर्य का समुद्र यह पराक्रमी वीर सुयशा शीघ्र रणभूमी में आ रहा है। इसके घोड़े धुँएं के रंगवाले हैं और इसका ध्वज-चिह्न अग्नि है।'

७५. स कालमेघो रिपुकालमेघः, कालध्वजः कालहयाधिरूढः।
द्विषामकालेऽपि भुजोष्मणा यः, कालस्य चिन्तां वितनोत्यजस्रम्॥

'राजन्! इस वीर का नाम कालमेघ है। यह शत्रुओं के लिए मृत्यु रूपी मेघ है। इसका ध्वज-चिह्न है यमराज और यह काले घोड़े पर आरूढ़ है। यह अपने भुज-पराक्रम से शत्रु-पक्ष के लिए अकाल में भी सहसा काल (मृत्यु) की चिन्ता ला देता है।'

७६. शार्दूलकेतुर्गरुडाभवाजी, शार्दूलनामापि सुतो लघीयान्।
उल्लङ्घ्य तातस्य निदेशमेष, क्षुधार्तवद् धावति सङ्गराय।

भरत का यह छोटा पुत्र शार्दूल है। इसका ध्वज-चिह्न शार्दूल है और इसके घोड़े गरुड़ पक्षी की आभा वाले हैं। यह अपने पिता के आदेश का उल्लंघन कर क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति की भाँति संग्राम के लिए दौड़ रहा है।'

७७. विद्याधरेन्द्रा अपि भूचरेन्द्रा, अनेकशः सन्त्यपरेऽपि वीराः।
महीशित! स्तेष्ववलोकनीयाः, संख्यातिगानां गणनात्र कापि॥

'इस प्रकार भरत की सेना में अनेक विद्याधरेन्द्र और भूपति हैं। उनके साथ और भी अनेक वीर सुभट हैं। राजन्! आप उनको भी देखें। वे संख्यातीत हैं। उनकी क्या गणना हो सकती है?'

७८. बले त्वदीये स्फुटमापतन्तो, वारिप्रदेशे द्विरदा इवामी।
सुतैर्निरुध्यन्त इतस्त्वदीयैः, पाशैरिवावार्यतरैर्बलेन॥

'ये सुभट आपकी सेना पर वैसे ही आ पड़ेंगे जैसे हाथी अपनी बंध-भूमी पर आ पड़ते हैं। तब आपके पुत्र उनका वैसे ही निरोध करेंगे जैसे शक्तिपूर्वक दुर्निवार पाशों (बंधनों) से हाथी निवारित किये जाते हैं।'

पन्द्रहवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	युद्ध का वर्णन।
श्लोक परिमाण—	१३१
छन्द—	अनुष्टुप्।
लक्षण—	देखें, सर्ग ३ का विवरण।

कथावस्तु—

घमासान युद्ध प्रारंभ हुआ। रक्त की स्रोतस्विनी वह चली। हाथी तैरने लगे। कटे शिर वाले कुछ सुभटों के धड़ मात्र लड़ रहे थे। वे इस बात को प्रमाणित कर रहे थे कि शरीर अभिप्राय के पीछे-पीछे चलता है।

भरत की सेना का सेनापति सुषेण और वाहुवली की सेना का सेनापति सिंहरथ दोनों अपनी-अपनी सेनाओं को प्रोत्साहित कर रहे थे। उस समय ऐसा लग रहा था मानों कि पार्वती का पुत्र कार्त्तिकेय अपनी देव-सेना को प्रोत्साहित कर रहा हो।

सुषेण के सामने कोई नहीं टिक सका। वाहुवली की सेना में 'भगदड़' मच गई। इतने में ही वाहुवली का पक्ष लेने वाला विद्याधर 'अनिलवेग' उससे आ भिड़ा। भीषण आक्रमण-प्रत्याक्रमण होने लगे। अनिलवेग ने सुषेण के धनुष्य को तोड़ डाला। सुषेण क्रुद्ध होकर सिंहरथ पर झपटा। दोनों का युद्ध देखकर दर्शकगण दांतों तले अंगुली दबाने लगे। इतने में ही सूर्य अस्ताचल में जा छुपा। युद्ध वन्द हो गया।

दूसरे दिन फिर दोनों की भिड़न्त हुई। सिंहरथ के तीव्र प्रहारों के कारण सुषेण रणभूमी को छोड़ कर भाग गया। रणभूमी में हाहाकार मचाने वाले अनिलवेग को देखकर चक्रवर्त्ती ने अपना चक्र फेंका। वह रणभूमी से भाग खड़ा हुआ। दूर जाकर उसने विद्याशक्ति से वज्रमय पंजर वनाकर स्वयं तोते की भांति उसमें जा छुपा। चक्र ने विडाल का रूप धारण कर तोते की गरदन मरोड़ दी। अनिलवेग मर गया। यह देख वाहुवली के सुभटों का खून खौल उठा। वे शतगुणित उत्साह से लड़ने लगे। उन्होंने चक्रवर्त्ती के सैनिकों को तिनकों की भांति जलाना प्रारंभ किया। उनकी सेना का यशस्वी वीर रत्नारि' मैदान में कूद पड़ा और देखते-देखते उसने चक्रवर्त्ती की समूची सेना को आक्रान्त कर डाला। इतने में ही चक्रवर्त्ती के यशस्वी सुभट विद्याधरेश महेन्द्र ने रत्नारि के शिर को चूर-चूर कर डाला। सूर्य अस्त हो गया। दोनों सेनाएं अपने-अपने शिविरों में आ गईं। सेनापति सुषेण ने भरत से कहा—'राजन्! आपके पुत्र वीर हैं किन्तु वे वंधुजनों के दाक्षिण्य के कारण युद्ध लड़ना नहीं चाहते। यह उचित नहीं है। उनके कारण आपको पराजय का मुंह देखना पड़े, यह क्षत्रियोचित वात नहीं है।' चक्रवर्त्ती के पुत्रों को यह आरोप असह्य लगा और वे सब युद्ध के लिए प्रमुदित हो उठे।

दूसरे दिन सूर्योदय के साथ-साथ युद्ध प्रारंभ हो गया। वाहुवली के दो विद्याधर वीर—सुगति और मितकेतु चक्रवर्त्ती के पुत्र शार्दूल तथा सूर्ययशा द्वारा मारे गए। विद्याधर युगल के वध से क्रुद्ध होकर वाहुवली ने सिंहनाद किया। उस सिंहनाद को सुनकर चक्रवर्त्ती के सवा कोटि पुत्र रणभूमी से पलायन कर गए। अव सूर्ययशा और वाहुवली आमने-सामने हो गए। देवता प्रकंपित हो उठे। ००

पञ्चदशः सर्गः

१. धनुर्भ्यः कृतहस्तानां[1], टङ्कारा निर्ययुस्तराम् ।
सैन्यसम्भारखिण्णाया, हुङ्कारा इव गुरुभुवः ॥

सेना के सभार से खिन्न रणभूमि से होने वाले हुंकारों की भांति, निपुण तीरन्दाज योद्धाओं के धनुषों से भीषण टंकार निकलने लगे ।

२. सर्वतः पर्वताः पेतुः, कातरत्वादिति क्षणात् ।
अमूदृक्षान्न संरावान्, यन्नाः श्रोतुमपि क्षमाः ॥

बड़े-बड़े पर्वत भी इस प्रकार की आवाज को सुनने में असमर्थ थे । वे कायरता से उसी क्षण चारों ओर से ढह पड़े ।

३. टङ्काराकर्णनोद्भ्रान्ता, दिशो दश समन्ततः ।
तूर्यध्वानप्रतिध्वानव्याजात् पूच्चक्रिरेतराम् ॥

टंकार के शब्दों को सुनकर दशों दिशाएं उद्भ्रान्त हो गई । वे तूरी के शब्द की प्रतिध्वनि करने के मिष से चारों ओर से चिल्लाने लगीं ।

४. क्वचिद् गजमयं सैन्यं, तुरङ्गममयं क्वचित् ।
क्वचिद् रथमयं पत्तिमयं क्वचिदऽराजत ॥

उस रण-भूमि में कहीं हाथियों की, कहीं घोड़ों की, कहीं रथों की और कहीं पैदल सैनिकों की सेना शोभित हो रही थी ।

५. चतुरङ्गचमूः साथ, विरराज रणक्षितौ ।
कामं वरीतुकामेव, जयलक्ष्मीं स्वयम्वराम् ॥

वह चतुरंग सेना रणभूमी में शोभित हो रही थी । वह ऐसी लग रही थी मानो कि वह स्वयंवर में उपस्थित जयलक्ष्मी का वरण करना चाहती हो ।

---

१. कृतहस्तः - निपुण तीरन्दाज (कृतहस्तः कृतपुंखः—अभि० ३।४३६)

६. पत्तिभिः पत्तयः स्तम्बेरमैर्नागा हयैर्हयाः ।
स्यन्दनैः स्यन्दना इत्थमयुध्यन्त परस्परम् ॥

पैदल सैनिकों के साथ पैदल सैनिक, हाथियों के साथ हाथी, घोड़ों के साथ घोड़े और रथों के साथ रथ—ये सब परस्पर युद्ध लड़ रहे थे ।

७. सैन्ययोर्वीरधुर्याणां, पूर्वं चेलुः शिलीमुखाः ।
जयश्रियमिवान्वेष्टुं, स्थानान्तरनिवेशिनीम् ॥

८. तीक्ष्णांशुकरसंतप्तं, व्योम वीजयितुं त्विव ।
कोदण्डकोटिनिर्मुक्तपत्रिपत्रविधूननैः ॥

—युग्मम् ।

दोनों सेनाओं के वीर सुभटों के तीर पहले ही चल पड़े, मानो कि वे दूसरे स्थान में निवास करने वाली जयश्री को खोजने के लिए चलें हों अथवा सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से संतप्त आकाश को, धनुष्यों से छूटे हुए बाण रूपी पंखों से हवा झलने के लिए चलें हों ।

९. गुणैरिव शरैर्लोकत्रितयी व्यानशेतराम् ।
तदानीं भटकोटीनां, सङ्गरोत्सङ्गसङ्गमे ॥

उस समय रणभूमी के उत्संग में दोनों सेनाओं के संगम से लाखों सुभटों के धनुष्यों से छूटे हुए बाण तीनों लोकों में गुणों की भांति व्याप्त हो गए ।

१०. क्षरद्रुधिरधाराभो, रञ्जिता अपि पत्रिणः ।
उद्यन्तो रेजिरेऽत्यन्तं, तरणेः किरणा इव ॥

झरती हुई रुधिर की धारा से रंजित ऊपर जाते हुए बाण भी सूर्य की किरणों की भांति अत्यन्त शोभित हो रहे थे ।

११. क्वचिन्नासीरवीराणां, विकोशासिवराः कराः ।
समुद्यद्विद्युदुद्योता, जलदा इव रेजिरे ॥

कहीं-कहीं आगे चलने वाली सेना के वीर सुभटों के, म्यान से निकाली हुई तलवारों से युक्त हाथ, चमकती हुई बिजली से उद्योतित बादलों की भांति शोभित हो रहे थे ।

१२. चक्रिणश्चक्रचीत्कारैर्घण्टानादैश्च कुञ्जराः ।
हेषितैस्तुरगा ज्ञेया, आसन् रेणुतमोभरे ॥

रेणु रूपी अंधकार से व्याप्त उस रणभूमी में पहियों के चीत्कारों से रथ, घंटाओं के शब्दों से हाथी और हिनहिनाहट से घोड़े पहिचाने जाते थे।

१३. पतङ्गा इव दीपान्तः, केचिद् वीरा रणाजिरे।
उत्पतन्तः पतन्तश्च, नाप्यसून् बहु मेनिरे॥

कुछ सुभट उस रण-प्रांगण में दीपकों में गिरने वाले पतंगों की तरह ऊपर उछलते हुए और गिरते हुए अपने प्राणों को भी बहुत नहीं मानते थे।

१४. उत्सर्पच्छोणितोद्दामपूरप्लावितभूभृति।
मीना इवाजिवाहिन्यां[1], मज्जन्तिस्म मतङ्गजाः॥

बहते हुए रक्त के उद्दाम प्रवाह से भूधरों (पर्वतों या राजाओं) को आप्लावित करने वाली युद्ध रूपी नदी में हाथी मछलियों की भांति मज्जन कर रहे थे।

१५. केषां निस्त्रिंशनिर्लूनमौलीनां ननृतुस्तराम्।
कबन्धा गाढनिर्बन्धा, वातोद्धूता द्रुमा इव॥

कुछ सुभटों के सिर तलवार द्वारा कटे हुए थे। उनके धड़ गाढ आसक्ति के कारण वायु से प्रकंपित वृक्षों की भांति उस रणभूमी में नाच रहे थे।

१६. युद्धकल्लोलिनीनाथकल्लोलितभुजा भटाः।
कीर्त्तिमुक्तालतावारान्, जगृहुर्वक्त्रशुक्तितः॥

युद्ध रूपी समुद्र में कल्लोलित भुजा वाले सुभट (प्रतिपक्षियों के) मुख रूपी सीपियों से कीर्त्ति रूपी मोतियों के लता-समूह को पकड़ रहे थे।

१७. दन्तिदन्तासिसंघट्टसंजातोल्कं व्यराजत।
निशि व्योमेव कुम्भोत्थमुक्तातारान्चितं मृधम्[2]॥

जैसे रात का आकाश उल्काओं और ताराओं से शोभित होता है, वैसे ही वह युद्ध हाथियों के कुंभस्थलों से प्राप्त मोतियों रूपी ताराओं से तथा हाथियों के दांतों के साथ तलवारों का संघट्टन होने के कारण उठने वाली उल्काओं से शोभित हो रहा था।

१८. वीराणामस्ततीराणां, कुम्भिकुम्भेष्वभुस्तराम्।
कृपाणाः शैलशृङ्गेषु, साभ्रविद्युच्चया इव॥

---

१. आजिवाहिन्याम्—युद्ध रूपी नदी में।
२. मृधम्—युद्ध (संस्फोटः कलहो मृधं—अभि० ३।४६०)

किसी वीर सुभट ने पताका, राजा, घोड़े और सारथि सहित रथ को उठाकर ढेले की भांति दूर फेंक दिया।

३१. हास्तिका[1]श्वीय[2]पादाग्रैर्मर्दिताः पातिता भुवि।
शूरत्वं कलयामासुः, केचित् स्वामिपुरो भटाः॥

जमीन पर गिराए हुए तथा हाथियों और घोड़ों के चरणों से मर्दित कुछ वीर सुभट अपने स्वामी के समक्ष अपनी वीरता का व्याख्यान कर रहे थे।

३२. रिक्तीबभूवुः केषांचिद्, निषङ्गा विशिखव्रजैः[3]।
कषायैरिव निर्ग्रन्थास्तोयैरिव शरद्घनाः॥

कुछ वीर सुभटों के तरकस (तूणीर) बाणों से रिक्त हो गए, जैसे निर्ग्रन्थ कषायों से और शरद्-ऋतु के बादल पानी से रिक्त होते हैं।

३३. अतूत्रुटद् गुणं कश्चिच्चापदोष्णोर्विरोधिनः।
मन्युमानिव सौजन्यमजन्यमिव पुण्यवान्॥

किसी वीर ने अपने विरोधी के धनुष्य और भुजा के गुण[4] को वैसे ही तोड़ डाला जैसे क्रोधी पुरुष सौजन्य को और पुण्यवान् पुरुष उपद्रव (पाप) को तोड़ डालता है, नष्ट कर देता है।

३४. भग्ने चापे कृपाणेऽपि, कुन्ते कुण्ठे भवत्यपि।
दोर्भिः शौर्यरसोद्रेकाद्, युयुत्सयतेस्म कश्चन॥

कुछ योद्धाओं ने अपने धनुष्य और कृपाण के टूट जाने तथा भाले के कुंठित हो जाने पर भी शक्तिरस के अतिशय से भुजाओं से युद्ध लड़ा।

३५. इतः सुषेणः सेनानीरितः सिंहरथो भटान्।
सेनानीरिव[5] गीर्वाणान्, सोत्साहान् कलयेऽकरोत्॥

इधर सेनापति सुषेण और उधर सेनापति सिंहरथ—दोनों अपनी-अपनी सेनाओं के वीर

---

१. हास्तिकं—हाथियों का समूह (हास्तिकं तु हस्तिनां स्यात्—अभि० ६।५४)
२. अश्वीयं—घोड़ों का समूह (अश्वानामाश्वमश्वीयं—अभि० ६।५६)
३. विशिखः—बाण।
४. धनुष्य पक्ष में गुण का अर्थ है—डोरी और भुजा के पक्ष में उसका अर्थ है—शक्ति।
५. सेनानीः—कार्त्तिकेय।

४२.　अथ क्रुद्धश्चमूनाथो , भारतेयी स्वयं युधे ।
　　डुढौके विन्ध्यशैलद्रून् , भंक्तुं गज इवोन्मदः ॥

भरत का सेनापति सुषेण क्रुद्ध होकर स्वयं युद्ध में वैसे ही दौड़ पड़ा जैसे मदोन्मत्त हाथी विन्ध्य पर्वत के वृक्षों को तोड़ने के लिए दौड़ पड़ता है।

४३.　स विवेश रथारूढो , बले ज्येष्ठेतरार्षभेः ।
　　मन्थाचल इवाम्भोधौ , गजयूथे मृगेन्द्रवत् ॥

वह सुषेण रथ पर आरूढ होकर बाहुबली की सेना में वैसे ही घुसा जैसे मेरु पर्वत मन्थान के रूप में समुद्र में और सिंह हाथियों के यूथ में घुसता है।

४४.　क्षयाम्भोधिरिवोद्वेलो , माध्यान्हिक इवांशुमान् ।
　　पवनोत्क्षिप्तदावाग्निरिव सेहे न केन सः ॥

प्रलयकाल के उद्वेलित समुद्र, माध्यान्हिक सूर्य और पवन द्वारा उद्धूत अग्नि की भांति उस सुषेण के सामने कोई योद्धा टिक नहीं सका।

४५.　क्ष्वेडान्तोन्नामतः कांश्चित् , कोदण्डाकर्षणादपि ।
　　सोथ बाहुबलेर्वीरान् , काकनाशमनीनशत् ॥

सुषेण ने बाहुबली के कुछ वीरों को तीव्र सिंहनाद के द्वारा तथा कुछ वीरों को धनुष्य की टंकार के द्वारा कौओं की भांति नष्ट कर डाला।

४६.　काँश्चिदाकृषतश्चापान् , काँश्चित् काण्डाँश्च गृण्हतः ।
　　काँश्चिदाददतः खड्गान् , कलिं काँश्चिच्च कुर्वतः ॥
४७.　रथानारोहतः काँश्चित् , तुरङ्गाँश्च गजानपि ।
　　काँश्चिदस्तरिपून्मादान् , सिंहनादान् विमुञ्चतः ॥
४८.　शरसा[1]ऽकरोदेष , युगपद् रिपुसैनिकान् ।
　　पलायनकलाचार्यः , सोभूदेषां तदैव च ॥

—त्रिभिर्विशेषकम् ।

कुछ सैनिक धनुष्यों पर बाण चढ़ा रहे थे, कुछ धनुष्यों को उठा रहे थे, कुछ खड्गों को धारण कर रहे थे, कुछ युद्ध कर रहे थे, कुछ रथों पर, घोड़ों पर और हाथियों पर आरूढ हो रहे थे तथा कुछ शत्रुओं के उन्माद को नष्ट करने वाला सिंहनाद कर रहे थे। इन सब शत्रु-सैनिकों को सुषेण ने एक साथ अपने बाणों से बींध डाला। उस

१. शरसात्—अशरं शरं करोतीति शरसात् करोति।

वे दोनों वीर क्षण में भूमी पर, क्षण में आकाश, क्षण में तिरछी दिशाओं में और क्षण में रथ पर—इस प्रकार वे सर्वगामी योगी की भांति सर्वत्र दिखाई दे रहे थे।

५५. अतिभ्रान्तसुरस्त्रैणवीक्षितौ समरक्षितौ।
रेजतुः कल्पवातोद्यद्धिमविन्ध्यगिरी इव॥

उस समय वे दोनों वीर अतिभ्रांत देवांगनाओं से देखे जा रहे थे। रण-स्थल में वे दोनों कल्पान्तकाल की वायु से उखड़े हुए हिमालय और विन्ध्यगिरि जैसे लग रहे थे।

५६. गीर्वाणाधिष्ठितस्यापि, स विद्याधरसत्तमः।
बभञ्जोद्दण्डदोःकाण्डकोदण्डं पृतनापतेः॥

इतने में ही उस विद्याधर शिरोमणी अनिलवेग ने देवताओं द्वारा सेवित सेनापति सुषेण की उद्दंड भुजा में स्थित धनुष्य को तोड़ डाला।

५७. दण्डेशो भग्नकोदण्डः, फालच्युतहरिर्यथा।
क्रोधान्निस्त्रिंशमादाय, जिघांसुस्तमऽधावत॥

धनुष्य के टूट जाने पर सेनापति सुषेण फालच्युत सिंह की भांति क्रोध से विकराल होकर, हाथ में तलवार ले मारने की इच्छा से अनिलवेग की ओर दौड़ा।

५८. वीक्ष्य कोपकरालाक्षं, तं दूराद्धन्तुमुद्यतम्।
अरौत्सीदन्तरा सिंहरथो रविमिवाम्बुदः॥

मारने के लिए उद्यत और क्रोध से विकराल आंखों वाले सुषेण को दूर से ही देखकर सिंहरथ ने उसे बीच में ही रोक डाला, जैसे बादल सूर्य को रोक देता है।

५९. तयोर्युद्धं बभूवोच्चैश्चिरं कुक्कुटयोरिव।
यत्पश्यन्तः सुरा नेशुर्व्योमतोऽपि ससम्भ्रमम्॥

उन दोनों का युद्ध कुक्कुटों की भांति अत्यन्त भीषण और चिरकाल तक होता रहा। युद्ध को देखने वाले देवता भी विस्मित होकर आकाश से अदृश्य हो गए।

६०. कर्मसाक्षी[1] तयोः कर्म, भीषणं वीक्ष्य तत्क्षणात्।
संकोचितकरोऽस्ताद्रिगुहां लिल्ये सभीरिव[2]॥

---

१. कर्मसाक्षी—सूर्य (हरिदश्वो जगत्कर्मसाक्षी—अभि० २।१२)
२. सभीः—भिया सहितः।

योद्धाओं के प्रखर प्रहारों से लगी चोट से रक्त बह रहा था। उससे रंजित वस्त्र ऐसे लग रहे थे मानो कि सुभटों की 'जयश्री' के साथ रमण करने की आन्तरिक स्मृति बाहर आ गई हो।

६७. तत्र व्यतिकरे विद्याधरचक्रपरिच्छदः।
सिंहकर्णान्वितः सिंहरथोऽविक्षद् द्विषद्बले ॥

उस समय विद्याधरों की सेना का सदस्य सिंहरथ सिंहकर्ण के साथ शत्रुओं की सेना में प्रविष्ट हो गया।

६८. अद्रष्टुमिव तद्वक्त्रं, वैरिभिर्व्योमपुष्पवत्।
दुर्लभं निर्जितस्तेन, सुषेणः पृष्ठमार्पयत् ॥

सिंहरथ के द्वारा पराजित होकर सेनापति सुषेण पीठ दिखाकर भाग खड़ा हुआ मानो कि वह वैरियों के द्वारा आकाश-कुसुम की भांति दुर्लभ सिंहरथ के मुंह को देखना नहीं चाहता हो।

६९. इतो विद्याधरोत्तंसोऽनिलवेगो महाबलः।
चक्रिचक्रं चकारोच्चैर्व्याकुलं विविधायुधैः ॥

इधर विद्याधरों के नेता महान् पराक्रमी अनिलवेग ने अपने नाना प्रकार के आयुधों से चक्रवर्ती की सेना को अत्यन्त व्याकुल कर दिया।

७०. नीरन्ध्रमपि तत्सैन्यं, बभूव निहतं ततः।
नैशं[1] तम इव प्रातरभ्रवृन्दमिवाऽनिलात् ॥

चक्रवर्ती की सेना नीरन्ध्र थी, सघन थी। किन्तु सिंहरथ और अनिलवेग के प्रहारों से वह प्रहत हो गई जैसे प्रातःकाल से रात्रि का अन्धकार और पवन से बादलों का समूह प्रहत हो जाता है।

७१. संवर्तानिलसंकाशक्ष्वेडाक्षोभितशात्रवः।
लीलयोल्लालयामास, सोऽत्र शैलानिव द्विपान् ॥

प्रलयकाल के पवन सदृश सिंहनाद से शत्रुओं को क्षुब्ध करने वाले अनिलवेग ने पर्वत जैसे ऊंचे हाथियों को लीला से ऊंचा उछाल डाला।

---

१. नैशं—निशाया इदं नैशम्।

७२. चक्रे भङ्गं तुरङ्गाणां, रथानां रोधमातनोत् ।
पत्तीनां च विपत्तिं स, ददौ दर्पातिरेकतः ॥

उसने घोड़ों को मार डाला और रथों को रोक डाला। उसने अपने दर्प के अतिरेक से पैदल सेना के लिए विपत्ति खड़ी कर दी।

७३. गजारूढेन सोऽदर्शि, क्रीडन्निति रथाङ्गिना ।
कासार इव सैन्ये स्वे, कवसं[1] भृशमुल्ललन् ॥

हाथी पर आरूढ चक्रवर्ती ने शस्त्र उछालते हुए उस अनिलवेग को अपनी सेना में क्रीड़ा करते हुए देखा, जैसे तालाब में कोई क्रीडा कर रहा हो।

७४. मुमोचास्मै ततश्चक्रं, संवीक्ष्यार्कमिवासहम् ।
स कौशिक इवानश्यत्, खद्योतस्तरणेः कियान् ?

तब भरत ने उसकी ओर चक्र फेंका। सूर्य की भांति असह्य तेजवाले चक्र को देखकर वह अनिलवेग उलूक की भांति वहां से भाग गया। सूर्य के समक्ष जुगुनू कितनी देर तक टिक सकता है ?

७५. शक्त्या निर्माय सोऽविक्षत्, कीरवद् वज्रपञ्जरम् ।
गत्वा चक्रौतुना यञ्च, कृतान्तातिथिरादधे ॥

अनिलवेग ने अपनी विद्या-शक्ति से एक वज्रमय पञ्जर का निर्माण किया और वह एक तोते की भांति उसमें प्रविष्ट हो गया। तब चक्र रूपी बिडाल ने पास जाकर उसे यमराज का पाहुना बना दिया, मार दिया।

७६. चक्रेणानीय तन्मौलिरदर्श्यत रथाङ्गिने ।
नृपाः साक्षात्कृते कृत्ये, प्रत्ययन्ते निजेषु हि ॥

चक्र ने अनिलवेग के सिर को लाकर चक्रवर्ती भरत को दिखाया। क्योंकि राजा कार्य को प्रत्यक्ष दिखा देने पर ही अपने निजी व्यक्तियों पर विश्वास करते हैं, अन्यथा नहीं।

७७. वैरनिर्यातनात्[2] तुष्टा, वीराश्चक्रभृतस्ततः ।
हते बलवति क्षत्रे, मुदं को नाम नोद्वहेत् ॥

---

१. कवसः—एक प्रकार का आयुध (आप्टे डिक्शनरी)

२. वैरनिर्यातनं—विरोध का बदला लेना (वैरनिर्यातनं वैरशुद्धिर्वैरप्रतिक्रिया—अभि० ३।४६८)

चक्रवर्त्ती भरत की सेना के वीर सुभट वैर का वदला ले लिये जाने पर तुष्ट हुए। वलवान् क्षत्रिय के मारे जाने पर कौन प्रसन्न नहीं होता ?

७८. तथा कोपानलोऽदीपि, दोष्मतां वहलीशितुः।
चक्रिगृह्यास्तृणानीव, दंदह्यन्तेस्म तैर्यथा॥

इस पर बाहुवली के पराक्रमी सुभटों की क्रोधाग्नि भभक उठी। उन्होंने चक्रवर्त्ती के सैनिकों को तिनके की भांति जलाना प्रारंभ कर दिया।

७९. कृतान्तकरसंकाशा, गदाः शत्रुगदावहाः।
उल्ललन्तिस्म पत्त्यश्वस्यन्दनेभक्षयंकराः॥

बाहुवली के सुभट यमराज के हाथ के सदृश, वैरियों के लिए रोग पैदा करने वाली और पैदल सेना, अश्व, रथ तथा हाथियों का नाश करने वाली गदाएं चला रहे थे।

८०. रत्नारिर्वारितामित्रः, सकूटस्थगदाद्रुमः।
कल्पान्तपवनोत्क्षिप्तपर्वताभस्तदाऽपतत्॥

तव शत्रुओं को वारित करने वाला विद्याधर 'रत्नारि' हाथ में प्रलयकाल के पवन से उखड़े हुए पर्वत के सदृश शाश्वत गदा रूपी वृक्ष को लेकर चक्रवर्त्ती की सेना पर टूट पड़ा।

८१. अनेन पतता युद्धे, कालवन्ह्यनुकारिणा।,
देहे चक्राङ्कभृत्सैन्यारण्यं बाणस्फुलिङ्गकैः॥

काल रूपी अग्नि की भांति भयंकर 'रत्नारि' जव युद्ध में उतरा तव वाणों से उछलने वाले स्फुलिंगों से चक्रवर्त्ती की सेना रूपी अरण्य जलने लगा।

८२. कामं तेन समाक्रान्तां, कामिनेव विलासिनीम्।
चमूं वीक्ष्य निजं चक्री, न्यदिक्षत् स्वचरान् युधि॥

जैसे कामुक व्यक्ति कामिनी को अत्यन्त आक्रान्त कर डालता है, वैसे ही 'रत्नारि' ने चक्रवर्त्ती की समूची सेना को आक्रान्त कर डाला। यह देखकर चक्रवर्त्ती ने अपने सुभटों को युद्ध के लिए निर्देश दिया।

८३. विद्याधरधरेन्द्रेण, महेन्द्रेण महौजसा।
शिरोऽचूर्यत रत्नारेर्मुद्गरेणामकुम्भवत्॥

विद्याधरों के स्वामी महान् पराक्रमी महेन्द्र ने अपने मुद्गर से रत्नारि के शिर को, कच्चे घड़े की भांति, चूर-चूर कर डाला।

८४. ततो बाहुबलेर्गृह्यो, मितकेतुर्महाभुजः।
सुगत्यनुगतो वायुसखो वह्निरिवागमत्॥

बाहुबली की ओर से उनका निजी व्यक्ति महान् पराक्रमी 'मितकेतु' 'सुगति' के साथ युद्ध-स्थल में आया, जैसे वायु के साथ अग्नि आती है।

८५. ताभ्यां विद्याधरेन्द्राभ्यां, सैन्यं श्रीभरतेशितुः।
दैन्यमापादितं बाढं, किं हि चित्रं महौजसाम्॥

मितकेतु और सुगति—इन दोनों विद्याधर अधिपतियों ने चक्रवर्ती भरत की सेना में अत्यन्त दीनता पैदा कर दी। शक्तिशाली पुरुषों के लिए ऐसा कर देना कौन सी आश्चर्य की बात है?

८६. त्याजिताः स्यन्दनं केचिद्धयं केचिद् द्विपञ्च के।
संग्रामभुवमेके च, किं कर्त्तारो न हीदृशाः?

दोनों वीर योद्धाओं ने शत्रु-पक्ष के कुछ सुभटों को रथ, घोड़े और हाथी छोड़ने के लिए मजबूर कर डाला। कुछ सुभट रणभूमी छोड़कर भाग गए। इस प्रकार के पराक्रमी पुरुष क्या नहीं कर सकते?

८७. तयोर्विशिखसंदोहैः, पतद्भिः करिवर्मसु।
चक्रिरे कामतीक्ष्णाग्रैः खाट्कारमुखरा दिशः॥

दोनों वीरों के धनुष्यों से निकले हुए अत्यन्त तीक्ष्ण अग्रवाले बाण हाथियों के कवच पर गिर रहे थे। उनके कारण दिशाएं 'खाट्कार' के शब्दों से मुखरित हो गई।

८८. मालवेदवरमुख्यास्ते, महीनाथा रथाङ्गिनः।
अमूभ्यां व्याकुलीभूताः, श्येनाभ्यामिव पक्षिणः॥

चक्रवर्ती के अधीनस्थ मालव देश के राजा इन दोनों से व्याकुल हो गए, जैसे पक्षी बाज से व्याकुल होते हैं।

जैसे सर्प कंचुकी को छोड़कर भाग जाता है, वैसे ही कुछ शत्रु-सुभट संग्राम-भूमी को छोड़कर भाग गए। जैसे कंजूस व्यक्ति उदारता को छोड़ देता है, वैसे ही कुछ सुभटों ने वीरता के व्रत को छोड़ दिया।

९०. सैन्यं भारतशक्रस्याऽसंख्यं संख्येयतां गतम्।
प्राभातिकमिव व्योम, चरिष्णुमिततारकम्॥

जैसे रात्रिकाल में आकाश में अपरिमित तारे होते हैं, किन्तु प्रभातवेला में वे परिमित ही रह जाते हैं, वैसे ही चक्रवर्ती भरत की सेना जो असंख्य थी—अपरिमित थी, वह भी संख्या में ही रह गई—परिमित ही रह गई।

९१. उत्साहाद् द्विगुणीभूते, बले च बहलीशितुः।
अल्पीयांसोऽपि भूयांसः, सोत्साहा युधि यद् भटाः॥

बाहुबली की सेना उत्साह से दुगुनी हो गई। क्योंकि युद्धकाल में उत्साहित सुभट थोड़े होने पर भी बहुत होते हैं।

९२. इत्यसादृश्यमालोक्य, सैन्ययोः पतिरर्चिषाम्।
वेगादऽस्ताद्रिमालीनः, कालक्षेपो हि भद्रकृत्॥

इस प्रकार दोनों पक्षों की सेनाओं की असदृशता देखकर सूर्य शीघ्र ही अस्ताचल पर जा छुपा। क्योंकि कालक्षेप कल्याणकर होता है।

९३. स्कन्धावारं ततो यातां, स्वं स्वं सैन्ये उभे अपि।
मनःसंप्राप्तविश्रामं, कर्णनेत्रे इवेन्द्रिये॥

दोनों सेनाएं अपने-अपने शिविरों में चली गईं, जैसे कान और आँख दोनों इन्द्रियां विश्रान्त मन में चली जाती हैं।

९४. चक्रिपुत्रेषु शृण्वत्सु, सेनानीरेत्य चक्रिणम्।
अभ्यधत्त वचस्त्वेवं, साहसोत्साहमेदुरम्॥

सेनापति सुषेण चक्रवर्ती भरत के पास आया और चक्रवर्ती के पुत्र सुन सके वैसे साहस और उत्साह से स्निग्ध वाणी में बोला—

९५. राजन्! पुत्रेषु पश्यत्सु, भवदीयेष्वभज्यत।
चमूर्बाहुबलेर्वीरैः, पद्मिनीव गजैस्तव॥

'राजन् ! आपके पुत्रों के देखते-देखते बाहुबली के वीरों ने आपकी सेना को वैसे ही तोड़ डाला जैसे हाथी कमलिनी को तोड़ देता है।'

९६. त्वत्तुल्याः सन्ति ते पुत्रा, ज्ञातिदाक्षिण्यमोहिताः।
युयुत्सन्ते न सर्वेऽपि, क्षत्राणां नोचितं ह्यदः॥

'आपके सभी पुत्र आपके सदृश हैं, किन्तु बन्धुजनों के दाक्षिण्य से मोहित होकर युद्ध लड़ना नहीं चाहते। यह क्षत्रियों के लिए उचित नहीं है।'

९७. अप्यम्बातातवर्गीणाः, क्षत्रियैर्वैरिणः किल।
हन्तव्या योद्धुमायाताः, शुभं नैषां ह्युपेक्षणम्॥

'माता और पिता वर्गीय बंधुजन यदि शत्रु बन कर युद्ध लड़ने के लिए आते हैं, तो क्षत्रियों का कर्त्तव्य है कि वे उनको मार डालें। उनकी उपेक्षा करना शुभ नहीं होता।'

९८. दाक्षिण्यं[1] क्रियते येन, कथं जेता स सङ्गरे।
किं पोतः परिहीयेत, तोयनाथं तितीर्षता?

'जो उनके प्रति अनुकूलता दिखाता है। वह संग्राम में विजयी कैसे होगा? क्या समुद को तैरते हुए कोई व्यक्ति अपनी नौका छोड़ देता है?'

९९. प्रागेव समरारम्भो, मुधा चक्रे त्वया विभो!।
अपि वर्महराः पुत्राः, प्रमाद्यन्ति तवात्र यत्॥

'प्रभो! आपने युद्ध के आरंभ की पहल व्यर्थ ही की, जब कि शत्रुओं के कवचों का हरण करने वाले आपके ये पुत्र भी युद्ध में प्रमाद दिखा रहे हैं।'

१००. इत्याकर्ण्य वचस्तस्य, क्रुद्धः सूर्ययशा जगौ।
प्रातर्बाहुबलिं मुक्त्वा, सर्वान् हन्तास्म्यहं त्विति॥

सेनापति की यह बात सुनकर भरत का ज्येष्ठपुत्र सूर्ययशा क्रुद्ध होकर बोला—'प्रातःकाल ही मैं बाहुबली को छोड़कर और सभी सुभटों को मौत के घाट उतार दूंगा।'

१०१. इत्युक्ता मुदिताश्चक्रिसूनवोऽन्येऽपि दोर्भृतः।
कथञ्चन त्रियामां तामतीत्येयू रणक्षितिम्॥

---

१. दाक्षिण्यं—अनुकूलता (दाक्षिण्यं त्वनुकूलता—अभि० ६।१३)

यह सुनकर चक्रवर्त्ती के अन्य पुत्र तथा वीर सुभट प्रसन्न हुए। रात को ज्यों-त्यों बिताकर, सब रणभूमी में उतर आए।

१०२. सन्नद्धाः शस्त्रसंपूर्णा, भटा बाहुबलेरपि।
अवतेरू रणक्षोणीं, चन्द्रकन्यामिव[1] द्विपाः॥

बाहुबली के वीर सुभट भी सम्पूर्ण रूप से शस्त्रों से सज्जित होकर रणभूमी में उसी प्रकार उतरे जैसे हाथी नर्मदा नदी में उतरते हैं।

१०३. सैन्ये सूर्ययशाः सूर्यो, व्यराजत रथस्थितः।
तमांसीवारिवृन्दानि, नाशयन् निजतेजसा॥

रथ पर आरूढ सूर्ययशा सेना में सूर्य की भांति शोभित हो रहा था। जैसे सूर्य अपने तेज से अंधकार को नष्ट कर देता है वैसे ही वह शत्रु-समूह को नष्ट कर रहा था।

१०४. भ्रातरः कोटिशस्तस्य, शार्दूलाद्याः पुरोऽभवन्।
क्षत्रियक्षेत्रसंप्राप्तजन्मशौर्याङ्कुरा इव॥

उसके शार्दूल आदि करोड़ों भाई उससे आगे हो गए, मानो क्षत्रिय के शरीर में जन्म से संप्राप्त शौर्य के अंकुर फूट पड़े हों।

१०५. विद्याधरधरेन्द्रौ ताववग्राहाविवोद्धतौ।
चक्रभृद्ध्वजिनीवृष्टिध्वंसाय पुनरागतौ॥

विद्याधरों के अधिपति मितकेतु और सुगति—दोनों उद्धत वीर 'सूखे' की भांति चक्रवर्त्ती की सेना रूपी वृष्टि का ध्वंस करने के लिए पुनः रणभूमी में आ गए।

१०६. हस्तार्पितधनुर्बाणो, मितकेतुर्नभश्चरः।
आरौत्सीत् सूर्ययशसं, मनोभूरिव शंवरम्[2]॥

हाथ में धनुष्य और बाण लिए विद्याधर मितकेतु ने सूर्ययशा को वैसे ही रोका, जैसे कामदेव 'शंवर' को रोकता है।

१०७. विद्याभृत् सुगतिस्तद्वच्छार्दूलमरुधत् ततः।
आसीद् युद्धं तयोर्घोरं, विस्मायितसुरासुरम्॥

१. चन्द्रकन्या—नर्मदा नदी।
२. शंवरः—कामदेव का शत्रु (अरी शंवरशूर्पकौ—अभि० २।१४२)

विद्याधर सुगति ने शार्दूल का भी उसी प्रकार रोक डाला। उन दोनों के बीच देवों और दानवों को भी चकित करने वाला भयंकर युद्ध हुआ।

१०८. चण्डांशुः काण्डवृष्ट्यालमतुल्याऽखण्डरूपया।
पिदधे मेघपंक्त्येवाऽकाण्डे कोदण्डधारिणोः॥

उन धनुर्धर दोनों युगलों (मितकेतु-सूर्ययशा और सुगति-शार्दूल) की असाधारण तथा निरन्तर होने वाली पर्याप्त वाण-वृष्टि से सूर्य असमय में वैसे ही ढंक गया जैसे मेघ-पंक्ति से ढंक जाता है।

१०९. गदापट्टिशनिस्त्रिंशैः, संसजद्भिर्नभो मिथः।
शस्त्राणि किमु युद्धयन्ते, सुरैरप्येवमौह्यत॥

आकाश में गदा, पट्टिश (पटा) और तलवारें परस्पर मिल रही थीं। इसे देखकर देवताओं ने भी यह वितर्कणा की—'क्या शस्त्र ही परस्पर लड़ रहे हैं?

११०. रक्तार्धकुम्भमुक्ताभिर्गुञ्जाभिरिव निर्ममुः।
भिल्लस्त्रिय इवामर्यो, हारान् कौतुकतस्तदा॥

जैसे भिल्ल-स्त्रियां गुंजाओं का हार वनाती हैं, वैसे ही देवांगनाओं ने तव कौतुकवश अर्धरक्तकुम्भ-मुक्ताओं से हार बनाये।

१११. मनोरथमिव रथं, सारथिं सह केतुना।
मूर्तं दर्पमिवाथास्य, शार्दूलस्याऽभनक् त्वसौ॥

विद्याधर सुगति ने सारथि और पताका के साथ शार्दूल के रथ को मनोरथ की भांति तोड़ डाला। उसने रथ को नहीं तोड़ा किन्तु मानो उसने उसके मूर्त दर्प को ही तोड़ दिया।

११२. अनैषीत् स्वे स विद्याभृच्छार्दूलं रथपञ्जरे।
नागपाशैर्दृढं बध्वा, खड्गव्यग्रकरं बलात्॥

शार्दूल का हाथ तलवार चलाने के लिए व्यग्र हो रहा था। उस समय विद्याधर सुगति ने उसे वलात् नागपाश से दृढतापूर्वक वांधकर अपने रथ-पंजर में ले लिया।

११३. उन्मुक्तः सोऽहिपाशेभ्यो, मन्त्रेण भुजगद्विषः।
तीक्ष्णद्युतिरिवाभ्रेभ्योऽधिकतेजास्तमभ्यघात्॥

१. अलं—पर्याप्तम्।

जैसे बादलों से मुक्त सूर्य अधिक तेजस्वी होता है, वैसे ही गारुडिक मंत्रों द्वारा पाशों से मुक्त होकर अधिक तेजस्वी बने हुए शार्दूल ने सुगति से कहा—

११४. विद्याधर ! मयैव त्वं, हन्तव्यस्तरवारिणा ।
इत्युक्त्वा सुगतिर्मृत्योस्तूर्णं तेनातिथीकृतः ॥

'विद्याधर ! मेरे द्वारा ही तुम इस तलवार से मारे जाओगे'—यह कहकर शार्दूल ने तलवार का प्रहार किया और सुगति को शीघ्र ही मृत्युधाम पहुंचा दिया ।

११५. चक्रिज्येष्ठसुतोप्युच्चैर्गाहमानोऽरिवाहिनीम् ।
विद्याधरधराधीशं, मितकेतुं जघान च ॥

इधर चक्रवर्ती भरत का ज्येष्ठपुत्र सूर्ययशा भी शत्रु सेना का तीव्रता से अवगाहन करता हुआ आया और उसने विद्याधरों के अधिपति मितकेतु को मार डाला ।

११६. व्योमेव रविचन्द्राभ्यां, लोचनाभ्यामिवाननम् ।
चक्रं चक्राङ्कभृद्भ्रातुर्विद्याभृद्भ्यामृतेऽभवत् ॥

जैसे सूर्य और चन्द्रमा के बिना आकाश तथा आंखों के बिना मुंह शोभाहीन होता है, वैसे ही चक्रवर्ती भरत के भाई बाहुबली की सेना दोनों विद्याधरों के बिना शोभाहीन हो गई ।

११७. सद्यो विद्याधरद्वन्द्ववधात् क्रुद्धः सुतैर्वृतः ।
आयोधनधरां बाहुबलिः स्वयमवातरत् ॥

विद्याधर-युगल के वध से क्रुद्ध होकर बाहुबली स्वयं अपने पुत्रों से परिवृत होकर युद्ध-भूमी में उतर आया ।

११८. कालपृष्ठकलम्बासविस्फारमुखरा दिशः ।
आशाधीशानितीवोचुः, पश्यतास्य पराक्रमम् ॥

बाहुबली के धनुष्य के बाणों के क्षेपण से विस्फारित मुख वाली दिशाओं ने दिशाधीशों से कहा—'इस वीर का आप पराक्रम देखें ।'

११९. चलताप्यचला ! यूयं, यातु विश्वा[1] रसातलम् ।
कुरुताशागजाः ! स्थानं, रोदसी[2] यास्यथः क्व वाम् ॥

१. विश्वा—पृथ्वी (विश्वा विश्वम्भरा धरा—अभि० ४।१)
२. रोदसी—आकाश और पृथ्वी का सम्मिलित नाम (अभि० ४।५)

'पर्वतो ! तुम अचल होते हुए भी चलो। पृथ्वी रसातल में चली जाए। हे दिग्गजो ! तुम भी अपना स्थान बनालो। पृथ्वी और आकाश अब तुम कहां जाओगे ?

१२०. क्ष्वेडास्येति वदन्तीव, प्रोत्सर्पत्यस्त्रनिःस्वनैः।
किंवदन्तीव वृत्तान्तैः, प्रादत्त जगतो भयम् ॥

इस प्रकार कहते हुए, वृत्तान्त के साथ किंवदन्ती की भांति अस्त्र के शब्दों के साथ चारों ओर फैलते हुए बाहुबली के सिंहनाद ने जगत् को भयभीत कर दिया।

१२१. ततः कोटिः सपादापि, चक्रपाणितनूरुहाम्।
मृगालीव पुरोऽनश्यत्, सिंहनादान्नृपार्षभेः ॥

महाराज बाहुबली के सिंहनाद से भयभीत होकर भरत के सवा कोटि पुत्र मृग-समूह की भांति सुदूर अंचलों में भाग गए।

१२२. तस्थौ सूर्ययशाः स्वैरमेकोऽथ समराजिरे।
कल्पान्तपवनस्याग्रे, कः स्थाणुः स्वर्गिरिं विना ?

भरत का बड़ा पुत्र सूर्ययशा अकेला ही उस रणभूमी में स्थिर खड़ा रहा। प्रलयकाल के पवन के समक्ष मेरु पर्वत के अतिरिक्त कौन स्थिर रह सकता है ?

१२३. आपतन्तं तमालोक्याभ्यधात् तक्षशिलेश्वरः।
आकर्णकृष्टकोदण्डश्चण्डिमाढ्यमदो वचः ॥

कानों तक खींचे हुए धनुष्य वाले बाहुबली ने, अत्यन्त क्रुद्ध और रण में प्रहार करने वाले सूर्ययशा को देखकर, ऐसे कहा—

१२४. त्वयैव चक्रभृद्वंशः, क्षीरकण्ठैकवीरवान्।
अतो मे कालदौष्कल्यात्, करो नोत्सहते त्वयि ॥

'एकमात्र तुम्हारे से ही चक्रवर्ती का वंश वीर सन्तान वाला है। इसलिए मृत्यु की दुष्ट कल्पना से मेरा हाथ तुम्हारे पर प्रहार करने के लिए उत्साहित नहीं हो रहा है।'

१२५. मन्मुखं त्यज तद् वत्स !, वात्सल्यं त्वयि मे स्थिरम्।
अतो जीव मम क्रोधवह्नौ त्वं माहुतीभव ॥

'वत्स ! तुम मेरे सामने से हट जाओ। तुम्हारे प्रति मेरा वात्सल्य स्थिर है, इसलिए तुम सुखपूर्वक जीवित रहो। मेरी क्रोधाग्नि में तुम आहुति मत बनो।'

१२६. यदि ते युधि निर्बन्धस्तर्हि त्वं मत्सुतैः सह ।
कुरु सांग्रामिकीं क्रीडां, दन्ती विन्ध्यद्रुमैरिव ॥

'यदि युद्ध करने के लिए तुम्हारा आग्रह है तो तुम मेरे पुत्रों के साथ युद्ध-क्रीडा करो, जैसे हाथी विन्ध्य-पर्वत के वृक्षों के साथ क्रीडा करता है ।'

१२७. पितृव्या ! ऽद्य ममाशंसां, पूरयस्व रणस्य च ।
इत्यूचानः स कोदण्डं, सटङ्कारमधात्तराम् ॥

'पितृव्य ! आप मेरी रण की इस आशंसा को आज पूरी करें'—यह कहते हुए सूर्ययशा ने टंकार करते हुए धनुष्य को धारण किया ।

१२८. अमू लोकत्रयोन्माथमन्दरागौ महाभुजौ ।
किं कर्त्ताराविति स्वैरं, सुरा अपि चकम्पिरे ॥

महान् भुजाओं के धनी, तीनों लोकों के मन्थन के लिए मंदर पर्वत के तुल्य ये दोनों (बाहुबली और सूर्ययशा) आज क्या कर देंगे'—यह सोचकर देवता भी प्रकंपित हो उठे ।

१२९. निर्घोषात् कुलिशरवातिभीष्मरूपात्,
कोदण्डस्य विततमः प्रियस्य कण्ठः ।
ताभिस्त्रिदशवधूभिराललम्बे,
वाणीभिः सकलविदामिवाशु भव्यः ॥

उन दोनों के धनुष्य से निकले हुए वज्रपात से भी अतिभीषण निर्घोष से भयभीत होकर देवांगनाओं ने अपने प्रियतमों के विछुड़े हुए कण्ठों का आलंबन ले लिया जैसे सर्वज्ञ की वाणी भव्य प्राणी का आलंबन लेती है ।

१३०. कल्पान्तोद्य किमागतोऽयमधुना किं मेरुणा शीर्यते ?
शेषाहिर्वसुधाधुरं परिहरत्यस्मिन् मुहूर्त्ते किमु ?
अम्भोधिः स्थितिमुज्जहाति किमुतेत्यज्ञायि युद्धं तयोः,
क्ष्वेडाक्षेपकरम्बिकार्मुकरवप्रोत्थापितैः स्वर्गिभिः ॥

क्या आज प्रलयकाल आ गया है ? क्या मेरू पर्वत शीर्ण हो रहा है ? क्या अभी इस मुहूर्त्त में शेषनाग वसुधा की धुरा का परिहार कर रहा है ? क्या समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ रहा है ?—इस प्रकार सिंहनाद के क्षेपण से युक्त धनुष्य के शब्दों से व्याकुल होकर देवताओं ने उन दोनों के युद्ध को जाना ।

१३१. विश्वेश्वरो विहरति प्रभुरादिदेवः,
पुण्योदयो विलसति प्रसभं त्विदानीम् ।
संहार'वार' इव का विगृहीतिरेषा',
जग्मुर्भुवं मरुत इत्यवधारयन्तः ॥

'विश्व के ईश्वर प्रभु आदिदेव आज धरा पर विहरण कर रहे हैं। आज सर्वत्र पूर्ण पुण्योदय विराजमान है। प्रलयकाल के अवसर की भांति यह कैसा विग्रह'—यह सोचकर देवता भूमी पर आ गए।

—इति युद्धवर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः—

सोलहवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत को देवताओं द्वारा उद्बोधन और भरत की स्वीकृति।
श्लोक परिमाण—	८१
छन्द—	स्वागता।
लक्षण—	देखें, सर्ग ६ का विवरण।

कथावस्तु—

युद्ध की भीषणता को देखकर देवगण भूमी पर आ गए। वे सर्वप्रथम भरत के समक्ष आकर बोले—'राजन् ! आप तो मर्यादा के मूल हैं। आप ऋषभ के पुत्रों में ज्येष्ठ हैं। आप इस युद्ध में क्यों फंसे हैं। राजे दो कारणों से युद्ध करते हैं—भूमी के लिए या अहं की तुष्टि के लिए। आप अहं के कारण ऐसा कर रहे हैं। किन्तु भाई के साथ प्रलयंकारी युद्ध करना क्या आपके लिए उचित है ? आप हमारी बात मानकर भाई के साथ संधि करलें।' भरत ने कहा—'मेरा यह भाई बाहुबली झुकना नहीं चाहता। उसके झुके विना यह चक्र आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं हो रहा है। यह मेरे लिए लज्जा की बात है। उसे पराजित किए विना मेरा कैसा चक्रवर्त्तित्व।' देवताओं ने कहा—'चक्रवर्त्तिन् ! आप ठीक कहते हैं। किन्तु आप दोनों की अहं तुष्टि के लिए यह नर-संहार तो उचित नहीं है। आप अपनी सेना का निवारण कर परस्पर युद्ध करें। जो जिसको जीत लेगा भूमी उसी की हो जाएगी। आप दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध और यष्टियुद्ध—इन चार प्रकार के युद्धों से लड़ें। इनमें आप दोनों के पराक्रम का पता लग जाएगा।' भरत ने देवताओं के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

तत्पश्चात् देवता बाहुबली के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने अपनी बात कही। बाहुबली ने कहा—'यदि नर-संहार को रोकना है और हमारे पराक्रम की कसौटी करनी है तो अच्छा यह है कि युद्ध-भूमी में भरत भी अकेला आए और मैं भी अकेला ही वहां जाऊं। हम दोनों के पराक्रम का पता लग जाएगा।' देवताओं ने इसे स्वीकार कर लिया। दोनों पक्षों के सैनिकों ने जब यह संवाद सुना तो वे अवाक् रह गए। अपनी वीरता के प्रदर्शन की बात उनके मन में ही रह गई। दोनों ओर के सैनिक हट गए। देवताओं ने रण-भूमी को फूलों से उपचित कर डाला।

षोडशः सर्गः

१. स्वःसदोऽपि गगनादवतेरुर्युद्धमीदृशमवेक्ष्य तदीयम् ।
बोधनाय वृषभध्वजसून्वोर्बोध एव परमं नयनं हि ॥

ऋषभदेव के दोनों पुत्रों के इस प्रकार के युद्ध को देखकर, उनको प्रतिबोध देने के लिए देवता आकाश से नीचे उतरे। क्योंकि प्रतिबोध ही उत्कृष्ट आंख है।

२. सैनिकाः ! किल युगादिजिनो वः, सेतुरस्तु समरैकपयोधेः ।
क्ष्मां ववन्त इति नाकिन ईयुर्लङ्घ्य एव न हि देवनिदेशः ॥

'सैनिको ! इस युद्ध रूपी समुद्र के लिए हमारे ऋषभ देव सेतु के रूप में हों'—यह कहते हुए देवता भूमि पर आए। देवता का आदेश अनुल्लंघनीय होता है।

३. केऽपि कार्मुकसमर्पितबाणाः, केऽपि तूणकलिताङ्गुलयश्च ।
केऽपि कोशरहितासिकराला, मुक्तमुद्गरगदा अपि केचित् ॥

४. वैरिशस्त्रनिहतैरिहशूरैः, संकटो व्यरचि किं सुरलोकः ?
यत् सुरैः समरतो विनिषिद्धास्ते वयं त्विति वदन्त इदानीम् ॥

५. सिंहनादमुखरा अपि केचित्, वैरिणो मम पुरो क्षतकायाः ।
यद् व्रजन्ति महती युधि लज्जा, भाविनीति सुभटा निगदन्तः ॥

६. स्यन्दनध्वजनिवेशितकायाः, केऽपि वारणवरार्पितदेहाः ।
भालपट्टनिपतच्छ्रमबिन्दुभ्राजिनः कलितवाजिन एके ॥

७. दोर्भृतः सुरगिराथ निषिद्धाः, श्रीयुगादिजिनशासनवत्या ।
चित्रचैत्यरचनां कलयन्तस्तस्थुराहवरसोत्सुकचित्ताः ॥

—पञ्चभिः कुलकम् ।

कुछ योद्धाओं ने धनुष्य पर बाण चढा दिए थे। कुछ की अंगुलियां तूणीर से बाण निकालने में तत्पर थीं। कुछ म्यान से तलवारें निकाले हुए भयंकर लग रहे थे। कुछ सुभट मुद्गर और गदा का मुक्त प्रहार करने में तत्पर थे। उस समय वीर

सुभट इस प्रकार कह रहे थे—'इस रणभूमी में शत्रुओं के शस्त्रों से मरे हुए वीर योद्धाओं ने क्या देवलोक को भी संकीर्ण बना दिया है, जिससे कि देवों ने हम सबको युद्ध करने से रोका है ?'
सिंहनाद से मुखरित होने वाले कुछ सुभटों ने यह कहा—'ये शत्रु-सुभट युद्ध में घायल होकर हमारे आगे से चले जा रहे हैं। यह अत्यन्त लज्जास्पद बात होगी।'
कुछ सुभट रथ की ध्वजा में अपने शरीर को लपेटे हुए थे। कुछ हाथियों पर आरूढ थे और घोड़ों पर सवार कुछ सुभट ललाट से गिरने वाली श्रम-बिन्दुओं से शोभित हो रहे थे।
ऋषभदेव के शासन की प्रभावना करने वाले देवताओं की वाणी से निषिद्ध होकर कुछ सुभट युद्धोत्सुक होने पर भी चैत्य की अद्भुत रचना को देखते हुए बैठ गए।

८. **देवताः सपदि भारतराजं, मूर्तिमत्य इव सिद्धय एवम्।**
अभ्यधुर्दलितवैरविशेषा, देवसेव्यचरणं करुणाढ्याः॥

देव-सेव्य चरण-कमल वाले चक्रवर्ती भरत के पास वैर विशेष का शमन करने वाले दयालु देवता मूर्तिमान् सिद्धियों की भांति सहसा आए और इस प्रकार बोले—

९. **आहवः किमधुनैष युवाभ्यां, वारणाश्वरथपत्तिविमर्दी।**
कल्पकाल इव निर्मित एवं, यश्च भापयति देवमनांसि ?

'आप दोनों ने कल्पान्तकाल की भांति हाथी, घोड़े, रथ और पदाति सेना को नष्ट करने वाले इस युद्ध को क्यों प्रारम्भ किया है ? यह देवताओं के मन को भी भयभीत कर देता है।'

१०. **यद् युवां वृषभनाथतनूजौ, यद् युवां सुकृतकेतकभृङ्गौ।**
यद् युवां चरमविग्रहधारौ, यद् युवां स्थितिमवेथ इनोक्ताम्[1]॥

'आप दोनों ऋषभ के पुत्र हैं। आप दोनों सुकृत रूपी केतकी के फूलों पर विचरण करने वाले भ्रमर हैं। आप दोनों चरम-शरीरी हैं। आप स्वामी ऋषभ द्वारा उक्त स्थिति को जानते हैं।'

११. **तत्कथं समर एष भवद्भ्यां, प्रावृतत् क्षय इवार्तिरताभ्याम्।**
कालबोध इव मित्र[2]विधूभ्यां, सर्वसंहरणयोगविधायी॥

'फिर भी कलह में रत आप द्वारा प्रलयकाल की भांति यह युद्ध क्यों प्रवृत्त हुआ

१. इनः—स्वामी (ईशितेनो नायकश्च—अभि० ३।२३)
२. मित्रः—सूर्य (अभि० २।१०)

है ? यह सूर्य और चन्द्रमा की भांति कालबोध—मृत्युबोध कराने वाला और समस्त प्राणियों का संहार करने वाला है।'

१२. आदिनेतुरुदभूत् किल सृष्टिर्वामिवाखिलविशेषविधातुः।
किन्तु वां स्फुटमियं भगिनी वां, मर्द्यते कथमसौ तत इत्थम्?

'प्रथम तीर्थंकर तथा समस्त विशेष विधियों के विधाता भगवान् ऋषभ से जैसे आप दोनों उत्पन्न हुए है, वैसे ही यह सृष्टि भी उन्हीं से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार यह सृष्टि स्पष्ट रूप से आपकी भगिनी है। तो फिर आप इस सृष्टि का ऐसा मर्दन क्यों कर रहे हैं ?'

१३. युग्मिधर्मनिपुणत्वमलोपि, श्रीयुगादिजिनपेन युवाभ्याम्।
स्वीकृतं तदनु सृष्टिविमर्दात्, सत्सुतैर्न पिता व्यतिलङ्घ्यः॥

'श्री युगादिदेव ने युगल-धर्म की निपुणता का लोप किया। आप दोनों ऋषभ द्वारा सृष्ट सृष्टि का मर्दन कर उन्हीं के चरण-चिन्हों पर चल रहे हैं। क्योंकि अच्छे पुत्र पिता के पथ का अतिक्रमण नहीं करते।'

१४. त्वं तु भारतपते! स्थितिमूलं, ज्येष्ठ एव तनयेषु युगादेः।
आदिदेवसदृशोऽसि गुणैस्तत्, ताततो न तनयो हि भिनत्ति॥

'भारतेश्वर भरत! आप तो मर्यादा के मूल हैं। आप ऋषभ के पुत्रों में ज्येष्ठ हैं आप गुणों में आदिदेव के तुल्य हैं क्योंकि पुत्र पिता से भिन्न नहीं होता।'

१५. अत्र यत्तरणिरस्तमुपेतः, संमदो हुतवहे विनिवेश्यः।
सान्धकारपटलेऽञ्जनकेतुस्तत्पुरो भवति नक्तमिहौकः॥

'संसार में सूर्य (ऋषभदेव) अस्त हो गया है, इसलिए हमें अपना उल्लास अग्नि में स्थापित करना चाहिए। रात्रि में अन्धकारपटल में जनता के सामने दीप ही शरण होता है।'

१६. भूभृतः समरमप्यवलेपाद्, भूकृते किमुत यद् रचयन्ति।
तत्तदीयमतिरस्य विमर्शे, भङ्गसंशयवशादनुशेते॥

'राजे अहंकार के कारण युद्ध करते हैं अथवा भूमि के लिए—इस बात का विमर्श करने में उनकी बुद्धि विकल्प के संशय में पड़कर (वास्तविक निर्णय न कर सकने के कारण) पश्चात्ताप करती है।'

१७. मान एव भवता विदधेऽयं , नो पुनर्भरतराज ! वितर्कः ।
बन्धुना सह क एष युगान्तोऽनून आहव इयांस्तव योग्यः ?

'हे भरतराज ! आपने युद्ध करने में अहं ही प्रदर्शित किया है, विमर्श नहीं किया। भाई के साथ इतना बड़ा युगान्तकारी युद्ध करना आपके लिए उचित है ?'

१८. राजकुञ्जर ! तवाहवलीला , तातसृष्टितरुसंचयभित्त्यै ।
संबभूव मदसंभृतिभर्तुः , सर्वदोन्नततयाभ्यधिकस्य ॥

'श्रेष्ठ राजन् ! सर्वदा उन्नत होने के कारण आप अधिक मद के भार को धारण कर रहे हैं। आपकी यह युद्ध-लीला पिता ऋषभ की सृष्टि रूपी तरु-समूह के विनाश के लिए प्रारम्भ हुई है।'

१९. केवलं वसुमतीहृदयेशाः , प्राणिपीडनवशादुपयन्ति ।
दुर्गतिर्न हि भवानिह तादृक् , सांप्रतं रणरतिर्भवतः का ?

'स्वामी भूमी रूपी रमणियों को प्राणी-पीडा के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। आप वैसे दरिद्र नहीं हैं। फिर अब आपकी रण के प्रति यह कैसी रति ?'

२०. निर्दयत्वमधिकृत्य नरेन्द्रै भ्रातरोपि तनया अपि घात्याः ।
भुक्तते वसुमती न तदीया , पातकं हि हननस्य चिराय ॥

'भूमी पर अधिकार करने के लिए राजे निर्दयी बन जाते हैं और अपने भाइयों तथा पुत्रों को भी मार डालते हैं। किन्तु भूमी उनकी नहीं होती। केवल हत्या का पाप चिरकाल तक उनके साथ रहता है।'

२१. संगरो गर[1] इवाकलनीयो , यं श्रिता मृति[2]मयन्ति हि मर्त्याः ।
प्राप्य तत्र विजयं निलये स्वे , ये व्रजन्ति भुवि तेऽधिकपुण्याः ॥

'युद्ध को विष की तरह मानना चाहिए। इसका आश्रय लेकर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। जो पुरुष विजय प्राप्त कर अपने घर चले जाते हैं, वे जगत् में अधिक पुण्यशाली होते हैं।'

२२. आत्मनीनमिव दोषमुदग्रं , बान्धवं युधि निहत्य नरेन्द्र !।
मोक्ष्यते नु भवतोदधिनेमि , स्थेयसी तव कियद् वसुधेयम् ?

---

१. गरः—कृत्रिम विष (गरश्चोपविषं च तत्—अभि० ४।३८०)
२. मृतिः—मृत्यु (मृतिः संस्था मृत्युकालो—अभि० २।२३७)

'नरेन्द्र ! अपने भीतर उत्पन्न उदग्र रोग की भांति युद्ध में वन्धुजनों को मार कर आप समुद्र पर्यन्त इस पृथ्वी का उपभोग करेंगे। किन्तु यह आपके पास कितने काल तक स्थिर रह सकेगी ?।'

२३. त्वत्पितुर्जगति कीर्त्तिभिरारात् , पौर्णिमा भवति भारतराज !।
द्राक् कुहु[1]स्तदितराभिरमूभिर्वन्धुघातकलुषाभिरिहैव ॥

'भारतेश्वर ! आपके पिता की कीर्त्ति से जगत् में पूर्णिमा होती है। किन्तु बंधुओं के घात से कलुषित आपकी इस अकीर्त्ति से यहां शीघ्र ही अमावस्या हो जाएगी।'

२४. आधिपत्यरभसाद् विगृहीतिर्यस्त्वया व्यरचि साधु न चैतत् ।
वन्धुना सह कुरुष्व गिरा नः , सन्धिमेव नृप ! युद्धमपास्य ॥

'राजन् ! आपने अपने आधिपत्य के वल पर यह विग्रह प्रारंभ किया है। किन्तु आपने यह उचित नहीं किया। हमारी वात मानकर आप युद्ध को छोड़, अपने भाई के साथ संधि ही करें।'

२५. ईरणादुपरतेषु सुरेष्वित्याह भारतपतिः स्फुटमेतान् ।
ब्रूथ यूयमिह यत् तदशेषं , सत्यमेव हृदयं मनुते मे ॥

इस प्रकार प्रेरणा देकर देवता जव उपरत हुए तव भरत ने स्पष्ट रूप से उनसे कहा—'आप जो कुछ कहना चाहें वह सव कुछ कहें। मेरा हृदय यथार्थ ही मानता है।'

२६. किं करोमि लघुरेष मदीयो , वान्धवो न मतिमानभिमानात् ।
मानमिच्छति गुरुर्लघुवर्गाज्जीवनं जलनिधेरिव मेघः ॥

'क्या करूं, मेरा यह छोटा भाई वाहुवली अभिमान के कारण वुद्धिमान् नहीं है। वड़ा छोटे से सम्मान चाहता है जैसे मेघ समुद्र से पानी चाहता है।'

२७. भूभुजोधिकवलाः क्षितिपीठे , वैरिवर्गमवधूय भवन्ति ।
मन्थनादुदनिधेः कमलाप्तिः , संवभूव किल नन्दकपाणेः[2] ॥

'राजा वैरियों का उन्मूलन करके ही इस भूमि पर अधिक वलशाली हो सकते हैं। समुद्र के मन्थन से ही विष्णु को लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी।'

२८. आयुधं न मम चायुधधाम्नोन्तर्विवेश सरलत्वमिवाऽहेः ।
तेन मे तुदति मानसमेतद् , गात्रमस्त्रमिव मर्मविभेदि ॥

१. कुहुः—अमावस्या (अभि० २।६५)
२. नन्दकपाणेः—विष्णोः—नन्दकः (असिः) पाणौ अस्ति यस्य, स तस्य—(अभि०२।१३६ असिस्तु नन्दकः)

'जैसे सर्प सरल-सीधा होकर बिल में पेठ जाता है, वैसे मेरी आयुधशाला में चक्र प्रविष्ट नहीं हुआ। इसलिए जैसे मर्मवेधी शस्त्र से शरीर पीड़ित होता है, वैसे ही, मेरा मन इस घटना से पीड़ित हो रहा है।'

२९. **मानवा जगति मानभृतः स्युः, प्रायशस्त्विवति सुरा अपि वित्थ।**
तद् विचार्य वदतोचितमस्मान्, मानहानिरधुना न यथा मे ॥

'संसार में प्रायः मनुष्य मानशाली होते हैं, यह आप सब देवता भी जानते हैं। इसलिए आप विचार कर हमें कोई उचित मार्ग दिखाएं, जिससे आज मेरी मान-हानि भी न हो।'

३०. **ते सुरा अपि तदीयगिरेति, प्रार्थिताः पुनरपीदमशंसन्।**
साधु साधु वृषभध्वजसूनो!, व्याहृतं ह्यघमुशन्ति न सन्तः ॥

भरत की वाणी से इस प्रकार प्रार्थित होकर उन देवताओं ने पुनः कहा—'ऋषभ के पुत्र! आपने बहुत ठीक कहा है। क्योंकि सज्जन पुरुष पाप की कामना नहीं करते।'

३१. **अस्मदुक्तिकरणैकपटुत्वं, विद्यते तव हिताहितवेदिन्!।**
यत् सुधां किरति तारकराजसूर्न[1] चित्रममला हि सदैवम् ॥

'हे हित और अहित के ज्ञाता! आप हमारी उक्तियों को क्रियान्वित करने में अत्यन्त पटु हैं। चन्द्रमा का पुत्र बुध अमृत को बिखेरता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि पवित्र व्यक्ति सदा ऐसा ही करते हैं।'

३२. **सद्बलाबलरणे विजयश्रीराप्यते जगति चैकतमेन।**
तुल्यतां पुनरवाप्य विधत्ते, संशयं मनसि सैव नयज्ञ! ॥

'जिस रण में एक सबल और दूसरा अबल होता है, वहां सबल व्यक्ति संसार में विजयश्री को प्राप्त कर लेता है। किन्तु नयज्ञ! जहां दोनों पक्षों में तुल्यता होती है, वहां विजयश्री भी मन में संशय करने लग जाती है।'

३३. **वंश एष शतधा परिवृद्धस्तुङ्गतां कलयतिस्म युगादेः।**
युद्धपर्शुहननेन युवाभ्यां, छेद्य एव न कथञ्चिदवाप्य ॥

'ऋषभदेव का यह वंश सैकड़ों प्रकार से वृद्धिगत होता हुआ बहुत उन्नत हो गया है। इसको प्राप्त कर आप दोनों युद्ध रूपी पर्शु के प्रहार से इसका किसी प्रकार हनन न करें।'

---

१. तारकराजसूः—बुध।

४१. ते तदैव भरतानुजमीयुर्वारिदा इव नदीहृदयेशम् ।
कोपताम्रनयनोल्वणवक्त्रं, व्याहरन्निति गिरानुनयाच्च ॥
—त्रिभिर्विशेषकम् ।

जैसे वादल समुद्र के पास जाते हैं, वैसे ही वे देवता भरत से वातचीत कर वाहुवली के पास आए। महाराज वाहुवली के हाथ में कालपृष्ठ धनुष्य था। वे अष्टापद की भांति निःशंक, अग्नि की भांति अत्यन्त दीप्त, मेरु पर्वत की भांति उन्नत, भाग्य की भांति अगम्य, मूर्तिमान् वने हुए अधिक शौर्य वाले, सूर्य की भांति दुष्प्रधर्षतम कान्ति वाले, रणभूमी में यमराज के सदृश और क्रोध से रक्त हुए नयन से युक्त आनन वाले थे। देवनाओं ने अनुनयभरी वाणी में कहा—

४२. आदिदेवजननाब्धिसितांशो !, वैरिवंशदहनैकदवाग्ने ! ।
धैर्यमन्दरगिरीन्द्र ! इदानीं, निर्जरैस्त्वमसि विज्ञपनीयः ॥

'हे ऋषभवंश रूपी समुद्र के चन्द्रमा !, वैरियों के वंश-दहन के एक मात्र दावाग्ने !, धैर्य रूपी मन्दर पर्वत !, अव आपको देवता कुछ कहना चाहते हैं।'

४३. नीतिमण्डप ! पराक्रमसिन्धो !, को गुरुं प्रणमतस्तव दोषः ।
सैन्धवीयसलिलस्य हि हानिः, का भवेदुपयतो जलराशिम् ?

'हे नीति के मंडप !, हे पराक्रम के समुद्र !, वड़े भाई को प्रणाम करने में आपको क्या दोपापत्ति है ? क्योंकि समुद्र में मिलने वाली नदी के पानी की क्या कोई हानि होती है ? कुछ भी नहीं।'

४४. चेद् विलुम्पसि गुरूनभिमानात्तद् गुरून् जगति मानयिता कः ?
हीयते खलु गुरोरपि बुद्धया, यत्र तत् किमितरैरवगाह्यम् ?

'यदि आप वड़े के प्रति होने वाले व्यवहार का अहंकार के वशीभूत होकर लोप करते हैं तो भला संसार में दूसरा कौन होगा जो वड़ों को मान देगा ? आप जैसे व्यक्ति भी यदि गुरुत्व की वृद्धि से क्षीण हो जाते हैं तो भला दूसरे व्यक्ति गुरुत्व की वृद्धि का अवगाहन कैसे करेंगे ?'

४५. ज्येष्ठवान्धववधाय करस्ते, किं प्रभुर्भवति भूधन ! हा हा ! ।
गुर्वभक्तिनिरतेषु तवास्तु, प्रागुदाहरणमाहितनिन्द्यम् ॥

'राजन् ! आपका हाथ वड़े भाई के वध के लिए क्या समर्थ है ? हा ! हा ! तव तो गुरुजनों के प्रति अविनय करने वाले व्यक्तियों में आपका निन्द्य उदाहरण पहला होगा—'

४६. सर्वदैकसुकृती जगदन्तश्चेद् भवानपि भवेद् गुरुलोपी ।
अन्धकाररिपुरेष विभाति, किं तमोभिरुपलिप्यत एव ॥

'संसार में आप सर्वदा अत्यन्त पुण्यशाली हैं। यदि आप भी बड़ों को मारने वाले होते हैं तब तो अन्धकार का शत्रु यह सूर्य क्या अन्धकार से व्याप्त नहीं हो जाएगा ?'

४७. सद्भिरेव विहिता स्थितिरुच्चैः, संभवेदिह सदाचरणाय ।
स्वां स्थितिं परिजहाति पयोधिः, किं कदाचन विना क्षयकालम् ?

'सज्जन व्यक्तियों ने सदाचरण के लिए ही ऊंची मर्यादाओं का विधान किया है। क्या कभी प्रलयकाल के बिना समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन करता है ?'

४८. तातवंशभवनं भवता यत्, संव्यधायि शुचिकीर्त्तिसुधाभिः ।
ज्येष्ठबन्धुवधपङ्कनिषेकैर्मा तदेव मलिनीकुरु राजन् ! ॥

'आपने अपने पिता ऋषभ के वंश-प्रासाद को पवित्र कीर्त्ति रूपी सुधा से धवलित किया है। राजन् ! उसी प्रासाद को आप ज्येष्ठ बंधु के वध रूपी कीचड़ के सिंचन से मलिन न करें।'

४९. स्थेयसी वसुमती न च लक्ष्मीर्जीवितं न न सुखं न च दाराः ।
एकमेव शरदिन्दुकराभं, शाश्वतं किल यशोऽप्ययशश्च ॥

'राजन् ! इस संसार में भूमी, लक्ष्मी, जीवन, सुख और स्त्री—ये स्थायी नहीं हैं। केवल शरद् चन्द्रमा की किरणों की आभा वाला यश या अपयश ही स्थायी रहता है।'

५०. विस्मयो न युवयोरपि शक्तावंसयोरिव युगादिजिनस्य ।
सृष्टिरत्र सकलैव वृथा वामीदृशेन समरेण तदा स्यात् ॥

'आप युगादिदेव के दो स्कंधों की भांति हैं, इसलिए आप दोनों के पराक्रम में कोई विस्मय नहीं होता। किन्तु इस प्रकार के संग्राम से यह सृष्टि वृथा ही हो जाएगी।'

५१. इत्युदीर्य विरता वचनेभ्यो, वर्षणेभ्य इव वारिमुचस्ते ।
तानुवाच च बली बहलीशो, धैर्यमेदुरवचोभिरमीभिः ॥

इतना कहकर देवता बोलने से विरत हो गए, जैसे बादल बरस कर विरत हो जाते हैं। तब पराक्रमी बाहुबली ने धीर और स्निग्ध वाणी में उनसे इस प्रकार कहा—

५२. देवताः ! किमपि वित्त ममायं, बान्धवश्छलबलोत्कटचित्तः ।
मां नुनोद समराय कथञ्चित्, प्रेतनायकमिव प्रलयाय ?

'देवगण ! क्या आप यह जानते हैं कि छल-बल में प्रवीण मेरे इस भाई भरत ने ही मुझे ज्यों-त्यों युद्ध करने के लिए वैसे ही प्रेरित किया है जैसे प्रलय के लिए यमराज को प्रेरित किया जाता है ?'

५३. वेत्त्ययं च बलवानहमेको , यन्मयैव वसुधेयमुपात्ता ।
देवसेव्यचरणोऽहमिदानीमित्यहं कृतिवशात् परिपुष्टः ॥

वह जानता है—'इस धरती पर मैं ही एक पराक्रमी हूँ । यह भूमी मैंने ही प्राप्त की है । अब मैं देवताओं द्वारा उपास्य हूँ इसलिए भाग्यवश परिपुष्ट हूँ ।'

५४. मत्कनिष्ठसहजक्षितिचक्रादानतः किमपि मानमुवाह ।
एष सम्मदमशेषमतोऽहं , सङ्गरे व्यपनयामि विशेषात् ॥

'मेरे सहजात छोटे भाइयों के राज्यों को प्राप्त करने से इसके मन में कुछ अहं आ गया है इसलिए मैं इसके सारे अहं को विशेष रूप से संग्राम में नष्ट कर दूंगा ।'

५५. अस्य लोभरजनीचर[1]चारैर्व्यानशे हृदयमत्र न शङ्का ।
तोष एव सुखदो भुवि लीलाराक्षसा हि भयदाः पृथुकानाम् ॥

'देवगण ! इसमें कोई शंका नहीं है कि मेरे भाई भरत का हृदय लोभ रूपी राक्षसों से भर गया है । संसार में संतोष ही सुखदायी होता है । बालकों के लिए क्रीडा-राक्षस भी भयप्रद होते हैं तो भला लोभ रूपी राक्षस भयप्रद क्यों नहीं होंगे ?'

५६. लौल्यमेति हृदयं हि यदीयं , तस्य कस्तनुरुहः सहजः कः ।
वृद्धिमेति विहरन् जलराशौ , संवरः[2] स्वककुलाशनतो हि ॥

'जिसका मन लोभ से भरा हुआ है, उसके लिए कौन पुत्र और कौन भाई ? समुद्र में विहरण करता हुआ मत्स्य अपने कुल की मछलियों का भक्षण करके ही वृद्धिगत होता है, ऐसे नहीं ।'

५७. संयता सह मया किमवाप्यं , सौख्यमत्र भरतक्षितिराजा ।
जीवितुं क इहेच्छति किञ्चित् , कालकूटकवलीकरणेन ?

'मेरे साथ संग्राम कर महाराज भरत कौन सा सुख पा लेंगे ? कालकूट विष का भक्षण कर कौन व्यक्ति जीने की इच्छा कर सकता है ?'

१. रजनीचरः—राक्षस ।
२. संवरः—मत्स्य (संवरोऽनिमिषस्तिमिः—अभि० ४।४१०)

५८. कोपवन्हिरतुलो मम चक्रेऽनेन दूतवचनेन्धनदानात् ।
सोभिषेणन[1]धृतैकनिषेकाद् , दीपितः किमिह भावि न वेद्मि ॥

'भरत ने दूत का वचन रूपी इन्धन डाल कर मेरी क्रोधाग्नि को भड़काया है। उसने एक मात्र आक्रमण रूपी घी के सिंचन से उस अग्नि को प्रज्वलित किया है। अब क्या होगा, मैं नहीं जानता।'

५९. सङ्गरोयमजनिष्ट महान् नौ , द्वादशद्विगुणितायनमात्रः ।
चेन्निषेधमधुनास्य विदध्यां , तर्हि मेऽल्पबल इत्यपवादः ॥

'हम दोनों के बीच यह महान् युद्ध प्रारम्भ हो चुका है। इसको बारह वर्ष हो गए हैं। यदि अब मैं इसे बीच में ही रोक दूं, तो 'मैं अल्प शक्तिशाली हूँ'—इस प्रकार मेरा अपवाद होगा।'

६०. आगतास्त्रिदिवतो यदि यूयं , मां त्रिविष्टपसदो ! न मया तत् ।
पुण्यवत्सुलभदर्शनवाक्याः , कुत्रचित् कलिवशादवमन्याः ॥

'देवगण ! आपकी वाणी और दर्शन पुण्यशालियों को ही सुलभ होते हैं। यदि आप स्वर्ग से मेरे पास आए हैं तो विग्रहवश मेरे द्वारा आपका कहीं भी अपमान न हो जाए, (इसलिए मैं एक प्रस्ताव करता हूँ—)'

६१. एक एव समुपैतु रथाङ्गी , तादृशोहमपि संयत एता ।
तत्र नावधिक[2]विक्रमवान् यः , स्वीकरिष्यति च तं विजयश्रीः ॥

'युद्ध-भूमी में चक्रवर्ती भरत अकेले आएँ और वैसे ही मैं भी वहां अकेला जाऊं। हम दोनों में जो भी अधिक पराक्रमी होगा, विजयश्री उसी का वरण करेगी।'

६२. एवमेव जनवर्गविमर्दो , नो भविष्यतितरां विबुधा ! हे ! ।
दोर्बलाभ्यधिकताप्रतिपत्तिर्भाविनी च किल सर्वसमक्षम् ॥

'हे देवगण ! ऐसा करने से ही जनसंहार नहीं हो पाएगा और वहीं पर सबके समक्ष हमारी भुजाओं के पराक्रम की अधिकता का विश्वास हो जायेगा।'

६३. व्याहृता अपि सुरा इति हृष्टास्तेन युद्धविधिदक्षभुजेन ।
कौतुकाय गगनं त्वधितस्थुः , कौतुकी न हि विलोकयिता कः ?

---

१. अभिषेणनं—सेना के साथ शत्रु पर चढ़ाई करना (अभिषेणनं तु स्यात् सेनयाऽभिगमो रिपौ—अभि० ३।४५४)

२. नौ+अधिक···।

युद्ध-विधि में दक्ष भुजा वाले उस बाहुबली के इस प्रकार कहने पर देवता भी प्रसन्न हुए और कुतूहलवश आकाश में जा बैठे। ऐसा कौन कौतुकी होगा जो देखने का इच्छुक नहीं होगा ?

६४. एतदाजिमवलोकयतो मे, स्वस्थितिर्बहुतरैव भवित्री।
इत्यवेक्ष्य तरणिः परिलिल्ये, पश्चिमां नववधूमिव रागात्॥

'इस युद्ध को देखते हुए मेरी स्थिति बहुत ही लम्बी हो जाएगी'—ऐसा सोचकर सूर्य ने, नववधू की भांति पश्चिम दिशा का आसक्ति से आलिंगन कर लिया।

६५. तौ तदैव च निवर्तयतःस्म, वेत्रिभिः प्रहरणान्निजवीरान्।
देवतोक्तमिति वृत्तमशेषं, तत्पुरो कथयतां च विशेषात्॥

उसी समय भरत और बाहुबली—दोनों ने अपने-अपने प्रहरियों को भेजकर अपने वीर सुभटों को युद्ध से निवर्तित कर दिया। उनके समक्ष देवताओं द्वारा विशेष रूप से कथित सारा वृत्तान्त रखा।

६६. तन्निशम्य बहलीश्वरवीराश्चेतसीति जहृषुः परितर्क्य।
नास्मदीश्वरबलोद्‌बलबाहुः, कोऽपि तज्जयरमाधिपतिर्न॥

यह सुनकर बाहुबली के वीर मन में यह सोचकर हर्षित हुए कि हमारे स्वामी से बढ़ कर कोई दूसरा अत्यधिक भुज-पराक्रमी नहीं है। उनकी विजयलक्ष्मी का स्वामी भी कोई दूसरा नहीं है।

६७. भारतेश्वरभटास्त्विति दध्युर्विक्रमाधिकभुजो बहलीशः।
चक्रभृच्च सुकुमारशरीरस्तज्जयः स्पृशति संशयदोलाम्॥

चक्रवर्ती भरत के वीरों ने मन में यह सोचा—'बाहुबली की भुजाएं अधिक शक्तिशाली हैं। चक्रवर्ती भरत सुकुमार शरीर वाले हैं। इसलिए उनकी विजय संशयास्पद है।'

६८. भूभुजोऽत्र विभवन्ति चमूभिः, सर्वतोऽधिकबला न भुजाभ्याम्।
ताः पुनः समनुशील्य नृपास्तत्, सङ्गराय विदधत्यभियोगम्॥

सर्वत्र राजे सेनाओं के द्वारा अधिक बलशाली होते हैं, न कि भुजाओं के द्वारा। वे सेनाओं का सम्यग् अनुशीलन कर युद्ध के लिए उद्यम करते हैं।

६९. भूभृतः परिजनैश्च घनैश्च, प्रोत्सहन्ति समराय न दोर्भ्याम्।
किङ्करैस्तु नृपतिर्युधि रक्ष्यो, दैन्यजुक् प्रभुमृतेः किल सैन्यम्॥

'राजे अपने परिजन और धन के कारण ही युद्ध के लिए प्रोत्साहित होते हैं, भुज-बल से नहीं। सेवकों का कार्य है कि वे युद्ध में राजा की रक्षा करें। स्वामी के मारे जाने पर सेना दीन हो जाती है।'

७०. **देवतेरितमुरीकृतमेतत् , साधु नैव भरतक्षितिनेतुः ।**
स्वान् विषण्णमनसस्त्विति वीरान् , भूपतिर्ऋषभसूनुरुवाच ॥

'देवताओं द्वारा प्रेरित होकर यह सब स्वीकार किया गया है, किन्तु यह भरत के पक्ष में अच्छा नहीं है—'इस प्रकार विषण्णमन वाले अपने सैनिकों को देखकर महाराज भरत ने कहा—

७१. **खातिकां खनत साम्प्रतमेकां , सैनिकाः ! पृथुतरातिगभीराम् ।**
प्रत्ययो मम बलस्य ततो द्राग् , लप्स्यते सुकृतवद्भिरिवार्थः ॥

'सैनिको ! अभी तुम एक विशाल और गहरी खाई खोदो। जैसे पुण्यशाली व्यक्ति धन प्राप्त करता है, वैसे ही तुम मेरे सामर्थ्य का शीघ्र ही विश्वास प्राप्त कर लोगे।'

७२. **शासनं भरतनेतुरितीदं , सैनिकैः सफलतामथ निन्ये ।**
वारिदैरिव ललज्जलधारैर्नीप'काननमिवाम्बुदकाले ॥

भारतेश्वर की यह आज्ञा पाकर सैनिकों ने एक विशाल खाई खोदकर ऐसे तैयार कर ली, जैसे वर्षाकाल में जलधारा को बरसाने वाले मेघ कदम्ब के कानन को तैयार कर लेते हैं।

७३. **तत्र भारतपतिः स्वयमस्थाच्छृंखलं निजभुजे परिरभ्य ।**
ऊचिवानिति कृषन्तु यथेष्टं , पद्मनालमिव चैनमशेषाः ॥

तब भरत अपनी भुजाओं पर सांकल लपेट कर स्वयं वहां बैठ गए और अपने सैनिकों से बोले—'तुम सब मिलकर पद्मनाल की भांति इस सांकल को यथेष्ट रूप से खींचो।'

७४. **चालितो न सकलैरपि बाहुः , कर्षणोत्कटहठैः क्षितिनेतुः ।**
शैलराजशिखरं न कदाचिद् , वातयया हि निपतन्ति फलानि ॥

सांकल को खींचने के लिए अत्यन्त हठी सभी सैनिकों ने सांकल को जोर से खींचा किन्तु चक्रवर्ती भरत की भुजा टस से मस नहीं हुई। तूफान से मंदर पर्वत का शिखर कभी नहीं गिरता केवल वृक्षों के फल ही नीचे गिरते हैं।

७५. चालिते नृपतिना भुजवज्रे , गोत्र[1]पक्षनिवहा इव सर्वे ।
ते निपेतुरवनीरुहशाखालम्बिनो वय[2] इवानिलवेगात् ॥

भरत के द्वारा अपने भुजा-वज्र को हिलाने पर वे सब सैनिक पर्वतों के पंख-समूह की भांति वैसे ही भूमी पर आ गिरे, जैसे वृक्ष की शाखा पर बैठने वाले पक्षी पवन के वेग से नीचे आ गिरते हैं।

७६. प्रत्ययं तरसि भारतनेतुश्चक्रुरद्भुततया भटधुर्याः ।
इन्दवीय[3]महसीव चकोराः, संमदं मुहुरुदीक्षणतीव्राः ॥

यह देखकर भरत के वीर सैनिकों में अपने स्वामी के सामर्थ्य के प्रति आश्चर्यकारी विश्वास हो गया। जैसे ऊंची ग्रीवा कर देखने की तीव्र इच्छा वाला चकोर चन्द्रमा की किरणों को देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही वे प्रसन्न हो गए।

७७. स्वस्वनायकबलाभ्यधिकत्वान् , मेनिरे तृणमिवाहितवर्गम् ।
सैनिका विजयलाभविवृद्धोत्साहसाहसमनोरमचित्ताः ॥

वे सैनिक अपने-अपने स्वामी की शक्ति की अधिकता से शत्रुवर्ग को तृण की भांति मानने लगे। उनका चित्त विजय-प्राप्ति के लिए प्रवृद्ध उत्साह और साहस से मनोरम हो रहा था।

७८. गीर्वाणानां वाक्यमेतद् विशालं , मध्ये चित्तं श्रद्दधानौ नरेन्द्रौ ।
नीत्वा श्यामां तामशेषां दिनादौ , देवोद्दिष्टामीयतुर्युद्धभूमिम् ॥

दोनों राजाओं—भरत और बाहुबली ने देवताओं की विशाल वाणी को चित्त में धारण कर सारी रात बिताई। प्रातः काल होते ही देवता द्वारा निर्दिष्ट रणभूमी में दोनों आ गए।

७९. ये पातिता रिपुभिरायुधघोरपातैः , सर्वेपि ते भरतराजपुरोधसा[4] द्राक् ।
सज्जीकृता नृपतिबाहुबलेर्बलेपि , तद्वच्च चन्द्रयशसा युधि रत्नमन्त्रैः ॥

रणभूमी में शत्रु सैनिकों द्वारा आयुधों के तीव्र प्रहार से भरत के जो वीर सुभट घायल हो गए थे, उन सबको भरत के पुरोहित ने मंत्रों द्वारा शीघ्र स्वस्थ कर पुनः सज्जित

---

१. गोत्रः—पर्वत ।
२. वयस्—पक्षी ।
३. इन्दोः भवं इन्दवीयम् । भवार्थे ईय प्रत्ययः ।
४. पुरोधस्—पुरोहित (पुरोधास्तु पुरोहितः—अभि० ३।३

कर दिया। इसी प्रकार वाहुवली की सेना में भी जो सुभट घायल हो गए थे, उन सबको चन्द्रयशा ने रत्न और मंत्रों द्वारा स्वस्थ कर सज्जित कर दिया।

८०. **पवमानरयोधुतधूलिभरैर्जलशीकरसेकनिषिक्तधरैः।**
विबुधैर्विदधे कुसुमप्रचयोपचिता रणभूरथ कौतुकिभिः॥

कुतूहली देवताओं ने सारी रणभूमी को फूलों से उपचित कर डाला। वे हवा के वेग से धूलिकणों को उड़ाकर पानी द्वारा भूमी को सींच रहे थे।

८१. **किं मार्तण्डद्वयाढ्या किमुत हुतवहद्वन्द्वदीप्रा चकास-**
द्देहोत्साहद्वयीयुक् किमुत रणमही गर्जिहर्यक्षयुग्मा।
मेरुद्वन्द्वाभिरामा किमुत सुरनरैस्तर्कितेत्थं तदानीं,
ताभ्यां भूमीधराभ्यामुदयति तरणौ पूर्णपुण्योदयाभ्याम्॥

सूर्योदय के समय अत्यन्त पुण्यशाली महाराज भरत और वाहुवली—दोनों के रणक्षेत्र में उतरने पर देवताओं ने उस समय यह वितर्कणा की—क्या यह रणभूमी दो सूर्यों से संपन्न हुई है? अथवा दो अग्नियों से दीप्र हो रही है? अथवा शरीर के उत्साह-द्वय से युक्त है? अथवा हाथी और सिंह—इस युग्म से सहित है? अथवा दो मंदर पर्वतों से शोभित हो रही है?

—इति गीर्वाणवचःस्वीकरणो नाम षोडशः सर्गः—

सतरहवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत-बाहुबली के बीच हुए चार प्रकार के युद्धों का वर्णन। बाहुबली का ध्यानस्थ हो जाना और भरत का अयोध्या की ओर प्रस्थान।
श्लोक परिमाण—	८९
छन्द—	प्रहर्षिणी।
लक्षण—	त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्—एक मगण, एक नगण, एक जगण, एक रगण और अंतिम गुरु (ऽऽऽ, ।।।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ऽ)। इस छन्द के प्रथम तीनों अक्षर तथा आठवां, दसवां, बारहवां और तेरहवां दीर्घ होता है और तीसरे और दसवें अक्षर पर विश्राम होता है।

कथावस्तु—

चक्रवर्ती भरत और पराक्रमी वाहुवली—दोनों रणभूमी में आ गए। सारा आकाश देवताओं से भर गया। सर्व प्रथम 'दृष्टियुद्ध' प्रारंभ हुआ। यह कुछ प्रहरों तक चला। भरत इसमें हार गए। फिर 'शब्दयुद्ध' प्रारंभ हुआ। दोनों के सिंहनादों से सारा विश्व प्रकंपित हो उठा। इसमें भी विजय वाहुवली की ही हुई। उसके वाद 'मुष्टियुद्ध' प्रारंभ हुआ। भरत ने वाहुवली को छाती पर मुष्टि से प्रहार किया। वाहुवली का शरीर उससे अत्यन्त पीड़ित हो गया। वे क्रुद्ध होकर सर्प की भांति फुफकारने लगे। उन्होंने भरत को उठाकर आकाश में फैंक दिया। भरत आकाश में इतने दूर उछले कि दीखने वंद हो गये। वाहुवली का मन अनुताप से भर गया। उनका मन नानाविध संकल्पों में उलझ गया। इतने में ही भरत आकाश-मार्ग में दीख पड़े। वाहुवली ने उन्हें अपनी भुजाओं से झेल लिया। भरत क्रुद्ध हो गये। अव अन्त में 'दण्डयुद्ध' की वारी थी। दोनों ने लोह-दंड हाथ में थामा और एक दूसरे पर प्रहार करना प्रारंभ कर दिया। भरत के तीव्र प्रहारों से वाहुवली घुटने तक भूमी में धंस गये। उन्होंने दूसरा प्रहार करना चाहा। वाहुवली संभल चुके थे। उन्होंने भरत पर प्रहार किया और भरत गले तक भूमी में धंस गये। भरत घवड़ा गये। उनकी आँखें भयभीत थीं। वाहुवली ने सभी युद्धों में विजय प्राप्त करली। देवताओं ने विजय की दुंदुभी वजाई। फिर भी भरत अपनी पराजय स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। भरत ने कहा—तू अव भी मेरा आधिपत्य स्वीकार करले, अन्यथा मैं इस चक्र के द्वारा तुझे भस्म कर दूंगा। वाहुवली का रोष वढ़ा और वे मुष्टि-प्रहार से भरत को मारने दौड़े। उनकी प्रचंडता को देख देव घवरा गए। वे वाहुवली को प्रतिवोध देने के लिए आए। उन्होंने उन्हें समझाया। वाहुवली का रोष शांत हुआ। उन्होंने अपनी मुष्टि का प्रयोग केश-लुंचन में किया और महाव्रतधारी मुनि वन गये। भरत की आंखें डवडवा आईं। उन्होंने वाहुवली की स्तुति की। किन्तु वाहुवली शान्त खड़े रहे।

भरत वहां से मुड़े। वाहुवली के पुत्र को वहली प्रदेश का आधिपत्य सौंपकर भरत अयोध्या लौट आए।

सप्तदशः सर्गः

१. स्वःसिन्धोः पुलिनरजांसि पावयन्तौ, पन्न्यासैः समरभुवं प्रकीर्णपुष्पाम्।
आयातौ स्थितिमिव पूर्वपश्चिमाब्धी, तौ बाहूल्वणलहरीभराभिरामौ॥

अपने पद-न्यास से गंगा के पुलिन के रजकणों को पावन करते हुए, भुजारूपी स्पष्ट लहरों से सुन्दर भरत और बाहुबली—दोनों फूलों से ढकी हुई रणभूमी में उसी प्रकार स्थित हो गए जैसे पूर्वीय और पश्चिमी समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित हो जाते हैं।

२. एताभिर्वृषभतनूजरूपलक्ष्मीमन्वेष्टुं कलहविलोकनोत्सुकाभिः।
पातालाद् भुजगवधूभिरूर्ध्वलोकाद्देवीभिः कबरितमन्तरीक्षमासीत्॥

युद्ध को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक पाताल-लोक से भुजंगवधूएं और ऊर्ध्वलोक से देवियां ऋषभ के पुत्रों की रूप-लक्ष्मी का अन्वेषण करने के लिए वहां आईं और समूचा आकाश उनसे विविध वर्णवाला हो गया।

३. काभिश्चिद् विबुधवधूभिरग्रजोयं, जेता द्रागयमनुजश्च तौ तदानीम्।
औह्येतामिति गगनाङ्कलम्बिनीभिर्दृग्नीराजनविधिना[1]ऽटितानुरागम्॥

आकाश में स्थित कुछ देवियों ने उन दोनों के विषय में तब यह वितर्कणा की कि यह बड़ा भाई भरत शीघ्र ही विजित होगा और कुछ ने यह वितर्कणा की कि छोटा भाई बाहुबली विजित होगा। उन देवियों ने अपनी दृष्टि की 'नीराजन-विधि' से अपने अनुराग को व्यक्त किया।

४. आकाशे त्रिदशविमानधोरणीभिः, संकीर्णे विपुलतरेऽपि सूरसूतः[2]।
नाऽशक्तः स्वमपि रथं त्रसत्तुरङ्गं, संत्रातुं करनिबिडीकृतोरुरश्मिः॥

---

१. विजया दशमी के दिन दिग्विजय-यात्रा के पहले शान्त्युदक छिड़का जाता है, उसे 'नीराजन-विधि' कहते हैं। (अभि० ३।४५३)

२. सूरसूतः —सूर्य का सारथि (सूरसूतस्तु काश्यपिः—अभि० २।१६)

विशाल आकाश देव-विमानों की श्रेणी से संकीर्ण हो गया। सूर्य के रथ में जुते हुए घोड़े भयभीत हो गए। फिर भी सूर्य का सारथि घोड़ों की मोटी लगामों को स्वयं हाथों में दृढ़ता से थामे, रथ की रक्षा करने में समर्थ हो रहा था।

५. शेषाहे ! त्वमपि गुरुं मदीयभारं, वोढासि द्रढिमजुपाद्य मस्तकेन।
क्षोणीति क्षितिपपदप्रहारघोषैर्जल्पन्ती स्फुटमिव सर्वतो बभूव॥

उस समय चारों ओर से राजाओं के पद-प्रहार के घोषों से भूमी यह स्पष्ट कह रही थी—'हे शेषनाग ! आज तुमको भी अपने शक्तिशाली मस्तक पर मेरे इस गुरुतर भार को वहन करना होगा।'

६. युद्धेऽस्मिन्नचलवरा निपातिनोमी, पाथोधिः स्थितिमपहास्यति प्रकामम्।
स्थेयस्त्वं न सुरगिरे ! त्वयाप्यपास्यं, प्रावोचन्निति निनदा इवाऽऽनकानाम्॥

दुन्दुभियों के शब्द मानो यह कह रहे थे कि इस युद्ध में ये सारे पर्वत गिर पड़ेंगे। समुद्र अपनी मर्यादा को बिल्कुल ही छोड़ देगा। हे मंदर पर्वत ! तुम्हें स्थिरता नहीं छोड़नी है।

७. न्यग्लोकात् समुपगतैः कवेर्विनेयैः, वैपुल्यं वियत इयद् व्यतर्क्यतेति।
पूज्यत्वं क्वचिदपि चास्य दृश्यते नो, सम्भाव्यं श्रवणगतं न दृष्टिपूतम्॥

नीचे लोक से समागत शुक्र के शिष्य दैत्यों ने आकाश की इतनी विपुलता की वितर्कणा करते हुए कहा—'आकाश की पूजनीयता कहीं भी दृग्गोचर नहीं हो रही है। जो सुना हुआ होता है उसकी संभावना ही की जा सकती है। आकाश दृष्टिपूत—दृश्य नहीं है इसलिए यह कहीं भी पूज्य नहीं है।'

८. उत्फुल्लत्रिदशवधूविलोचनाब्जैराकाशं कुसुमितमुत्फलं स्तनैश्च।
सामोदं सपरिमलैस्तदीयदेहैः, किं न स्यात् सपदि तदा समञ्जसञ्च ?

समूचा आकाश देवांगनाओं के विकसित नयनरूपी कमलों से पुष्पित, उनके स्तनों से फलित और उनके सुगंधित देहों से सुरभित हो गया। उस समय सहसा सामञ्जस्य कैसे नहीं होता ?

९. कोटीराङ्कितशिरसौ महाप्रतापौ, सन्नाहाकलिततनू उभावितीमौ।
एकां यज्जयकमलां वरीतुकामावन्योन्यं त्रिदशगणैर्वितर्कितौ च॥

१. कविः—शुक्र (उशना भार्गवः कविः—अभि० २।३३)

भरत और बाहुवली—दोनों के मस्तक पर किरीट थे। दोनों महान् प्रताप वाले थे। दोनों ने अपने शरीर पर कवच धारण कर रखे थे। दोनों एक ही जयलक्ष्मी का वरण करने के इच्छुक थे। इन दोनों के विषय में देवता परस्पर वितर्कणा कर रहे थे।

१०. किं वाऽयं भरतपतिर्बलातिरिक्तः, किं वाऽयं किल बहलीशिता बलाढ्यः?
नो विद्मः क इह बली द्वयोरितीमावौह्येतां मुहुरपि दानवामरेन्द्रैः॥

असुरेन्द्र और देवेन्द्र बार-बार यह वितर्कणा कर रहे थे कि इन दोनों में पराक्रमी कौन है, हम नहीं जानते। क्या भारत का अधिपति भरत बलवान् है या बहली देश का राजा बाहुबली बलवान् है?

११. गीर्वाणैस्त्रिदिवमपास्तमाजिदृष्टौ[1], पातालं भुजगवरैश्च वेश्म मर्त्यैः।
निःशेषेन्द्रियविषयाधिकस्तदेकोप्यूर्जस्वी नयनरसः किलाखिलानाम्॥

युद्ध देखने के इच्छुक होकर देवताओं ने स्वर्ग, भुजंगमों ने पाताल और मनुष्यों ने घर छोड़ दिए। समस्त इन्द्रियों के विषयों में अधिक ऊर्जस्वी अकेला नयन-रस उन सब में नाच रहा था।

१२. इत्युच्चैर्भुजयुगलीपराजितेन्द्रो, वर्षेन्द्रं[2] बहलीपतिर्जगाद गर्वात्।
देवानां स्मर[3] बलकिङ्करीकृतानां, प्रस्तावे समयति यः स हि स्वकीयः॥

अब अपने भुज-युगल से इन्द्र को भी पराजित करने वाले बाहुबली ने गर्व के साथ बाढ़-स्वर में भरत से कहा—'अपने बल के प्रभाव से सेवक बनाए हुए देवताओं का तुम स्मरण करो। क्योंकि जो समय पर काम आए, वही अपना होता है।'

१३. जानीहि स्फुटमिति भूमिरस्तिवीरा[4], षट्खण्डोद्दलनविधौ ससंशयं हृत्।
अस्त्येव क्षितिप! तवोल्लसत्स्मयत्वात्तस्मात्तस्तुदतितरां न चान्यदेव॥

'राजन्! तुम यह स्पष्ट रूप से जान लो कि भूमी पराक्रमी वीरों के अधीन ही रही है। तुम्हारे बढ़ते हुए अहं को देखकर तुम्हारे षट्खंड-विजय के प्रति मेरे मन में संदेह हो रहा है। यह संदेह ही मुझे पीड़ित कर रहा है, दूसरा कुछ नहीं।'

---

१४. इत्युक्त्वा दृशमरुणांशुदुःप्रधर्षषट्खण्डाधिपतिमुखेऽक्षिपत् क्षितीशः ।
कल्पान्ताम्बुधिलहरीमिवातितीव्रां , सामर्षां रिपुकुलकालरात्रिघोराम् ।।

यह कहकर बाहुबली ने सूर्य के किरणों की भांति दुष्प्रधर्ष, छह खंडों के अधिपति भरत चक्रवर्त्ती के मुंह पर अपनी दृष्टि फेंकी। वह दृष्टि प्रलयकाल के समुद्र की लहरों की भांति अति तीव्र, विजयेच्छा के उत्साह से युक्त क्रोध से उत्पन्न और शत्रुओं के कुल के लिए कालरात्री की भांति अत्यन्त घोर थी।

१५. चक्राङ्की सपदि ततो रुषातिताम्रां , रक्ताक्षध्वजभगिनीत[1]रङ्गभुग्नाम्[2] ।
चिक्षेप क्षपितविपक्षिपक्षिपक्षामस्यास्ये हुतवहतेजसीव दीप्रे ।।

तब चक्रवर्त्ती भरत ने सहसा क्रोध से अत्यन्त लाल, यमुना की तरंगों की भांति टेढी-मेढी, शत्रु रूपी पक्षियों की पांखों को नष्ट करने वाली दृष्टि बाहुबली के 'अग्नि के तेज की भांति दीप्त', मुंह पर फेंकी।

१६. सोत्साहं कथमपि सिंहघूर्णिताक्षं , पक्ष्माग्रस्तिमित[3]तरान्तरालतारम् ।
अन्योन्यं सुरनरकिंनराद्भुताढ्यं , त्वायामादजनि तदीयदृष्टियुद्धम् ।।

भरत और बाहुबली का दृष्टि-युद्ध कुछ प्रहरों तक चला। दोनों में उस समय भरपूर उत्साह था। उनकी आंखें सिंह की भांति एक दूसरे को घूर रही थीं। भीगी हुई पलकों के अन्तराल में ताराएं डूब रही थीं। देवता, मनुष्य और किन्नर—ये सब परस्पर में आश्चर्य प्रदर्शित कर रहे थे।

१७. आश्रान्तं जलमिव सारसं निदाघे , व्यालोकात्सरसिजचक्रवत्सहस्ये[4] ।
तीक्ष्णांशोर्मह इव वासरावसाने , दृग्द्वन्द्वं भरतपतेस्तरस्विनोऽपि ।।

जैसे ग्रीष्म ऋतु में धूप से तालाब का पानी सूख जाता है, पौष मास में कमल का समूह कुम्हला जाता है और दिन के अन्त में सूर्य की किरणें मन्द हो जाती हैं, वैसे ही पराक्रमी भरत की भी दोनों आंखें श्रान्त हो गईं।

१८. तद्बन्धोर्नयनयुगं ततोवलोकात् , प्रौढत्वं कलयितुमाचरत् क्रमेण ।
संक्रान्ताविव रवेरुदीचामश्रान्तं दिनमिव पुण्यवत् समाधौ ।।

---

१. रक्ताक्षः—महिषः, ध्वजा अस्ति यस्य स रक्ताक्षध्वजः—यमराजः, तस्य भगिनी इति रक्ताक्षध्वजभगिनी—यमुना इत्यर्थः ।

२. भुग्नम्—टेढी-मेढी (वृजिनं भङ्गुरं भुग्नमरालं—अभि० ६।९३) ।

३. स्तिमितः—भीगा हुआ (तिमिते स्तिमितक्लिन्न···—अभि० ६।१२८)

४. सहस्यः—पौष मास (पौषस्तैषः सहस्यवत्—अभि० २।६६)

भरत के बन्धु वाहुवली की दोनों आंखें अवलोकन के समय से क्रमशः वैसे ही प्रौढता को प्राप्त होने लगी जैसे संक्रान्ति के समय उत्तरायण के सूर्य के दिन तथा भाग्यशाली योगी की समाधि के दिन अश्रान्त होते हैं, वढते चले जाते हैं।

१९. मा देवा मम वदनं त्रपातिदीनं, पश्यन्तु त्विति जगतीमिव प्रवेष्टुम्।
न्यग्वक्त्रोऽवरजपुरो रथाङ्गपाणिर्बाष्पाम्बूपचितविलोचनोथ तस्थौ ॥

'मेरा लज्जा से दीन वना हुआ यह मुंह देवता न देखें'—यह सोचकर जमीन में प्रवेश करने के इच्छुक की भांति नीचा मुंह किए चक्रवर्त्ती भरत अपने छोटे भाई वाहुवली के समक्ष खड़े थे। उनकी आंखें आंसुओं से छलछला रही थीं।

२०. ऊचेऽसौ भरतनृपं गभीरसत्त्वो, भ्रातः! किं मनसि विषादमादधासि।
वालानामुचितमिदं त्ववेहि युद्धं, क्षत्राणां भवति हि युद्धमुग्रशस्त्रैः ॥

गंभीर पराक्रम वाले उन वाहुवली ने महाराज भरत से कहा—'भाई! मन में विषाद क्यों कर रहे हो? दृष्टि-युद्ध आदि युद्ध तो वालकों के लिए उचित हो सकते हैं। क्षत्रियों का युद्ध उग्र शस्त्रों से ही होता है।'

२१. एतेनाहवललितेन चक्रपाणे!, नात्मानं किल जितकाशिनं[1] ब्रवीमि।
तल्लज्जामथ परिहाय जन्यलीलामाधेहि[2] प्रथय यशश्च दोर्वलस्य ॥

'हे चक्रवर्त्तिन्! मैं इस युद्ध-क्रीड़ा से अपने आपको युद्ध-विजयी नहीं मान सकता। तुम पराजय की उस लज्जा को छोड़कर युद्ध-क्रीडा को स्वीकार करो और अपने भुजवल के यश को फैलाओ।'

२२. इत्युक्तः शरभ इवादधत् समन्तात्, संक्षोभं त्रिजगति संचचार घोरम्।
क्ष्वेडाभिः प्रलय इवोद्धताभिरेष, वात्याभिर्जलधिरिवोर्मिभिस्तताभिः ॥

वाहुवली के द्वारा इतना कहते ही अष्टापद की भांति क्षोभ को धारण करता हुआ भरत उद्धत सिंहनादों के द्वारा प्रलय की भांति तीनों लोकों में व्याप्त हो गया, जैसे तूफान से उठी हुई विशाल ऊर्मियों से समुद्र व्याप्त हो जाता है।

२३. संत्रस्यत्तदनु मृगैरिव द्विपेन्द्रैर्वल्लीभिस्त्विव दयिताभिराललम्बे।
कान्तः क्ष्मारुह इव गह्वरो गभीरो, हर्यक्षैरपि भुजगैश्च नागलोकः ॥

---

१. जितकाशी—युद्ध में विजयी (जिताहवो जितकाशी—अभि० ३।४७०)

२. जन्यलीलां—युद्धक्रीडां, आधेहि—स्वीकुरु।

उन सिंहनादों से हाथी भी मृगों की तरह संत्रस्त हो गए। भयभीत होकर वल्लरियां वृक्षों से और स्त्रियां अपने पतियों से जा लिपटीं। सिंह भी अपनी गहरी गुफाओं में जा छिपे और भुजंगमों ने नागलोक का आश्रय ले लिया।

२४. उत्साहं द्विगुणमवाप्य तत्कनिष्ठो, ज्यायोभिर्हरिनिनदैर्दिगन्तगाहैः।
चक्राङ्किध्वनितभराहितावकाशं, ब्रह्माण्डं न्यभरदुदैरिवाभ्रम[1]भ्रम्[2] ॥

यह सुनकर छोटे भाई बाहुबली का उत्साह द्विगुणित हो गया। जैसे पानी के द्वारा बादल आकाश को भर देता है वैसे ही उन्होंने दिगन्तों तक अवगाहन करने वाले दीर्घ सिंहनादों से ब्रह्माण्ड को भर दिया जो कि चक्रवर्ती के सिंहनादों की ध्वनि से भर जाने पर भी कुछ खाली था।

२५. तज्जन्य[3]प्रकटतमैकलास्यलीला, हर्यक्षध्वनिनिचयाभिनन्द्यनाट्याः।
भूरङ्गे[4] परिननृतुर्नटा इवाङ्गाः, साश्चर्यं विबुधमनः समादधानाः ॥

उस समय उन दोनों के अंग भूमी के रंगमंच पर नटों की भांति नाच रहे थे। युद्ध का ताण्डव उनका साथ दे रहा था। उनका नर्तन सिंहध्वनि के निचय से अभिनन्दनीय लग रहा था और वे आश्चर्यपूर्ण ढंग से देवताओं के मन को समाहित कर रहे थे।

२६. हा शैत्यं तुहिनगिरिरितीरयन्त्यः, किन्नर्यः प्रकटितगाढदन्तवीणाः।
रुद्राणीगुरुगिरि[5]गह्वरं निलीनाः, सद्धर्मस्थितय इवार्हदुक्तवाक्यम् ॥

'हा! कितनी सर्दी! यह तो हिमगिरि है'—इस प्रकार कहने वाली किन्नरियों के दांत किटकिटाने लगे—दांतों की वीणा स्पष्ट रूप से बजने लगी। वे हिमालय की गुफाओं में लीन हो गई, जैसे सद्धर्म की स्थितियां अर्हत्-वाक्यों में विलीन हो जाती हैं।

२७. भीताभिर्विबुधवधूभिरभ्रमार्गात्, मञ्जीरा[6]रवमुखरीकृतान्तरालात्।
आलिल्ये निविडतया प्रियस्य कण्ठो, देवानां तदजनि युद्धमुत्सवाय ॥

---

१. अभ्रं—बादल।
२. अभ्रं—आकाश।
३. जन्यं—युद्धं।
४. भूरङ्गे—भुवः रङ्गे—नाट्यस्थले (स्थानं नाट्यस्य रङ्गः स्यात्—अभि० २।१९६)
५. रुद्राणीगुरुगिरिः—हिमालय।
६. मञ्जीरम्—नूपुर (मञ्जीरं हंसकं शिञ्जिन्यं—अभि० ३।३३०)

उस समय भयभीत देवांगनाओं के नूपुरों के शब्दों से आकाशमार्गों के अन्तराल मुखरित हो रहे थे। वे दौड़ी-दौड़ी अपने प्रियतमों के पास गई और उनके गलों से गाढ-रूप में लिपट गई। वह युद्ध देवताओं के लिए एक उत्सव (क्रीडा-काल) की भांति उपस्थित हुआ।

२८. **मूर्च्छाला त्रिदशवधूः पपात काचित्, संसिक्ताप्यमृतभरैर्मुहुः प्रियेण।**
चैतन्यं न च लभतेस्म विप्रयोगी, गीर्वाणो गरमिति संगरं तदावेत्॥

कोई देवांगना मूर्च्छित होकर भूमी पर गिर पड़ी। उसके प्रियतम देव ने बार-बार अमृत का सिंचन किया फिर भी उसकी मूर्च्छा नहीं टूटी, उसमें चेतना नहीं आई। उस समय विरही देवता ने युद्ध को विष के समान समझा।

२९. **एणाक्षी कथमपि विश्लथाङ्गभारात्, सम्भ्रान्ता करतलधारिता पतन्ती।**
मा भैषीस्तव सविधे समागतोऽहमाश्वास्येति च दयितेन धाम नीता॥

कोई संभ्रान्त सुन्दरी शिथिल होकर पति के पास ही भूमी पर गिर रही थी तब उसके प्रियतम ने उसे हाथ से थामते हुए कहा—'प्रिये! तू डर मत, मैं तेरे पास आ गया हूं।' इस प्रकार से आश्वस्त कर वह उस प्रियतमा को घर ले गया।

३०. **मातङ्गैः परिजहिरे निषादियन्त्रा[1], उन्मत्तैरिव गुरुराजसम्प्रदायाः।**
उद्दामत्वमधिकृतं तुरङ्गमैश्च, प्रालेयै[2]रिव शिशिरर्तुमाकलय्य॥

जैसे उन्मत शिष्य गुरु की आम्नाय को छोड़ देता है वैसे ही हाथियों ने महावतों के अंकुश को छोड़ दिया। जैसे शिशिर ऋतु को प्राप्त कर हिमपात उद्दाम हो जाता है वैसे ही घोड़े भी उच्छृंखल हो गए।

३१. **अत्युच्चैः परिरटितं च वेसरौघैः[3], कीनाशै[4]रिव पितृकाननं[5] समेत्य।**
आक्रन्दैरपि करभैर्जगत् प्रपूर्णं, विस्तीर्णैरिव महतां यशःसमूहैः॥

जैसे श्मशान में जाकर राक्षस जोर-जोर से चिल्लाते हैं वैसे ही खच्चरों के समूह भी बहुत जोर से चिल्लाने लगे। जैसे महान् व्यक्तियों के विस्तीर्ण यश-समूह से जगत् भर जाता है वैसे ही ऊंटों ने अपने शब्दों से जगत् को भर दिया।

---

१. निषादियन्त्रः—अंकुश।
२. प्रालेयम्—हिमपात (प्रालेयं मिहिका हिमम्—अभि० ४।१३८)
३. वेसरः—खच्चर (वेसरोऽश्वतरः—अभि० ४।३१९)
४. कीनाशः—राक्षस (कीनाशरक्षोनिकसात्मजाश्च—अभि० २।१०१)
५. पितृकाननम्—श्मशान (श्मशानं करवीरं स्यात् पितृप्रेतावनं गृहम्—अभि० ४।४४)

३२. इत्युच्चैः खगुणमयं बभूव विश्वं, चातङ्कातिशयमयं च मुक्तकृत्यम् ।
क्ष्वेडाभिर्ऋषभजिनाधिराजसून्वोः, शूरत्वोच्छ्वसितकचाभिराममूर्ध्नोः ॥

अपने पराक्रम द्वारा उठे हुए केशों से सुन्दर मस्तक वाले ऋषभदेव के दोनों पुत्र—भरत और बाहुबली के उच्च सिंहनादों से सारा विश्व शब्दमय, अतिशय आतंकमय और कार्यमुक्त हो गया ।

३३. पर्यायादथ भरतेशसिंहनादस्तत् सिंहारवनिवहैः पिधीयतेस्म ।
पाथोदैरिव तुहिनद्युति[1]प्रकाशः, कल्लोलैरिव जलधेः सरित्प्रवाहः ॥

चक्रवर्ती भरत का सिंहनाद चारों ओर फैल गया । वह बाहुबली के सिंहनादों के समूह से वैसे ही ढंका जा रहा था, मंद होता जा रहा था जैसे चन्द्रमा का प्रकाश बादलों से और समुद्र में मिलने वाला नदी का प्रवाह समुद्र के कल्लोलों से ढंक जाता है ।

३४. चक्रेशः श्रमवशतो निमील्य नेत्रे, अध्यास्ते क्षणमथ यावदाह तावत् ।
इत्येनं स जयरमोत्सुकैकचित्तः, को भ्रात ! स्तव हृदयेऽधुना विमर्शः ?

चक्रवर्ती भरत श्रम से थककर क्षण भर के लिए आंखें बंद कर जब विश्राम के लिए नीचे बैठ गए तब विजयलक्ष्मी को पाने के लिए उत्सुक मन वाले बाहुबली ने उनसे कहा 'भाई ! आपके मन में अभी क्या विमर्श हो रहा है ?'

३५. सामान्यं वचनरणं त्ववेहि राजन् !, जेयत्वं तदितरदत्र नैव किञ्चित् ।
यावन्नो भवतितरां शरीरभङ्गः, किं वीरैर्युधि विजयोऽत्र तावदाप्यः ॥

'राजन् ! वचन का युद्ध सामान्य युद्ध है । इसमें जीत जाना कुछ भी नहीं है । युद्ध में जब तक शरीर का भंग नहीं होता, तब तक वीरों के लिए विजय ही क्या है ?'

३६. आक्षेपादिति सहजस्य[2] सार्वभौमस्ताम्राक्षः परिकर[3]राजिताङ्गयष्टिः ।
किं मेरुश्चपलतया सबाहुकूटस्त्रैलोक्याक्रमणकृते त्विति व्यतर्कि ॥

अपने भाई बाहुबली के इस आक्षेप से भरत चक्रवर्ती की आंखें लाल हो गईं । वे पालथी की मुद्रा में बैठे थे । उन्होंने यह वितर्कणा की—'क्या बाहुरूपी शिखर से युक्त यह मेरु पर्वत (बाहुबली) तीनों लोकों पर आक्रमण करने के लिए चपलता से उद्यत हुआ है ?'

३७. आलोकाद् बहलिपतिस्ततोस्य शौर्योत्कर्षोत्कः प्रबलबलः पुरोऽधितस्थौ ।
उद्वेलः किमयमपां निधिः समन्तादाक्रान्ता सगिरिमहोमितीरितो द्राक् ॥

---

१. तुहिनद्युतिः—चन्द्रमा ।

२. सहजः—भाई (...सगर्भसहजा अपि—अभि० ३।२१५)

३. परिकरः—पालथी (पर्यस्तिका परिकरः—अभि० ३।३४३)

उसके पश्चात् शौर्य के उत्कर्ष से उत्कण्ठित और महान् शक्तिशाली बाहुबली देखते-देखते भरत के सामने उपस्थित हो गए। उस समय यह तर्कणा हो रही थी—'क्या यह उद्वेलित समुद्र पर्वत-युक्त समूची पृथ्वी को शीघ्र आक्रान्त करेगा ?'

३८. तौ राजद्विरदवरौ निबद्धमुष्टिप्रोद्दामैकतमरदौ स्फुरन्मदाढ्यौ।
आयुङ्क्तां भुजयुगलौं परस्परेण, वातूलोल्ललदवलाविव क्षयान्तः॥

उन दोनों राज-हस्तियों ने अपनी-अपनी मुट्ठियां तान लीं ! तब वे एक दांत वाले मदोन्मत्त हाथी की भांति क्षयकालीन वात्याचक्र की तरह उछलते हुए परस्पर एक दूसरे के सामने खड़े हो कर भुजाएं उठालीं।

३९. नन्वेतौ जिनवरतो जनुः स्म यातश्चन्द्रार्काविव जलधेर्महाप्रभाढ्यौ।
कुर्वाते इति कलहं कृते धरित्र्या, लौल्यं हि व्यपनयते विवेकनेत्रम्॥

४०. का हानिर्भरतपतेर्यदेष बन्धुघ्नो, लोभादयमपि मानतो न नन्ता।
यद्ज्येष्ठं[1] क्षपयति किं कषायवह्निर्न स्नेहं त्विति विबुधैस्तदा व्यतर्कि॥

—युग्मम्।

देवताओं ने तब यह सोचा—'जैसे समुद्र से महान् तेजस्वी सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है, वैसे ही इन दोनों की उत्पत्ति जिनदेव ऋषभ से हुई है। ये भूमी के लिए युद्ध कर रहे हैं, क्योंकि लोलुपता विवेक की आंख को नष्ट कर देती है।'

'महाराज भरत के क्या कमी है ? फिर भी वे लोभ के वशीभूत होकर बन्धु की घात करने के लिए उद्यत हो गए। यह बाहुबली भी अहंकारवश बड़े भाई के सामने नत नहीं हो रहा है। क्या कषाय की आग स्नेह को क्षीण नहीं कर देती ?'

४१. तौ धूलीललिततनू विकीर्णकेशौ, स्वेदोद्यज्जलकणराजिभालपट्टौ।
रेजाते रणभुवि शैशवैकलीलास्मर्ताराविव न हि विस्मरेत् स्मृतं यत्॥

उस समय रणभूमी में उनके शरीर धूल से धूसरित थे, केश बिखरे हुए थे। उनके भालपट्ट पर स्वेद की बूंदें छलक रही थीं। वे बचपन की लीला को याद करते हुए-से प्रतीत हो रहे थे, क्योंकि जो स्मृत है उसे भूलना नहीं चाहिए।

४२. शंबेना[2]चलमिव नायकः सुराणां, चक्रेशो द्रढिमजुषाऽथ मुष्टिना तम्।
चण्डत्वादुरसि जघान सोऽपि जज्ञे, वैधुर्योपचितवपुस्तदीयघातात्॥

जैसे देवताओं का नायक इन्द्र वज्र से पर्वत पर प्रहार करता है वैसे ही चक्रवर्त्ती

१. यद्द्वेषं इत्यपि पाठः।
२. शंबः—वज्र (अभि० २।९४)

भरत ने कुपित होकर दृढमुष्टि से बाहुबली की छाती पर प्रहार किया। उस मुष्टि-प्रहार से बाहुबली का शरीर अत्यन्त पीडित हो गया।

४३. उच्छ्वासानिलपरिपूर्णनासिकोऽसौ, तद्घातोच्छलितरुषा करालनेत्रः।
निःशङ्कं प्रति भरतं तदा दधाव, भोगीन्द्रं गरुड इवाऽहितापकारी॥

उस प्रहार से उत्पन्न रोष के कारण बाहुबली की आंखें विकराल हो गईं। उसकी नासिका उच्छ्वास की वायु से भर गई। वह निःशंक होकर भरत की ओर दौड़ा, जैसे सर्प को पीड़ित करने वाला गरुड़ सर्पराज की ओर दौड़ता है।

४४. अत्यन्तोद्धतकरपक्षति[1]द्वयेनोल्लाल्यायं गगनमनायि तेन रोषात्।
सोऽपि द्राग् नयनपथं व्यतीत्य यातो, योगीवाद्भुतमहिमावदातसिद्धिः॥

बाहुबली ने अपने अत्यन्त उद्धत हाथों से भरत को ऊंचा उठाकर रोष से आकाश में फैंक दिया। वह शीघ्र ही आंखों से दीखना बन्द होकर आगे चला गया, जैसे अद्भुत महीमा वाली पवित्र सिद्धियों का धनी योगी अदृश्य होकर आगे चला जाता है।

४५. द्वे सैन्ये अपि चरमाद्रिपूर्वशैलप्रातःश्रीनिभृतमुखाम्बुजे तदास्ताम्।
निर्विण्णो बहलिपतिश्च लोकमानो, व्योमाङ्कं मुहुरिति संततान चिन्ताम्॥

उस समय भरत की सेना का मुख-कमल अस्ताचल पर गए हुए सूर्य की आभा वाला तथा बाहुबली की सेना का मुख-कमल उदयाचल पर आए हुए सूर्य की आभा वाला हो रहा था। उदासीन बाहुबली ने आकाश की ओर बार-बार देखा और उसके मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई—

४६. सोदर्योद्दलनकरी भुजद्वयी मेऽभूदेवं प्रसृमरवाग्भरादकीर्त्तिः।
कीर्त्तिर्वा भरतपतेः क्षतिः क्षितीशादित्यासीद् बहलीपतिर्न तत् किमूहे ?

'मेरी ये दोनों भुजाएं भाई को पीड़ित करनेवाली सिद्ध हुई हैं'—इस प्रकार फैलने वाली वाणी से मेरी अकीर्त्ति होगी अथवा ऐसी कीर्त्ति होगी कि एक सामन्त राजा के द्वारा भरतपति की क्षति हुई है ? बाहुबली इस प्रकार वितर्कों में खो रहा था। ऐसा कौन सा वितर्क था जो उस समय बाहुबली ने नहीं किया ?

४७. इत्यन्तर्मनसि महीपतौ रथाङ्गी, गौचर्यं[2] नयनपथस्य संचचार।
आदध्रे भुजयुगलेन चान्तरिक्षादायान्तं बक इव संवरं[3] स एनम्॥

१. करपक्षतिः—करमूलः 'हाथ' इति भाषायाम्।
२. गौचर्यम्—गोचरस्य भावः गौचर्यं विषयतामित्यर्थः।
३. संवरः—मत्स्य (संवरोऽनिमिषस्तिमिः—अभि० ४।४१०)

महाराज बाहुबली मन ही मन यह सोच रहे थे। इतने में ही भरत आकाश-मार्ग में दीख पड़े। आकाश से आते हुए भरत को बाहुबली ने अपनी भुजाओं से झेल लिया, जैसे बगुला मत्स्य को ऊंचा फेंक कर पुनः झेल लेता है।

४८. **आश्वास्य क्षणमथ बान्धवं स्वकीयं, प्रावार[1]प्रवरविधूननाऽनिलेन।**
स्वेदाम्भःकणशोषिणा स ऊचे, बालस्य स्मर पुनराहवच्छलेन॥

तब बाहुबली ने अपने भाई भरत के स्वेदकणों को सुखाने के लिए चादर रूपी पंखों से हवा झली और क्षण भर के लिए आश्वस्त कर कहा—'भाई! युद्ध के मिष से बचपन में जो किया था, उसको याद करो।'

४९. **षट्खण्ड्या जयसमये न यादृशी तेऽभूच्छ्रान्तिस्त्विह मम तादृशी नियुद्धे[2]।**
शैलोर्वीरुहदलने गजस्य साम्यं, कुत्रापि प्रभवति किं धराधिराज!?

'राजन्! छह खंडों को जीतने के समय तुम्हें जैसा श्रम नहीं हुआ था वैसा श्रम मेरे साथ बाहु-युद्ध करने में हुआ है। राजन्! पर्वत के वृक्षों को उखाड़ फेंकने में क्या कोई कहीं भी हाथी की बराबरी कर सकता है?'

५०. **प्रागेव क्षितिप! मयोदितं चराग्रे, स्थातव्यं युधि भवतैव मे पुरस्तात्।**
कः स्थातुं त्रिदशगिरिं विना विभूष्णुः, कल्पाब्धेः किल पुरतो विलोलवीचेः?

'राजन्! मैंने दूत से पहले ही कह दिया था कि युद्ध में तुम्हें ही मेरे समक्ष ठहरना है। विक्षुब्ध ऊर्मियों वाले प्रलयकाल के समुद्र के समक्ष मन्दर पर्वत के अतिरिक्त कौन स्थिर रहने में समर्थ हो सकता है?'

५१. **तद्वाक्यादिति कुपितोऽभ्यधादसौ तं, तुष्टस्त्वं मनसि मया जितोद्य चक्री।**
यद्दोष्णोर्वदसि यथा तथावलेपात्, सामान्यैः क्षितिपतिभिर्न जीयते हि॥

बाहुबली के इन वाक्यों से कुपित होकर भरत ने उससे कहा—'तुम मन में यह सोचकर तुष्ट हो रहे हो कि मैंने आज चक्रवर्ती को जीत लिया है। तुम भुजाओं के अभिमान से जैसे-तैसे बोल रहे हो। सामान्य राजे चक्रवर्ती को नहीं जीत सकते।'

५२. **गर्वस्ते यदि भुजयोर्गृहाण दण्डं, तद्दृप्तः प्रणयमतो न संविधास्ये।**
इत्युक्त्वा नृपतिरविभ्रमत् कराभ्यां, लीलाम्भोरुहमिव शस्त्रपिण्डदण्डम्॥

---

१. प्रावारः—उत्तरासंग (वैकक्षे प्रावारोत्तरासङ्गौ—अभि० ३।३३६)
२. नियुद्धं—बाहु-युद्ध (नियुद्धं तद् भुजोद्भवम्—अभि० ३।४६३)

'यदि तुम्हें अपनी भुजाओं पर गर्व है तो तुम दंड हाथ में लो। तुम उन्मत्त हो गये हो इसलिए मैं तुम्हारे पर प्रेम नहीं रखूंगा'—यह कहकर भरत ने शस्त्र के पिण्ड रूप दंड को दोनों हाथों से क्रीडा-कमल की तरह घुमाया।

५३. अज्येष्ठस्तदनु तथैव लोहदण्डं, हस्ताभ्यां दृढमवधूय संयतेऽस्थात्।
दण्डाभ्यामथ परितेनतुश्च संगरं तौ, घाट्कारारवमुखरीकृतत्रिविश्वम्॥

५४. संघट्टस्फुरदनलस्फुलिङ्गनश्यत्पौलोमीसिचयविधूननातितीव्रैः।
आकाशश्वसनरयैर्विनीतखेदस्वेदाम्भःकणपरिमुक्तवीरवक्त्रम्॥

युग्मम्।

उसके बाद कनिष्ठ भ्राता बाहुबली भी वैसे ही हाथों से लोहदंड को दृढ़ता से घुमाता हुआ युद्ध में स्थित हो गया। जब दोनों में दंड-युद्ध प्रारंभ हुआ तब दंडों के प्रहार के 'घाट्कार' शब्दों ने तीनों लोकों को मुखरित कर डाला।

उस समय दंडों के संघट्टन से अग्नि-स्फुलिंग उठ रहे थे। भय से दौड़ती हुई इन्द्राणी के कपड़े रूपी पंखों के तीव्र झलने से आकाश में पवन का वेग बढ़ गया था। उससे वीर सुभटों के मुंह पर रहे हुए खेद रूपी स्वेद-बिन्दुओं का अपनयन हो गया।

५५. षट्खण्डाधिपतिरथ क्रुधा करालो, दण्डेन स्मयमिव मौलिमाबभञ्ज।
तच्छीर्षाधिवसनकल्पितस्थिरत्वं, निःशङ्कं बहलिपतेरुदग्रबाहोः॥

छह खंडों के अधिपति भरत ने क्रोध से विकराल होकर प्रचंड भुजा वाले बाहुबली के मुकुट, जिसने उनके सिर पर बने रहने की स्थिर कल्पना कर ली थी, को अपने दंड से निःशंक होकर तोड़ डाला, मानो कि उसके अभिमान का भंजन कर डाला हो।

५६. आजानु क्षितिमविशत्तदीयघाताद्, दुर्दान्तद्विप इव वारि[1]मार्षभिः सः।
आयान्तं पुनरपि हन्तुमग्रजातं, दण्डेन प्रसभमथावधीदमर्षात्॥

उस दंड-प्रहार से बाहुबली घुटने तक भूमी में धंस गया, जैसे दुर्दान्त हाथी बंधन भूमि में धंस जाता है। बाहुबली ने जब भरत को पुनः घात करने के लिए आते हुए देखा तो उसने क्रोध से विकराल होकर अपने दंड से भरत पर तीव्र प्रहार किया।

५७. आकण्ठं भरतपतिर्विवेश भूमौ, तद्घाताच्छरभ इवाद्रिकन्दरायाम्।
आकाशात् त्रिदशवरैरपि प्रमोदान्, मुक्ता द्राक्कुसुमततिः कनिष्ठमूर्ध्नि॥

1. वारिः—हाथी की बंधन-भूमी (वारिस्तु गजबन्धभूः—अभि० ४।२९५)

बाहुबली के तीव्र प्रहार से भरत गले तक भूमी में प्रवेश कर गए, जैसे शरभ पहाड़ की गुफा में प्रवेश कर जाता है। यह देखकर देवगण प्रमुदित हुए और उन्होंने आकाश-मार्ग से शीघ्र ही बाहुबली के मस्तिष्क पर फूलों की वर्षा की।

५८. स ज्येष्ठं तदनु विलोक्य कातराक्षं, खिन्नोन्तर्मुहुरिति चिन्तयाञ्चकार।
हा! तातान्वयशरदेकशीतरश्मौ, कर्मेदं व्यरचि कलङ्कपङ्कलीलम्॥

उसके पश्चात् बाहुबली ने अपने बड़े भाई भरत की ओर देखा। उनकी आंखें भयभीत थीं। बाहुबली का मन खिन्न हो गया। उन्होंने बार-बार यह चिन्तन किया—'हा! पूज्य पिता श्री ऋषभ देव का वंश शरद् ऋतु के चन्द्रमा जैसा निष्कलंक है। किन्तु मैंने कलंक से पंकिल ऐसा कार्य कर डाला!'

५९. विज्ञातं किल समरान् मयेत्यमुष्मात्, मद्दोष्णोर्बलमधिकं रथाङ्गपाणेः।
तत्सर्वाहवललितेष्वभूज्जयो मे, हन्तव्यः परमवनीकृते न बन्धुः॥

'मैंने इन सभी युद्धों के प्रयोगों से जान लिया है कि मेरी भुजाओं में अधिक शक्ति है या भरत की भुजाओं में! सभी युद्ध-क्रीडाओं में मेरी विजय हुई है। फिर भी भूमी के लिए भाई को मार डालना उचित नहीं है।'

६०. नाभेयप्रथमसुतोऽथ भूमिमध्यान्निर्यातो जलदचयादिवोष्णरश्मिः।
चक्राङ्कं निजकरपङ्कजे निधाय, प्रोवाचानुजमधिकप्रतापदीप्रम्॥

जैसे सूर्य बादल से बाहर निकलता है वैसे ही ऋषभ के प्रथम पुत्र भरत भूमी से बाहर निकले और प्रताप से अत्यन्त दीप्र चक्र को हाथ में लेकर बाहुबली से बोले—

६१. भ्रात! त्वं लघुरसि तत्तवापराधाः, क्षन्तव्या मनसि मया गुरुर्गुरुत्वात्।
दाक्षिण्यं तव तु ममारि[1]तीव्रमेतन्नो कर्त्ता तुहिनरुचेर्यथा तमास्यम्[2]॥

'भाई! तुम छोटे हो और मैं बड़ा हूँ, इसलिए मुझे अपने गुरुत्व को ध्यान में रखकर मन ही मन तुम्हारे अपराधों को क्षमा कर देना चाहिए। किन्तु यह मेरा तीव्र चक्र तुम्हारे पर कृपा नहीं करेगा, जैसे राहु चन्द्रमा पर कृपा नहीं करता।'

६२. अद्यापि प्रणिपतमञ्च मा मृथस्त्वाहंकारं त्यज भुजयोर्विपत्तिकारम्।
चक्राङ्कज्वलनरुचोपतप्तदेहाः, कुत्रापि क्षितिपतयो रतिं न चापुः॥

---

१. अरिन्—चक्र (रथाङ्गं रथपादोऽरि—अभि० ३।४१९)।

२. तमास्यं—राहु।

'भाई ! तुम अभी भी प्रणिपात करलो, व्यर्थ ही क्यों मरते हो। अपनी भुजाओं के विपत्तिकारक अहं को छोड़ दो। देखो, मेरे चक्र की अग्नि की लपटों से उत्तप्त होकर राजा कहीं भी सुख नहीं पा सके।'

६३. संरुष्टः सपदि तदीयया गिरेति, व्याहार्षीद् बहलिपतिश्च कोशलेशम्।
किं बन्धो ! ऽहमपि तवेदृशैर्विभाव्यः, सारङ्गैर्हरिरिव यत्प्रभुस्त्वमेव ?

भरत की वाणी सुनकर सहसा कुपित हुए बाहुबली ने कहा—'भाई ! तुम अपने आप को ही प्रभु मान रहे हो। क्या मैं तुम्हारी इस प्रकार की वातों से डर जाऊंगा? क्या हरिणों से सिंह डर जाता है ?'

६४. मर्यादां परिजहतस्तवामरोक्तां, चक्राङ्कादथ विजयः कथं भविष्णुः ?
पादाब्जं यदि हृदयेऽर्हतो ममादेः, किं कालायस[1]शकलाद्[2] बिभेमि तर्हि ?

'भाई ! तुमने देवताओं द्वारा विहित मर्यादाओं का उल्लंघन किया है, तब इस चक्र से विजय प्राप्त कैसे होगी ? यदि आदिदेव ऋषभ के चरण-कमल मेरे हृदय में स्थित हैं तो क्या मैं इस लोहे के टुकड़े चक्र से भयभीत होऊंगा ?'

६५. औद्धत्यादिति निगदन्तमेनमुच्चैर्व्यस्राक्षीत् प्रति भरतोऽरि दीप्तिदीप्रम्।
पाथोदस्तडितमिवास्य पार्श्वमेत्य, सम्राजं प्रति ववले ततो रथाङ्गम्॥

उद्धतता से इस प्रकार बोलते हुए बाहुबली के प्रति भरत ने दीप्ति से जाज्वल्यमान चक्र को जोर से फैंका जैसे बादल बिजली को फेंकता है। वह चक्र बाहुबली के पास आकर चक्रवर्त्ती भरत की ओर मुड़ गया।

६६. स्वःसिन्धूदकलहरीवलक्षवक्त्रा, योद्धारो बहलिपतेस्तदाबभूवुः।
कालिन्दीतरुणतरङ्गमज्जदास्याः, षट्खण्डाधिपतिभटास्तदैव चासन्॥

उस समय बाहुबली के योद्धाओं के मुंह गंगा के पानी की लहरों की तरह उज्ज्वल हो गए और भरत के सैनिकों के मुंह यमुना की तरुण तरंगों में डूबे हुए जैसे मलिन हो गए।

६७. उद्यम्य प्रबलतया क्रुधा दधावे, तन्मुष्टिं स्वयमपनेतुमुल्बणास्त्रम्[3]।
उष्णत्वं व्रजति हि वह्निसंप्रयोगात्, पाथोऽपि प्रकटतया स्वभावशीतम्॥

---

१. कालायसम्—लोह (लोहं कालायसं शस्त्रम्—अभि० ४।१०३)।
२. शकलम्—(खण्डेऽर्धशकले भित्तम्—अभि० ६।७०)
३. उल्बणास्त्रम्—प्रकट अस्त्र (चक्र)।

तब बाहुबली क्रोध के आवेश में अपनी मुष्टि को उठा कर उस प्रकट अस्त्र चक्र को नष्ट करने के लिए दौड़ा। क्योंकि प्रत्यक्षतः स्वभाव से शीतल पानी भी अग्नि के प्रयोग से गरम हो जाता है।

६८. संहर्ता त्रिजगदनेन मुष्टिनायं, क्रोधाब्धिर्भरतपतिः स्थितिं त्वलुम्पत्।
श्रेष्ठानां क्षयकरणं भवेद् विरुद्धं, किं कार्यं त्विति विबुधैर्व्यचारि चित्ते॥

बाहुबली अपनी मुष्टि से तीनों लोकों का संहार कर देगा। क्रोध का समुद्र भरत अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर चुका है। श्रेष्ठ व्यक्तियों का क्षय करना व्यक्ति के लिए प्रतिकूल सिद्ध होता है—यह देखकर देवताओं ने अपने मन में सोचा कि अब क्या करना चाहिए ? (वे बाहुबली के पास आए)।

६९. अयि बाहुबले ! कलहाय बलं, भवतोऽभवदायति[1]चारु किमु ?
प्रजिघांसुरसि त्वमपि स्वगुरुं, यदि तद्गुरुशासनकृत् क इह ?
७०. कलहं तमवेहि हलाहलकं, यमिता[2] यमिनोप्ययमा नियमात्।
भवती जगती जगतीशसुतं, नयते नरकं तदलं कलहैः॥
७१. नृप ! संहर संहर कोपमिमं, तव येन पथा चरितश्च पिता।
सर तां सरणिं हि पितुः पदवीं, न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन॥
७२. धरिणी हरिणीनयना नयते, वशतां यदि भूप ! भवन्तमलम्।
विधुरो विधिरेष तदा भविता, गुरुमाननरूप इहाक्षयतः॥
७३. तव मुष्टिमिमां सहते भुवि को, हरिहेतिमिवाधिकघातवतीम्।
भरताचरितं चरितं मनसा, स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमणः॥
७४. अयि ! साधय साधय साधुपदं, भज शान्तरसं तरसा सरसम्।
ऋषभध्वजवंशनभस्तरणे !, तरणाय मनः किल धावतु ते॥
७५. इति यावदिमा गगनाङ्गणतो, मरुतां विचरन्ति गिरः शिरसः।
अपनेतुमिमांश्चिकुरानकरोद्, बलमात्मकरेण स तावदयम्॥

—सप्तभिः कुलकम्।

देवताओं ने बाहुबली से कहा—'हे बाहुबले ! तुम्हारा बल युद्ध के लिए प्रयुक्त हो रहा है। क्या यह भविष्य के लिए शुभ होगा ? यदि तुम भी अपने बड़े भाई भरत को मारना चाहते हो तो इस संसार में बड़े भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा ?'
'तुम उस कलह को हलाहल विष के समान जानो जिसका आश्रय लेकर संयमी मुनि

---

१. आयतिः—भविष्यकाल (आयतिस्तूत्तरः कालः–अभि० २।७६)
२. यं—कलहं, इताः—प्राप्ताः।

भी निश्चय से असंयमी हो जाते हैं। यह पूजनीया पृथ्वी राजपुत्र को नरक में ले जाती है, इसलिए इसके लिए किए जाने वाले ऐसे कलह से हमें क्या ?'

'राजन् ! तुम अपने इस क्रोध का संहरण करो, संहरण करो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता ऋषभ चले हैं, उसी मार्ग पर तुम चलो। सुपुत्र अपने पिता के मार्ग को कभी नहीं छोड़ते।'

'राजन् ! यदि यह भूमी रूपी सुन्दरी तुमको वश में कर लेती है तो वड़ों को सम्मान देने की यह विधि मूलतः विधुर हो जाएगी।'

'इन्द्र के वज्र की तरह प्रचंड प्रहार करने वाली तुम्हारी इस मुष्टि को संसार में कौन सहन कर सकता है ? तुम भरत द्वारा आचीर्ण चरित्र को मन से भी याद मत करो, जैसे श्रमण पूर्वकृत काम-क्रीडा को याद नहीं करता।'

'राजन् ! तुम मुनिपद की साधना करो, साधना करो। तुम शीघ्रता से सरस शान्तरस का आसेवन करो। हे ऋषभदेव के वंशरूपी आकाश के सूर्य ! तुम्हारा मन आत्म-कल्याण के लिए अग्रसर हो !'

इस प्रकार आकाश में देववाणी हुई। इतने में वाहुवली ने अपने वल का प्रयोग अपने हाथ से शिर के केश-लुंचन में किया।

७६. **मुनिरेष बभूव महाव्रतभृत् , समरं परिहाय समं च रुषा।**
सुहृदोऽसुहृदः सदृशान् गणयन् , सदयं हृदयं विरचय्य चिरम् ॥

उस समय वाहुवली युद्ध और रोष को एक साथ छोड़कर, मित्र और शत्रु को समान मानते हुए हृदय को सदा के लिए करुणामय वनाकर महाव्रतधारी मुनि वन गए।

७७. **सरसीरुहिणीव मुनीन्द्रतनुः , सुकुमारतरा विधुराण्यसहत्।**
शिवलक्ष्मि[1]निवासपदं सफला , क्वचिदप्यनिता न्वऽनुपास्तिमती ॥

मुनीन्द्र वाहुवली का शरीर कमलिनी की भांति अत्यन्त सुकुमार था। उस शरीर से उन्होंने अनेक कष्ट सहे। वह शरीर मोक्ष का हेतु था और अपने लक्ष्य की सिद्धि में सफल था। लक्ष्य की उपासना नहीं करने वाला शरीर कहीं भी नहीं पहुंच पाता—लक्ष्य तक नहीं जा पाता।

७८. **अमरीभिरुपेत्य स राजऋषिर्लवणाद्यवतारणकैर्नुनुवे।**
दुधुवे सुरवालकुरङ्गदृशां , नयनैर्न मनागपि चैकमनाः ॥

देवांगनाएं राजर्षि वाहुवली के पास आईं और लवण आदि उतार कर उनकी स्तुति

---

१. लक्ष्मि—यह ह्रस्व प्रयोग चिन्त्य है।

की। बाहुबली एकाग्रचित होकर स्थित थे। वे देवांगनाओं के नयनों से किञ्चिद् भी विचलित नहीं हुए।

७९. पतदश्रुकणाविलवक्त्ररुचिर्भरताधिपतिः समुपेत्य ततः।
प्रणनामतरां मतरामसिकानुरतेर्विरतं निरतं विरतौ ॥

इतने में ही महाराज भरत वहां आ गए। आंसुओं के बहने से उनकी मुखश्री पंकिल हो रही थी। उन्होंने संयम में संलग्न और अपने अभिप्राय की हठवादिता की अनुरक्ति से विरत मुनि बाहुबली को प्रणाम किया।

८०. प्रणिपत्य मुनिः कलिभङ्गकरः, समताञ्चितजानुविलम्बिकरः।
सवचोभिरिति प्रणयप्रवणैर्जगदे जगदेकतमप्रभुणा ॥

मुनि बाहुबली के समतायुक्त हाथ दोनों घुटनों पर लटक रहे थे। वे युद्ध के वातावरण को भंग कर चुके थे। जगत् के अनन्य प्रभु भरत ने उन्हें प्रणाम कर प्रेम-प्रवण वचनों में इस प्रकार कहा—

८१. यशसां पटहेन पटुध्वनिना, तव बान्धव ! सन्तु दिशो मुखराः।
मुखरागभिदो न पितुः सरणेर्मम तद्विपरीततरेण पुनः ॥

'बान्धव ! मधुर ध्वनि वाली आपकी यशःदुंदुभि से दिशाएं मुखरित हों। पिताश्री के अभिनिष्क्रमण के समय भी मेरे मुख की प्रसन्नता नहीं टूटी थी, किन्तु आज उससे विपरीत हो रहा है।'

८२. सुरकिङ्कर ! किं करवाणि तवाऽनवधानधरं हृदयं न यतः।
समयो नियमस्य ममास्ति गुरोर्न तवास्ति लघोः कुरुषे किमतः ?

'हे देवताओं द्वारा उपास्य मुने ! आपका हृदय समाहित हो गया है। अब मैं क्या करूं ? बड़ा भाई होने के नाते दीक्षा लेने का समय तो मेरा था, छोटे होने के कारण आपका नहीं। यह आप क्या कर रहे हैं ?'

८३. मम मन्तुमतो वहते रसना, रसनायकनायक ! नोक्तिमपि।
सरितं तपतापवतीं सुमते !, पयसा मम पूरय चाभिमताम् ॥

'हे शान्तरस के नायक ! मैं अपराधी हूँ, इसलिए मेरी जीभ कुछ कह नहीं पा रही है। हे सुमते ! ग्रीष्म ऋतु से तप्त मेरी अभिमत सरिता को आप पानी से भर दें।'

८४. निगदन्निति चक्रधरो वहुधा, समभाष्यत तेन न किञ्चिदपि ।
स्पृहणीयतया परिहीनहृदो, नृपतीनपि यच्च तृणन्तितराम् ।।

चक्रवर्त्ती ने इस प्रकार वहुत वार कहा किन्तु मुनि वाहुवली ने प्रत्युत्तर में कुछ भी नहीं कहा। जिन व्यक्तियों का हृदय आसक्ति से परिहीन है, वे राजाओं को भी तृण के समान समझते हैं।

८५. त्रिदशाचलनिश्चलचित्तरुचेर्यतिनो भरताधिपवाग्विसराः ।
न मुदे न रुषे व्यभवन् सुतरां, सुतरागपराङ्मुखता कृतिनः ।।

मेरु की भांति निश्चल चित्त वाले मुनि वाहुवली के लिए महाराज भरत के वचन न प्रसन्नता के लिए और न अप्रसन्नता (रोष) के लिए हुए। उनके मन में पुत्रों के प्रति अनुराग भी नहीं रहा था।

८६. सचिवैः प्रतिवोध्य कथञ्चिदयं, निलयान्तरनायि समं त्वरिणा ।
भरते भरताधिपतेः सकले, विजहार च शासनमस्य ततः ।।

मंत्रियों ने भरत को समझाया और ज्यों-त्यों उन्हें चक्र के साथ शस्त्रागार के भीतर ले गए। इसके वाद समूचे भारत में महाराज भरत का अनुशासन चलने लगा।

८७. बहलीविषये किल तस्य सुतं, विनिवेश्य ततः स निजां नगरीम् ।
उपगन्तुमियेष सुरेन्द्र इवेन्दिरया प्रबलध्वजिनीसहितः ।।

वाहुवली के पुत्र को वहली प्रदेश का अधिपति वनाकर लक्ष्मी (वैभव) से युक्त इन्द्र की भांति महाराज भरत अपनी प्रवल सेना के साथ अयोध्या नगरी की ओर जाने के इच्छुक हुए।

८८. नभसस्त्रिदशैः स उपेत्य गुरुकुसुमैः परिवर्ध्य च चक्रधरः ।
जगदे जयशब्दपुरस्सरया, सहितस्तनयैर्नृपवाहुवलेः ।।

आकाश से देवता आए। उन्होंने विपुल कुसुमों से वाहुवली के पुत्रों के साथ चक्रवर्ती भरत का वर्धापन कर जयकार किया।

८९. श्रीमन् ! भारतभूपुरन्दर ! भवानाद्यो रथाङ्गी त्विहा-
शेषक्षोणिवधूकरग्रहकृती नन्द्याच्चिरं भारते ।
अत्यन्ताद्भुतचारिमा'ञ्चितललल्लावण्यपुण्योदयो,
गीर्वाणैः परिनूयतेस्म स इति प्रोद्दामसंपत्तिभाक् ।।

'हे श्रीमन् !, हे भारत के अधिपति भरत ! आप इस संसार में पहले चक्रवर्ती हैं। आपने समूची पृथ्वी रूपी वधू का वरण कर लिया है। आप भारतवर्ष में चिरकाल तक राज्य करते रहें। आप अद्भुत चरण वाली लक्ष्मी से युक्त, ललित लावण्य के पुण्योदय वाले तथा उत्कृष्ट संपदा के भोक्ता हैं'—इस प्रकार देवताओं ने उनकी स्तुति की।

—इति भरतबाहुबलिद्वन्द्वयुद्धवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः—

१. अत्यन्तं अद्भुतचारिणी च मा—लक्ष्मीः च इति अत्यन्ताद्भुतचारिमा।

अठारहवां सर्ग

प्रतिपाद्य—	भरत और बाहुबली—दोनों को केवलज्ञान की प्राप्ति।
श्लोक परिमाण—	८३
छन्द—	उपजाति।
लक्षण—	देखें सर्ग २, का विवरण।

कथावस्तु—

भरत अयोध्या पहुंचे। जनता ने उनका स्वागत किया। वे पूर्ववत् राज्य-संचालन में लग गए।

वाहुवली कायोत्सर्ग में लीन थे। उनका मन उपशान्त था। वारह महीने बीत गए। लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो रही थी। उनके मन में 'अहं' का अंकुर विद्यमान था। वे उसे नष्ट नहीं कर पा रहे थे। भगवान् ऋषभ ने यह जाना। उन्होंने अपनी प्रव्रजित पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को वहां भेजा। उनके कथन से प्रतिवुद्ध होकर वाहुवली ने अहं के अंकुर को उखाड़ फेंका। विनय के प्रवाह में वे निमग्न हो गए। उन्होंने अपने छोटे भाइयों, जो पहले ही प्रव्रजित हो चुके थे, को वन्दना करने के लिए एक कदम रखा। वे उसी क्षण प्रबुद्ध हो गए। उन्हें निरावरण ज्ञान की उपलब्धि हो गई। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वन गए। देवताओं ने यह संवाद भरत को दिया।

एक वार भरत चक्रवर्ती कांच महल में अपने शरीर का मंडन कर रहे थे। आभूषणों से अलंकृत शरीर की शोभा से वे आनन्दित हो उठे। कुछ क्षणों के वाद उन्होंने आभूषण उतार दिए। आभूषणों के विना शरीर की अशोभा को देख वे छटपटा गए। उनका मन वैराग्य से भर गया। वे आत्म-भावना में आरोहण करने लगे। परिणामों की विशुद्धि वढ़ती गई। उनके घाती-कर्म क्षीण हुए और वे सर्वज्ञ वन गए। देवताओं ने उनका 'केवलज्ञान-महोत्सव' किया। वे अभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत हुए। उनके साथ हजारों राजे प्रव्रजित हुए। उनका राज्य-भार उनके ज्येष्ठ पुत्र सूर्ययशा ने संभाला।

० ०

अष्टादशः सर्गः

१. अथाऽयमिन्दीवरलोचनानां, ततान साकेतनिवासिनीनाम् ।
राजा दृशामुत्सवमागमेन, कुमुद्वतीनामिव कौमुदीशः ॥

महाराज भरत अयोध्या पहुंचे । उन्होंने अपने आगमन से वहां की सुन्दरियों के नयनों के लिए उत्सव पैदा कर दिया जैसे चन्द्रमा कमलिनियों के लिए उत्सव पैदा कर देता है ।

२. सुलोचनाभिः सममाललञ्जुश्चिरं वियुक्ताभिरथाशु वीराः ।
पयोदराजीभिरिवाब्दकाले, नगा इवानङ्गनिदाघदग्धाः ॥

कामदेव के ताप से दग्ध वीर सुभट लम्बे समय से वियुक्त अपनी स्त्रियों के साथ युक्त हो गये, जैसे वर्षाकाल में पर्वत मेघ की श्रेणी से युक्त हो जाते हैं ।

३. सा राजधानी ऋषभाङ्गजस्य, रराज सैन्यैर्विविधैः समेतैः ।
फुल्लत्सरोजैः सरसीव साक्षादामोददानप्रवणैः प्रभाते ॥

भरत की वह राजधानी अयोध्या विविध प्रकार की सेनाओं से शोभित हो रही थी जैसे प्रभातकाल में सरोवर दूर तक सुगंध फैलाने में साक्षात् प्रवीण विकसित कमलों से शोभित होता है ।

४. निःशङ्कमाज्ञा भरताधिपस्य, ततो व्यहार्षीद् भरतेऽखिलेऽपि ।
नदीव मेघागमवारिपूर्णा, महीभृदुल्लङ्घनलब्धवर्णा ॥

पहाड़ों का उल्लंघन करने में निपुण, वर्षा ऋतु में पानी से परिपूर्ण नदी की भांति भरत का शासन निःशंक रूप से समूचे भारत में वरतने लगा ।

५. समं समग्राभिरथाङ्गनाभिश्चिक्रीड सर्वर्तुविलासलास्यैः ।
तरङ्गिणीनाथ इवापगाभिः, परिस्फुरद्विभ्रमवीचिभिः सः ॥

चक्रवर्त्ती भरत अपनी समस्त सुन्दरियों के साथ सभी ऋतुओं के योग्य विलास-नृत्यों से क्रीडा करने लगे, जैसे समुद्र उठती हुई विभ्रम रूपी लहरों वाली नदियों के साथ क्रीडा करता है।

६. राजा ऋतूनामहमस्मि शश्वत्, सेवापरोऽमुष्य भवामि तस्मात्।
इतीव राजानमिमं जगाम, मधुर्मधुस्यन्दिभिराशु पुष्पैः॥

'मैं सदा सभी ऋतुओं का राजा हूं, नायक हूँ, इसलिए मैं भरत चक्रवर्त्ती की सेवा करूं'—यह सोचकर चैत्र मास मधु बिखरने वाले पुष्पों के साथ शीघ्र ही राजा भरत के पास आ पहुंचा।

७. आमोददायी कुसुमैर्नवीनैर्विलासिनामेष मधुस्ततोऽहम्।
भवामि सौख्याय रथाङ्गनाम्नां, रविर्विचार्येति शनैश्चचार॥

'यह मधुमास विलासी पुरुषों को नए सुगंधित पुष्पों से आमोद देने वाला है, इसलिए मैं भी चक्रवाकों के लिए सुखकर होऊं'—यह सोचकर सूर्य अत्यन्त धीमे चलने लगा।

८. स्मेरैः प्रसूनैः स्मितमादधाना, बालप्रवालैर्दधती च रागम्।
पुंस्कोकिलैर्मञ्जुरवारुवद्भिर्वनस्थलीयं मधुना लिलिङ्गे॥

उस समय वनस्थली विकसित पुष्पों से हंस रही थी। नए प्रवालों से वह लाल हो रही थी। पुंस्कोकिलों के मीठे शब्दों से वह गुंजायमान थी। मधुमास ने ऐसी वनस्थली का आलिंगन किया।

९. आहासि विस्मेरसरोरुहालीव्याजैः सरोभिर्मगधैरिवास्य।
मधुव्रतव्रातगिरा भणद्भिरमूदृशां कीर्त्तिकरा न के स्युः?

वहां के तालाब विकसित कमल-पंक्तियों के मिष से हंस रहे थे और भ्रमर-समूहों की वाणी में बोल रहे थे, मानो कि वे भरत के मंगल-पाठक हों। भरत जैसे महान् व्यक्तियों का कीर्त्तिगान करने वाले कौन नहीं होते?

१०. इमा नलिन्यस्तुहिनेन हीना, वितेनिरे रोषभरादितीव।
रविर्हिमानीः[2] स्नपयाम्बभूव, प्रियापराभूतिररुंतुदा हि॥

'हिमपात ने इन नलिनियों को कांतिहीन बना दिया है'—यह सोचकर सूर्य ने क्रोध से हिम-समूह को पिघाल डाला। क्योंकि प्रिया की पराभूति दुःखदायी होती है।

१. मधुः—चैत्र मास (चैत्रो मधुश्चैत्रिकश्च—अभि० २।६७)
२. हिमानी—हिमपात (हिमानी तु महद्धिमम्—अभि० ४।१३८)

११. महो मदीयं दिशि दक्षिणस्यां, मन्दं हिमानी ववृधे ततोऽसौ।
इतीव भानुर्दिशि चोत्तरस्यां, हिमालयं नाम नगं जगाम॥

हिम-समूह ने दक्षिण-दिशा में मेरी किरणों को मंद कर डाला है, मानो कि यह सोचता हुआ सूर्य उत्तर-दिशा में हिमालय पर्वत पर चला गया।

१२. मुहुर्मुहू राजमरालबालैरम्भोरुहिण्यङ्कनितान्तसक्तैः।
आविष्कृतारावभरैर्विशेषाद्, धात्रीव चैत्रे सरसी सिषेवे॥

उस चैत्र मास में कमलिनियों की गोद में सदा आसक्त रहने वाले तथा शब्दों के द्वारा अपना अस्तित्व बतलाने वाले राजहंसों के शिशु, पृथ्वी की भांति सरोवर में विशेष रूप से बार-बार क्रीडा करने लगे।

१३. युवद्वयीचित्तदरीनिवासिमानग्रहग्रन्थिभिदो विरावाः।
पुंस्कोकिलानां प्रसभं प्रसस्रुर्वनस्थलीषून्मिषितासु पुष्पैः॥

फूलों से विकसित वनस्थलियों में पुंस्कोकिलों के 'कुहू-कुहू' के शब्द सहसा फैल गए। वे शब्द तरुण-तरुणियों के चित्त रूपी गुहा में निवास करने वाली मानग्रह रूपी ग्रन्थी का भेदन करने वाले थे।

१४. इतीन्दुगौरैस्तिलकप्रसूनैः, सर्वान् मधुश्रीरहसीदिवर्तून्।
ऋते न कस्यापि भविष्यति श्रीरमूदृशी भृङ्गरुतैर्भणन्ती॥

तिलक वृक्ष के चन्द्रमा की भांति गौर फूलों से मधुमास की शोभा सभी ऋतुओं का उपहास कर रही थी। वह ऋतु भौरों के गुनगुनाहट से मानो यह कह रही हो कि ऐसी शोभा इस ऋतु के बिना किसी की भी नहीं होती।

१५. आरादभूवन् प्रविकासभाञ्जि, यस्मिन् प्रसूनानि दृशां प्रियाणि।
अयं तरुः कस्त्विति षट्पदस्य, स किंशुकोऽपि भ्रममाततान॥

दूर से देखने पर जिस वृक्ष के विकसित फूल आंखों को प्रिय लगते थे, उस किंशुक वृक्ष ने भौरों के मन में भ्रम पैदा कर यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि—'यह कौन सा वृक्ष है?'

१६. पयोधिडिण्डीरनितान्तकान्तं, पीयूषकान्तेर्विचचार तेजः।
तेनैव चेतांसि विलासिनीनां, वितेनिरे मानपराञ्चि कामम्॥

चन्द्रमा का तेज जो समुद्र की फेनों की तरह नितान्त मनोज्ञ था, वह चारों ओर फैल गया। इसीलिए सुंदरियों के चित्त अत्यधिक मान से व्याप्त हो गए।

१७. प्रसूनबाणान् प्रगुणीचकार, शृङ्गारयोनेर्मधुलोहकारः।
उत्तेज्य शीतद्युतिविम्बशाणे, युवद्वयीमानसभेददक्षान्॥

मधुमास रूपी लोहकार ने चन्द्रमा के बिम्ब रूपी शाण पर तरुण और तरुणियों के मन को भेदने में दक्ष कामदेव के पुष्प-बाणों को उत्तेजित कर उन्हें तीखा बना डाला।

१८. प्रियः सुरा यौवनवृद्धिमत्ता, ज्योत्स्ना सितांशोश्च मधुश्च मासः।
दुरापमेकैकमिति प्रियालिः, काचित् सखीरित्यनुवेलमाह॥

उस सयय किसी नायिका ने अपनी सखियों को समयोचित बात कही—'पति, सुरा' यौवन का उभार, चन्द्रमा की चांदनी और चैत्रमास—इन एक-एक का मिलना भी कठिन होता है। (जहां ये सारे एक साथ प्राप्त हों, उसका तो कहना ही क्या ?)

१९. लज्जा युवत्याशयसङ्गिनीह, क्षयं जगाम क्षणदेव किञ्चित्।
नीता च दूरं सुरतेपि सर्वा, द्वयोः कियत्येकपदे स्थितिर्हि ?

उस समय युवतियों के आशय की संगिनी लज्जा भी रात्री की भांति कुछ क्षीण हो गई और मैथुन-काल में वह लज्जा पूर्ण रूप से दूर हो गई। क्योंकि दो (स्त्री और लज्जा) एक साथ कितनी देर टिक सकती हैं ?

२०. कादम्बरी[1]पाननितान्ततुष्टा, विहाय वासः कुसुमान्तरीयम्।
ददौ प्रियाविर्भवदङ्गकान्तिः, पातुः प्रियस्य प्रमदं वसाना॥

सुरापान से अत्यधिक तुष्ट किसी प्रिया ने वस्त्र छोड़कर फूलों के अंतरीय को धारण किया। उसने अपने शरीर की कांति को प्रगट कर अपने रक्षक पति को हर्षित कर डाला।

२१. वधूमुखस्वादुरसैर्निषिक्तः, पुष्पाणि तत्सौरभवन्त्यमुञ्चत्।
यो यच्च तच्चौर्यमपास्य सोऽयं, तरुस्तदेको बकुलो रसज्ञः॥

बकुल ही एक ऐसा रसज्ञ वृक्ष है जो कुछ भी नहीं चुराता, जैसा उसको प्राप्त होता है, वैसा ही लौटा देता है। स्त्रियों के मुख से निकली मदिरा से निषिक्त होकर वह वृक्ष उसी मदिरा की सुगंधी वाले फूलों को बाहर छोड़ता है अर्थात् उससे वैसे ही फूल फूट पड़ते हैं।

---

१. कादम्बरी—मदिरा (कादम्बरी स्वादुरसा हलिप्रिया—अभि० ३।५६६)

२२. स नूपुरारावपदाभिघातात् , स्त्रीणामशोकोऽपि सुमान्यधार्षीत् ।
चलोलरोलम्बरुताञ्चितानि , न कारणात् कार्यमुपैति हानिम् ॥

नूपुरों के शब्द युक्त स्त्रियों के पादाभिघातों से भी अशोक वृक्ष के फूल निकल आए[1]। उन पर चंचल भौरें गुनगुनाहट कर रहे थे। कारण के उपस्थित होने पर कार्य की कोई हानि नहीं होती।

२३. पिकस्वरामोदवती च यूनां , जहार चेतो वनराजिरामा ।
स्मेरप्रसूनस्तबकस्तनाभिरामा मुहुर्मेदुरकान्तिकान्ता ॥

वहां की वनराजि रूपी लक्ष्मी कोयल के मीठे स्वरों से युक्त, आमोद बिखेरने वाली, विकसित पुष्पों के गुच्छे रूपी स्तनों से सुन्दर और कोमल कांति से मनोज्ञ थी। उसने तरुणों के चित्त का वार-वार हरण कर दिया।

२४. जना ! रसालस्तरुरेष सत्यो , यन्मञ्जरीस्वादवशात् स्वरो मे ।
बभूव कामं सरसः पिकोऽपि , स्वैरं न्यगादीदिति पञ्चमोक्त्या ॥

कोयल ने भी यथेष्ट रूप से पंचम स्वर में यह कहा—'लोको ! यह आम्रवृक्ष है। यह सच है कि इस वृक्ष की मंजरियों के स्वाद से ही मेरा स्वर अत्यधिक सरस हुआ है, मीठा हुआ है।'

२५. रन्ता स चक्री समयः स सा श्रीः , सर्वत्र ता राजसुताः सहायाः ।
किं तर्हि वर्ण्यं खलु तत्र देवी , वाग्वादिनी चेत् कुरुते प्रसादम् ॥

रमण करने वाला वह चक्रवर्ती भरत, वह मधुमास का समय, वनराजि की वह शोभा और सर्वत्र सहायक वे राजपुत्रियां—इतना होने पर यदि वाग्देवी सरस्वती स्वयं वहां कृपा करदे तो फिर कहना ही क्या ?

२६. पतिर्नदीनामिव वाडवेन , जरागमेनेव वयःस्थभावः ।
मधुर्निदाघेन ततस्त्वशोषि , प्रतीव्रतापाभ्युदितक्रमेण[2] ॥

जैसे वाडवाग्नि समुद्र का और बुढापा यौवन का शोषण करता है वैसे ही तीव्र ताप के बढ़ने से ग्रीष्म ऋतु ने मधुमास का क्रमशः शोषण कर दिया।

२७. ओजस्वितां सूनधनुर्यथाऽयं , मधौ तथोष्णे स्वयमेव नाऽधात् ।
बलावहः सर्वत एव पुंसां , संभावनीयः समयो यदेकः ॥

---

१. यह कविरूढी है कि स्त्रियों के पाद-प्रहार से अशोक वृक्ष पुष्पित हो जाता है।
२. पाठान्तरम्—प्रतापतीव्राभ्युदितक्रमेण।

मधुमास में कामदेव जैसा ओजस्वी था वैसा वह स्वयं उष्ण काल में नहीं रहा। क्योंकि मनुष्यों को सब ओर से शक्ति देने वाला एक समय ही है।

२८. तन्व्यो बभूवुः सरितः समन्तान्नार्यो वियुक्ता इव जीवनेन।
ततस्त्रियामाऽपि तनूबभूव, स्ववर्गकार्श्यं हि करोति कार्श्यम्॥

चारों ओर नदियां पानी से वैसे ही क्षीण हो गई जैसे स्त्रियां पति के वियोग में क्षीण हो जाती हैं। उसके बाद रात्रियां भी क्षीण हो गई, छोटी हो गई। क्योंकि स्व-वर्ग की कृशता कृशता पैदा करती है।

२९. अलब्धमध्या अपि केलिवाप्यः, सुखावगाहा अभवन्निदाघे।
सद्युक्तयोऽर्थिन्य इवापजाड्ये, लक्ष्मीवतां लक्ष्म्य इवाल्पदैवे॥

जिनका मध्य प्राप्त न हो ऐसी क्रीडा करने की गहरी वापियां भी ग्रीष्म ऋतु के कारण सहज तैरने योग्य हो गई, जैसे विद्वान् व्यक्ति में अर्थपूर्ण उक्तियां और मंदभाग्य में धनी व्यक्तियों की संपदा सहज अवगाहित हो जाती है।

३०. तुषारतां तत्र तुषारभानोः, स्प्रष्टुं रजन्यां जन उत्ससाह।
श्रीखण्डसंपृक्तमहन्यभीक्ष्णं, पयश्चयं चालयदीर्घिकाणाम्॥

रात्री में लोग चन्द्रमा की शीतलता का स्पर्श करने के लिए और दिन में घर की वापियों के चन्दन से संपृक्त पानी का बार-बार स्पर्श करने—स्नान करने के लिए उत्साहित हुए।

३१. हाराभिरामस्तनमण्डलीभिः, सूक्ष्मांशुकालोक्यतनुप्रभाभिः।
धम्मिल्लभारार्पितमल्लिकाभिर्वधूभिरुन्मादमुवाह कामः॥

कामदेव स्त्रियों के साथ उन्मत्त हो रहा था। वे स्त्रियां हारों से सुशोभित स्तनों वाली थीं। सूक्ष्म वस्त्रों के अन्तराल से उनके शरीर की प्रभा छिटक रही थी। उनके जूड़ों में मल्लिका के फूल लगे हुए थे।

३२. सगन्धसाराधिकसारतोयाभिषिक्तदेहः सह कामिनीभिः।
रन्तुं रथाङ्गी सलिलाशयेषु, प्रावर्तत स्वैरमजो[1] द्वितीयः॥

द्वितीय विधाता चक्रवर्ती भरत का शरीर चंदन से भी अधिक सुगंधित

१. अजः—विधाता (परमेष्ठ्यजोऽष्टश्रवणः स्वयम्भूः—अभि० २।१२५)।

पानी से अभिषिक्त था। वे अपनी सुन्दरियों के साथ यथेष्ट क्रीड़ा करने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए।

३३. शोषं रसानां किरणैः खरांशुं, कुर्वाणमालोक्य घनैः पयोधेः।
पयः समादाय नभः सभानु, र्व्यधीयताऽरण्यमगैरिवाशु॥

'सूर्य अपनी किरणों से रसों का शोषण कर रहा है'—यह देखकर बादलों ने समुद्र से पानी लेकर सूर्ययुक्त आकाश को शीघ्र ही ढंक दिया जैसे वृक्ष अरण्य को ढंक देते हैं।

३४. प्रतापवत्वात्तरणे! त्वयैनां, प्रतप्य धात्रीं किमवाप्तमत्र?
तापापनोदं वयमाचरामोऽस्यास्तज्जगर्जुर्जलदा इतीव॥

'हे सूर्य! तुम प्रतापवान् हो इसलिए इस धरती को प्रतप्त करते हो परन्तु इस प्रवृत्ति से तुम्हें क्या मिला? देखो, हम इस धरती का ताप दूर करते हैं'—मानो यह कहते हुए बादल गर्जारव करने लगे।

३५. विद्युल्लतालिङ्गितवारिदालिं, वीक्ष्येति केकाः शिखिनामभूवन्।
पान्थाः! किमद्यापि पथि व्रजन्तो, न हि त्वरध्वं निलयाय यूयम्?

बिजली का आलिंगन करने वाली बादलों की श्रेणी को देखकर मयूर केका करने लगे। वे केका के व्याज से यह कह रहे थे—'पथिको! मार्ग में चलते हुए तुम घर पहुंचने के लिए अब भी शीघ्रता क्यों नहीं कर रहे हो?'

३६. आपिञ्जरा[1] नीपतरो रजोभिर्दिशां विभागा विबभुः समंतात्।
गन्धैश्च धाराहतपल्लवानां, सुगन्धिनोऽरण्यभुवः प्रदेशाः॥

चारों ओर दिशाओं के विभाग कदम्ब वृक्षों की धूली से पीत-रक्त होकर शोभित हो रहे थे। उस अरण्य के भूमी-प्रदेश मेघ की धारा से आहत पल्लवों की गंध से सुगंधित हो रहे थे।

३७. भवद्वधूवर्गवियोगदीर्घनिश्वासवातैः पथिका निषिद्धाः।
यदाननान्तः पतदम्बुधारैः, सारङ्गमै[2]रित्थमभूत्तदानीम्॥

उस समय ऐसा घटित हुआ कि मुंह से गिरती हुई जलधारा वाले चातक पत्नियों के

---

१. पिञ्जरः—पीत-रक्त (पीतरक्तस्तु पिञ्जरः—अभि० ६।३२)
२. सारङ्गमः—चातक (सारङ्गो नभोम्बुपः—अभि० ४।३९५)

होने वाले वियोग से निकलते हुए दीर्घ निःश्वास-वायु द्वारा पथिकों को जाने से टोक रहे थे।

३८. वियोगिनिःश्वासनितान्तधूमैर्दिशो दश श्यामलिता इवासन्।
तडित्स्फुलिङ्गालिरिव स्फुरन्ती, व्यतर्क्यतैत्यन्तरिहापि कैश्चित् ॥

वियोगी व्यक्तियों के निश्वास से निरंतर निकलने वाले धूंए से दसों दिशाएं श्यामल सी हो गईं। कुछ व्यक्तियों ने उन वियोगी व्यक्तियों के अन्तर् में स्फूर्त बिजली की भांति स्फुलिंग श्रेणी की वितर्कणा की।

३९. पयोदकाले करवालकाले, सूर्येन्दुकारानिलये विचेरुः।
रथाङ्गनाम्नां परितो विरावाः, सुदुःश्रवा वासरयौवनेऽपि ॥

तलवार की भांति नीली आभा वाले तथा सूर्य और चन्द्रमा के लिए कारागृह बने हुए मेघकाल में चक्रवाकों के दिन में नहीं सुने जाने वाले शब्द मध्यान्ह काल में भी चारों ओर फैल गये। (उन्होंने घोर अंधकार के कारण यह समझ लिया था कि रात हो गई है।)

४०. सन्मल्लिकामोदसुगन्धिवाटीलुभ्यद्द्विरेफारवबद्धचेताः।
व्रजो वधूनामपि पुष्पबाणसेवी व्यतीयाय पयोदकालम् ॥

उस समय मल्लिका के फूलों की सुगंधित वाटिका से प्रसृत होने वाले आमोद में भौंरें लुब्ध होकर गुंजारव कर रहे थे। कामवासना से दीप्त स्त्रियां उनके गुंजारव में आसक्त हो रही थीं। इस प्रकार उन्होंने वह वर्षाकाल बिताया।

४१. सौधं सुधाधामकलाकलापश्वेतं सुधालेपमयं विवेश।
कान्ताभिरेकान्तसुखं स सार्द्धं, वर्षासु हर्म्यस्थितिरेव धृत्यै ॥

महाराज भरत अपनी पत्नियों के साथ एकान्त सुखमय, चूने से पुते हुए और चन्द्रमा की कलाओं के समूह की भांति श्वेत प्रासाद में प्रविष्ट हुए। वर्षा ऋतु में घर में रहना ही धृति के लिए होता है।

४२. घनात्ययो[1]ऽपि ज्वलदुष्णरश्मिः, प्रादुर्बभूवाच्छ[2]तमान्तरिक्षः।
फुल्लद्भिरम्भोरुहिणीसमूहैर्विकासवद्भिर्विहसन्निवान्तः ॥

अब शरद् ऋतु आ गया। उसमें सूर्य की रश्मियां तेज हो गईं। आकाश स्वच्छतम

१. घनात्ययः—शरद् ऋतु (शरद् घनात्ययः—अभि० २।७२)
२. अच्छम्—स्वच्छ, प्रसन्न (अच्छं प्रसन्ने—अभि० ४।१३७)

हो गया। प्रफुल्लित और विकसित होते हुए कमल के समूहों से वह ऋतु मन ही मन हंस रहा हो ऐसा लगने लगा।

४३. **समीरणः पद्मपरागपूरसंपृक्तदेहो जललब्धजाड्यः।**
विशारदैः शारद[1] एव लिल्ये, तीव्रातपक्लान्तिभरापनुत्त्यै॥

शरद् ऋतु का पद्म-पराग से युक्त पवन जल की संपृक्ति के कारण कुछ मन्द हो रहा था। निपुण व्यक्तियों ने तीव्र आतप की क्लान्ति को दूर करने के लिए उस पवन का आसेवन किया।

४४. **गवाक्षजालान्तरलब्धमार्गैः, करैः सितांशोर्मिलितानि पश्यन्।**
चक्रे प्रियास्यानि स ऊहमेनं, किं चन्दनाम्भःपृषतोक्षितानि?

गवाक्षों की जालियों से भीतर आने वाली चन्द्रमा की किरणों से भरत की कान्ताओं के मुख संपृक्त हो गए। यह देखकर चक्रवर्ती भरत ने सोचा—'क्या इन कान्ताओं के मुख चन्दन के पानी की बूंदों से सिंचित हैं?'

४५. **स चित्रशालासु मनोरमासु, संक्रान्तरूपातिशयाञ्चितासु।**
शरत्सुधाधामरुचोज्ज्वलासु, रेमे मृगाक्षीभिरनुत्तरश्रीः॥

अनुत्तर शोभा वाले महाराज भरत अपनी सुन्दर पत्नियों के साथ मनोरम, रूपातिशय को प्रतिविम्बित करने वाली तथा शरद् चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल चित्रशालाओं में क्रीड़ा करने लगे।

४६. **शरद्यवापद् रसमिक्षुयष्टिर्विकासभाञ्ज्यब्जवनानि चासन्।**
मरालबालैर्दधिरे प्रमोदाः, किं शारदो नः समयो हि नेदृग्?

शरद् ऋतु में इक्षु में रस भर आया। कमल-वन विकसित हो गए। हंसों के शिशु आनन्दित होने लगे। क्या हमारे लिए भी शरद् ऋतु का यह समय ऐसा ही नहीं हो जाता?

४७. **विधुर्हिमानीभिरधीकृतस्तदुज्झाम्बभूवे शरदा रुषेव।**
का नाम नारी सहते सपत्नीपराभवं भ्रष्टपयोधरा[2]ऽपि॥

हिमपात ने चन्द्रमा को अपने अधीन कर डाला। किन्तु शरद् ऋतु ने कुपित

---

१. शरदि भवः शारदः समीरणः।

२. श्लेष—भ्रष्टपयोधरा—वह शरद् ऋतु जिसमें पयोधर—मेघ नहीं रहते। वह स्त्री जिसके पयोधर—स्तन भ्रष्ट हो गए हों, शिथिल हो गए हों।

होकर उसे मुक्त कर दिया। वह क्या स्त्री जो शिथिल स्तनों वाली होने पर भी अपनी सपत्नी का पराभव सहन करे ?

४८. ततोप्यवश्यायनिषेकपाताज्जहेतरां जीवितमब्जिनीभिः।
अमूदृशीनां सुकुमारमेव, प्रोत्तेज्य शस्त्रं हि विधिर्निहन्ता॥

उसके बाद हेमन्तकालीन तुषारपात के कारण कमलिनियों ने अपना जीवन समाप्त कर डाला। इस प्रकार की सुकुमार शरीर वाली कमलिनियों के लिए सुकुमार शस्त्र (हिम) को तेजकर विधाता उनको मार डालता है।

४९. जाड्यातिरेकाज्जघनप्रदेशात्, काञ्चीकलापं व्यमुचन् मृगाक्ष्यः।
तत्कामिभिः साधुरमानि कालो, ध्रियेत भूषा हि सुखाय नित्यम्॥

शीत की अधिकता के कारण स्त्रियों ने अपनी कमर पर बंधी हुई करधनी को खोलकर रख दिया। कामुक व्यक्तियों ने उस काल को अच्छा माना। क्योंकि आभूषण सदा सुख के लिए ही पहने जाते हैं।

५०. मुहुर्वितन्वन्नधरं व्रणाङ्कं, निर्मेखलाभं जघनञ्च कुर्वन्।
हिमागमः कान्त इवाङ्गनाभिरमानि रोमाञ्चचयप्रपञ्ची॥

अधरों को बार-बार व्रणांकित तथा जघन को करधनी रहित करते हुए रोमांचित करने वाले हिमकाल (शीतकाल) को स्त्रियों ने पति के रूप में माना।

५१. प्रियस्य सीत्काररवान् मृगाक्ष्यः, संभोगलीलां स्मरयाम्बभूवुः।
हेमन्त एष स्मरभूपतेस्तत्, सामन्त एव प्रतिपादनीयः॥

अपने पति के मुख से निकलने वाले सीत्कार शब्दों को सुनकर कान्ताओं को संभोग लीला का स्मरण हो आया। यह हेमन्त ऋतु कामदेव का सामन्त है—ऐसा कहा जा सकता है।

५२. वधूस्तनोत्सङ्गकृताधिरोहो, मेदस्विनीर्हैमनशर्वरीः[1] सः।
गर्भालयान्तः क्षणवन्निनाय, सुखाय हि स्याद् धनिनां हिमर्तुः॥

महाराज भरत ने तलघर में अपनी कान्ताओं के स्तनों के क्रोड में आरोहण कर उन अत्यन्त ठंडी और लम्बी रातों को क्षण की भांति बिता डाला। हेमन्त ऋतु धनिकों के लिए सुखदायी होता है।

---

१. हैमनशर्वरी—शीत ऋतु की रात।

५३. वहन्नवश्याय[1]कणान् कृशानुध्वजा[2]धिकश्यामतनुश्चचार ।
मुहुर्मुहुर्वादितदन्तवीणः, शैत्यप्रवीणः शिशिराशुगोऽथ ॥

शिशिर ऋतु का शीत प्रधान पवन वहने लगा। वह तुषार-कणों से युक्त और धूंए से भी अधिक श्याम शरीर वाला था। उसके कारण लोगों के दांत बार-बार किटकिटाते थे।

५४. अङ्गारधान्यां परितप्यमानैर्हस्तैर्ददानास्त्वधरोष्ठविम्वे ।
व्रणाभिरामे मदनं[3] मृगाक्ष्यो, यूनो जराभीरु[4]मदीदिपच्च ॥

सुन्दरियां अंगीठीं से तपाये जाने वाले हाथों से, व्रण से सुन्दर अपने अधर और ओष्ठ विम्वों पर मोम लगाती हुई युवकों में कामवासना दीप्त कर रही थीं।

५५. तल्पेषु तूलच्छदवेष्टितेषु, केचिद्धसन्तीपरिभासुरेषु ।
विलासगेहेष्वधिशय्य निन्युर्जाड्यञ्च विस्मेरदृशोपगूढाः ॥

अंगारधानी से गरम किए हुए विलासगृहों में, तूल से आच्छादित शय्याओं पर, अपने पत्नियों के आलिंगनपाश में बद्ध होकर कुछ युवकों ने ठंड को विताया।

५६. वभूव तस्मिन् समये कुचोष्णरुचां यदुष्मैव तुषारहृत्यै ।
सदोन्नता एव विपत्तिहृत्यै, भवन्ति सेव्या हि त एव जाड्ये ॥

उस शीतकाल में स्तनों की उष्ण-रश्मियों की ऊष्मा ही शीत-निवारण करने वाली थी। क्योंकि सदा उन्नत रहने वाले ही विपत्ति का हरण करते हैं। अतः जडता (शीतकाल या विपत्ति) के समय उनकी ही उपासना करनी चाहिए।

५७. स वामनेत्राकुचघर्मनीतोत्कण्ठोयमाकण्ठनिपीतकामः ।
वासालयान्तर्विशदांशुवासास्तुषारगर्वं शमयाम्वभूव ॥

उज्ज्वल वस्त्रधारी महाराज भरत ने स्त्रियों के स्तनों की ऊष्मा से उत्कंठित होकर आकण्ठ काम का निपान कर, अपने शयनगृह में तुषार के गर्व को शान्त किया।

५८. इत्थं स सर्वर्तुविलासलास्यविलोललीलः कलयाञ्चकार ।
सुरान् विमानैर्व्रजतोन्तरिक्षे, चित्रातिरेकाञ्चितयाऽय दृष्ट्या ॥

---

१. अवश्यायः—तुषार (अवश्यायस्तु तुहिनं—अभि० ४।१३८)
२. कृशानुध्वजः—धूआं (अभि० ४।१६४)
३. मदनम्—मोम।
४. जराभीरुः—कामदेव (मदनो जराभीरुरनङ्गः—अभि० २।१४१)

इस प्रकार समस्त ऋतुओं के योग्य विलास-नाट्यों में लीलारत महाराज भरत ने आकाशमार्ग में विमानों द्वारा विचरण करने वाले देवताओं को अत्यन्त आश्चर्यचकित दृष्टियुक्त बना दिया।

५९. सुरा ! भवन्तः क्वचिदप्यपन्तः, कथं त्वरन्तां जगतीभुजेति ।
पृष्टास्तमाचख्युरुदात्तवाचो, निदानमभ्यागमनस्य तेऽदः ॥

महाराज भरत ने देवताओं से पूछा—'आप इतनी त्वरा से कहां जा रहे हैं ?' तब देवताओं ने उदात्त वाणी में अपने-अपने अभ्यागमन का यह कारण बताया—

६०. राजन् ! भवद्बन्धुरपास्य राज्यं, धृतव्रतो बाहुबलिर्बलाढ्यः ।
संवत्सरं मानगजाधिरूढः, शीतातपादीन्यपि सोढुमैष्ट ॥

'राजन् ! आपके पराक्रमी भाई बाहुबली ने राज्य का त्याग कर व्रत धारण कर लिया है। वे अभिमान के हाथी पर आरूढ होकर एक वर्ष से शीत, आतप आदि कष्टों को सहन कर रहे हैं।

६१. तं केवलज्ञानरमावरीतुकामाऽपि नागच्छति साभिमानम् ।
सर्वाहि नार्यो विजनं प्रियं स्वं, नितान्तमायान्ति किमत्र चित्रम् ?

'केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी बाहुबली का वरण करने की इच्छुक होती हुई भी उनके पास नहीं आ रही है क्योंकि वे अभिमान के साथ रह रहे हैं। सभी स्त्रियां सदा अकेले रहने वाले अपने पति के पास आती हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?'

६२. तं भाववेदी भगवान् विवेद, मानातुरं मानितसर्वसत्त्वः ।
तपः किमर्थं कुरुतेऽयमारात्, स्मयोऽस्य चेत्तर्हि हृदीति तातः ॥

'सर्व प्राणियों द्वारा पूजनीय सर्वज्ञ भगवान् ऋषभ ने देखा कि उनका पुत्र मान से आकुल है। उन्होंने सोचा—'यदि उसके हृदय में गर्व है तो वह पुत्र इतने लम्बे समय से तपस्या क्यों कर रहा है ?'

६३. मत्वा मुनिं तं भगवान् मदाब्धौ, मग्नं सुते स्वे प्रजिघाय साध्व्यौ ।
समागते ते बहलीवनं तन्मूर्त्ते इवार्हत्स्थितिनिर्वृती द्राक् ॥

मुनि बाहुबली को गर्व के समुद्र में डूबा हुआ जानकर भगवान् ऋषभ ने अपनी प्रव्रजित दोनों पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को वहां भेजा। वे दोनों शीघ्र ही बहलीवन में आईं, मानो कि अर्हत् दशा और निर्वृति (शांति)—दोनों मूर्त्त हो गई हों।

६४. गते वदन्त्याविति गाढवाचा[1], गजाधिरोहस्तव यत् स्वभावः।
अत्याजि गार्हस्थ्यमदस्त्वया तद्, व्यहायि बन्धो ! न गजाधिरोहः ॥

उन दोनों ने वहां आकर अतिशय वचनों से यह कहा—'मुने ! हाथी पर आरूढ होने का आपका स्वभाव है। किन्तु आपने गार्हस्थ्य को छोड़ दिया है। किन्तु बंधो ! आपने गज पर चढना नहीं छोड़ा।'

६५. एते तनूजे वृषभध्वजस्य, सत्यंवदे किं वदतो ममेति।
तद्वाचमाचम्य मुनिः स तर्कं, चकार चैनं प्रणिधानमध्ये ॥

उनकी वाणी सुनकर मुनि बाहुबली के समाहित चित्त में यह तर्क उपस्थित हुआ—क्या इस प्रकार कहने वाली ये ऋषभ देव की दोनों पुत्रियां मुझे सच कह रही हैं ?

६६. सत्यं किलैतद् वचनं भगिन्योरारूढवानस्मि मदद्विपेन्द्रम्।
शुभो ममास्त्यत्र ततोऽवतारः, स्थानेऽमिलज्ज्ञानवधूर्न माञ्च ॥

'हां, बहिनों का यह कथन सत्य है। मैं अहंकार रूपी हाथी पर आरूढ हूं। उससे नीचे उतरना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। यह उचित ही है कि केवलज्ञान रूपी वधू मुझे प्राप्त नहीं हुई है।'

६७. इति स्वयं स प्रणिधाय साधुर्नमश्चिकीर्षुर्लघुबन्धुवर्गम्।
चचाल यावत् पदमात्रमेकं, तं केवलश्रीरुदुवाह तावत् ॥

इस प्रकार स्वयं चिन्तन कर मुनि बाहुबली ने अपने छोटे भाइयों को प्रणाम करने के लिए ज्योंहि एक पैर आगे रखा त्योंहि केवलज्ञान रूपी वधू ने उनका वरण कर लिया—वे केवली हो गए।

६८. तत्केवलज्ञानमहं विधातुं, राजन् ! व्रजामो वयमद्य तूर्णम्।
सम्यक्त्वहानिर्मरुतां तदा स्याज्ज्ञानप्रभावो यदि न क्रियेत ॥

'राजन् ! केवलज्ञान-प्राप्ति के उस उत्सव को मनाने के लिए हम आज शीघ्रता से जा रहे हैं। यदि हम देवगण ज्ञान की प्रभावना न करें तो हमारे सम्यक्त्व की हानि होती है।'

६९. सा भारती भारतवासवस्य, सौरी[2] श्रुतेर्गोचरतां गताऽपि।
पुपोष वैराग्यरसं विशेषात्, सतां प्रवृत्तिर्हि सदाभिनन्द्या ॥

---

१. गाढम्—अतिशय (अत्यर्थं गाढमुद्गाढम्—अभि० ६।१४१)
२. सौरी—सुराणामियं (भारती) सौरी।

उस देववाणी को सुनकर भी महाराज भरत का वैराग्यरस विशेष रूप से पुष्ट हुआ। क्योंकि सज्जन व्यक्तियों की प्रवृत्ति सदा अभिनन्दनीय होती है।

७०. धन्याः सदा मे खलु बान्धवास्ते, धन्यः स मे बाहुबलिश्च बन्धुः।
करोमि किं नाग इवोरुपङ्के, मग्नो न मे जन्म विमुक्तयेऽस्ति॥

भरत ने सोचा—मेरे वे सभी बन्धु धन्य हैं। मेरा वह भाई बाहुबली भी धन्य है। विपुल पंक में फंसे हुए हाथी की भांति अब मैं क्या करूं ? मेरा जन्म विमुक्ति के लिए नहीं है।

७१. राजेन्द्रलीला अपि तेन सर्वा, विमेनिरे चेतसि रेणुकल्पाः।
पाठीन[1]मात्मानमजीगणच्च, स शुद्धचेता विषयार्णवान्तः॥

उस शुद्धचेता भरत ने मन में समूची राजलीला को धूली के समान माना और विषय रूपी समुद्र के बीच अपनी आत्मा को एक मत्स्य के रूप में स्वीकार किया।

७२. ता राजदारा नरकस्य कारास्ते सर्वसाराः कलुषस्य धाराः।
शनैः शनैश्चक्रभृताऽथ तेन, प्रपेदिरे बान्धववृत्तवृत्त्या॥

अपने भाईयों द्वारा आचीर्ण वृत्तियों के आधार पर चक्रवर्त्ती भरत ने धीरे-धीरे यह जान लिया कि सभी रानियां नरक के कारागृह के समान हैं और सारा ऐश्वर्य पाप का प्रवाह है।

७३. अन्येद्युरात्मानुचरोपनीतभूषाविधिभूषितभारतश्रीः।
आदर्शगेहे निषसाद भूपः, पराजितस्वर्गधरेन्द्ररूपः॥

एक बार भरत चक्रवर्ती अपने अनुचर द्वारा लाए गए आभूषणों से अपने आपको भूषित कर कांचमहल में बैठे थे। उस समय वे स्वर्ग-निवासी इन्द्र के रूप को भी पराजित करने वाले जैसे लग रहे थे।

७४. वराङ्गनावीजितचामरश्रीर्गीर्वाणहस्ताब्जधृतातपत्रः[2]।
स आत्मदर्शेषु[3] निजं स्वरूपं, विलोकयामास युगादिसूनुः॥

उस समय भरत कांचमहल के दर्पणों में अपना रूप देख रहे थे। वेश्याएं चामर डुला रही थीं और देवताओं के हस्त-कमल में छत्र थे।

---

१. पाठीनः—मत्स्य विशेष (पाठीने चित्रवल्लिकः—अभि० ४।४११)

२. आतपत्रम्—छत्र।

३. आत्मदर्शः—दर्पण (मुकुरात्मदर्शादर्शास्तु दर्पणे—अभि० ३।३४८)

७५. तत्पाणिपद्मान्निपपात चैकं, रत्नाङ्गुलीयं स ततः क्षितीशः।
व्यचिन्तयत् पुद्गलमेतदेव, विभूषणैर्भ्राजति चेतसीति ॥

भरत के हाथ से रत्नजटित अंगूठी नीचे गिर पड़ी तब भरत ने मन में यह सोचा—'यह शरीर पुद्गल है। यह आभूषणों से ही शोभित होता है।'

७६. उपाधितो भ्राजति देह एष, न च स्वभावात् कथमत्र रागः।
तत्खाद्यपेयैः सुखितः प्रकामं, न स्वीभवेज्जीव! विचारयैतत् ॥

'यह शरीर बाह्य उपाधियों (उपकरणों) से भूषित होता है, स्वभाव से नहीं। ऐसी स्थिति में इसके प्रति राग-भाव क्यों किया जाए? इसको खाद्य और पेय से यथेष्ट सुख पहुँचाने पर भी यह अपना 'स्व' नहीं होता। आत्मन्! तू इस पर विचार कर।'

७७. एकान्तविध्वंसितया प्रतीतः, पिण्डोयमस्मादिति कात्र सिद्धिः।
विधीयते चेत् सुकृतं न किञ्चिद्, देहश्च वंशश्च कुलं मृषैतत् ॥

'इसलिए यह शरीर एकान्ततः क्षरणशील है। ऐसी स्थिति में इससे कौन सी सिद्धि प्राप्त होगी? यदि कुछ भी सुकृत नहीं किया जाता है तो यह शरीर, यह वंश और यह कुल—सारे मृषा हैं, निरर्थक हैं।

७८. स भावनाभावितचित्तवृत्तिर्ध्यायन्निति ध्यानहताभ्यसूयः।
त्रिकालवेदी समभूत्तदानीं, किमार्षभीणां चरितेषु चित्रम्?

भावनाओं से भावित चित्तवृत्ति वाले भरत इस प्रकार सोच रहे थे। ध्यानलीनता के कारण उनकी असूया नष्ट हो चुकी थी। वे तत्काल सर्वज्ञ हो गये—तीनों कालों के ज्ञाता हो गये। ऋषभ के पुत्रों के चरित्र में यह आश्चर्य ही क्या है?

७९. जयशब्दविराविभिरेत्य सुरैस्त्रिदिवादथ भारतराज! इति।
बभणेऽधिकपुण्यपरोऽत्रभवान्, गृहिवेषधरोऽपि च केवलभृत् ॥

उस समय देवता स्वर्गलोक से आए और भरत का जय-जयकार करते हुए बोले—'भारतराज! आप अधिक पुण्यशाली हैं कि आप गृहवेश में भी केवली हो गए।'

८०. अतिरिच्य स एव पितुस्त्वमिहोदयवान् किल केवलवान्नृपते!।
कृतवान्न च कष्टमपि प्रवरं, चरणे न परीषहमप्यसहः ॥

'राजन्! आप केवलज्ञान प्राप्त कर अपने पिता से भी अधिक उदयवान् हुए हैं। आपने चरित्र के पालन में भी कोई विशेष कष्ट नहीं किया और न आपने कोई परीषह ही सहा है।'

८१. जगतीत्रितये विदितं चरितं, सततं भवतात्तव भारतराट् !
रतरागपराङ्मुखता हृदि यद्, गृहिवासपदेप्यभवद् भवतः ॥

'भारत के सम्राट् ! आपका यह चरित्र तीनों लोकों में सतत विदित हो कि आपके हृदय में गृहस्थावस्था में भी सब विषयों के प्रति पराङ्मुखता रही है।'

८२. निष्क्रान्तो भरतेश्वरोऽसुरसुरैरित्थं तदा संस्तुतो,
भूपालायुतसंयुतो भवतु नः सर्वार्थसंपत्तये।
सूनुः सूर्ययशा बभार वसुधाभारं तदीयस्ततो,
लक्ष्मीश्चामरहासिनीरनुभवञ्श्वेतातपत्राङ्किताः ॥

असुरों और देवताओं द्वारा इस प्रकार स्तुति प्राप्त करते हुए भरत ने अभिनिष्क्रमण किया। उनके साथ हजारों राजे थे। उनका अभिनिष्क्रमण हमारे सभी प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हो। भरत के ज्येष्ठ पुत्र सूर्ययशा ने श्वेतछत्र पर अंकित तथा देवताओं की संपदा का भी उपहास करने वाली लक्ष्मी का अनुभव करते हुए चक्रवर्ती भरत का राज्यभार संभाला।

८३. पुण्योदयाद् भवति सिद्धिरिहाप्यशेषा,
पुण्योदयात् सकलबन्धुसमागमश्च।
पुण्योदयात् सुकुलजन्मविभूतिलाभः,
पुण्योदयाल्लसति कीर्त्तिरनुत्तराभा ॥

इस संसार में सारी सिद्धियां पुण्योदय से संपन्न होती हैं। पुण्योदय से ही सभी बंधु-बांधवों का समागम होता है। पुण्योदय से ही सुकुल में जन्म और संपत्ति का लाभ होता है तथा पुण्योदय से ही अनुत्तर शोभावाली कीर्ति प्रसृत होती है।

—इति भरतबाहुबलिकेवलोत्पत्तिवर्णनो नाम अष्टादशः सर्गः—

इति श्रीपुण्यकुशलगणिविरचितं
भारतबाहुबलिमहाकाव्यं
समाप्तम्।



परिशिष्टानि

१

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

अ—१६२

आ—५१

इ—७९

ई—४.

उ—२३.

ध—१४.

न—७६.

प—१०४.

य—४६.

र—३६.

ल—८.

व—१०४.

श—४१.

———



सुभाषितानि

प्रथमः सर्गः—

- क्रमं न लुम्पन्ति हि सत्तमाः क्वचित् [१४]
- सकण्टका एव हि दुर्गमा द्रुमाः [१६]
- ...किमसाध्यमुद्भटैः ? [१८]
- ...महौजसां ह्योजसि कोऽपि विस्मयः ? [२१]
- प्रभुः स एवात्र यतो विशेषतः, फलाफलावाप्तिरनुत्तरा भवेत् [३३]
- निशम्य कर्णान्तिकटु प्रियं वचो, वदन्ति वाचा न हि वाग्मिनः क्वचित् [३७]
- न हि त्वरन्ते क्वचिदर्थकारिणः [४०]
- विलम्बनं स्वामिपुरो हिताय नो [४०]
- विवेकवान्न्यायमिवातुलैर्गुणैः [६७]
- क्वचिदपि हि विधिज्ञा नैव लुम्पन्ति मार्गम् [७६]

द्वितीयः सर्गः—

- नृपा महोभिर्ह्यविलङ्घनीयाः [१]
- मुखेन दृष्ट्या च विदन्ति सर्वं, विचक्षणाः स्वान्तगतं हि भावम् [२]
- दूरेऽस्तु धाराधरवारिधारा, सारङ्गमानन्दति गर्जिरेव [४]
- ...पयोदकालः, शतह्रदादर्शनतो हि वेद्यः [६]
- शक्तोऽपि दावाग्निररण्यदाहे, साहाय्यमीहेत समीरणस्य [२१]
- ...नृपाश्चारपुरस्सरा हि [२२]
- ...क्षितिवल्लभा हि, नीतिप्रियाः प्रीतिपरा न चैवम् [२४]
- मलीमसं वारिदवारि भावि, न हि श्रिये किं सरसीवरस्य ? [२८]
- सतां हि वृत्तं सततं प्रवृत्त्यै [२६]
- वज्राहतानां वसुधावराणां, भवेच्छरण्यः किल वारिराशिः [३७]

- स्वर्ण तदेव यद् वह्नौ, विशुद्धं निहतं घनैः [५०]
- हठो हि बलवत्तरः [६८]
- कीर्त्तिप्रिया नृपाः [६६]
- अहंकारो हि दुस्त्यजः [७०]
- स्वामिसंभाविता भृत्या, गच्छन्ति हि परां मुदम् [६७]

चतुर्थः सर्गः —

- समरः शौर्यवतां हि वल्लभः [७]
- अपरीक्षितमेव पूर्वतो, विदुषां वस्त्वनुतापकृद् भवेत् [६]
- जलदो हि कृशानुशान्तये, प्रभविष्णुः शमयेन्नविद्युतम् [१०]
- अधिकः सिन्धुवराद्धि मत्सरी [१६]
- हृदयावनिलब्धसंभवः, प्रणयः सज्जनयोर्न हि (अपचीयते) क्वचित् [१७]
- अगुणानपि नोज्झति स्वकान्, स हि गम्भीरिमसंश्रितः पुमान् [१६]
- ह्यमृतं तिष्ठति नागभीरके [१६]
- स्वयमेव निजं निहत्य योऽनुशयीतैति स निन्दनीयताम्।
  तटशाखिनिपातनाद् रयः, सरितः किं न तटं प्रकाशयेत्? [२०]
- स विभुः किमिहावनेर्मतः, स्वपरौ वेत्ति हिताहितौ न यः? [२१]
- तरसैव न केवलं विभोर्मतिमत्ताधिकवृद्धिमश्नुते [२२]
- कुलकेतुरिहोच्यते स यः, स्वकुलं रक्षति सर्वथापदः [२३]
- अविमृश्य करोति यः क्रियां, बहुधा सोनुशयीत तत्फले [२४]
- शुचये सुरवाहिनीजलं, जगतामस्ति··· [२५]
- न हि बन्धु रवाप्यते पुनर्विधुरे तिष्ठति यो वृतीयितुम् [२७]
- रिपवो हि प्रबला नताः श्रिये [३७]
- इतराद्रिमहोन्नतत्त्वतः, किमु नीचोत्र सुपर्वपर्वतः? [४३]
- धृतये हि प्रणयो द्विपक्षतः [५१]
- प्रणयो यदुपाधिमत्तया, परिहीयेत दिने दिनेऽधिकम् [५४]
- प्रणये कलहो न साम्प्रतं [५६]
- निवसन्नपि विग्रहान्तरे, विकृतो व्याधिरलं गुणाय किम्? [५७]
- नृपतिर्न सखा···[५८]
- ······अभयः श्रियां पदम् [६०]
- अबलोऽपि रिपुर्महीभुजा, हृदये शङ्कुरिवाभिमन्यताम्।
  उदयन्नपि कुञ्जराशनाङ्कुरलेशो न हि किं विहारभित्? [६१]
- घनटंकी भवतीह तन्नृपः [६३]
- विजयेन विगिप्यते नृपः [६४]
- महसैवात्र मणिर्महानपि [६४]

अष्टमः सर्गः—

- सतां स्थितिं केऽप्यवधीरयन्ति ? [१]
- रसावहानां न हि संभवेत् किम् ? [२]
- पापेऽधिके किं सुखमुत्तमानाम् ? [१३]
- तमःक्षितीशे प्रभुतां प्रपन्ने , प्रभुत्वमेतादृशमेव विश्वे [१७]
- प्रीणन्ति यूनो हि रताङ्कितानि , रणे भटस्येव गजाभिघाताः [३८]
- रागी विदूरे स्थितवानदूरे , भवेन्न किं चित्तविनोदकारी ? [५१]
- का वामनेत्रा न जहाति निद्रामुपस्थिते भर्तरि संनिकृष्टम् [५२]
- ······न वैपरीत्यं , जायेत किं राज्यविपर्यये हि [७१]

नवमः सर्गः—

- ···अनङ्गस्य शरास्त्वसह्याः [१४]
- निरन्तरे हि प्रणयातिरेके , हृदालये शल्यति विप्रयोगः [१८]
- किं स्नेहभाजो न तिला विमर्द्यास्तेषां खलः केन च नापि मर्द्यः [२९]
- पुरं वनं पुण्यवतां हि तुल्यम् [५४]
- बलाबलव्यक्तिररिं विना का [५७]
- महौजसामात्मपराऽविमर्शी , न साहसश्रीः समुदेति किञ्चित् ? [५८]
- एकोपि दानार्द्रकपोलभित्तीन् , न हेलया हन्ति हरिर्गजान् किम् ? [५९]
- रवेः पुरः किं न तदीयपादा , भूमीभृदाक्रान्तिनिबद्धकक्षाः ? [६०]
- उत्सङ्गमेते समरोत्सवे हि , किं कातरत्वं विदधाति धीरः ? [६२]
- गुणोद्भवः सर्वविदि···[६६]
- सदोचितः पुण्यवतां यथा स्वः [७५]

दशमः सर्गः—

- ······कोपि विशिष्टवस्तुप्राप्तौ प्रमाद्येन्नु ससंज्ञचित्तः [११]
- अधीश्वराचीर्णमलङ्घनीयं , सेवापरैः कृत्यमिह ह्यशेषम् [१४]
- तीर्थेशनत्यैव हि नम्रभावं , भजन्ति भूपा अपि शुद्धिमत्या [१६]
- दृष्टं श्रुतं वस्तु न विस्मरन्ति , मनस्विनः सर्वविदां हि तुल्याः [३७]
- रसाधिराजं हि विना कुतोऽत्र, सिद्धिर्भविप्यत्यऽनघाऽर्जुनस्य [४०]
- त्यागी न केनाप्यवमाननीयः [४४]
- पृच्छापराणां पुरतो हि वाक्यं , प्रणीयमानं सुभगत्वमेति [५६]
- संसारतापातुरमानवानां , जिनेन्द्रपादा अमृतावहा हि [६०]
- विना शशाङ्कं धृतिमुद्वहेत , नान्यत्र कुत्रापि चकोरशावः [७१]

एकादशः सर्गः—

- भामिनी हि गर्विणी [११]
- ……सुवर्णाद्रिकम्पात् किं कम्पते न भूः ? [१५]
- स्वर्भाणुमुखगं चन्द्रं , पश्यतो धिग् हि तान्जनान् [२०]
- वर्तमानमुखा वीरा , न भवन्ति कदाचन [२१]
- मलये चन्दनारण्ये , सर्वेऽपि क्ष्मारुहा यतः [२६]
- स्त्रीत्वं धैर्यविलोपि हि [३१]
- प्राणैरपि यशश्चेयं [३४]
- प्रशस्या हि यशोधनाः [३४]
- अस्थाने ह्यमृतं विषम् [३५]
- चिन्त्या हितविदोऽमात्याः , कार्यारम्भे हि राजभिः [५३]
- प्रबलेन सह स्वामिन् !, विधेया न विरोधिता [५५]
- अर्कतूलानि तिष्ठेयुश्चेत् तर्हि किं विभुर्मरुत् ? [५६]
- राहोरेव पराभूतिर्विद्यते हि त्रयीतनोः [६५]
- उदयादेव तीक्ष्णांशोः , करा धार्या न केनचित् [८६]

द्वादशः सर्गः—

- ……निदेशे ह्युपस्थिते गौरवमाचरन्ति [१]
- कूलंकषाणां हि कषन्ति कूलं , लहर्य एवाम्बुधरप्रवृद्धाः [३]
- विना प्रवीरान् न जयन्ति भूपाः [४]
- यतो धुरं वोढुमलं महोक्षाः [४]
- वनैर्द्रुमाणामिव सानुमन्तो , भवन्ति विद्वेषिधराधिराजैः [६]
- अम्भोधराम्भोभरपूरपूर्णानुगा भवेयुर्हि नदीप्रवाहाः [७]
- जयावहा वीरभुजा हि नान्यत् [१३]
- असाध्याः सुसाध्या रिपवो हि शक्तैः [१५]
- ……अनलस्य , जलेन शान्तिर्हि न वाडवाग्नेः [३२]
- वातो द्रुपातान्न हि शैलपाती [३३]
- उत्पाटितानेकशिलोच्चयस्य , युगान्तवातस्य पुरो द्रुमाः किम् ? [३६]
- को भारभृन्नागपतेः पुरस्तात् ? [३७]
- कुण्ठीभवेत् किं हरिहस्तमुक्तदम्भोलिधारा गिरिपक्षहत्यै [३८]
- करी प्रभुः किं व्रततीहृते न [४०]
- कः पौरुषाद् रोपयते कृतान्तम् [४१]
- देदीप्यमाने किल दीपधाम्नि , स्वयं पतङ्गो विजुहोति देहम् [४३]
- कलिन्दकन्या ह्यपि जह्नुकन्या , व्यक्तिर्हि नीरेण भवेत् प्रयागे [४४]
- बुभुक्षिते वा हितभोजनाय , प्रधावति स्वैरमतो रणाग्रम् [५४]

त्रयोदशः सर्गः—

- सुता इवाम्बां समिते प्रयोजने , स्मरन्ति चार्चन्ति हि नाकवासिनः [५]
- ···न हेया सहचारिधीरता [११]
- जयः कलौ धैर्यवतां हि संभवेत् [११]
- रणप्रवृत्तिर्हृदयङ्गमा यतो , भवेद् दविष्ठैव न चात्मवर्तिनी [१२]
- ······प्रौढिमतां हि सिद्धयः [१४]
- प्रदीप एकोऽपि तमो न हन्ति किं , घनाञ्जनाभं वसतेः समन्ततः ? [१५]
- युधि प्रवीराः किमु पैत्रिकं कुलं , मनागपीह त्रपयन्ति भङ्गतः ? [१६]
- महत्तरस्यापि घटस्य सस्थितिर्भवेल्लघोरश्मन एव निश्चयात् [१८]
- युदुद्वहा वैरिबलापनोदिनः , स एव तातो जगतीह कीर्तिमान् [२४]
- ···आत्मभुवः पितुर्मुदे [२६]
- नृपाः प्रसीदन्ति दृशैव नो गिरा [२९]
- विदुर्दृशं येऽत्र त एव वाग्मिनः [२९]
- य एव नासीरतया प्रवर्तते , स एव धुर्यो भवति प्रयोजने [३०]
- महान्धकारे रजनीमुखे जनाः , करे सदीपे न मुदं वहन्ति के ? [३१]
- तमिस्रकास्तूरिकयक्षकर्दमक्षयात् मृगाक्षी न रते हि तुष्यति [३७]
- रुचिर्हि भिन्ना मनसो जगत्त्रये [३६]
- ······रतये निशा न तत् [३९]
- प्रवृत्तिरिष्टं हि मनोविनोदकृत्[४२]
- वधूवियोगे विधुरीभवेन्न कः ? [४५]
- किमत्र सत्यन्यतरावलोकिनी ? [४६]
  ···ह्यर्तिकरः परागमः [५०]
- उदित्वरे भास्वति संभवेत्तरां, कियच्चिरं क्षोणिप ! कश्मला स्थितिः ? [५२]
- मृगारयो जाग्रति किं मृगारवैः ? [५५]
- ···सुखी भवेद् स एवात्र हि यो जिनार्चकः [५७]

चतुर्दशः सर्गः—

- ···समानतां प्राप्य रणे विवादे , न कोपि नृत्येद् विजयाभिलाषी ? [२८]
- यत् प्राप्तरूपा मुखरीभवन्ति , पृष्टाः पुनर्मौनजुषोऽन्यथैव [३७]
- सुधीः कृतज्ञत्वमिव स्वचित्तादनन्यसौजन्यरसोभिरामात् [४७
- तेजस्विनो यल्लघवोऽपि वृद्धाः [५१]
- ······तेजस्विषु किं नु चित्रम् ? [५२]
- यथोत्सवाः पुण्यकृतो निकेतम् [५७]

- विनोदानीयो न दृशापि तिग्मयरीनिवद्वासरगोवनान्तः [५८]
- नाप्रैधि नोभेन यथा विवेकः [६७]

पञ्चदशः सर्गः—

- आत्यनाम्यं हि दुःसहम् [१६]
- ह्यभिप्रायानुगं वपुः [२०]
- किमच्छेद्यं हि दोर्भृताम् [२६]
- नृपाः साक्षात्कृते कृत्ये , प्रत्ययन्ते निजेषु हि [७६]
- हते बलवति क्षत्रे , मुदं को नाम नोद्वहेत् [७७]
- किं हि चित्रं महौजसाम् [८५]
- किं कर्त्तारो न हीदृशाः ? [८६]
- अल्पीयांसोऽपि भूयांसः , सोत्साहा युधि यद् भटाः [६१]
- कालक्षेपो हि भद्रकृत् [६२]
- शुभं नैषां ह्युपेक्षणम् [६७]
- किं पीनः परिहीयते , तोयनाथं तितीर्षता ? [६८]
- कल्पान्तपवनस्याग्रे , कः स्थाणुः स्वर्गिरिं विना ? [१२२]

षोडशः सर्गः—

- बोध एव परमं नयनं हि [१]
- लङ्घ्य एव न हि दैवनिदेशः [२]
- सत्सुतैर्न पिता व्यतिलङ्घ्यः [१३]
- तातता त तनयो हि भिनत्ति [१४]
- सान्धकारपटलेऽञ्जनकेतुस्तत्पुरो भवति नक्तमिहौकः [१५]
- पातकं हि हननस्य चिराय [२०]
- …ह्यघमुशन्ति न सन्तः [३०]
- विग्रहो न कुसुमैरपि कार्यः [३४]
- सैन्धवीयसलिलस्य हि हानिः , का भवेदुपयतो जलराशिम् [४३]
- हीयते खलु गुरोरपि वृद्धया , यत्र तत् किमितरैरवगाह्यम् ? [४४]
- स्वां स्थितिं परिजहाति पयोधिः , किं कदाचन विना क्षयकालम् ? [४७]
- तोष एव सुखदो भुवि…[५५]
- लीलाराक्षसा हि भयदाः पृथुकानाम् [५५]
- वृद्धिमेति विहरन् जलराशौ , संवरः स्वककुलाशनतो हि [५६]
- जीवितुं क इहेच्छति किञ्चित् , कालकूटकवलीकरणेन ? [५७]
- कौतुकी न हि विलोकयिता कः ? [६३]
- किंकरैस्तु नृपतिर्युधि रक्ष्यः [६६]

- दैन्युजुक् प्रभुमृतेः किल सैन्यम् [६६]
- वात्यया हि निपतन्ति फलानि [७४]

सप्तदशः सर्गः—

- प्रस्तावे समयति यः स हि स्वकीयः [१२]
- यावन्नो भवतितरां शरीरभङ्गः, किं वीरैर्युधि विजयोऽत्र तावदाप्यः [३५]
- शैलोर्वीरुहदलने गजस्य साम्यं, कुत्रापि प्रभवति किं धराधिराज ! [४६]
- कः स्थातुं त्रिदशगिरिं विना विभूष्णुः, कल्पाब्धेः किल पुरतो विलोलवीचेः ? [५०]
- हन्तव्यः परमवनीकृते न बन्धुः [५६]
- उष्णत्वं व्रजति हि वह्निसंप्रयोगात्, पाथोऽपि प्रकटतया स्वभावशीतम् [६७]
- श्रेष्ठानां क्षयकरणं भवेद् विरुद्धम् [६८]
- न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन [७१]

अष्टादशः सर्गः—

- प्रियापराभूतिररुंतुदा हि [१०]
- द्वयोः कियत्येकपदे स्थितिर्हि ? [१६]
- न कारणात् कार्यमुपैति हानिम् [२२]
- बलावहः सर्वत एव पुंसां, संभावनीयः समयो यदेकः [२७]
- स्ववर्गकार्श्यं हि करोति कार्श्यम् [२८]
- सद्युक्तयोर्थिन्य इवापजाड्ये, लक्ष्मीवतां लक्ष्म्य इवाल्पदैवे [२९]
- वर्षासु हर्म्यस्थितिरेव धृत्यै [४१]
- ध्रियेत भूपा हि सुखाय नित्यम् [४६]
- सुखाय हि स्याद् धनिनां हिमर्तुः [५२]
- सदोन्नता एव विपत्तिहृत्यै, भवन्ति सेव्या हि त एव जाड्ये [५६]
- सर्वा हि नार्यो विजनं प्रियं स्वं, नितान्तमायान्ति किमत्र चित्रम् ? [६१]
- सतां प्रवृत्तिर्हि सदाभिनन्द्या [६६]

३

पञ्जिका

प्रथमः सर्गः—

१. ॥ ऐं नमः ॥ अथेति षट्खंडविजयमाधाय स्वपुर्य्यागमनानन्तरे, आर्षभिर्भरतः *तक्षशिलामहीभुजे—बाहुबलये, दूतं प्रजिघाय—प्राहिणोत्।* कथंभूतो भरतः ? स्वपुरीं उपागतः—निजनगरीं आगतः। पुनः कथं० ? भारतभूभुजां—भरतक्षेत्रवर्त्तिराज्ञां, बलात्—हठात्, हृतातपत्रो—गृहीतछत्रः। किं वि० दूतं ? वाग्मिनं—वाचोयुक्तिपटुं, सुषेणनामानमिति शेषः। किं० बाहुबलये ? ततौजसे—विस्तीर्णबलाय, किं कृत्वा ? विमृश्य—विचार्य्य, सचिवैः सहेति शेषः।

२. ततः स०। स दूतः ततो—भरतदेशात्, रिपोः—बाहुबलेः, विषयांतरं—देशान्तरालं, गतः—प्राप्तः सन्, विस्मयं दधौ—धरतिस्म। क इव ? वपुष्मान् इव—यथा कश्चित् प्राणी विषयांतरं गतो विस्मयं दधाति। अन्ये विषयाः शब्दादय इति विषयान्तरं। हि—यतः, रसांतरं—पृथिव्यंतरं गच्छत एव पुरुषस्य अनेकधा भावविलोकनात्—बहुधा वस्तुदर्शनात्, विस्मयो भवेत्—आश्चर्यं स्यात्। प्राणिपक्षे—अन्ये रसाः शृंगारादय इति रसान्तरं। तत्र गच्छत एव प्राणिनो बहुधाभिप्रायनिरीक्षणात् विस्मयः स्यात्। भवोभिप्रायवस्तुनोरिति।

३. प्रताप०। स दूतः इति वादिनः—एवं ब्रुवाणान् लोकान्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, अधिकं यथा स्यात् तथा विसिष्मिये—विस्मितः, इह—अस्मिन् देशे, तीक्ष्णकरः—श्रीसूर्यः, प्रतापभृत्स्वामिबलाभिशंकितः—प्रतापधारिनृपौजसा पराभूतः, करेण—किरणैः, तमोहरो—ध्वान्तहर्त्ता, परं न तापकारी।

४. शरच्छ०। स दूतः धैनुकं—धेनूनां समूहं, वीक्ष्य—दृष्ट्वा, नेत्रे—लोचने, ततान—विस्तारयामास। किं० धै०—शरच्छशांकद्युतिपुंजपांडुरं—शरदिंदुकांतिसमूहोज्ज्वलं, उपमीयते—महीभर्त्तुः—बाहुबलेः, अंगं आश्रितं—मूर्त्त यश इव। पुनः किं० धै० ? गवेन्द्रदूरगं—गवेन्द्राः—गोपालाः, दूरगाः—दूरवर्त्तिनो यस्य

तत् तत् । यशःपक्षे—गवेन्द्रात्—राज्ञः सकाशात् दूरं गच्छतीति तत् । किं कुर्वत् ? पयोमहः—दुग्धतेजो, विगलत्—क्षरत् । यशःपक्षे—विगलत्पयो-क्षरद्दुग्धमिव, महस्तेजो यस्येति तत् तत् ।

५. **स सौर०** । स दूतः क्वचित्—कुत्रचिद् बाहुबलिदेशे, चरंतीः—तृणादनं कुर्वतीः, सौरभेयीः—महिषीरवलोक्य शंकितः—सशंको जातः । किं वि० म० ? असिताः—श्यामाः । उत्प्रेक्षते—यशोभिः सह तनुं—शरीरं, जुह्वतां—भस्मसात्कुर्वाणानां द्विषां, चिताधूमततीरिव । किं कुर्वतीः ? वनान्तरे—अरण्यान्तः, चरंतीः—चलन्तीः ।

६. **ककुद्०** । स दूतः, गवीश्वरोदीरितभूभृदाज्ञया—गोपालकथितराजाज्ञया, निषिद्धयुद्धान्—निवारितकलहान्, ककुद्मतो—महोक्षान्, दुर्द्धरान्, वीक्ष्य चकितो—भीतो, विस्मितश्च—अहो एतस्य माहात्म्यम् । किं कुर्वतः ? क्रुधा—कोपेन, कलिं—संग्रामं, संदधतः—कुर्वाणान् ।

७. **स गन्ध०** । स चरः, क्वचित् प्रदेशे, युवद्वयीः—युवयुवतियुगलानि, निध्याय—विलोक्य, वचोतिगां—वागतीतां, मुदं—हर्षं, बभार—धरतिस्म । किं कुर्वतीः युवद्वयीः ? गंधधूलीमृगसंश्रिताः—कस्तूरिकामृगसेविताः, शिलाः, निविश्य—स्थित्वा, वासांसि—वस्त्राणि, सुगंधीनि—सद्गंधवंति, वितन्वतीः—निर्मापयन्तीः ।

८. **मुदं०** । तेन दूतेन मही प्रियेव फलावहा—सफला, व्यलोकि—दृष्टा । किं कुर्वाणा ? निजेशितुः—स्वस्वामिनो, मुदं—हर्षं, ददाना—ददती । किं विशिष्टा ? अनवलोकितेतरप्रभुः—अदृष्टान्यभर्तृका, पुनः किं वि० ? प्रभूतांकुरराजिराजिनी—बहुलाङ्कुरश्रेणिशोभिनी । कथंभूता प्रिया ? रोमांचवती ।

९. **नृफल्गु०** । स दूतो दिनात्यये—संध्यासमये, इतीरिणः—एवं वादकान्, मर्त्यान्—मनुजान्, विलोक्य, मुमुदे—जहर्ष । इतीति किं ? अस्य धान्यस्य, सदैव—निरंतरं, क्षितीश्वराज्ञा—बाहुबलिनृपाज्ञा, पालिनी—रक्षका वर्त्तते एव । किं वि० मर्त्यान् ? गेहं चलितान्—गृहगतान् । किं कृत्वा ? खलेषु सस्यं—धान्यं, परिहाय—मुक्त्वा । किं विशिष्टं सस्यं ? नृफल्गु—आरक्षकजनरहितं, पुनः किं विशिष्टं ? निस्तुषं—तुषरहितं ।

१०. **स निर्वृति०** । स दूतः निर्वृतिक्षेत्रं—वृत्तिरहितं केदारं, उदीक्ष्य—दृष्ट्वा, दूरतो—दूरात्, स निर्वृतिक्षेत्रविलाससस्पृहः—सौख्यकलत्रक्रीडनमाकांक्षो बभूव । हि—यतः, सर्वो—लोको, विशिष्टवस्तुनि—प्रधानपदार्थे, ईक्षिते—दृष्टे सति, सरागं—रागिणं, जनं क्षणात् स्मरेत्—चिंतयेत् ।

तत् तत्। यशःपक्षे—गवेन्द्रात्—राज्ञः सकाशात् दूरं गच्छतीति तत्। किं कुर्वत्? पयोमहः—दुग्धतेजो, विगलत्—क्षरत्। यशःपक्षे—विगलत्पयो-क्षरद्दुग्धमिव, महस्तेजो यस्येति तत् तत्।

५. स सौर०। स दूतः क्वचित्—कुत्रचिद् बाहुबलिदेशे, चरंतीः—तृणादनं कुर्वतीः, सौरभेयीः—महिषीरवलोक्य शंकितः—सशंको जातः। किं वि० म०? असिताः—श्यामाः। उत्प्रेक्षते—यशोभिः सह तनुं—शरीरं, जुह्वतां—भस्मसात्कुर्वाणानां द्विषां, चिताधूमततीरिव। किं कुर्वतीः? वनान्तरे—अरण्यान्तः, चरंतीः—चलन्तीः।

६. ककुद्०। स दूतः, गवीश्वरोदीरितभूभृदाज्ञया—गोपालकथितराजाज्ञया, निषिद्धयुद्धान्—निवारितकलहान्, ककुद्मतो—महोक्षान्, दुर्द्धरान्, वीक्ष्य चकितो—भीतो, विस्मितश्च—अहो एतस्य माहात्म्यम्। किं कुर्वतः? क्रुधा—कोपेन, कलिं—संग्रामं, संदधतः—कुर्वाणान्।

७. स गन्ध०। स चरः, क्वचित् प्रदेशे, युवद्वयीः—युवयुवतियुगलानि, निध्याय—विलोक्य, वचोतिगां—वागतीतां, मुदं—हर्षं, बभार—धरतिस्म। किं कुर्वतीः युवद्वयीः? गंधधूलीमृगसंश्रिताः—कस्तूरिकामृगसेविताः, शिलाः, निविश्य—स्थित्वा, वासांसि—वस्त्राणि, सुगंधीनि—सद्गंधवंति, वितन्वतीः—निर्मापयन्तीः।

८. मुदं०। तेन दूतेन मही प्रियेव फलावहा—सफला, व्यलोकि—दृष्टा। किं कुर्वाणा? निजेशितुः—स्वस्वामिनो, मुदं—हर्षं, ददाना—ददती। किं विशिष्टा? अनवलोकितेतरप्रभुः—अदृष्टान्यभर्तृका, पुनः किं वि०? प्रभूतांकुरराजिराजिनी—बहुलाङ्कुरश्रेणिशोभिनी। कथंभूता प्रिया? रोमांचवती।

९. नृफल्गु०। स दूतो दिनात्यये—संध्यासमये, इतीरिणः—एवं वादकान्, मर्त्यान्—मनुजान्, विलोक्य, मुमुदे—जहर्ष। इतीति किं? अस्य धान्यस्य, सदैव—निरंतरं, क्षितीश्वराज्ञा—बाहुबलिनृपाज्ञा, पालिनी—रक्षका वर्त्तते एव। किं वि० मर्त्यान्? गेहं चलितान्—गृहगतान्। किं कृत्वा? खलेषु सस्यं—धान्यं, परिहाय—मुक्त्वा। किं विशिष्टं सस्यं? नृफल्गु—आरक्षकजनरहितं, पुनः किं विशिष्टं? निस्तुषं—तुषरहितं।

१०. स निर्वृति०। स दूतः निर्वृतिक्षेत्रं—वृत्तिरहितं केदारं, उदीक्ष्य—दृष्ट्वा, दूरतो—दूरात्, स निर्वृतिक्षेत्रविलाससस्पृहः—सौख्यकलत्रक्रीडनमाकांक्षी बभूव। हि—यतः, सर्वो—लोको, विशिष्टवस्तुनि—प्रधानपदार्थे, ईक्षिते—दृष्टे सति, रागिणं—रागिणं, जनं क्षणात् स्मरेत्—चिंतयेत्।

११. स वेप० । तु–पुनः, स दूतः, सरसीजले–तटाकोदके, वेपमानं–कंपमानं, विधुं–चन्द्रं, विलोक्य, मुहुः–असकृत्, इतिवादिनीः–एवं ब्रुवाणाः; कांताः–नारीर्व्यलोकत–पश्यतिस्म । इतीति किं ? हे शशांक ! त्वं राजा असि–भवसि । हे चन्द्र ! त्वं प्रभोर्बलात् मा बिभेपि–मा कंपस्व । नः–अस्माकं, प्रभुः–स्वामी, सकृपः–सदयोस्ति, अपराधं विना न हंतीति चतुर्भंगोन्वयः । राजा तु पार्थिवे निशाकरे प्रभौ शक्रे–इत्यनेकार्थसंग्रहे ।

१२. क्वचित्० । स दूतः क्वचित्–प्रदेशे, मृगीयूथं वीक्ष्य–दृष्ट्वा, इति अतर्कयत्–एवं व्यचारयत् । किं विशिष्टं मृगीयूथं ? विस्फाररवेपि–धनुषां टंकारशब्देऽपि, असंभ्रमं–असत्वरं, कथंभूते विस्फाररवे ? कर्णांतिकं–कर्णसमीपं, गतेपि–प्राप्तेऽपि, अत्रापेः पुनरादानं अतीवसमीपत्वज्ञापनार्थं । किं कुर्वत् ? यदृच्छया–स्वेच्छया, अयत्–भ्रमत्, इतीति किं ? आर्षभीणां–आदिदेवपुत्राणां, विषयेषु–देशेषु, शाश्वती कृपा ।

१३. विकस्व० । च–पुनः, तस्य–दूतस्य, सरसी–तटाकः, दयितेव–वल्लभेव, मुदे–हर्षाय, अभवत्–बभूव । कथंभूता सरसी ? विकस्वराम्भोजमुखी–विकच-कमलानना, पुनः क० ? परिस्फुरत्विसारनेत्रा–चलन्मीननयना, पुनः क० ? रथांगनामस्तनराजिनी–चक्रवाकरूपस्तनशालिनी, पुनः ? चलत्तरंगनाभिः ।

१४. श्रमच्छिदे० । समीरणैः–वायुभिः, तस्य–दूतस्य, श्रमच्छिदे–प्रयासच्छेदाय, अभूयत–बभूवे । किं वि० समीरणैः ? विरुद्धपुष्पवल्लताप्रसक्तैः–विरुद्धा व्यभिचारादिना, पुष्पवती–रजस्वला, एतादृशी लता, तत्र प्रसक्तैः–प्रसंगवद्भिः । पक्षे–विरुद्धा–विभिः–पक्षिभिः, रुद्धा–व्याप्ता, पुष्पवत्–कुसुमवत् । पुनः किं वि० ? श्रितसारिणीजलैः । पुनः किं वि० ? अवेगचरैः–मंदैः । हि–यतः, सत्तमाः–उत्तमाः, क्वचित् क्रमं–परिपाटीं न लुंपंति–नोल्लंघयंति ।

१५. प्रफुल्ल० । अमुष्य–तस्य दूतस्य, वनं, प्रफुल्लकिंकेल्लिनवीनपल्लवैः–विकस्वराशोकनूतनप्रवालैः सायंतनवारिदभ्रमं–सांध्यमेघभ्रमं, आदधे–चक्रे । पुनर्वनं श्यामलताभिरंचितं–व्याप्तं सत् दिनेपि, दोषाभ्रमं–रात्रिभ्रमं आदधे ।

१६. जनाद् बलं० । नरः पथि मार्गद्रुमेषु–वृक्षेषु, भूभृत्सु च–पर्वतेषु च, बाहुबलेर्भटैः भुजायुधास्त्रैः–बाहुबाणशस्त्रैः कृत्वा, चिन्हितं–अंकितं, जनाद् बलं परिपीय–आकर्ण्य, कंपितः–भीतः । हि–यतः सकंटका एव द्रुमाः जनैः दुर्गमाः–दुरवगाहाः ।

१७. **भुजद्व०**। जनता–जनसमूहः, तं चरं, भुजद्वयोन्मूलितभूरुहावलिं–बाहुद्वयोत्पाटितवृक्षावलिं, निभाल्य–दृष्ट्वा, असौ भूरुहावली किं हस्तिभिराहता–उन्मूलिता–इति वदन्तं तं चरं ऊचे–कथितवतीति, हे चर! नो– अस्माकं, भटैः असौ वृक्षावली, अरातिकांक्षितैः–वैरिवाञ्छितैः साकं–सार्द्धं, अभंजि–भग्ना, इति त्रिभंगोन्वयः ।

१८. **सुधारस०**। हे चर ! त्वं मुष्टिभिः हतद्रुमस्कन्धनिपातितानि–हततरुस्कंधेभ्योऽधः-पातितानि, सुधारसस्वादुफलानि–अमृतरसस्वादवंति फलानि, विलोकय–पश्य । किं कृत्वा ? नो–अस्माकं भटैर्वृक्षस्यातीवोत्तुंगत्वात् करानवापानि–हस्तदुः-प्रापानि, विमृश्य–विचार्य, उद्भटैरुद्धतैः किमसाध्यमस्तीति द्विभंगोन्वयः ।

१९. **हतेभ०**। हे दूत ! त्वं इतः–अस्मात् प्रदेशात्, तदुत्खातरदान्–तैर्भटैः उत्खाता–उद्धृताः ये दंतास्तान्, क्षितौ पतितान् इति शेषः, निभालय–विलोकय ये भटाः हतेभकुंभस्थलजन्ममौक्तिकैः–विदारितहस्तिकुंभोत्थमुक्ताफलैः कृत्वा । इह–अस्मिन् वने, प्रियावक्षसि हारं आदधुः–चक्रुः । उत्प्रेक्षते–ओजसां–बलानां, यशोन्यासमिव–कीर्त्यारोपमिव । द्विभंगोन्वयः ।

२०. **इतोपि०**। हे चर ! त्वं इतोपि, दोर्दंडदलीकृतं–भुजदंडकर्करीकृतं, घनैः–मुद्गरैः, अभंगुरं–अभंजनशीलं । एतादृशं शिलातलं उद्भटैकदत्तैः वीक्षस्व । किमिव ? विरोधिनां–वैरिणां, वक्षो–हृदयमिव । हि–यतः, अविक्रमैः–निर्बलैरिदं अभेद्यं–अविदार्य्यं, अच्छेद्यं–अद्विधाकार्य्यं ।

२१. **शरैरना०**। हे चर !, नो–अस्माकं, धनुर्धरैः शरैर्विद्धं–विदारितं, इमं द्रुमावलिस्कंधं त्वं पश्य । कथंभूतैः शरैः ? अनावृत्तमुखैः–अवालिताननैः, पुनः कथंभूतैः ? मनोतिगैः–मनसातिचरितैः, कथंभूतैः धनुर्धरैः ? अनन्यविक्रमैः । हि–यतः, महौजसां–अधिकबलानां, ओजसि–पराक्रमे, कोऽपि विस्मयः ? न कोपीति शेषः ।

२२. **सलील०**। हे दूत ! त्वं इति–उच्यमानं, अनेकधा–बहुधा, भटानां–वीराणां, बलं दृष्टिगोचरं–अक्षिविषयं कुरु । इतीति किं ? महाबलैः–बलाधिकैः वीरैः, करैः–हस्तैः, सलीनं यथा स्यात् तथा उत्पाट्य गिरिर्गजेन्द्रवत् इतस्ततो–नीतः–प्रापितः । कैः क इव ? गजैः अनोकह इव सलीलमुत्पाट्य इतस्ततः नीयते । इति त्रिभंगोन्वयः ।

पविप्रथाहताः–यद्भुजदंडवज्रप्रभात्रासिताः, महीभृतो–राजानः पर्वताश्च, हि–निश्चितं, सागरमाश्रयन्ति। इति द्विभंगोन्वयः।

२४. **अमुष्य०**। हे दूत ! अमुष्य–बाहुबलेः, नामापि, विरोधिनां–वैरिणां, मूर्धनि–मस्तके, निःप्रतिक्रियं–प्रतीकाररहितं, शूलकृत्–शूलरोगकारि बभूव। वा निःप्रतिक्रियमिति क्रियाविशेषणं। हे दूत ! नो–अस्माकं, प्रभोः–स्वामिनः, प्रणिपाततः–प्रणामतः, परं–अन्यत्, रसायनं–औषधं, तस्य विरोधिमस्तकस्य अखिले महीतले नास्ति। इति द्विभंगोन्वयः।

२५. **भुजंग०**। हे दूत ! नागराट्–शेषनागः, नो–अस्माकं, नृपं एत्य–आगत्य, इति जगाद–अकथयत्। इतीति किं ? हे राजन् ! मया भवान् रसासहस्रैः–जिह्वादशशतैः, उपगीयते–स्तूयते। किं कुर्वन्तं नृपं ? भुजंगराजं–नागाधिपं, वसुधैकधूर्वहं–धरित्र्येकभारधरं, भुजस्य–बाहोः, दायादं–स्पर्द्धकं, अवेक्ष्य–विचार्य्य, प्रयातं–प्रयाणं कुर्वाणं। अत्र द्विभंगोन्वयः।

२६. **अमुष्य०**। अमुष्य–राज्ञः, सैन्याश्वखुरोद्धतं–कटकतुरगखुरोड्डीनं, रजो–रेणुः, द्विजानां पतिं–चन्द्रं, सकलंकं–सलाञ्छनं, आधित–चकार, आरातिमनोपि–शत्रुचित्तमपि, अहर्निशं सकंपं चकार। नदीनां वरं–समुद्रमपि, पंकिलं–कर्दमाढ्यं चकार। किलेति श्रूयते।

२७. **स्वतात०**। हे दूत ! वयं हृदा–मनसा, एवं–अमुना प्रकारेण, परितर्कयामहे–विचारयामः। एवमिति किं ? महेन्द्रमुष्ट्या–बाहुबलिमुष्टिना, अयं सुमेरुगिरिः चूर्णतां न गमितः–क्षोदत्वं न प्रापितः। किं विशिष्टः सुमेरुः ? स्वतातजन्मोत्सववारिणार्चितः–श्रीआदिदेवजन्माभिषेकजलेनार्चितः। किं विशिष्टया महेन्द्रमुष्ट्या ? शतकोट्यहीनया–वज्राधिकया। अत्र द्विभंगोन्वयः।

२८. **जगत्त्र०**। च–पुनः, जगत्त्रयी–त्रैलोक्यं, यस्य–बाहुबलेः, कीर्त्तिमल्लिकां–यशोमालतीं, शिरसा–मस्तकेन, अजस्रं–निरंतरं, विकाशिनीं–विकस्वरां, वा विराजिनीं, दधाति–धारयति। स एक वीरो भुवनत्रये अफलं–फलरहितं, धनुः–चापं, न हि बिभर्त्ति–न धरति। क इव ? कंदर्प इव। यथा कंदर्पः अफलं धनुर्न बिभर्त्ति। इति त्रिभंगोन्वयः।

२९. **महाप्र०**। हे दूत। द्विषद्वलैकताम्रं, अमुष्य–बाहुबलेः, तेजः कनकं भवति, कैः ? अनूनैः–अहीनैः, अमलप्रभाभरैः। कुतः ? रसेन्द्रयोगतः–पारदसंयोगात्। पक्षे–रसेन्द्राः–राजानः, तेषां योगः–उपायस्ततः। कथंभूतं द्विषद्वलैकताम्रं ? महाप्रतापानलतापितं–गुरुतेजोवह्निसंतप्तम्।

३०. **न सांयु०।** हे दूत। तु—पुनः, असौ वाहुवलिरहर्निशं एवं विचिन्तयति। एवमिति किं ? आहवे—संग्रामे, मम सांयुगीनो—ममाग्रे रणाय साधुतया स्थाता न कश्चिदस्ति। अतः क्षितीशो—वाहुवलिः, समागतं रणं क्षणीकृत्य—उत्सवीकृत्य मनुते। किं विशिष्टः क्षितीशः ? महाभटैर्वृतः—संयुक्तः। इति त्रिभंगोन्वयः ?

३१. **अयं वि०।** हे दूत ! अयं राजा, विपक्षान्—शत्रून्, नु इति वितर्के, तृणवन् मन्यते, तु—पुनः विपक्षैरयं नृपो गिरिः—पर्वतात् अतिरिच्यते। अयं नृपो रिपुसंचयं—वैरिसमूहं, धुनीते—कंपयते। अयं नृपः कैश्चिद् वैरिभिः सुरशैलवत्—मेरुगिरिवन् न धुतो—न कंपितः। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३२. **अनेन०।** हे दूत ! यदा अनेन राज्ञा—वाहुवलिना, रजनीमणीयितं—चंद्रायितं, किल इति संभाव्यते, तदा—तस्मिन् समये, अन्यभूपैः—इतरराजभिः, तारकायितं नक्षत्रवदाचरितं। अतः कारणात् नृपैः अस्य वाहुवलेर्निदेशः—आज्ञा, न लङ्घ्यते—नातिक्रम्यते। तु—पुनः अयं राजा कस्यचिद् अन्यभूपस्य निदेशं—आज्ञां, न दधातीति चतुर्भंगोन्वयः।

३३. **विधेरि०।** हे दूत ! अस्माद्—वाहुवलेः सकाशात्, अहितैः—शत्रुभिः, हितैः—मित्रैः पुनः फलानि अलभ्यंत—प्राप्यंत। किं विशिष्टैः ? कलिक्रमार्थिभिः—क्लेशांह्रिसमीहकैः, कस्मादिव ? विधेरिव। यथा विधिर्विधातुः सकाशात् फलानि लभते। अत्र प्रभुः स एव स्यात् यतो—यस्मात्, विशेषतोऽनुत्तरः—श्रेष्ठः फलाफलावाप्तिर्भवेद्। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३४. **स किं न०।** हे दूत ! स अत्र—लोके, किन्नरो न विद्यते। च—पुनः, स अत्र मानवो नास्ति। कोपि विद्याधरपुंगवोऽत्र स न वर्त्तते, येन नृपार्षभेः—वाहुवलेर्यशः कर्णेषु न दधे—न धृतं। किं विशिष्टं यशः ? शरच्चंद्रकरातिसुंदरं—शरत्कालीनेन्दुकिरणातिमनोज्ञं। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३५. **गिरं ज०।** तेन-दूतेन, इति—पूर्वोक्तां, जनानां, लोकानां, मानशालिनीं—अहंकारवतीं, गिरं—वाणीं, निशम्य—श्रुत्वा, हृदा—मनसा, व्यतर्क्यत—व्यचार्य्यत। कं विचारं चकारेत्याह—मे—मम, प्रभोः—स्वामिनो भरतस्य, वलिनोऽपि—वलवतोऽपि, वलं—पराक्रमं, महीभृति—वाहुवलौ, वृथा मा स्यात्। कस्येव ? करिणीपतेरिव। यथा करिणीपतेः—हस्तिनो वलं, महीभृति—पर्वते वृथा स्यात्। इति त्रिभंगोन्वयः।

३६. **मदीय०।** अयं—राजा, किल इति संभाव्यते, भटैर्वृतो—वीरैः संयुक्तो, रणेऽसून्—प्राणान्, मोक्ष्यते—त्यक्ष्यति। किं कुर्वन् ? मदीयभूपांबुदतूर्यगर्जित-

ध्वनौ प्रवृत्ते–भरतरूपमेघवाद्यगर्जारवे प्रवर्तिते सति, शरभीभवन्–अष्टापदीभवन्, च–पुनः, अयं अभिमानिनां प्रथमः–मानिनां मुख्यः, स्मयं–गर्वं, न मोक्ष्यते ।

३७. **चरो०** । ततस्तदनन्तरं, चरो–दूतो, हृदा–मनसा, इति–पूर्वोक्तं, विचिन्त्य–विचार्य, एषां जनानां पुरतो–अग्रतः, च–पुनः, किंचिद् नो जगाद–नोक्तवान् । हि–यतः, वाग्मिनः–पंडिताः, कर्णान्तिकटु–श्रवणान्तकटुकं, प्रियं–हृद्यं, वचो–वचनं, निशम्य–आकर्ण्य, क्वचित्–कुत्रापि, वाचा–भाषणेन, न वदंति–न कथयंतीति द्विभंगोन्वयः ॥

३८. **सुगेय०** । मृगाङ्गनाभिः–हरिणस्त्रीभिः, उदग्रकंधरं–उच्चग्रीवं यथा स्यात् तथा, क्वचित्–कुत्रचित् प्रदेशे, स चरो विलोकितः–दृष्टः । किं विशिष्टाभिः मृगाङ्गनाभिः ? सुगेयकृष्टाभिः–शोभनगानाकर्षिताभिः, शालिगोपिभिः–कलमरक्षिकाभिः, स दूतः सविभ्रमं–सविलासं, अपि–पुनः, ईक्षितोऽवलोकितः । किं विशिष्टाभिः शालिगोपिभिः ? विभ्रमवामदृष्टिभिः–कटाक्षाभिरामविलोकनाभिः । अत्र द्विभंगोन्वयः ।

३९. **स राज०** । स दूतः, पुरंध्रिभिः–स्त्रीभिः, तरंगितामोदभरः–कल्लोलितप्रीतिभरोऽनेकशो–बहुशो, ग्रामपुराणि व्यलंघत–अतिक्रामतिस्म । किं विशिष्टाभिः पुरंध्रिभिः ? अनंगभूपतेः–कामभूपस्य, राजधानीभिः–वासनगरीभिः । पुनः किं विशिष्टाभिः ? पूर्वस्य–प्रथमस्य, रसस्य–शृंगाराख्यस्य, केलिसद्मभिः–क्रीडावसतिभिः । पुरंध्रिशब्दस्य ईपागमो वा ।

४०. **चरः पु०** । अयं चरः पुरो–अग्रे, गन्तुं त्वरां–शीघ्रतां, ऐहत–अवांछत् । उत्प्रेक्षते–अंगवान्–मूर्त्तिमान्, महीवरस्य–भरतस्य, उत्साहो–जिगीषाभिलाप इव । अर्थकारिणः–कार्यविधायिनः, क्वचित्–कुत्रापि, पुरुषाः न हि त्वरंते ? अपि तु त्वरंत एव । स्वामिपुरः–प्रभोरग्रे, विलंबनं न हिताय । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

४१. **विलंघि०** । चरः पुरीप्रदेशान्–तक्षशिलोद्देशान्, उपेत्य–आगत्य, दृशोः–नयनयोः, उत्सवं संप्रापयत्–अनीनयत् । किं विशिष्टः चरः ? विलंघिताध्वा–अतिक्रान्तमार्गः, कैः ? कतिचिद्दिनैः । किं विशिष्टान् पुरीप्रदेशान् ? जितनाकविभ्रमान्–जितस्वर्गशोभान्, पुनः किं विशिष्टान् ? सरःसरित्काननसंपदांचितान्–तटाकनदीवनशोभया भूपितान् ।

४२. **पुरी०** । ततस्तदनंतरं, तस्य–भरतदूतस्य, हयैः–अश्वैः, मुदः तरंगिताः–कल्लोलिताः । अयं अन्वयः कलापकेनावसातव्यः । किं कुर्वद्भिः हयैः ?

इति स्मयात्–गर्वात्, विहस्य–परिहासं विधाय, खुरोद्धुतं रजः–क्षुरोड्डापितां धूलिं, क्षिपद्भिः–किरद्भिः, उच्चैः–ऊर्ध्वम् । इतीति किं? इयं पुरी तक्षशिला अनेकशो–बहुशो, हयैः परीता–संयुक्ता । नभः–आकाशं, अंशुमतः–श्रीसूर्यस्य, ये सप्ततुरंगमाः तैरेवांकितं–चिन्हितं । किं विशिष्टैः हयैः? चलतांचितक्रमैः–चापल्यसंयुतचरणैः, नैकत्रावस्थायिभिः ।

४३. **वना०** । तु–पुनः, वनायुदेश्यैः–वनायुदेशसंभवैरश्वैः । किं कुर्वद्भिः? इति–हेतौ, वारिधौ रजः तिरः–तिर्यक्, क्षिपद्भिः–क्षेपं कुर्वाणैः । इतीति किं? अस्माभिर्यद्ययं वारिधी रजोभिः–रेणुभिः, कृत्वा अखिलः–समस्तः, पूर्य्यते–पूर्णीक्रियते, तदा नो–अस्माकं, रयो–वेगः, क्वचिद्–समुद्रादौ, न हि स्खलति । किं विशिष्टैः वनायुदेश्यैः? पवनात्–वायोरतिपतंति–अतिगच्छंतीति–पवनातिपातिनः, तैः ।

४४. **खलू०** । किं विशिष्टैः वनायुदेश्यैः? ससैन्धवैः–सिंधुदेशोद्भवाश्वसहितैः, पुनः किं विशिष्टैः? खलूरिका–हयश्रमभूस्तत्र केलिः–क्रीडा, तस्यां निबद्धा लालसा–अभिलाषा, येषां ते तैः, पुनः किं विशिष्टैः? सादिनोऽश्वारोहस्य, मनसः–मानसात्, अतिगच्छंतीति सादिमनोतिगामिनः, तैः । पुनः किं विशिष्टैः? नितान्तं–अत्यर्थं, अभ्यासवशेन अल्पितोऽल्पीभूतः, क्लमः–परिश्रमो येषां, ते तैः । पुनः किं विशिष्टैः? समुच्छलंतः–स्फुरंतो ये केसरकेशास्तैः राजंते–शोभन्ते इति समुच्छलत्केसरकेशराजिनस्ते ।

४५. **क्रमं वि०** । किं विशिष्टैः? महाभुजैः–दोपमद्भिः, क्रमं–चरणं, अवलंघितुं–अतिक्रमितुं, न कृतप्रयत्नं–न कृतप्रयासं यथा स्यात् तथा परिधारितैः–रक्षितैः, कैरिव? विनीतशिष्यैरिव । यथा विनीतशिष्यैः क्रमं–अनुक्रमं, शेषं तथैव । कथंभूतैः महाभुजैः? अखेदमेदस्विबलैः–अनायासपुष्टपराक्रमैरिति कलापकं व्याख्यातम् ।

४६-४७. **स सिं०** । स दूतः सिन्धुरैः–हस्तिभिः, आनन्दितलोचनः–प्रीतनयनो, ययौ–यातवान् । किं विशिष्टैः सिन्धुरैः? सन्निहिताऽभ्रमुप्रियभ्रमैः–समीपीभूतैरावणभ्रांतिभिः, पुनः किं वि? भ्रमद्भ्रामरवर्द्धितक्रुधैः–संचरत्भ्रमरसमूहप्रौढकोपैः, उत्प्रेक्षते–चलन्नगेन्द्रैरिव–जंगमहिमाचलैरिव । कस्मात्? वारणच्छलात्–गजमिषात् । पुनः कि० ? कपोलपालीविगलन्मदांबुभिः–कपोलप्रान्तक्षरन्मदवारिभिः । पुनः कि० ? पुनः पुनः निजप्रतिच्छायरुषा–स्वप्रतिच्छंदक्रोधेन,

रदद्वयीचिन्हितवप्रभित्तिभिः, किं कुर्वद्भिः ? पथि–मार्गे, व्रजद्भिः–संचरद्भिः, किं विशिष्टे पथि ? निषादिदूरीकृतमानवे । इति युग्मम् ।

४८. **विरोधि०** । ततः–तदनंतरं, अमुना–दूतेन, पदातिवर्गो ददृशे–दृष्टः । कथंभूतः पदातिवर्गः ? शौर्येण–चारभट्येन, उल्लसंतः–उल्ललंतः, आसुरीकचाः–कूर्चकेशाः यस्य, असौ । किं कुर्वन् ? करेण–हस्तेन, असिं–कृपाणं, उद्वहन्–धरन् । किं विशिष्टं असिं ? विरोधिलक्ष्म्याः कवरीं विडंवयतीत्येवंशीलस्तं । उत्प्रेक्षते–जयश्रियः पाणिमिव–हस्तमिव ।

४९. **अयं०** । स दूतः क्वचित्–तत्र पुरीपरिसरे, धनुर्वाणधरं भटोच्चयं वीक्ष्य एवं अतर्कयत्–व्यचारयत् । एवमिति किं० ? अयं अंगवान्–मूर्तिमान् रसो वीर इव । वा–अथवा, रतीश्वरः–कामः, स्वयं–आत्मना, किमिहागतः ?

५०-५१. **नियंतु०** । स दूतो नगरीमवाप प्राप्तवान्–किं विशिष्टः ? सकौतुकाकूत-विलोलमानसः–सकुतूहलाभिप्रायचपलमनाः । पुनः किं विशिष्टः ? प्रहृष्ट-दृष्टिः–प्रमुदितनयनः । कैः ? रथैः । किं कुर्वद्भिः ? जीर्णपद्धतिं–पुराण-मार्गं, अलंघयद्भिः–अनतिक्रामद्भिः । कस्य ? नियंतुः–सारथेः । कैरिव ? विनेयैः–शिष्यैरिव । किं कुर्वद्भिर्विनेयैः ? गुरोः वृद्धपंक्तिमलंघयद्भिः, किं विशिष्टैः रथैः ? आनेमि–आचक्रधारं, विवृत्तिः–परावृतिश्चंक्रमणं, तेन हारिभिः–मनोज्ञैः । विनेयपक्षे–आनेमि–आमर्यादं, विवृत्तिः–विशिष्टवर्त्तनं, हरंति–गृह्णंतीत्येवंशीलास्तैः । पुनः किं विशिष्टैः ? हृदयानुगामिभिः–मनोनुगैः, पुनः किं विशिष्टैः ? सदा कुलीनैः–वसुधासक्तैः । विनेयपक्षे–कुलीनैः–कुलोद्भवैः । पुनः किं विशिष्टैः ? युग्यवाहिभिः–युगैरुह्यन्ते इत्येवंशीलास्तैः । पुनः किं विशिष्टैः ? रथांगध्वनिवंधवधुरैः–चक्रनादवंधमनोज्ञैः । उपमीयते–चलद्भिरावासवरैरिव–गृहश्रेष्ठैरिव । पुनः किं विशिष्टैः ? उरुभिः–विशालैरिति युग्मम् ।

५२. **चरः०** । चरः पुरोऽग्रे, पयोभृतां–वारिपूर्णां, पूःपरिखां–नगरीखातिकां, विलोक्य इत्यचिंतयत् । इतीति किं ? वाहुवलिं निषेवितुं–उपासितुं, अयं स्वयं पाथोधिः–समुद्रः, किमत्रागतः ? किं कर्त्तुं ? वलान्निजां श्रियं–रमां, रक्षितुं, इति द्विभंगोन्वयः ।

५३. **चरः सर०** । तु–पुनः, चरः सरत्नस्फटिकाश्मभित्तिकं–मणिखचितस्फटिको-पलकुड्डि वप्रं विलोक्य, इमं–उच्यमानं, ऊहं–वितर्कं, आतनोत्–व्यधात् । पुरा–नगर्यां, आत्मनः–स्वस्य, श्रियं–शोभां, वीक्षितुं–द्रष्टुं, अयं वप्रः

आदर्शवरो—दर्पणश्रेष्ठः, क्षितौ–पृथिव्यां, किं प्रकल्पितो–रचयांचक्रे ? इति द्विभंगोन्वयः ।

५४. **अथो०** । अथो सः रथद्विपाश्वैः–स्यन्दनहस्तिहयैः, संकुलं–आकुलं,पुरीद्वारमवाप्य कथंचिन्–महताकष्टेन, प्रवेशं आसदत्–प्राप्नोतिस्म । क इव ? आवेश इव । यथा आवेशः–संरंभो, योगभृतां–योगिनां, अंतराशयं–अभिप्रायांतरमवाप्य कथंचित् प्रवेशं आसादयति । किं विशिष्टं पुरीद्वारं ? तता–विस्तीर्णा, क्षमा–वसुधा, यत्र तत् । आशयपक्षे––बहुक्षांतिकं । कथंभूतो दूतः ? सविस्मयः ।

५५. **पुरोंत०** । चरः पुरोन्तरं–नगर्य्या मध्यं, प्राप्य–लब्धा, दृशं दातुमपि क्षमः–समर्थो नाभूत् । किं विशिष्टः चरः ? गजाश्वसंघट्टभयात् सवेपथुः–सकम्पः । किं विशिष्टं पुरोन्तरं ? उरु–विस्तीर्णं, पुनः किं वि० ? मुक्ताफलरत्नराजितं । उपमीयते–पयोनिधेस्तटमिव ।

५६. **इहाप०** । तु–पुनः, असौ दूतः चतुष्कं–चतुःपथमागादागच्छतिस्म, किं विशिष्टश्चरः ? इह अस्यां नगर्यां अद्भुतश्रिया मनोरमाभिः–विशिष्ट-लक्ष्म्या मनोज्ञाभिरापणश्रेणिभिः–हट्टपंक्तिभिः, कृतलोचनोत्सवः । किं विशिष्टं चतुष्कं ? बहुवस्तुसंचयस्य प्रपातः–निक्षेपः, तेन दुःप्रापं–दुर्लभं, धरातलं–भूपीठं यस्य, तत् ।

५७. **सुवर्ण०** । स दूतः चतुष्कभूवारवधूं–चतुःपथभूमीवेश्यां, ऐक्षत–पश्यतिस्म । किं विशिष्टां ? सुवर्णकुम्भस्तनशालिनीं–सुवर्णघटरूपकुचमंडितां, पुनः किं विशिष्टां ? स्फुरत्सुवृत्तमुक्ताफलराशिसुस्मितां–दीप्यमानशोभनवर्तुलमुक्ताफल-समूहहासां, पुनः किं विशिष्टां ? विशालनेत्रां–पृथुवस्त्रां । पक्षे–विशालनयनां । पुनः किं ? स्फुटाः विद्रुमा एवाधरा यस्या सा, तां ।

५८. **क्वचित् स०** । सा पूः तस्य चरस्य प्रमोदं–आनन्दं, आतुपत्-पुष्यतिस्म । केव ? ईक्ष्वाकुपुरीव–अयोध्येव, किं विशिष्टा सा पूः ? क्वचित्प्रदेशे, सरामा–सस्त्रीका, अयोध्यापक्षे–सरामचन्द्रा । पुनः किं विशिष्टा ?सलक्ष्मणा–लक्ष्मणाः–धनाढ्यास्तैः सह वर्त्तमाना, अयोध्यापक्षे–ससुमित्रातनया । पुनः किं विशिष्टा ? ससुग्रीवबला–सशोभनशिरोधररूपा, अयोध्यापक्षे–सुग्रीवो–वानरेश्वरस्तस्य बलं–सैन्यं, तेन सह वर्त्तमाना । बलं रूपे स्थामनि स्थौल्यसैन्ययोरित्यनेकार्थे । पुनः किं विशिष्टा । चारवरैरलंकृता–भूषिता । किं विशिष्टैश्चारवरैः ? सुधामभिः–सुतेजोभिः, पक्षे–आचारश्रेष्ठैः वरमंदिरैः ।

५९. **स शंख०।** स दूतः, शंखकुन्देन्दुवलक्षरोचिषः–शंखकुन्देन्दुधवलकांतान्, पुरीविहारान्–नगरीप्रासादान्, अवलोक्य-दृष्ट्वा, अतुच्छसंमर्दं–भूयिष्ठानन्दं, प्रापत्। उत्प्रेक्षते–कर्त्तुः–निपादयितुर्यशश्चयानिव–कीर्त्तिसमूहानिव। किं विशिष्टान् पू०? उद्भवत्क्षणान्–उत्पद्यमानोत्सवान्, पुनः किं वि०? सुधामयान्–लेपमयान्। पक्षे–अमृतमयान्।

६०. **चलन्०।** ततः परं स दूतो राजमार्गं गतवान्–प्राप्तवान्, किं विशिष्टं राजमार्गं? विनिर्मितं–विरचितं, स्वर्णनगावनी–मेरुशैलमही भ्रमं, कैः? चलन्मृगाक्षीनवहेमभूषणप्रकामसंघट्ट–अत्यर्थसंघर्षणैः, पतिष्णुरेणुभिः–पतनशील-रजोभिः।

६१-६३. **अनेक०। क्वचिच्च०। चल०।** ततस्तदनंतरं क्रमाद्–अनुक्रमात्, स चरो नृपद्वारं अवाप–लभतेस्म। किं विशिष्टं नृपद्वारं? निषिद्धसंचारं–निवारित-संचरणं, कैः? *अनेकराजन्यरथाश्ववारणैः–अन्यभूपालसंबंधिस्यंदनहयहस्तिभिः,* कैः किमिव? अवनिरुहैः–तरुभिर्वनायनमिव–वनमार्गमिव। पुनः किं वि०? विश्वजनेक्षणक्षणप्रदं–सर्वजननयनोत्सवदं। पुनः किं वि०? प्रलीनान्मिनोरथं–प्रक्षीणशात्रवाभिलाषं।

पुनः किं? वैडूर्यमणिप्रभाभरैः–नीलरत्नकान्त्यातिशयैः, कृतांबुदभ्रान्तिः–विहितमेघभ्रमः, मनोजविभ्रमं–चारुशोभं, पुनः किं वि०? सपद्मरागांशुभिः–पद्मरागरत्नप्रभासहितैः–वैडूर्यमणिप्रभाभरैरर्पिताशनिभ्रमं–दत्तविद्युद्भ्रमं। पुनः किं? स (शुद्ध) स्फटिकाश्मकांतिभिः–स्फटिकोपलकांतिसहितैः।

चलद्बलाकाभ्रमदं–चलद्बकपंक्तिभ्रान्तिदायिनं, पुनः किं वि०? विद्रुमैः–प्रवालैः सह वर्त्तमानं, अर्जुनं–सुवर्णं, तन्यांशवः–किरणास्तैः दत्तसुरायुधभ्रमं–दत्तेन्द्रधनुर्भ्रान्ति। पुनः किं? वेत्रिभिः–प्रतिहारिभिः, निवारितं स्वैरगमागमं यत्र असौ, तं। इति विशेषकार्थः।

प्रशास्ति–पालयति । किं विशिष्टः श्रीभरतः ? अखण्डषट्खण्डनरेन्द्रमौलिभिः–समग्रभारतराजशिरोभिर्नतक्रमः–वंदितचरणः । इति त्रिभंगोन्वयः ।

६६. ततो नि० । ततस्तदनन्तरं ते–वेत्रिणो, नृपं–बाहुबलिं, समेत्य–आगत्य, च–पुनः, नत्वा–प्रणम्य, वदंतिस्म–अवोचन् । किं विशिष्टाः वेत्रिणः ? निबद्धांजलयः–संयोजितकराः, हे विभो !, युगादेस्तनयस्य–भरतस्य चक्रवर्तिनः चरो–दूतो, अस्माभिर्निवारितो–निषिद्धः, द्वारि विलंबते–प्रतीक्षते, इति द्विभंगोन्वयः ।

६७. नटीकृ० । स धराधिपो–बाहुबलिः, आदेशविधायिवेत्रिभिः–आज्ञाकारिभिर्जनैः चरं प्रवेशयामास । कया ? नटीकृतानेकमहीभुजो भ्रुवः संज्ञया । कः कमिव ? विवेकवान् न्यायमिव । यथा विवेकवान् पुरुषोऽतुलैः–निःसमानैः, गुणैः न्यायं–नयं प्रवेशयति ।

६८. विचित्र० । स–दूतो, नृपालयान्तरं–राजगृहमध्यं, प्रविष्टः–प्राविशत् । किं विशिष्टं नृपालयान्तरं ? विचित्रचित्रं–विविधचित्रं । पुनः किं विशिष्टं ? मणिभिः समाचितं–रत्नैः खचितं, पुनः किं विशिष्टं ? इन्द्रालयतोऽपि–इन्द्रभुवनादपि, विशिष्टं–विशेषवत् । किं विशिष्टात् इन्द्रालयतः ? सच्छ्रियः–प्रधानशोभात् ।

६९. चरः स० । गजात् चित्रार्पितसिंहदर्शनाद् विवृत्तात्–पश्चाद्वलितात्, स चरः क्वचिदपि–कुत्रापि प्रदेशे, अशंकत–सशंकोऽजनि । किं विशिष्टात् ग० ? मदवारिसौरभागतद्विरेफात्–दानांबुसुगंधितायातभ्रमरात्, पुनः किं विशिष्टात् ? विलंघिताधोरणतीव्रयत्नतः–उल्लंघिता आधोरणानां–हस्तिपकानां, कशाः–कुशप्रहारा येन असौ, तस्मात् ।

७०. स इन्द्र० । स अयं दूतः ततस्तदनन्तरं इन्द्रनीलाश्ममयिकमंडपं विलोक्य, मुदां संभारं–हर्षभरं, बभार । किं विशिष्टं मंडपं ? मेघागममेघविभ्रमं–प्रावृट्कालजलदशोभं, पुनः किं विशिष्टं ? गजेन्द्रगर्जारवेण नृत्ताः–नटीभूताः, बर्हिणो–मयूराः, यत्र असौ, तम् ।

७१. ततौजसं० । अथानन्तरं, स चरो वृषभध्वजांगजं–बाहुबलिं, वसुंधरेशं–राजानं, साक्षाच्चकार–प्रत्यक्षीकरोतिस्म । किं विशिष्टं राजानं ? ततौजसं–विस्तीर्णतेजसं, पुनः किं विशिष्टं ? सभासदांवरैः–सभ्यश्रेष्ठैः, विराजितं–शोभितं, कैः कमिव ? ग्रहैस्तीक्ष्णकरमिव–सूर्यमिव, ऋक्षैः–नक्षत्रैः, शशांकं–चन्द्रमिव, सुरैः वासवं–इन्द्रमिव, कलभैः द्विपेन्द्रमिव ।

७२. **ततायo** । पुनः किं विशिष्टं राजानं ? संश्रितश्रियं–आश्रितलक्ष्मीकं, कामिव ? सुधर्मामिव–वासवसभामिव, पुनः किं विशिष्टां सभां ? ततायतां–विस्तीर्णदीर्घां, पुनः किं विशिष्टां ? सर्वतश्चतुरस्रां, समां–अविषमां, उपमीयते–द्यामिव आकाशमिव । पुनः किं विशिष्टं राजानं ? सरत्नचामीकर-भित्तिसंक्रमात्–मणिखचितसुवर्णभित्तिसंक्रांतितो, धृतैकमूर्त्ति–धृतैकशरीरं, बहुमूर्त्तितां गतं–भूरिप्रतिबिंबतां गतं–प्राप्तं ।

७३. **अपूर्वo** । पुनः किं विशिष्टं राजानं ? महामृगेन्द्रासनं–महासिंहासनं, अधिष्ठितं–अध्यासीनं । कमिव ? अपूर्वपूर्वाद्रिं–नवीनोदयाचलं, अधिष्ठातारं अंशुमालिनं–आदित्यमिव, किं कुर्वतं ? उद्दीपितसर्वदिग्मुखैः–उत्तेजित-सर्वाशाननैः, महोभिस्तेजोभिः, दुरालोकं–दुःप्रेक्षं, वपुः–शरीरं, अलं–अत्यर्थं बिभ्रतं–दधानं ।

७४. **मिमानo** । पुनः किं कुर्वाणं ? नृपोपरि–बाहुबलेरुपरिष्टात्, सितातपत्र-च्छलतः–श्वेतछत्रमिषात्, यशः–कीर्तिं, दधानं–धरंतं । किं विशिष्टं यशः ? सुधाब्धिडिंडीरभरानवस्करं–क्षीरांभोधिफेनातिशयशुद्धं । उत्प्रेक्षते–अन्तर्–मध्ये, न मिमानं–न मान्तं, अत एव बहिर्यातिमिव–निर्गतमिव । पुनः किं विशिष्टं यशः ? एकतां–एकीभूतत्वं, गतं–प्राप्तं, कथं ? उच्चकैः–अत्यर्थम् ।

७५. **किमुर्वo** । किं विशिष्टं राजानं ? विलासिनीभिः–वारवधूभिः, उद्वेल्लितं–आन्दोलितं, चामरोभयं–चामरयुगलं, यस्यासौ, तं । किं कुर्वतीभिर्विलासिनीभिः ? इत्यमुं वितर्कं–विचारं, ददतीभिः–अर्पयंतीभिः । इतीति किं ? उर्वशीभिः–स्वर्वेश्याभिः, किमेनं राजानमभ्युपास्तुं–सेवितुं, आगतं । अत्र भावे क्तः । किं विशिष्टाभिः उर्वशीभिः ? सुहृदा–मित्रेण, बलद्विषा–इन्द्रेण, प्रहिताभिः–प्रेषिताभिः ।

७६. **प्रकामo** । किं विशिष्टं राजानं ? प्रकामं–अत्यर्थं, अंसार्पितहारहारिणं–स्कंधालंबितहाररमणीयं, वा प्रकामं–प्रकृष्टाभिलाषं, उपमीयते–सनिर्झरं मेरुशैलमिव । पुनः किं विशिष्टं ? उन्नतप्रथं–उत्तुंगप्रस्थानं, पुनः किं विशिष्टं राजानं ? यशःप्रतापाभ्यां अभिहतौ–तिरस्कृतौ, इन्दुभास्करौ–शशिसूर्यौ, ताभ्यामाश्रितं–सेवितं, कस्मात् ? स्वकर्णार्पितकुंडलच्छलात् ।

७७. **भुजद्वo** । उत्प्रेक्षते–भुजद्वयीवीर्यमिव–भुजयुगलपराक्रममिव, अक्षिगोचरं–दृष्टिविषयं, चकार । अंगिनं–मूर्तिमंतं, महोत्सवमिव । उन्नतं मानं–उच्चमहंकारमिव । इति सप्तकुलकार्थः ।

७८. **स दर्शo** । स–पुनः, क्षोणिपतेः–राज्ञो दर्शनात्, प्रकंपितः सन्, इति अतर्कयत्–वितर्कयामास । इतीति किं ? अहं न राजानं लोचनाभ्यां–नेत्राभ्यामपि,

विलोकितुं–द्रष्टुं, न क्षमे–न समर्थो भवामि, मया स राजा किं–कथं, ईर्यो–वाच्यः। कस्मादिव ? तीव्रतेजसो–दुःसहमहसो, ज्वलत्कृशानोः– यथा ज्वलदग्नेः प्रकंपितः। अथवात्र षष्ठी चिन्त्या। दर्शनेन सह संयोज्या अत्र त्रिभंगोन्वयः।

७९. भरत०। चारु–मनोज्ञं यथा स्यात् तथा भरतनृपतिचारः–प्रथमचक्रिसंदेशहारी, पाणी–हस्तौ, संयोज्य–योजयित्वा, क्षितिपतिं–राजानं, नत्वा विधिवत्–विधिपूर्वं, अवनिनाथस्याग्रतो–बाहुबलेः पुरस्तात्, संनिविष्टः–स्थितः। किं विशिष्टं राजानं ? अत्यंतपुण्योदयाढ्यं–अत्यंतधर्मोदयसंपूर्णं। हि–यतो, विधिज्ञाः क्वचिदपि प्रत्यनीकादावपि मार्गं नैव लुंपंतीति द्विभंगोन्वयः।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
श्रीनाभिक्षितिराजसूनुतनयश्लोकप्रथा पंजिका।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्याऽस्याऽरविंदोद्गता,
सद्वृत्तोल्लसदक्षरार्थकथिनी विश्वावदास्तां चिरम्॥

इति श्री भरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायां भरतदूतागमो नाम प्रथमः सर्गः।

द्वितीयः सर्गः—

अथ दूतवाक्योपन्यासं विवर्णयिषुः कविर्द्वितीयसर्गमारब्धुमुपक्रमते–

१. *अथाग्र०*। अथ–अनन्तरं, एष दूतो विवक्षुरपि–वक्तुमिच्छुरपि, किञ्चिन् न वक्ति। किं विशिष्ट एषः ? बाहुबलेऽग्रतो निविष्टः–स्थितः। पुनः किं विशिष्टः ? एतस्य–राज्ञः, तेजोभिः–प्रभावैः, विघूर्णितात्मा–विभ्रान्तचित्तः। हि–यतो, महोभिः–तेजोभिः, नृपाः–राजानः, अविलंघनीयाः–अनुल्लंघ्या भवंति।

आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः॥
—इत्यनेकार्थसंग्रहे। इति द्विभंगोन्वयः।

२. न किंचि०। राजा न किंचिद् उक्तवंतं दूतं अवेक्ष्य–विचार्य, जगाद–वदतिस्म। किं विशिष्टो राजा ? विदिताशयार्थः–विदिताभिप्रायहेतुः। हि–यतो, विचक्षणाः–पंडिताः, स्वांतगतं भावं–हृदयस्थितमभिप्रायं, सर्वं–समस्तं, मुखेन दृष्ट्या विदंति–जानंति। इति द्विभंगोन्वयः।

३. **आसी०** । अपीति कोमलामंत्रणे । हे दूत ! तव एतावत्–पर्यन्तं, अखंडमार्गे–अवच्छिन्नप्रयाणेऽध्वनि, स्वागतं–सुखेनागतं, आसीत्–बभूव ? किं विशिष्टस्य तव ? अयोध्यागतस्य–कौशलाय आगतस्य । च–पुनः, तवागमादिदं, मे–मम, मनः तृप्तं–सन्तुष्टं । कस्येव ? तृपातुरस्येव । यथा तृपापीडितस्य जलावलोकात्–पानीयदर्शनात्, मनस्तृप्यति । इति त्रिभंगोवन्यः ।

४. **नितांत०** । तृप्तेर्निदानमाह । हे दूत ! त्वमद्य अस्मदीयं–आस्माकीनं, चित्तं–अन्तःकरणं, बंधुप्रवृत्या–भरतादीनां किंवदन्त्या, सुखय–प्रीणय । किं विशिष्टं चित्तं ? नितांतं–निर्भरं, तृष्णया–लिप्सया, आतुरं–व्याप्तं, मिलनायेति शेषः । धाराधरवारिधारा–वारिदजलधारा, दूरेऽस्तु–दवीयसी स्तात् । गर्जिरेव–वारिदध्वनिरेव, सारंगं–चातकं, सानंदति–प्रीणाति । इति त्रिभंगोन्वयः ।

५. **तास्ताः०** । हे दूत ! तास्ताः–वक्षमाणाः, इति–अमुना प्रकारेण, समस्ताः–समग्राः बाललीलाः–कुमारावस्थाक्रीडाः । नो–अस्माकं, अदो मनः–चित्तं, सोत्कण्ठं–सरणरणकं, आतेनुः–चक्रुः । का इव ? विंध्यगिरेः क्रीडाभुव इव । यथा विंध्याचलस्य क्रीडाभुवो, दंतावलानां–गजानां, दूरगानां–दूरवर्त्तिनां, मनः सोत्कंठं वितन्वंतीति द्विभंगोन्वयः ।

६. **यस्याऽस०** । हे दूत ! यस्य–भरतस्याहमेवाऽज्येष्ठतया–लघिष्ठतया, आसं–अभूवम् । स बंधुः–भरतो, मयाद्य दृष्टः । किं विशिष्टो भरतः ? सबंधुः–सभ्रातृकः । कस्मात् ? त्वद्दर्शनात् । हि–यतः, पयोदकालः–प्रावृट्समयः, शतह्रदः–विद्युतो दर्शनाद्–अवलोकनात्, वेद्यो–ज्ञेयः । इति त्रिभंगोन्वयः ।

७. **एनं भु०** । हे दूत ! बाल्ये अहमेनं भरतं, भुजाभ्यां–बाहुभ्यां, अपसार्य्य–दूरीकृत्य, प्रसह्य–हठात्, तातांकं–पितुरुत्संगं, दूरादेत्य निषण्णः–स्थितः । तातेन–वृषभध्वजेन, इत्यहमत्यंतं भृशमहं निषिद्धो–निवारितः । किं कृत्वा ? प्रसाद्य–प्रसन्नीकृत्य । इतीति किं ? हे बाहुबले ! ते–तवायं भरतो, ज्येष्ठो–अग्रजो, भ्राता–बान्धवो भवतीति त्रिभंगोन्वयः ।

८. **हठाद०** । हे दूत ! मया अस्य–भरतस्य, हस्तादीक्षुयष्टी, हठादपास्ता–बलात्याजिता किं कुर्वतोऽस्य ? कामं–अत्यर्थं, रुदतो–रोदनश्रवणानन्तरं, तातैः–वृषभस्वामिभिः, स्वयमात्मना, एत्य–आगत्य, तस्याः–इक्षुयष्टेः, खंडगलं, विधाय–कृत्वा, नौ–आवाभ्यां, प्रत्यर्पितं–प्रतिदीयतेस्म । किमिव ? अवनेः गंडमिव । इति द्विभंगोन्वयः ।

९. **गजं पि०** । हे दूत ! कदाचिद् मया ज्यायान्–भरतः, उपादाय हठादपास्तो–

बलात् क्षिप्तोम्बरे । च–पुनः, अस्मादंबरात् पतन् धृतः । किं कुर्वन् ज्यायान् ? विनिर्यन्मदवारिधारं–निर्गच्छद्दानजलधारं, गजं आरुह्य, सलीलं–सक्रीडं यथा स्यात् तथा, चरन्–व्रजन् ।

१०. **श्रीतात०** । हे दूत ! कच्चिदिति प्रियप्रश्ने । तस्य–भरतस्य, भद्रं–कल्याणमस्ति । तस्य कस्य ? श्रीतातहंसेन–श्रीवृषभस्वामिसूर्येण, यो वह्निरिव स्वे पदे न्यधायि–न्यवेशि । किं विशिष्टेन ? शमंगतेन–शान्ति प्राप्तेन । पुनः किं विशिष्टेन ? विदूरं–विप्रकृष्टं, विमुक्ता–उज्झिता, अस्त्राण्येवरुचः–कांतयो येन, असौ, तेन । किं विशिष्टो भरतः ? उरुतेजाः–महाप्रभावः ।

११. **न्यवेशि०** । हे दूत ! तातेन–श्रीवृषभस्वामिना, अस्य–भरतस्य, भुजे–दोर्दंडे, या लक्ष्मीर्न्यवेशि–आरोप्यत । केव ? सस्यराजीव । यथा सत्क्षेत्रभूम्यां–प्रधानक्षेत्रवसुधायां, धान्यराशिर्विधीयते । सा लक्ष्मीः सस्यराजी, अधुनेदानीं, नीतिवृष्ट्या–न्यायवर्षणेन, अस्माद्–भरताद्, ववृधे–वृद्धिमासदत् । कस्मात् ? शात्रवावग्रहशक्तिनाशात्–वैरिमेघान्तरायबलध्वंसात् ।

१२. **परस्प०** । हे दूत । आवयोरन्तरे–मध्ये, विदेशः पतितोऽस्ति । कयो किमिव ? अक्ष्णोरन्तरे नक्रमिव । किं कुर्वतोः ? परस्परां–अन्योन्यां, ईहां–स्पृहां, आवहतोः–धरमाणयोः । किं विशिष्टयोः ? समानसौहार्दयुषोः–सदृशमैत्र्यभाजोः । पुनः किं विशिष्टयोः ? प्रेमोर्द्रयोः–प्रणयक्लिन्नयोः । परस्परामिति प्रयोगो नैषधे–परस्परामर्पितहस्ततालमिति ।

१३. **पुरा च०** । हे चर ! अहं भ्रातरमंतरेण–बांधवं विना, मुहूर्त्तमपि स्थातुं न शशाक–न समर्थोऽभूवं । कथं ? पुरा–पूर्व, मम दृष्ट्याऽधुना उपोष्यते–उपवासः क्रियत एव । भ्रातुर्दर्शनं विनेति शेषः । ततः–तस्माद्धेतोः, मे–मम, दिवसाः व्यर्थाः–निःफलाः, प्रयांति–व्रजन्ति । इति त्रिभंगोन्वयः । शशाकेति 'णव' उत्तमवचनं ।

१४. **सा प्रीति०** । हे दूत ! मया सा प्रीतिः–स प्रणयो नो अंगीक्रियते–नो प्रतिपद्यते । सा का ? किल इति निश्चयेन, यस्यां प्रीतौ विप्रयोगो–विरहो, जायेत–भवेत् । यदि आवां–भ्रातरौ, विप्रयुक्तौ–वियोगिनौ, जिजीविव–प्राणान् दधिव, तदा प्रीतिर्नावयोर्विभावनीया–न ज्ञातव्या । किंतु हियतो, रीतिः–प्रकृतिः, चिन्त्या । पंचभंगोन्वयः । जिजीविवेत्यत्र 'णवुत्तमपुरुषस्य' द्विवचनं ।

१५. **हृत्क्षेत्र०** । हे दूत ! नौ–आवयोः, प्रीतिबीजैः अन्योन्यसंपर्कपयोदवृष्ट्या–

परस्परमिलनमेघवर्षणात्, शतधा विवृद्धं। किं विशिष्टैः? हृत्क्षेत्रभूम्यां—हृदयक्षेत्रक्षोण्यां, परिवापं—बीजसंतानं, एतैः—आप्तैः, तु—पुनः, अत्र मिलनवर्षणेऽवग्रहो—वृष्ट्यन्तरायकारी, विदेश एवास्तीति द्विभंगोन्वयः।

१६. तत् तत् पि०। हे दूत! अशेषं—समस्तं, पितुर्लालनं, च—पुनः, बांधवैः सह ताः पूर्वोक्ताः बाललीलाः स्मृत्वा—संचिन्त्य मे—मम, मनः स्वयमेव शांतिं याति—प्राप्नोति। कस्येव? द्विपस्येव। यथा द्विपस्य—हस्तिनो, मनः स्वयमेव शांतिं याति। किं विशिष्टस्य द्विपस्य? नगाहृतस्य—वंध्याचलानीतस्य।

१७. श्रीतात०। हे दूत! पुरीप्रदेशाः—अयोध्योद्देशाः, मम मनोऽभिनन्दन्ति—प्रीतिमुत्पादयन्ति। किं विशिष्टाः पुरीप्रदेशाः? श्रीतातपादाब्जरजःपवित्रीकृताः, पुनः किं विशिष्टाः? जितस्वर्नगरैकलक्ष्म्यः—निर्जितनाकशोभा, के कमिव? यथा कलाधरस्य—चन्द्रस्य, कराः—किरणाः, चकोरमभिनंदंति।

१८. न मादृ०। हे दूत! या पुरी अयोध्या कल्याणसालच्छलतः—स्वर्णप्राकारमिषेण, इति स्मयात्—गर्वात्, वलयं—कटकं, बिभर्त्ति—धारति। इतीति किं? जगत्यां—विश्वे, क्वापि—कुत्रापि, मादृशी—मम सदृशी, पुरी—नगरी नास्ति। सा पुरी कोशला इदानीं—अधुना, तादृगेवास्ति—तत्स्वरूपैवास्ति। किं विशिष्टा? शिवाढ्या—मंगलपूर्णा।

१९. नितांत०। हे दूत! नितांतबंधुप्रणयप्रदीपः—अत्यर्थस्वजनप्रेमदीपः, तेजो बिभर्त्ति। किं विशिष्टं तेजः? तमोहारि—ध्वान्तहरं, पुनः किं विशिष्टं? दिक्षु—आशासु, चरिष्णु—चरणशीलं, कस्मात्? निरंतरस्नेहभरात्—परिपूर्णप्रेमातिशयात्। दीपपक्षे—स्नेहस्तैलं। अतःपरं—एतस्मात् दिवसादारभ्य, इहास्मिन् प्रणयप्रदीपे, खेदवातः—खेदानिलो, मा भूत्—माऽस्तु। इति द्विभंगोन्वयः।

२०. नीतोह०। हे दूत! अहं तु—पुनः, इदानीमस्मिन्नवसरेऽयोध्यां—कोशलां, एतुं—आगंतुं, न विभवामि—न शक्नोमि। किं विशिष्टोऽहं? तातेन—ऋषभस्वामिना, अहींद्रत्वं—स्वतंत्रस्वामित्वं, नीतः—प्रापितः। एतद् मम हृदयं—मनः, सोत्कंठं—सोत्सुकं, आस्ते—तिष्ठति। कयोरिव? रथांगनाम्नोरिव। यथा चक्रवाकीचक्रवाकयोर्हृदयं, हीनि गेदे, रजन्यां सोत्कंठं आस्ते। इति त्रिभंगोन्वयः।

२२. **निःशंक०।** हे दूत ! त्वं मे–मम, पुरोऽग्रे, त्वद्भर्तुः–भवत्स्वामिनो, निःशंकं यथा स्यात् तथा, शासनं–आज्ञां, आविष्कुरु–प्रकटय। किं कृत्वा ? आतंकं–भयं, दूरादपास्य–त्यक्त्वा, किं विशिष्टमातंकं ? अरातिभूभृद्हृत्कुंजवास्तव्यं–प्रत्यनीकभूपालहृदयारण्यवासिनं। हि–यतो, नृपाः–राजानः, चारपुरःसराः भवंति।

२३. **इतीर०।** बहलीक्षितीशः–बाहुबलिः, इति–अमुना प्रकारेण, ससंभ्रमं–सत्वरं, सप्रणयं–सस्नेहं, सनीति–सनयं यथा स्यात् तथा ईरयित्वा–कथयित्वा, क्षणं–घटिकाषष्ठ्यांशं, विशश्राम–तस्थौ। अथ चरः सुवेगनामा, भूपमुवाच–अब्रवीत्। किं विशिष्टश्चरः ? भालस्थलीमिलत्पाणिः–कृतांजलिः। इति द्विभंगोन्वयः।

२४. **राजन्०।** हे राजन् ! भरताधिराजो–भारतवर्षाधीशो, ममाननेन वचो–वचनं, भवंतं–त्वां, अभिधत्ते–कथयति। किं विशिष्टं वचः ? प्रादुर्भवन्नीति–प्रकटीभवन्न्यायं। हि–यतः, क्षितिवल्लभाः–राजानः, नीतिप्रियाः–न्यायवल्लभाः, भवंति। च–पुनः, एवं–पूर्वोक्तप्रकारेण, भवद्वन् न प्रीतिपराः–प्रणयासक्ताः भवंति। इति त्रिभंगोन्वयः।

२५. **सा भार०।** हे राजन् ! भारतवासवस्य–भरतचक्रिणः, सा भारती–वाणी, मां–अनुचरमात्रं, आललंबे–समाश्रितवती। सा का ? या नृपमौलिभिः–राजशिरोभिः, नवमल्लिकेव–नवीनमालतीव, नित्यं ध्रियेत। किं कुर्वती ? स्फुरंतं–विस्तरयंतं, आमोदभरं–आनंदातिशयं, वहंती–दधाना। पक्षे–परिमलभरं। इति द्विभंगोन्वयः।

२६. **वयं च०।** हे राजन् ! वयं चराः श्रितानुवृत्तिं–आश्रितप्रभोरनुमतिं, न विलंघयामः–नातिक्रामामः। किं विशिष्टा वयं? स्वामिनिदेशनिघ्नाः–पत्युरादेशवशाः। पुनः किं विशिष्टाः ? जगत्यां–विश्वे, तमोहराः–स्वस्वामिबलादिज्ञापनेन अज्ञानहराः। पुनः किं विशिष्टाः ? तापकराः–मत्स्वामी त्वां हनिष्यति–इत्यादि वचनेन कष्टकराः। के कमिव कराः ? उष्णद्युतिबिंबचारमिव–यथा किरणाः सूर्यमंडलचारं नातिक्रमंति। करपक्षे–ध्वांतहराः संतापकृतः।

२७. **संदेश०।** हे राजन् ! संदेशहारी–दूतो, यो निजनायकस्य–स्वस्वामिनः, प्रत्यर्थिनां–वैरिणां, पुरस्तात्–अग्रे, नैर्बल्यं–बलराहित्यं, आविष्कुरुते–प्रकटीकरोति, स जनः पयोधिवह्निसमानतां–वडवानलसादृश्यं, गच्छति–प्राप्नोति। कथंभूतः सः ? संश्रयारिः–आश्रयवैरी। इति द्विभंगोन्वयः।

२८. **अतस्त्व०।** हे श्रीभरतानुजन्मन्–भरतावरज ! अतः–कारणात् वक्ष्यमाणात्,

त्वया–भवता, चरस्यापि वचोऽवधारणीयं–मनस्यानेयं, सरसीवरस्य–मानससरसः किं मलीमसं–कलुषं, वारिदवारि–नवमेघजलं, श्रिये–शोभायै, न हि भावि। इति द्विभंगोन्वयः।

२९. **शतं सु०**। हे राजन् ! वृषभध्वजेन–श्रीवृषभस्वामिना, भिन्नेषु देशेषु सुतानां शत विन्यवेशि–आरोप्यत। किं कृत्वा ? नामांकतो–अभिधानचिन्हतो, राजपदेऽभिषिच्य–राज्याभिषेकं विधाय। हि–यतः, सतां वृत्तं–महतां आचारः, सततं–निरंतरं, प्रवृत्त्यै अगात्।

३०. **तदंत०**। हे राजन् ! तदन्तर् यद् ऋषभसूनुशतानामध्ये कोपि भुवस्तलं–महीमंडलं, प्लावयितुं–द्रावयितुं, सहिष्णुः–समर्थोस्ति। किं विशिष्टः ? वलातिरिक्तः–पराक्रमाधिकः। क इव ? कल्पान्तकालाब्धिरिव। यथा कल्पान्तकालजलधिर्भुवस्तलं प्लावयितुं सहिष्णुः स्यात्। किं विशिष्टः ? उत्तरंगः–उत्कल्लोलः, अस्य–ऋषभसूनुसमुदयस्य, निषिद्धिः–निवारणं, सौभ्रात्रसीमैव–सुबंधुभावमर्यादा एव। इति त्रिभंगोन्वयः।

३१. **ज्येष्ठोग्र०**। हे राजन् ! तातेन यो भरतः स्वीयपदे–निजस्थाने, न्यवेशि–स्थापितः किं विशिष्टो यः ? अग्रसंजाततया–प्रथमलब्धजन्मतया, गुणैश्च–सत्त्वादिभिः, ज्येष्ठः–वृद्धः। तस्य भरतस्य प्रतापाब्धिहिरण्यरेताः–प्रतापवडवानलः, प्रत्यर्थिपाथांसि–वैरिजलानि, तनूकरोति–कृशीकुरुते। इति द्विभंगोन्वयः।

३२. **केचिन्नृ०**। हे राजन् ! केचिन् नृपाः–राजानः, प्रभोः–भरतस्य, पुरो–अग्रे, केवलं प्रांगणं–आसनाभावादजिरं आश्रयन्ति। किं विशिष्टाः राजानः ? अप्यूर्ध्वजानुक्रमवर्त्तमानाः–ऊर्ध्वजानुचरणवर्त्तमानाः। किं कृत्वा ? मौलिमणीं–मस्तकरत्नं, अपास्य–त्यक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ? गुरुं–महतीं, एतदाज्ञां–भरताज्ञां, निवेश्य–स्थापयित्वा, शिरसीति शेषः।

३३. **भूपाल०**। हे राजन् ! तस्य–भरतस्य, राजाजिरं–राजसभाप्रांगणं, राजति–शोभते। किं विशिष्टं राजाऽजिरं ? भूपालवक्षस्थललंबिहारसंघट्टसंघर्षणचूर्णगौरं–नृपहृदयस्थललंबमानहारपरस्परमिलनसंघर्षणक्षोदधवलं। उपमीयते–कीर्त्तिशीतांशुरोचिश्छुरितश्रिया इव–यशःशशधरकिरणस्फुरितलक्ष्म्येव।

३४. **सुतामु०**। हे राजन् ! च–पुनः, केचिन् नृपाः–राजानः, सुतां–तनयां, उपादाय–प्राभृतीकृत्य, एनं–भरतं स्वजनं विधाय प्रणेमुः–ववंदिरे, के कमिव ? गिरीन्द्रमुख्या नीलकंठमिव। यथा हिमाचलप्रभृतयो महादेवं स्वजनं विधाय प्रणमंतिस्म। किं विशिष्टमेनं ? प्रभूतभूत्यैकनिवद्धचित्तं–बहुलसंपत्येकनियतमानसं, महादेवपक्षे–भूतिर्भस्म।

३५. **महामृ०** । हे राजन् ! नरेन्द्रलक्ष्म्यः—भूपालश्रियः, स्वयं—आत्मनैव आयांति—अनायासेन समागच्छंति । किं विशिष्टं ? महामृगेन्द्रासनसंनिविष्टं—महासिंहासनस्थितं ? पुनः किं विशिष्टं ? नृपैः—भूपैः, परीतं—संयुक्तं । कैः कमिव ? त्रिदशैरिन्द्रमिव । काः कमिव ? महीध्रकन्या वारिराशिमिव । यथा नद्यः समुद्रं स्वयमायान्ति ।

३६. **सर्वेषु०** । हे राजन् ! स—भवद्भ्राताऽयं भरतः, सर्वेषु भूभृत्सु—राजसु, विभाति—शोभते । किं विशिष्टः सः ? अभिनंद्यः—स्तुत्यः, क इव ? मेरुरिव । यथा सुमेरुः सर्वेषु पर्वतेषु अभिनंद्यः स्यात् । पुनः किं विशिष्टः सः ? परोन्नतिः—परा—उत्कृष्टा, उन्नतयः—समृद्धयः यस्यासौ । मेरुपक्षे—सर्वेभ्यः उच्चः । पुनः किं विशिष्टः ? आक्रान्तनिःशेषमहीनिवेशः—व्याप्तनिखिलधराधिष्ठानः । पुनः किं विशिष्टः ? उद्दीप्रकल्याणमनोरमश्रीः—भास्वरमंगलाभिरामलक्ष्मीः, मेरुपक्षे—कल्याणं—सुवर्णं ।

३७. **वज्राह०** । हे राजन् ! वसुधाधराणां—पर्वतानां, किल इति श्रूयते, वारिराशिः—समुद्रः, शरण्यः—त्रायको भवेत् । किं विशिष्टानां वसुधाधराणां ? वज्राहतानां—इन्द्रमुक्तशस्त्रलूनपक्षाणां, एतद्भिया—भरतभयेन, त्रस्तमहीश्वराणां—प्रनष्टभूपालानां, लोकत्रयेऽपि—त्रैलोक्येपि, परः—अन्यः, शरण्यः—रक्षकः, नास्तीति त्रिभंगोन्वयः ।

३८. **निस्वान०** । हे राजन् ! अस्य—भरतस्य, विरोधिभिः—वैरिभिः, दिगंताः—ककुभां प्रान्ताः, व्यानशिरे—व्याप्यंत । कुरंगैः—मृगैः, उषितं—तस्थौ । किं विशिष्टैः कुरंगैः ? तदीयसौधाग्रविरूढदूर्वांकुरप्रलुब्धैः—तेषां शत्रूणां गृहोपरि संजाततृणांकुरासक्तैः । किं विशिष्टैः विरोधिभिः ? नष्टैः—पलायितैः । कया ? निस्वाननिस्वानभिया—वाद्यविशेषनिर्घोषभीत्या । इति द्विभंगोन्वयः ।

३९. **विलोक्य०** । हे राजन् ! च—पुनः, राजहंसैः—नृपश्रेष्ठैः । पक्षे—मानसपक्षिभिः । श्यामाननीभूय—कृष्णाननी भूत्वा, पलायितं—प्रनष्टं । किं विशिष्टैः । राजहंसैः ? शुद्धपरिच्छदाढ्यैः—विशदपरिवारसहितैः । मानसपक्षिपक्षे—परिच्छदः—पक्षः । किं कृत्वा ? रजः—पांसु, विलोक्य दृष्ट्वा, किं विशिष्टं रजः ? यत्सैन्यहयावधूतं—भरतकटकतुरगोत्थापितं । पुनः किं विशिष्टं रजः ? नवांभोधरराजिनीलं—नवमेघश्रेणिश्यामं ।

४०. **अस्य प्र०** । हे राजन् ! कैश्चिद्—वैरिभूपालैः, क्वापि भुवोन्तराले—महीमध्ये गतं । किं कृत्वा ? मुखानि—वदनानि, लात्वा—गृहीत्वा । किं

विशिष्टानि मुखानि ? अद्रष्टुमर्हाणि—अविलोकितुं योग्यानि। पुनः किं विशिष्टानि मु० ? रजोभिर्मलिनीकृतानि—रेणुभिर्मलीमसानि। किं विशिष्टैः रजोभिः ? हयक्षुराग्रोद्धूतैः—अश्वखुरशिखोत्थापितैः। केषु ? अस्य प्रयाणेषु—भरतस्य यात्रासु।

४१. **अनावृ०**। हे राजन्! हरिद्भिः—दिग्भिः, इतीव रेणुच्छलतो—रजोव्याजेन, नीलपटी—श्यामोत्तरीयं, समंतात्—सर्वतः, समाददे—संजगृहे। इतीति किं। नो—अस्माकं, अयं पतिः—भर्त्ता, अनावृतं—अनाच्छादितं, मुखाब्जं—मुखकमलं, मा पश्यतु—मा दृष्टिविषयीकरोतु। प्रायेण स्त्रियो हि प्रियावलोकने मुखमाच्छादयंति। किं विशिष्टोऽयं ? प्रभुतोपपन्नः—प्रभुत्वसंयुतः। इति द्विभंगोन्वयः।

४२. **मदेन०**। हे राजन्! राजा—भरतः, चक्रेण अधिकदुःप्रधर्षः—अत्यंतदुःसहः, आभात्—विराजतेस्म। केन क इव ? मदेन हस्तीव—दानवारिणा गज इव। मृगारिणा—सिंहेन वनप्रदेश इव। आशुगेन—वायुना अग्निरिव। उर्वनिलेन—वाडवाग्निना, पयोधिः—समुद्र इव। उपमानोपमेयाभ्यामिति पंचभंगोन्वयः।

४३. **यथारुण०**। हे राजन्! तीक्ष्णरुचेः—सूर्यस्य, यथाऽरुणः—विनतासूनुः, अग्रे भवति, तथा अस्य—राज्ञः, चक्रं—रथांगं, पुरतः—पुरस्तात् बभूव—आसीत्। किं विशिष्टं चक्रं ? सतेजः—सप्रभावं, कया ? दुरुत्तराराातितमःप्रहारनितांतदाक्षिण्यतया—दुरंतशात्रवांधकारहननात्यंतविद्धत्त्वेन।

४४. **राजन्!०**। हे राजन्! भवद्वंधुवलांवुराशिः—त्वद्भ्रातृकटकसिंधुः, प्रकामं—अत्यर्थं, एतत्प्रणिपातसेतुवंधप्रवंधेन—भरतनमस्कारसेतुबंधाग्रहेण, विगाहनीयः—तरीतव्यः। किं विशिष्टः ? चतुर्दिगाप्लावनवद्धकक्षः—चतुराशाक्रमणवद्धपरिकरः।

४५. **परिस्फु०**। हे राजन्! स राजा भरतः, वसुधाधराणां—राज्ञां, दुःसहो बभूव। किं कुर्वाणः ? चक्रं—रथांगं, दधानः—धरमाणः किं विशिष्टं चक्रं ? उल्वणाभं—भीषणाभं। किमिव ? तीक्ष्णद्युतेः—सूर्यस्य विंवमिव। पुनः किं विशिष्टं चक्रं ? परिस्फुरत्कांतिसहस्रदीप्रं—राजमानप्रभासहस्रभासुरं, क इव ? शक्र इव। यथेन्द्रः आत्तशंबः—विहितवज्रो, गिरीणां दुःसहो भवति।

४६. **किमत्र०**। हे राजन्! क्षितिवल्लभानां—राज्ञां जयेऽत्र किं चित्रं—आश्चर्यं वर्त्तते ? अयं—भरतः, सुराणां—देवानां, अप्यजय्यः—न जेतुं शक्यः। हि—यतः, सतां—महतां, प्रभावः—महिमा, वचोतिरिक्तः—वचनातीतोस्त्येव किं विशि० प्रभावः ? देवासुरवृन्दवंद्यः—सुरासुरसमूहस्तुत्यः।

४७. **योऽखंड०** । हे राजन् ! यो नृपो भरतः, अखंडषट्खंडधराधराणां–समस्तभरतभूपानां, गौरांशुगौरातपवारणानि–चन्द्रोज्वलच्छत्राणि, हर्तुं–ग्रहीतुं, प्रवृत्तः–प्रसृतः । उत्प्रेक्षते–यशांसीव । क इव ? संवर्तपाथोधिरिव–कल्पांतकालाब्धिरिवातिरौद्रः–अतिभीषणः ।

४८. **विद्याध०** । हे राजन् ! नृपस्य–भरतस्य, तेजो–महोऽतिदुःसह्यं–अतितापेन दुःसहनार्हं अभूत्–आसीत् । कस्येव ? अंशोरिव । यथा सूर्यस्य तेजो दुःसाध्यं भवति । किं विशिष्टस्य नृपस्य ? वैताढ्यगिरिं–भारतार्द्धपर्वतं, गतस्य–प्राप्तस्य । किं विशिष्टं वैताढ्यगिरिं ? विद्याधरैराढ्यं–पूर्णं । पुनः किं विशिष्टं ? अलंघनीयं अनतिक्रमणीयं । विना चक्रिणा एनं पर्वतं लंघयितुं कोपि समर्थो न । कैः कमिव ? गुणैः–विनयादिभिः, इज्यं–पूज्यमिव । पुनः कैः कमिव ? सलिलैः–पानीयैः, अब्धि–समुद्रमिव ।

४९. **सेनानि०** । हे राजन् ! अस्य नृपतेः–भरतस्य, इह–अस्मिन् वैताढ्यगिरौ, सेनानिवेशाः-स्कंधावाराः पंचाशत् आसन्–बभूवुः । गिरेः पंचाशत्योजनविस्तीर्णत्वात् । किं विशिष्टाः सेनानिवेशाः ? अधिकोत्सवाढ्याः–वर्द्धमानमहोत्सवपूर्णाः । किं कुर्वंत इव ? तुरंगमातंगपुरीषसर्गैः–अश्वगजशकृत्त्यागैः, कूटानि–शिखराणि, तन्वंत इव–विस्तारयंत इव । किं विशिष्टानि कूटानि ? अतनूनि–अनल्पानि ।

५०-५१. **तातप्रि०** । **एतस्य०** । हे राजन् ! तौ–नमिविनमी कच्छमहाकच्छसुतौ, एतस्य–भरतस्य, सुषेणनामानं सेनाधिपतिं–सेनानीं, मार्गे–पथि, न्यरुद्धां–न्यवारयतां । किं विशिष्टौ ? प्रतीतौ–विख्यातौ, कया ? तातप्रियापत्यतया–ऋषभस्वामीष्टसंतानतया । तौ कौ ? यौ स्वामिनि–युगादिदेवे, मौनं संसृते सति, पन्नगेन्द्राननलब्धविद्यौ–धरणेन्द्रास्यसंप्राप्ताष्टचत्वारिंशत्सहस्रविद्यावभूतां । पुनः किं विशिष्टौ ? भारतार्द्धगिरीन्द्रे–वैताढ्यगिरौ, संप्राप्तमहर्द्धिराज्यौ–लब्धोत्तरश्रेणिदक्षिणश्रेणिप्रभुत्वौ । कौ कमिव ? सानुमन्तौ तटिन्या रयमिव–यथा पर्वतौ नद्यावेगं निरुद्धां । किं विशिष्टं रयं ? प्रसृत्वरं–प्रसरणशीलं, किं विशिष्टौ तौ ? कटकाभिरामौ–सैन्यमनोहरौ । पर्वतपक्षे-कटकोद्रिनितंबः । पुनः किं विशिष्टौ ? अविलंघनीयौ–अनतिक्रमणीयौ । इति युग्मार्थः ।

५२-५३. **वैमानि०** । **तौ द्वाद०** । हे राजन् ! तौ–नमिविनमी, द्वादशाब्दीं–द्वादशसंवत्सरीं, भरतेन सार्द्धं द्वन्द्वं–संग्रामं, वितेनतुः–चक्रतुः । किं विशिष्टं द्वन्द्वं ? संपादितोल्कं–निर्मापितोल्कापातं, कस्मात् ? निर्घर्षाद्–संघर्षात् । कैः कृत्वा ? बाणैः–शरैः । किं विशिष्टैर्बाणैः ? अधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च । कैः ?

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
देवश्रीवृषभध्वजांगजकथाश्लोकप्रथा पंजिका ।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
या तस्यां निजनीवृदागतचरः सर्गस्तृतीयोऽभवत् ।।

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायां दूतप्रत्यागमो नाम तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थः सर्गः—

१. अथ दू० । अथ–अनन्तरं, क्षितिराजः–भरतः, वचनं वदने–मुखे, दधे–धृतवान् । किं कुर्वन् ? दूतगिरा–चरवाण्या, ज्वलन्नपि–तपन्नपि । किं विशिष्टं वचनं ? प्रणयांचितं–प्रेमसहितं, पुनः किं वि० ? क्षपितारिविग्रहं–दूरीकृतारातिकलहं । क इव ? अम्भोद इव, यथा घनो विद्युता–तडिता, ज्वलन्–दीप्यमानः, वदने अंबु–पानीयं धत्ते । किं विशिष्टं अंबु ? अरि–चक्रं, तस्य वि–विशेषेण, ग्रहो–ग्रहणं यत्र, अर्थाच्छकटः । क्षपितोऽरिविग्रहः–शकटसंचारो येन, तत्, तत् ।

२. अह मे० । किं वचनं जगादेत्याह । अहमेव विलोलतां–चांचल्यं गतः–प्राप्तः । क इव ? अवनीरुह इव । यथावनीरुहो–वृक्षः, पवनोद्धूतः सन्–वायुना कंपितः सन्, विलोलतां गच्छति । यत्–अस्माद्धेतोः, अहं बांधवं प्रत्यमुं चरं प्रजिघाय–प्राहिणवं–णव उत्तमवचनं । हि–यतः, ईदृशाः–एवंविधाः, दौत्याय–दूतकर्मणे न मताः–न संमताः । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

३. वितनो० । अहं यदि–चेत्, इह–अस्मिन् समये, बलिना–बाहुबलिना स्वबंधुना सार्द्धं, विग्रहं–समरं, वितनोमि–करोमि, तदा अहं जलवासिनस्तिमेः–मच्छस्योपमां–तुलनां, जनोक्तिभिः–लोकवाक्यैः, एतास्मि–प्राप्तास्मीति त्रिभंगोन्वयः ।

४. निहृता० । ये–बाहुबलिनः, दिविषच्छैवलिनीस्वेऽपि–गंगापूरेऽपि, वेतसवृत्ति न आश्रिताः । किं विशिष्टे दिवि० ? निहताः–पातिताः, अयनभूभृतो–मार्गपर्वताः, याभिः [illegible] ऊर्मयः–कल्लोलाः, यत्र, असौ, तस्मिन् । तत्त्वाभिमानिनः पुरो–अग्रे, किमहं स्यां ?

६. **श्रुतया०** । अयं वाहुवली रणस्य वार्त्तया श्रुतया–आकर्णितया, मनसा–हृदयेन उत्साहं दधौतरां–धरतेस्म । अधुना–इदानीं, आगतो रणोऽस्य वंधोर्भुजयो–वाह्वोरुत्सवं कथं न दधाति ।

७. **कठिनो०** । अस्य–वाहुवलेः, युधि–संग्रामे, कामः–अभिलाषः, यथा प्रवर्त्तते न तथा राज्यसंग्रहे । किं विशिष्टः कामः ? भटिमाधिकत्वतः–वीरतातिशयत्वतः, कठिनः, हि–यतः, शौर्यवतां–वलवतां, समरः–संग्रामः, वल्लभः–प्रियो भवति ।

८. **यदि त०** । यद्यस्य वाहुवलेः तद्वलं दोर्द्वये–भुजयुगले, विद्यते । तत् किं वलं ? यन्मया वाल्ये दृष्टं । वा यतो वलाद् अहं विशेषतो शंके–विशेषात् भीतवान् । तदास्य–वाहुवलेः, पुरतः कोप्यासितुं–स्थातुं, युधि–संग्रामे, न विभुः–समर्थः स्यात् । कस्येव ? विभावसोऽग्नेरिव ।

९. **वहुधा०** । अस्य–वाहुवलेः, मया शैशवे–वाल्ये, वहुधा–भूरिप्रकारैः, वलं परीक्षितं–ज्ञातं । केनेव ? स्वर्णकृता–सुवर्णकारेणेव । वसुवत्–स्वर्णवत् । पूर्वतः–प्रथमतः, अपरीक्षितं–अविचारितमेव वस्तु, विदुषां–पंडितानामनुतापकृत्–पश्चात्तापकारी भवेत् ।

१०. **इतर०** । ममेतरस्य–वान्धवादन्यस्य, जये नेदृशो विचारो वर्तते । खलु–निश्चितं, अयं वांधवः–भ्राता, वर्त्ततेऽत एव विचारः । हि–यतो, जलदः–मेघः, कृशानुशान्तये–वह्निशमनाय, प्रभविष्णुः–समर्थोऽपि, विद्युतं–तडितं, न शमयेत् न निर्वापयेत्–इति त्रिभंगोन्वयः ।

११. **इतरे०** । मदीयवांधवाः–मद्भ्रातरः, इतरे–अष्टानवतिरपि, मामनापृच्छ्य, यद्यस्मात् कारणात् ययुस्तमां–जग्मुः । तद्विरहस्तेषां वांधवानां वियोगः, मम अरुंतुदः–मर्माभिदोऽस्ति । कस्येव ? करिणः–गजस्येवांकुशो मर्माभिदो भवति । किं विशिष्टस्य करिणः ? अशांतरुचेः–मदोन्मत्तस्य । किं विशिष्टस्य मम ? (अशांतरुचेः) अशमिताभिलापस्य ।

१२. **अयमे०** । समस्तवंधुपु–सकलभ्रातृपु, अयमेव–वाहुवलिः, एकतमोऽवशिष्यते । कथंभूतोऽयं ? स्थितिमान्–मर्यादावान्, कस्य क इव ? यथा तिमिरारेः–सूर्यस्य, अहनि–दिवसे, भार्गवः–शुक्रः, पुरोऽवशिष्यते । किं विशिष्टस्य तिमिरारेः ? समा–समस्ता, संहृता–क्षिप्ता, तारकावलिः–नक्षत्रश्रेणिः येन, असौ, तस्य ।

१३. **न निधि०** । ममैकवांधवी–एकवंधुसंवंधिनी, तृष्णा–स्पृहा, दुर्वार्यतमा–दुःखेन

वारयितुं शक्या, येन न शाम्यति–न शमं गच्छति। स निधिर्न, स मणिर्न, स कुंजरो न, स सैन्याधिपतिः–सेनानीर्न, स भूमिराट्–राजाऽपि न।

१४. **अहम०।** तातेन–वृषभस्वामिना, नौ–आवां, उभौ वपुषैव–शरीरेण, पृथक्–भिन्नीकृतौ, न हि हृदा–मनसेति पृथक् कृतौ। इतीति किं ? अहमपि दविष्ठतां–दूरतां अभजं। तेनापि–बाहुबलिना किल–निश्चयेन, विदूरतः स्थितमिति चतुर्भंगोन्वयः।

१५. **भवता०।** तटिनीश्वरः–समुद्रः, अंतरा–मध्ये, भवतात्–भूयात्। क्षितिभृच्चयः–पर्वतसमूहः, विषमः–स्थपुटः, अंतरा–मध्ये, अस्तु। जलाधिका सरित्–नदी, अन्तरा–मध्ये, अस्तु। किलेति सत्ये, आवयोरंतरा पिशुनो माऽस्तु। इति चतुर्भंगोन्वयः।

१६. **प्रणय०।** पूर्ववृत्तार्थमेव स्पष्टयन्नाह। तटिनीश्वरादिकैः–समुद्रादिभिः, अंतर्–मध्ये, पतितैः प्रणयोऽयं–प्रीतिरेषा, न हीयेत–न हीनीक्रियेत। पिशुनेन–दुर्जनेन, क्षणात् प्रणयो विहीयते–न्यूनीक्रियते। हि–यतो, मत्सरी–खलः, सिंधुवरात्–समुद्राद्, अधिकः स्यात्। इति त्रिभंगोन्वयः।

१७. **अपची०।** असुमतां–प्राणिनां, वपुः–शरीरं, वयसा–वाल्यादिना सार्द्धं–सह, इह–अस्मिन् लोके, संततं–निरंतरं, अपचीयत एव–हानिः प्राप्यत एव। यदा वयो हानिं गच्छति तदनुसारेण वपुरपि हानिं गच्छति। अपचीयते इत्यत्र कर्म्मकर्तृत्वं अवसातव्यं क्वचित्–कुत्रापि, सज्जनयोः–मित्रयोः प्रणयो नापचीयते। किं विशिष्टः प्रणयः ? हृदावनिलब्धसंभवः–मनोमहीसंप्राप्तजन्मा।

१८. **द्विजरा०।** इह–अस्मिन् लोके, कः पुमान् द्विजराजनदीशयोः–चन्द्रसमुद्रयोः, तुलां–सादृश्यं, लभते–प्राप्नोति। किं कुर्वतः ? हरिणोर्वौ–मृगवडवानलौ, दधतोः–धरतोः किं विशिष्टौ हरिणोर्वौ ? अवर्णदौ–वचनीयतादायिनौ। अपि–पुनः, तौ–द्विजराजनदीशौ, अयशो–निंदां धरतः, परं तौ हरिणोर्वौ नोज्झत एव–न त्यजत एव। इति त्रिभंगोन्वयः।

१९. **अगुणा०।** पूर्वमेव वृत्तार्थं स्पष्टयितुमाह। यः पुमान्, स्वकान्–निजान्, अगुणान्–निर्गुणान्, अपि नोज्झति–न त्यजति। हि–निश्चितं, स पुमान् गंभीरिम्ना गुणेन संश्रितः–आश्रितः स्यात्। तत्–तस्मात् कारणात्, तत्र–गुणवति पुंसि, संपदः–श्रियः, निवसंति–निवासं कुर्वन्ति। हि–यतो, गभीरके–उत्तानस्थाने, अमृतं–पानीयं, न तिष्ठति। इति चतुर्भंगोन्वयः।

२०. **स्वयमे०।** यो–राजा, निजं–आत्मीयं स्वयमेव–आत्मनैव, निहत्य–व्यापाद्य, अनुशयीत–पश्चात्तापं कुर्वीत। स निंदनीयतां–गर्हणीयतां, एतीति–प्राप्नोति।

सरितः–नद्याः, रयः–वेगः, तटं–पुलिनं, किं न प्रकाशयेद्–प्रकटीकुर्वीत। कस्मात् ? तटशाखिनिपातनात्–तीरद्रुमपातनात् इति त्रिभंगोन्वयः।

२१. स विभुः०। इह–अस्मिन् लोके, अवनेः–वसुंधरायाः, किं विभुर्मतः ? स कः ? यः स्वपरौ–निजानिजौ, हिताहितौ–भक्ताभक्तौ, न वेत्ति–न जानाति किलेति सत्ये, कोपि न हुताशं–अग्निं, संस्पृशेत्–परामृशेत्। कुतः ? स्वपरानवबोधहेतुतः–स्वीयास्वीयाज्ञानकारणात्। इति त्रिभंगोन्वयः।

२२. तरसैं०। विभोः–समर्थस्य, मतिमत्ता–पांडित्यं, अधिकवृद्धिमश्नुते। केवलं–परं, तरसा–बलेनैव न। तरसो–बलादपि मतिः प्रवर्द्धते। तत्–तस्मात् कारणात्, धियैव–बुद्ध्यैव, धीधनः–पंडितः उदीर्णः–कथितः। इति त्रिभंगोन्वयः।

२३. कुलके०। इह–अस्मिन् लोके, सः–पुमान्, कुलकेतुः–कुलध्वज उच्यते। स कः ? यः सर्वथापदः–विपत्तितः, स्वकुलं–निजवंशं, रक्षति–त्रायते। हि–यतः, प्रियबन्धुः, वल्लभस्वजन, इभः–हस्ती, यूथपः–यूथनाथो भवति। हरिः–सिंहः, अधिकशक्तिः–अधिकबलः, यत्–यस्मात् कारणात् एक एव भवति। इति चतुर्भंगोन्वयः।

२४. अविमृ०। यः पुमान्, अविमृश्य–अविचार्य, क्रियां–कर्म, करोति, स पुमान् तत्फले बहुधाऽनुशयीत–पश्चात्तापं कुर्वीत। किमिति वितर्के, बली–बलवान्, बलात्–हठात्, धन्वनि–धनुषि, नामिते सति–भग्ने, युधि–संग्रामे, किं विदधीत–किं कुर्वीत ? न किमपि। इति त्रिभंगोन्वयः।

२५. अहमे०। यद्यहमेव दुर्नयं–दुर्नीतिं, बंधुवधलक्षणां करोमि तर्हि–तदा, कः पुमान् न्यायं प्रकरोति–विदधाति। सुरवाहिनीजलं–गंगापानीयं, यज्जगतां–लोकानां, शुचये–शुद्धयेऽस्ति, तदेव सांप्रतं–युक्तं भवेत्। इति चतुर्भंगोन्वयः।

२६. नृपनी०। मया नृपनीतिलता–राजनीतिवल्ली, जगदावालपदे–विश्वकेदारस्थाने, याऽधिरोपिता सा नृपनीतिलता, बलिबंधुवधैकपर्शुना–बलवद्भ्रातृघातैककुठारेण, मूलतः, कथमद्य मया छिद्यते–प्रोन्मूल्यते। इति त्रिभंगोन्वयः।

२७. सुलभा०। हरिणीदृशः–स्त्रियः, श्रियः–लक्ष्म्यः, सुलभाः स्युः। खलु–निश्चितं, राजस्थितयोप्यदुर्लभाः–अदुःप्रापाः स्युः। पुनः स बंधुः क्वचित् न ह्यवाप्यते, यो विधुरे–कष्टे, वर्तयितुं–वृत्तिरिवाचरितुं तिष्ठति। इति पंचभंगोन्वयः।

२८. न हि ता०। सांप्रतं–अधुना, मया बंधुवधेन–भ्रातृघातेन, विशदं–निर्मलं, तातकुलं–ऋषभवंशः, न हि कलंकयते–न सकलंकीक्रियते किलेति संभावनायां।

३६. **अभवं०**। हे राजन्नहं पदे पदे–स्थाने स्थाने, तव तजोभिः–भवत्प्रभावैः, जितकाशिशेखरः–जिताहवशिरोमणिरभवमासम्। क इव? धनंजय इव। यथाग्निस्तरणेः दीप्तिभिः–सूर्यस्य कान्तिभिः, ध्वान्तहृते–तमोहरणाय, भृशं ज्वलति देदीप्यते।

३७. **विरच०**। हे राजन्! विनमिः–वैताढयाधिपतिः नमिना–बन्धुना सह, भवन्तं–त्वां, अनमत्–प्रणनाम। किं कृत्वा? उच्चकैः–अत्यर्थं, द्वादशहायनावधि–द्वादशवर्षप्रमाणं, समरं–संग्रामं, विरच्चय–रचयित्वा। हि–यतः, प्रबला रिपवः–वैरिणः, नम्रीभूताः श्रियै–शोभायै भवंति॥

३८. **विहिते०**। हे राजन्! त्वया–भवता, आयितुं–आगंतुं, मनसि–चित्ते, विहिते–कृते सति, स त्रिदशो–देवो, दरिद्वारकपाटसंपुटं–गुहाद्वारकपाटपेटां उद्घाटयत्। स कः? य उग्रतेजसा–प्रबलमहसा, भ्रुवा–भ्रूसंगेण (भ्रूभंगेण), भुवं–पृथ्वीं, चलयेत्–कंपयेत्।

३९. **निचखा०**। हे विभो! अहं तवाभिधांकितान्–भवन्नामचिन्हितान्, विजयस्तंभभरान् सुरशैवलिनीतटांतरे–गंगातीरमध्ये, निचखान–अध्यरोपयं। निचखानेत्यत्र णवुत्तमवचनं। उत्प्रेक्षते–भवदीयकीर्त्तिगोः–त्वदीययशोधेन्वाः, कीलानि–शंकूनिव।

४०. **निधयो०**। हे राजन्! निधयोपि–निधानान्यपि, तवैव दृश्यतां–दृष्टिविषयत्वं, गतवंतः–प्रापुः। उत्प्रेक्षते–सुकृतैः–पुण्यैः आहूताः–आहूता इव। वा सुरसिंधोः गंगाया मूर्तिमंतः मनोरथाः–अभिलाषा इव। किं विशिष्टा निधयः? प्रचितः–पुष्टः, यः श्रीभरो–लक्ष्म्यातिशयस्तेन भासुरं–दीप्यमानं, अन्तर्–मध्ये, येषां ते।

४१. **इति भा०**। हे प्रभो! ऽधुनेदानीं तव काचिदूनता–हीनता, नाभवन्–न भवतिस्म। किं कृतवतस्तव? भारतवर्षपर्षदि–भरतक्षेत्रसदसि, प्रभुतां–सामर्थ्यमाप्तवतो–लब्धवतः। कस्येव? द्युसदां पत्युः–इन्द्रस्येव। किं विशिष्टस्य? अधिकश्रियः–अभ्यधिकलक्ष्मीकस्य।

४२. **न सुरो०**। हे प्रभो! येन–सुरादिना, तव निदेशनीरजं–भवदाज्ञाकमल जगत्त्रये–त्रैलोक्ये, शिरसा–मस्तकेन, नो अधार्यत–नाधारि। स सुरो नास्ति, स नरो नास्ति, स किन्नरो नास्ति, स विद्याधरकुंजरोपि–विद्याधरश्रेष्ठोपि नास्ति।

४३. **तदियं०**। हे राजन्! तत्–तस्मात् कारणात, इयं तव का सरस्वती–वाक्, यया सरस्वत्या बाहुबलिः बलवानुच्यते। अत्र लोके सुपर्वपर्वतः–मेरुः, किमु

नीचः—ह्रस्वः स्यात् ? कुतः ? इतराद्रिमहोन्नतत्वतः—अन्यमहीधरमहोच्छ्रयत्वात् ।

४४. **विजित०** । हे राजन् ! केनापि महीभुजा, तु—पुनः, अयं बाहुबलिः, न हि विजितः—न पराजितः, कुतः ? तव बांधवत्वतः—भवद्भ्रातृत्वात्, किलेति श्रूयते, सूर्यदत्तया—रविविश्राणितया कलया चन्द्रमा, इह—अस्मिन् लोके, अधिकदीप्तिः—अभ्यधिकधामा भवति ।

४५. **अनुज०** । हे प्रभो ! यदि तव बांधवः, अनुजः—लघीयान्, बली—बलवान्, विद्यते । कः कस्येव ? सीमंतकभृत्—विष्णुः, हरेः—इन्द्रस्येव । तर्हि—तदा, असौ—बाहुबलिः, भवानिव चतुराशांतजयी—चतुर्दिगंतजेता, किं न भवति—किं न समर्थो भवति ?

४६. **प्रथमं०** । हे राजन् ! अस्य—बाहुबलेः, बलवानिति सर्वथा प्रथा—विख्यातिरभवद्—बभूव । ततः—तस्माद्धेतोः, अयं बाहुबलिः स्मयवान्—अभिमानवान् । प्रथमं तावत् भवदत्युपेक्षणात्—तव अवज्ञानात्, पुनर्वृषकेतोः—वृषभस्वामिनः, तनयत्वतः—पुत्रत्वात् ।

४७. **अयमी०** । हे राजन् ! द्वयोराह्वयोः, सत्—सत्यं, अन्तरं महदेव—गरीय एवास्ति । किं विशिष्टयोर्द्वयोः ? बलरिक्तबलातिरिक्तयोः—विक्रमहीनविक्रमाधिकयोः तत् किं अन्तरम् ? अयं बाहुबलिः एकमंडले—एकदेशे, ईश्वरः—नायकोस्ति । त्वं भरते विभुरसि । कथंभूतस्त्वं ? अस्तशात्रवः—क्षिप्तप्रत्यनीकः । इति त्रिभंगोन्वयः ।

४८. **अथवा०** । हे राजन् ! अथवा आर्षभतेजसां भरे—युगादिदेवसंतानमहसामतिशये, बलवत्ता—विक्रमाधिकत्वं, किमु चित्रकारिणी—किमाश्चर्यविधायिनी विद्यते ? जलधेः—समुद्रस्य, लहरीचयोच्चताविषये—कल्लोलसमूहोत्तुंगतायां, कोपि महान् विस्मयः स्यात् ?

४९. **विनिवे०** । हे राजन् ! ततः—तदनन्तरं, भवान् इह—भ्रातृदेशादानविषये, सौभ्रात्रं—सुष्ठुबन्धुत्वं न हि अलूलुपत्—न लोपयांचकार । नाभिसूः विभुः—युगादिदेवः, त्वां बलिनं—बलवंतं, परिभाव्य—ज्ञात्वा, निजे पदे विनिवेश्य—स्थापयित्वा, व्रतं—दीक्षां, आददिवान्—गृहीतवान् ।

५०. **णया०** । हे राजन् ! प्रणयात्—स्नेहात्, त्वं निजबंधुं—स्वभ्रातरं, अन्नहवस्तरां—आकारयामासिथ । स बाहुबलिः, स्वयं—आत्मना, नागतः—नागमत् । च—पुनः,

अयं अभिमानवान्–अहंकारी, चारपुरः–दूताग्रतः, नानुनिन्ये–नानुनयं चकार। हि–यतः, ईदृशां–एवंविधानां अनुनयो न स्यात्। इति चतुर्भंगोन्वयः।

५१. **प्रणय०**। हे नाभिभूपसूजननाकाशदिनेश!–ऋषभस्वामिवंशांवररवे!, त्वयि विषये यादृशः प्रणयः इहोस्ति बांधवे–बाहुबलौ, तादृश एव प्रणयो न ह्यस्ति। हि–यतो, द्विपक्षतः–उभयपार्श्वतः, प्रणयः–प्रीतिः, धृतये–सुखाय भवति। इति त्रिभंगोन्वयः।

५२. **प्रणया०**। हे राजन्! किलेति निश्चयेन, स्मयरेणुः–अभिमानधूलिः प्रणयामृतवीचिसंचयं–स्नेहसुधाकल्लोलराशिं, म्लानिमपंकिलं–मालिन्यकर्दमाढ्यं, क्षणात् कुरुते। किं विशिष्टा स्मयरेणुः? हृदयस्थलीभवा। पुनः किं विशिष्टा? कोपसमीरणोत्थिता–क्रोधानिलोड्डापिता।

५३. **वसुधे०**। हे राजन्! इयं वसुधा बंधुप्रणयादिविह्वलं–भ्रातृस्नेहाद्यातुरं, पतिं–स्वामिनं, नहीहते–न वांछति। कस्मात्? इति–अमुना प्रकारेण, तदीयतर्कणात्–तस्या वसुधाया विचारात्, इतीति किं? तु–पुनः, इतरत्र–अन्यत्रस्थाने, बांधवादौ, प्रणयी–स्नेहवान्, मदीहकः–मद्वांछकः कथं स्यात्। कोर्थः? यो वसुधामिच्छति स बांधवादीन् नेच्छति।

५४. **प्रणयो०**। हे राजन्! यद्यस्माद्धेतो उपाधिमत्तया प्रणयः–स्नेहः, दिने दिने अधिकं यथा स्यात्तथा परिहीयेत–क्षीयेत। मषीचयोऽमृतांबुनिधेः–क्षीरसमुद्रस्य, अपां भरं–पाथसां निचयं, किमु न श्यामयते–कथं न श्यामलीकरोति। अत्र करणे निः।

५५. **नृपते०**। हे राजन्! नृपतेः–राज्ञः, स्वजनाः–ज्ञातिवर्गीणाः, बांधवाः–सहोदराः, बहवो विद्यंते। एषु संस्तवः–परिचयः, नोचितः–न युक्तः। यद्यस्मात् कारणात् एते संस्तुताः–परिचिताः, अधीशं–स्वामिनं, अवमन्वत एव–अवगणनां कुर्वन्त्येव। यादृशा वयं तादृगयमपि। के इव? यथाऽजरास्तरुणाः, जरिणं–जरीयांसं, अवमन्वते। इति चतुर्भंगोन्वयः।

५६. **अपि तु०**। हे राजन्! नृपती–राजा, निजं–आत्मीयं, दुर्नयकारिणं–दुर्नीतिविधायिनं, प्रीतिभरात्–स्नेहातिशयात्, न बाधते–न व्यथते। प्रणये–प्रेम्णि, कलहो न सांप्रत–युक्तं न। क इव। अनयच्छल इव। यथा वसुधाधीशे–पार्थिवे, दुर्नय–छद्म न युक्तं।

५७. **प्रणय०**। हे राजन्! नृपः–भूपतिः, प्रणयस्य वशंवदः सन्–प्रेमायत्तः सन्,

दुर्नयिनं–दुर्नयकारिणं, स्वजनं–वन्धुं, विवर्द्धयेत्–वृद्धिं नयेत् । विकृतः–विकारं गतः, व्याधिः–गदः, किं गुणाय अलं–समर्थः स्यात् ? किं कुर्वन् ? विग्रहान्तरे–शरीरमध्ये, निवसन्नपि–तिष्ठन्नपि ।

५८. **नृपति०** । हे राजन् ! सचिवाद्याः–अमात्यमुख्या, अपि नृपतिर्न सखा–राजा न मित्रमिति वाक्यतः–नीतिवचनात्, ध्रुवं–निश्चितं, विभ्यति–भयमाप्नुवन्ति । के इव ? गजा इव । यथा दवधूमध्वजतः–दवाग्नेः, यथा राजा बिभ्यति । किं विशिष्टाद्दवधूमध्वजतः ? पृथुलज्वलदुग्रतेजसः विपुलोद्दीप्यमानतीक्ष्णमहसः ।

५९. **बहवो०** । हे राजन् । महीभुजा–राज्ञा, तेषु स्वयं–आत्मना, गतशंकसंस्तवः–निःशंकपरिचयः, न हि प्रविधेयः–न कर्त्तव्यः, भुवस्तले बहवोऽनेके, नृपसंपदर्थिनः–राज्यश्रीकामुकाः सन्ति । च–पुनः, खलाः–दुर्जनाः, अपि बहवः सन्ति ।

६०. **चकते०** । हे राजन् ! यो राजा, प्रतिपक्षलक्ष्यतः–वैरिशतसहस्रात्, न हि चकते–न विभेति । क इव ? केशरीव । यथा केसरी–सिंहः, गजयूथात्–द्विरदवृन्दात् न चकते । हि–निश्चयेन, स राजा राज्यं परिभुंक्ते–पालयति । किं विशिष्टः असौ ? अखंडविक्रमः–संपूर्णपराक्रमः । हि–यतः, अभयः–भयरहितः, श्रियां–लक्ष्मीणां, पदं–स्थानं । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

६१. **अवलो०** । हे राजन् ! महीभुजा–राज्ञा, रिपुः–शत्रुः, हृदये–मनसि, शंकुरिव–कीलक इव, अभिमन्यतां–विज्ञायतां । किं विशिष्टो रिपुः ? अवलोपि–वलरहितोऽपि, कुंजराशनांकुरलेशः–प्लक्षप्ररोहलवः, किं विहारभित्–प्रासादपातकः, न हि स्यात् ? किं कुर्वन् ? उदयन्नपि–उद्गच्छन्नपि ।

६२. **न पृथक्०** । हे राजन् ! क्षितीश्वरः–भूमिपालः, दैन्यभरात्–दीनतातिशयात्, पृथक्जनवद्–इतरलोक इव, दयालुतां न दधते–न धारयति । दधि धारणे भ्वादिः । जनाः–लोकाः, रयाद्–वेगाद्, इमं राजानमवजानन्ति–अवगणयन्ति । कस्माद् ? इत्युदीरणाद्–इति कथनाद् । इतीति किं ? सदयः–दयावानयं भूपः, कंचिदपि न मारयति । इति त्रिभंगोन्वयः ।

६३. **वसुधा०** । हे राजन् ! वसुधाधिपतेः–भूपस्य, वचःशराः–वचनबाणाः, यैः वैरिभूपालैः उपलीभूय–पाषाणी भूत्वा (भूय ?) नोरीकृताः–नांगीकृताः, तत्–तस्मात् कारणात्, नृपः–राजा, इह–अस्मिन् शत्रौ पाषाणीभूते घनटंकीभवति–दृढपाषाणदारको भवति । तेषु–शत्रुषु, मृदुता–मार्दवं, न हि सांप्रतं–न युक्तमिति त्रिभंगोन्वयः ।

६४. **स्वजनैः०**। हे राजन् ! नृपः–राजा, स्वजनैः–ज्ञातिवर्गीणैः, न विशिष्यते–न विशेषः क्रियते । च–पुनः, बांधवैः–भ्रातृभिर्न विशिष्यते । वा–अथवा, पवनातिपातिभिः–वायोरतिवेगैः, वाहैः–अश्वैः, न विशिष्यते । केवलं विजयेन–शत्रुपराभवनेन विशिष्यते । कः केनेव ? मणी–रत्नं, महसेव–तेजसेव, अत्र–लोके विशिष्यते । किं विशिष्टो मणिः ? महान्–गुरुः ।

६५. **विनिह०**। हे राजन् ! नृपः–राजा, तु–पुनः, जयमर्जयेद्–जयोपार्जनं कुर्यात् । किं कृत्वा ? बंधुं–भ्रातरमपि, विनिहत्य–हत्वा । किं विशिष्टं बंधुं ? रणांगणागतं–संग्रामाय समेतं । किमु इति वितर्के ? अंशुमान्–सूर्यः, ग्रहकान्तिसंहृते शशांकादिसर्वग्रहतेजःसंहरणात्, तेजस्विवरत्वं कलयेत्–प्राप्नुयात् ।

६६. **अनुनी०**। हे राजन् ! असौ क्षितीश्वरः–राजा, क्वचित्–स्थाने, अनुनीतिमतां वरः–अनुनयवतां श्रेष्ठो भवति । क्वचिदपि स्थाने ईर्ष्यालुर्मन्युमान् भवति । यद्यस्माद्धेतोरनुनीतिः क्रोधोपशांतिकरणं प्रतिपक्षेषु–वैरिषु, आयतौ–उत्तरकाले, श्रियै–लक्ष्म्यै, भवेत् । किं विशिष्टानुनीतिः ? अपेक्षया–वांछया, अंचिता–पूर्णा । प्रतिपक्षेभ्यो यदि किंचिद् ग्राह्यं तदानुनीतिरेव युज्यते ।

६७. **सरुषा०**। हे राजन् ! नृपो दुर्नयकारिणः स्वजनान् सरुषा भ्रुवा–सकोपभ्रूभंगेण, विनिषेधयेत्–निवारयेत् । कः कानिव ? कज्जलध्वजः–दीपः, शलभान्–पतंगानिव । कया ? स्फुरदर्चिःप्रथया–ज्वलदुल्कया, कुतः ? विदूरतः ।

६८. **अनुनी०**। हे राजन् ! क्षमाभृतां–राज्ञां, सविधेरेव–सभाग्यस्येव, अनुनीतिः–अनुनयः, उचितः–योग्यः । किं विशिष्टा अनुनीतिः ? स्वादुरसश्रियांचिता–स्वादवत्तवललक्ष्म्या युक्ता । केषां केव ? क्ष्मारुहां–तरूणां फलसंपदिवीचिता । कस्य ? समीपगस्य–पार्श्ववर्तिनः ।

६९. **यदि म०**। हे राजन् ! यदि इह–अस्मिन् बांधवे त्वयि विषये भक्तिरस्ति तदाऽयं बाहुबलिः त्वां कथं स्वयं नाययौ–नागतवान् । कथं भूतं त्वां ? हरितां–दिशां, जयात्–विजयं विधाय, समेतं–समागतम् । अत्र क्यप् लोपे पंचमी वक्तव्यः । हि–यतः, सज्जना मिलनौत्सुक्यजुषः–मिलनोत्कंठावंतः ।

७०. **अभिषे०**। हे राजन् ! तु–पुनरयं बाहुबलिस्तवाभिषेकविधौ—भवद्राज्याभिषेके, सांप्रतं–अधुना कथं नागतवान् ? किं विशिष्टाभिषेकविधौ ? समिताः–समागताः, असंख्याः–अनेके, सुरासुरेश्वरा यत्र, असौ, तस्मिन् । हि यतः, समये–अवसरे, स्वजनानां संगमः–समागमो भवति ।

७१. **अथ यु०** । हे राजन् ! अथ–अनन्तरं, अयं वाहुबलिः, चरसंप्रेषणरूपगर्जितारवैः–गर्जितध्वनिभिः, त्वया युत्कृतये–युद्धकर्षणाय, प्रबोधितः–जागरितः कथं ? कः केनेव ? कृषीवलो जलदेनेव ।

७२. **अधुना०** । हे राजन् ! अधुना–अस्मिन् समये, अस्य–वाहुबलेः, मनोवनांतरे–हृदयारण्यमध्ये, अभिनिवेशाग्निः–कदाग्रहदावाग्निः, उदच्छलत्तरां–उच्छलतिस्म । किं कर्त्तु ? तव–भवतः, राष्ट्रपुरद्रुमोच्चयं–जनपदनगरवृक्षसमूहं, परिदग्धुं–भस्मीकर्त्तु, किलेति संभाव्यते, तदंतरा–तस्यांतराले, को भावी ? न कोपीत्यर्थः ।

७३. **त्यजत०** । हे राजन् ! तत्–तस्मात् कारणात्, त्वममूदृगूहनं–एतादृशं विचारं त्यज–परिहर, हे महीपते ! युद्धाय मनः कुरु–विधेहि । महीभुजां–राज्ञां, कलिः–संग्राम एव सत्तमा–प्रधाना, स्थितिः–सीमाऽस्ति । कस्मै ? विजयश्रीवरणाय ।

७४. **रथप०** । हे राजन् ! त्वया–भवता, रथपत्तितुरंगसिंधुराणां क्षुरतलोद्धतरेणुभिरसमयेऽनवसरे, सविता–सूर्यः, अस्तमयं नीयते–प्राप्यते । तस्य वाहुबलेः का विचारणा ?

७५. **नृपते०** । हे नृपते ! अस्य–वाहुवलेर्जयो रथांगतः–चक्रात् भवता दुर्लभो न विभाव्यः–न ज्ञातव्यः, सुलभ एव भविष्यति । दनुजारिमणिप्रभावतः–चिन्तामणिमहिमातः, दारिद्रपराभवः किमु न हि भवेत् ? भवत्येव ।

७६. **भवदी०** । हे राजन् ! जगति–विश्वे, यदृच्छया–स्वैरतया, भवदीययशोऽध्वगामिनः–त्वद्यशःपान्थस्य, संचरणं–संचारः, भवतात्–भयात् । कस्मात् ? प्रतिपक्षपर्वतप्रतिघातात्–विपक्षाद्रिविध्वंसात्, किं विशिष्टस्य भवदीययशोध्वगामिनः ? हरिदंतगाहिनः–दिगन्तसंचारिणः ।

७७. **तव पा०** । हे पार्थिव ! तव–भवतः, चक्रं–रथांगं वा कटकं, पुरतः–अग्रे, यदा–यस्मिन् काले, भावि–भविष्यति । तदा परिपंथिगणः–शत्रुसन्दोहः, कथमासितुं–स्थातुं विभुः । हि–यतः, मंत्रपुरस्तात् प्रणवः–ओंकारः, पापहृत्–पापहर्त्ता ।

७८. **इति०** । चक्रभृत्–भरतः, न हि किंचिद्बुवाच । किं विशिष्टः ? रणोत्सवेन द्विगुणो य उत्साहः–प्रागल्भ्यं, तेन विवृद्धः मत्सरो यस्य, असौ, कया ? तस्य–सुषेणसेनाधिपस्य, गिरा–भारत्या, हि–यतः नृपोऽर्थसिद्धये–कार्यनिष्पत्तये, धृतमौनः–तूष्णीको भवति ।

७९. **इति नृ०** । इति–उक्तप्रकारेण, सेनाधीशः–सेनानीरपि, नृपतये–भरताय, वचोभरं–वचनातिशयं, उदीर्य्य–कथयित्वा, असकृत्–पुनः पुनः, व्यरमत–निवर्त्ततेस्म । किं विशिष्टं वचोभरं ? रणे–संग्रामे, रतिः–रागः, तस्य रसः–स्वादः, तस्योल्लासः–चिन्ताभिप्रायविशेषः, तस्योद्रेकः–आधिक्यं, तेनोद्भवंतः–उत्पद्यमानाः, पुलकांकुराः–रोमकंटकाः, यस्माद् असौ, तं। असौ–नृपोऽपि भरतो, विशिष्य–विशेषतया, तस्मै–सेनापतये, पुष्टः–प्रीतः, हि–यतः, सेवकः पुण्योदयेन नृपतेर्मान्यो भवतीति त्रिभंगोन्वयः ।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
ऽयोध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका ।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
या तस्यां नृपनीतिनिर्मितकथः सर्गश्चतुर्थोऽभवत् ॥

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायामुत्साहोद्दीपनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

पञ्चमः सर्गः—

१. **नृपनि०** । नृपनियोगमवाप्य स बलाधिपः–सेनाधिपतिः सुषेणः, चतुरं यथा भवति तथा चतुरंगचमूविधिं–चतुःप्रकारसेनाविधिं, रणाय–युद्धाय, रचयतिस्म–कल्पयतिस्म किं विशिष्टं चतुरंगचमूविधिं ? विनिर्मितं अहितदलं–शत्रुखंडनं येन, स, तं। किं विशिष्टः सेनानीः ? तदलंघ्यनिदेशवान्–भरताज्ञाकारकः ।

२. **करटि०** । करटिभिः–गजैः, इमं नरवरं–भरतं, किल–निश्चयेन हेतुतः कुतोपि कारणात्, उपास्तुं–सेवितुं, इतं–प्राप्तं । उत्प्रेक्षते–गिरिवरैरिव रैभरवाहिभिः–कनकालंकारधारिभिः, किं विशिष्टैः ? रवरंजितवारिदैः–वारिदातिशायिध्वनिभिः ।

३. **स तुर०** । स–सेनापतिः, विविधैस्तुरगैर्मुमुदे । किं विशिष्टैः ? गुणव्रजवनैः–तुरगगुणसमूहगृहैः, हृदयैरिव जवनैः–वेगवत्तरैः, किं कुर्वद्भिः ? सुरहयं–उच्चैश्रवसं, अवद्यतां रहयंतं–त्यजंतं, अनुहरद्भिः–अनुकुर्वद्भिः । अगणेयतामितैः–प्राप्तैः ।

४. **अथ र०** । च–पुनः, स एष–सेनाधिपतिः, चारुदृक् सन्, रथेषु रथांगसनाथतां–चक्रांगसनाथतां, परिचचार–करोतिस्म किं कुर्वत्सु ? कुलवरं–गृहवरं,

अनुहरत्सु–अनुकुर्वत्सु । किं विशिष्टं कुलवरं ? लवरंजितलोचनं–लवं–लवमात्रं रंजितानि लोचनानि येन, तत् ।

५. **दृशम०** । अथ असौ सैन्यपः पत्तिषु दृशमक्षिपत्–चिक्षेप । किं विशिष्टेषु पत्तिषु ? उल्वणसंचरद्रिपुविपत्तिषु–उल्वणाः–प्रकटाः संचरंत्यो रिपुविपत्तयो येभ्यस्ते, तेषु । गुरुकलापकलापविराजिषु–गुरुकलापाः–शराश्रयाः, तेषां कलापः–समूहस्तेन विराजंते इत्येवंशीलाः, तेषु ।

६. **इति च०** । इति चमूपतिः चमूं–सेनां, अवलोक्य नृपतिमेवमुवाच । किं विशिष्टां चमूं ? प्रगुणितां–सज्जीभूतां, पुनः किं विशिष्टां ? गुणितांतकविग्रहां–गुणितः–मानितः, अंतकेन समं विग्रहो यया, सा, तां । अत्रांतकप्रायो बाहुबलिः । वा अतकरोतीति अंतकः, विग्रहस्य विशेषणं । एवमिति किं ? हे नृपते ! तु–पुनः, अयं शरदः समयो वर्त्तते । किं० ? तनूभवद्रसमयः–मेघाल्पीयस्त्वाद् अल्पजलमयः ।

७. **शरदु०** । शरत्स्त्री, हे नृपते ! शुभवतः–कल्याणवतः, भवतः–तव, विनिषेवणं–पर्युपासनं विधातुं उपैति । किं विशिष्टा ? विकचवारि–रुहाननशालिनी । किं विशिष्टं विनिषेवणं ? विकलहं–कलहरहितं, किं लक्षणा शरत् ? कलहंसशुचिस्मिता ।

८. **अरिषु०** । हे नृपते ! शरदि ते महसा–तव तेजसा समं अरिषु, दिनाधिपधाम–रवितेजः, उग्रतां किं नार–किं नापत् ? च–पुनः, सुरवहा–गंगा, गाधतः तव गतिं वितनुते । किं विशिष्टा गंगा ? रवहारिसितच्छदा–रवमनोज्ञहंसा ।

९. **सुरभि०** । हे अहीनमहीन ! हे अक्षीणक्षमापाल ! सुरभिगंधिविकस्वरमल्लिकावनं विराजते । किं कुर्वत् मल्लिकावनं ? इति परितर्कणं–विचारं, ददत् । इतीति किं ? अमुना विकस्वरमल्लिकावनेन, विषमायुधपत्रिणः–कामबाणाः, किं न विषमाः ? अपि तु विषमा एव ।

१०. **अहनि०** । हे राजन् ! अहनि–दिवसे, कामिनां चित्तं, अलीकुलसंश्रितां–भ्रमरीकुलसंश्रितां, भ्रमरकुलाश्रितां कमलिनीं, उपास्यति–सेवते । पुनर्निशि–रात्रौ, तरुचंचिरुचं–द्रुमव्यापिकरं, एतादृशं सितरुचं उपास्यति । पुनः सितरुचं किं विशिष्टं ? जलदमुक्ततया–मेघमुक्ततया विशदं ।

११. **नृप ! त०** । हे नृप ! नवलंभितसस्यकं–नूतनप्रापितधान्यकं, वनबलं–नीरशक्तिः, क्रमतः–अनुक्रमात्, अधुना तनूभवति–कृशीभवति । किं विशिष्टं वनबलं ?

स्फुटविलोक्यमानतटांतरं–प्रकटदृश्यमानतीरांतरं, किं कुर्वत् ? प्रमदयत्–हर्षं कुर्वत्, पुनः किं कुर्वत् ? नलिनीदलैः मदयत्–मदं कुर्वत् ।

१ **विलसि०** । हे गवेन्द्र !–क्षितीश !, व्रजकानने–गोवने, गवेन्द्रविनोदितैः–गोपालप्रेरितैः, वृषभैः–महोक्षैः, इह–अस्यां शरदि, किं न विलसितं–न क्रीडितं ? अपि तु क्रीडितमेव । किं विशिष्टैर्वृषभैः ? अतुलसंमदैः–बहुहर्षैः, पुनः किं विशिष्टैर्वृषभैः ? भैरववासितैः–वृषाणामन्यदृषभाणां भयंकरं वासितं येषां, तैः ।

१३. **अतिवि०** । ऋतुरपि–शरदपि, अपरया–अन्यया, श्रिया–लक्ष्म्या, नृपं–चक्रिणं, अमूमुदत्–मोदयामास । किं० ? अतिविकस्वरकाशपरिस्फुरच्चमरया । किं विशिष्टं राजानं ? अमरयाचितसेवनं । पुनः किं विशिष्टया श्रिया ? अब्जदलातपत्रपरया–कमलदलछत्रयामया ।

१४. **समभि०** । हे इलेश्वर ! सितरोचिषः–चन्द्रस्य, प्रतिपत्तिथेः सकलया–संपूर्णया, कलया समं–सार्द्धं, तव जन्मतः, अमलया–निर्मलया लक्ष्म्या संप्रति दीप्यते । किं विशिष्टया कलया ? पृथुतमप्रथया–गुरुतरख्यात्या ।

१५. **किल भ०** । हे नृप ! किल इति निश्चयेन, भवान् उल्लसद्विनयया यया जनतया न उररीकृतः–न स्वीकृतः । किं विशिष्टया जनतया ? अभ्युदयद्भिया–प्रादुर्भवद्भयया, भवदनंगीकारिणी प्रायोरिपोर्जनतानतया–कुंचितया, तया जनतया त्वमिव एष ऋतुर्निषेव्यते–पर्युपास्यते । कथं ? कलितोत्सवं·········।

१६. **शरदि०** । हे विहितसज्जन !–कृतसामग्रीक ! युधे शरदि पंकभरा मुदिरेभ्यः विवर्द्धनात्–मेघध्वनिविच्छेदात्, न मुमुदिरे–न जहृषुः । भवत्–विद्यमानः, क्षयः–राजयक्ष्मा, येषां, ते, प्रायेण क्षयरोगी शुष्यति, तद्वत्पंका अपि शोषं गताः, मेघाऽल्पीयस्त्वात् । स एव सज्जनो य उपकृतापदि तुदते–व्यथते । अत्र उपकर्त्ता मेघः ।

१७. **तव स०** । हे नरेश्वर ! तव सभा इव वनराजिः, अराजत–अशोभत । किं विशिष्टा सभा वनराजिश्च ? सुमनःश्रिया–कुसुमलक्ष्म्या, तरुणया–रक्तया, सुंदरा–मनोज्ञा । सभार्थे सुमनसो देवाः पंडिताश्च । पुनः किं विशिष्टा ? वरसंचरन्नवनरा–वराः–प्रधानाः, संचरंतो नवास्तरुणा नरा यस्यां, सा ।

१८. **निववृ०** । हे अरालमतिद्विपन् !–हे वक्रमतिवैरिन् ! शिखिभिः–मयूरैः, सततोच्छलत्कलमरालं–सततमुच्छलंतः कलमरालाः–कलहंसाः, यस्मिन्, असौ, तं । सरलमयं विलोक्य, निववृते–निवृत्तं । किं विशिष्टं ? घनाघनगमं–

घनाघनाः मेघाः, तेषां गमः–नाशः यस्मिन्, असौ, तं । किं० वि० ? नगमंजु-कलस्वनैः–नगाः–पर्वताः वृक्षाश्च, तेषु मंजु–मनोज्ञं, कलः–गंभीरो ध्वनिः येषां, ते, तैः ।

१९. इह भ० । इह–अस्यां शरदि, भवानिव तरुततिरस्ति, विवर्द्धिभिः सुरभिभिः–सुवासिभिः, प्रसवैः–पुष्पैः पत्रैश्च, नवैः–तरुणैः प्रसरत्फलसंततिः–प्रसरंती फलानां संततिर्यस्या वा । किं विशिष्टा तरुततिः ? रुततीव्रवयोगणा–रुतेन–कूजितेन, तीव्रा–उत्कटा, वयोगणाः–पक्षिसमूहाः यस्यां, सा । नोपमानं लिंग-व्यत्ययतां दूषयति । यदाह नैषधकारः–'ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानां ।'

२०. धनुर० । हे अनुत्तरधीः, हे ताचय ! तां–लक्ष्मीं चिनोतीति ताचयः, तस्यामंत्रणं त्वं करपंकजे धनुश्चापं, रचय–कुरु । किं विशिष्टं ? द्विषां तापकरं, उत्प्रेक्षते–तव भयात्, गोपतिना–वासवेन, हृतं शरदींद्रधनुरभावः स्यात् । त्वं किं ? वसुधाधिपचक्षुषां–नृपनेत्राणां, नवसुधा–नवामृतं ।

२१. सपदि० । हे चितरङ्ग !–हे पुष्टीकृतरंग !, सरिज्जलं च–पुनः, तव द्विषां गूथपथं–हृदयं, गवि–पृथिव्यां, भियां पदं कलय । किं विशिष्टं सरिज्जलं ? सपदि–तत्कालं, पीतनदीरमणोदयात्–अगस्तेरुदयात्, शुचितरं–अतिविशदं । किं विशिष्टस्य तव ? विपदंतकृतः–आपत्क्षयकारकस्य ।

२२. कलम० । हे चक्रभृत् !, कलमगोपवशाः–शालिगोप्यः, किल–निश्चयेन, लयशोभनं–लयो गीतिविश्रामविशेषस्तेन शोभनं–सुन्दरं यथा भवति तथा, उज्जगुः–उज्जयंतिस्म । काभिः ? परभृतानिभृतस्वरगीतिभिः । किं विशिष्टं यशः ? शुचिः–पवित्रा, रमा–शोभा यस्य, तत्, पुनः किं विशिष्टं ? चिरमंगल-कारणम् ।

२३. गिर इ० । हे क्षितिराज । तव गिर इव इक्षवो मधुराशिसितारसात्–मधुशर्करा-रसादतिमधुरा–अतिमिष्टा, सतां मनांसि व्यवहरंति–आकृषंति । कथं ? मुहुः । किं विशिष्टा गिरः इक्षवश्च ? रसमयाः–रसाः शृंगारादयस्तन्मय्यो गिरः, कथं ? समया–समीपे, काः नगरीभुवः । समयायोगे द्वितीया चिन्त्या ।

२४. प्रसर० । हे अरिमलोदयवर्जित !–हे वैरिपापोदयोज्झित !, पवनेरितवत्तया–वायुप्रेरितवत्तया, उपवने अपि पुनर्भवदानने, श्वसितगन्धवहः–श्वासवातः, इह–अस्यां शरदि, वने–पानीये, कलमोल्लसत्परिमलः–आमोदः, प्रसरति, कलमाः प्रायेण पानीये भवंति ।

२५. **इति र०।** हे वन्धुरवन्धुरमालय !—हे मनोज्ञस्वजनलक्ष्म्यालय ! इति—अमुना प्रकारेण, आर्त्तवं उत्सवं—शत्रुसंवंधिनं क्षणं कलय। किं विशिष्टस्त्वं ? रथांगभृत्—चक्रभृत्। त्वं किं चिकीर्षुः ? वलिभुवं—बाहुबलिभुवं, प्रयियासुः। किं विशिष्टस्त्वं ? सदयितः—सस्त्रीकः। पुनः किं ? दयितोरुविपक्षभीः—दत्तवहुशत्रुभयः।

२६. **इति स०।** इति—उक्तप्रकारेण, ध्वजिनीपतौ—सेनान्यां, समीरयति सति—कथयति सति, विनयतो नयतोयधिपारगं—न्यायाब्धिपारगं, नृपमुपेत्य स कंचुकिक्षितिवरः—सौविदल्लराजस्तदा इति जगाद। स कः? योऽत्र शुद्धान्ते अतिवरः—अतिश्रेष्ठः।

२७. **कुमुद०।** हे राजन् ! तव अधिमतः—अधिकमान्यः, दयिताजनः—स्त्रीजनः, इति हेतोर्विशिष्य—विशेषतः, विभूषणं विभर्ति—धरति। किं विशिष्टस्य तव ? विधिमतः—भाग्यवतः, इतीति किं ? भुजेरितवैरिणा—दोर्दण्डक्षिप्तवैरिणा, क्षितिभुजा—राज्ञा, कुमुदहासवती शरदाश्रिता।

२८. **नृप ! भ०।** हे नृप ! अजः—कामः, कुसुमस्फुरद्धनुकरः—कुसुमस्फुरच्चापपाणिः। धनुः शव्दः उकारान्तोप्यस्ति अभिधानचिन्तामणिवृत्तौ। भवन्तं कथंचन महता कष्टेन अनुकरोतु—तुल्यतां यातु, रतिरपि त्वदनेकनितंविनीनिवहतां—भवदनेकस्त्रीसमूहतां, वहतां—धारयतां। हि—यतः, रतिः पतिव्रता।

२९. **त्वदव०।** हे क्षितिपराज !—हे राजराज !, त्रिदशराजवधूरपि सांप्रतं नयनविभ्रमविभ्रमभर्त्सनात्—नेत्रकटाक्षशोभातर्जनात्, त्वदवरोधजनात्—त्वदन्तःपुरजनात्, ऋतुसज्जितात्—ऋतुनिमित्तं सज्जीभूतात्, पराजयं—पराभूतिं, अश्नुते—प्राप्नोति।

३०. **सपदि०।** अथ विभूषणविधिमाह। हे राजन् ! सपदि—सत्वरं, काचित्—कांता, चरणयोः रणयोगविचक्षणं—रणः—शव्दः, तस्य योगो—युक्तिस्तत्र विचक्षणं, वा राज्ञ आमंत्रणविषये, हे रणयोगविचक्षण !—हे संग्रामयोजनकवे ! मणिनूपुरं अधात्—दधतिस्म। उत्प्रेक्षते—हठान् मदनं शयितं—सुप्तं, विजयश्रिया अतिशयितं—अतिरिक्तं किं वोधयितुमिव—जागरयितुमिव।

३१. **परिद०।** हे सुभग ! काचन स्त्री, काञ्चनमेखलां परिहितेन—परिधानीकृतेन, सितवाससा—नीलवस्त्रेण, पिहितां—आच्छादितां, मनोभवभूपतेरपि हितां—हितकारिणीं, उद्दीपनहेतुत्वात् रणन्मणिशिंजिनीं मुखरां परिदधे—परिदधातिस्म।

३२. **करयु०।** हे राजन् ! कौतुकात् कयाचिद् अवलया चिरयातमनःशुचा—चिरगत-

मनःशोकया, भवदतुच्छतमप्रणयोदयात्–भवदधिकतमस्नेहोदयात्, रुचिरया–रुच्यया, करयुगं वलयांचितं–कटकसहितं, आदधे–चक्रे ।

३३. **अधित०** । तु–पुनः, काचन सुनयना–स्त्री, नयनार्पितकज्जला–नेत्रदत्ताञ्जना, कलभकुंभततस्तनलम्बिनीं–करिकुंभपरिणाहिस्तनगाहिनीं, नवमांसलरोचिषं–नवीनपीनकान्ति, अनवमां–प्रधानां, गले हारलतां, अधित–दधौ ।

३४. **श्रवण०** । हे राजन् ! काचन नायिकया श्रवणयोः–कर्णयोः, वसुरत्नकरंवितं–सुवर्णमणिमिश्रितं, उन्मनोभवसुरं–उत्कृष्टो मनोभवसुरो–कामदेवो येन यस्माद् वा, तत् । एतादृशं कुण्डलं, न्यधित–निहितवती । किं कुर्वती ? त्वदनु–भवत्पूर्वं, विकचवारिजवारिजवागमं–विकचांभोजनीरशीघ्रागमं, इच्छती–वांछती ।

३५. **नृप ! द०** । बत इति कोमलामन्त्रणे, कयाचन रमणीजनकान्तया–स्त्रीजनमनोज्ञया, वरमणिः–प्रधानमौक्तिकं, अध्यधरोष्टकं–अधरोष्टयोरधिकृत्य इत्यध्यधरोष्टकं, नासिकामुपरि इति उपरिनासिकं इति अव्ययीभावः, क्रियाविशेषणद्वयं । किं विशिष्टो वरमणिः ? कांतरुक्नवतरः–मनोज्ञरुचाभिनवः, पुनः किं विशिष्टः ? रोपितमन्मथः–आरोपितकामः, दध्रे–ध्रियतेस्म ।

३६. **श्रवण०** । हे राजन् ! सुलोचना श्रवणपत्रकमौक्तिकराजिना–कर्णपत्रमुक्ताफलशोभिना, मुखेन निचिततारकतारकनायकं–व्याप्ततारकचन्द्रं, अनुकरोति–समानतां याति । किं विशिष्टं ? शुचितमं–विशदतमं । किं विशिष्टा सुलोचना ? चितमंगलसज्जना–पुष्टमंगलसामग्रीका ।

३७. **अतुल०** । हे कमललोचन ! तव दयिता लोचनयोः–नेत्रयोः, अतुलमाभरणं कज्जलं न्यधात्–विदधातिस्म । क इव ? स्मर इव, यथा स्मरः–कामः, भवद्रुहे–ईश्वरद्रोहाय, इषुमुखेषु–बाणमुखेषु, अयो–लोहं निदधाति । किं विशिष्टः कामः ? जगतः मदयिता–विश्वस्य ग्लपयिता ।

३८. **तव वि०** । हे नृपविशेष !–हे राजविशेष !, च–पुनः, तव विलासवती–भवद्विलासिनी, निजेऽलिके–स्वभालस्थले, विशेषकं–तिलकं, आचरत्–करोतिस्म । उत्प्रेक्षते–रतिपतेः–कामस्य, उदंचितं–ऊर्ध्वीकृतं, भल्लमिव–कुंतमिव । किं विशिष्टं कुंतं विशेषकं च ? छविधरं–कांतिधरं, किं कुर्वन्तं ? अनूनतां–अहीनतां, विधरंतं–दधानं ।

३९. **व्यधित०** । हे निशितकुन्तल !–निशितं कुंतलं–भल्लं लातीति–निशितकुंतलस्तस्यामंत्रणं । तव कापि अलसलोचना स्त्री, कुंतलमंडनं–केशप्रसाधनं, व्यधित–

विधत्तेस्म । कैः ? विचिकिलाभिनवप्रसवोच्चयैः–मालतीनवकुसुमसमूहैः, किं विशिष्टैः ? सुमनसां मनसां प्रमदप्रदैः–देवचित्तहर्षदैः, चक्रवर्त्तिस्त्री देवाधिष्ठिता भवतीत्यागमः ।

४०. इति वि० । हे राजन् ! तव सुदृशः पश्यतो मम मुदमदुः–हर्षं ददतिस्म । का इव ? हरिवधूरिव–वासवस्त्रिय इव, धूतसुरालयाः–त्यक्तस्वर्गाः, भुवमागता इत्यर्थः । पुनः किं विशिष्टाः ? इति–उक्तप्रकारेण, विभूषणभूषितभूघनाः–आभरणराजितांग्यः । पुनः किं विशिष्टाः ? दमदुर्द्धरदुर्लभाः दमेन–दांत्या, दुर्द्धराः–दुःसहाः, अर्थात् मुनयस्तैर्दुर्लभाः–दुःप्रापाः । प्रायेण महातपस्विनः-चक्रवर्तित्वं प्राप्नुवंतीत्यागमः ।

४१. तव व० । हे जगतीश !–हे पृथिवीपते !, तव अनुत्तरदृष्टिभिः–मनोज्ञनेत्राभिः, वधूभिः त्रिजगती चमत्कृता–विस्मापिता, अतः–हेतोरिह–अस्मिन् जगति, अनघरूपतया–निर्मलरूपत्वेन, सुकृतिभिः कृतिभिश्च–पुण्यवद्भिः पंडितैश्च, ता विशिष्य–विशेषमाधाय, ईरिताः–उक्ताः ।

४२. प्रथिति० । हे राजन् ! हि–निश्चयेन, सुदृशो ऽगना, इति धिया–इति बुध्या, अंगपिधित्सया–अंगाच्छादनेच्छया, उपरितः–उपरिष्टात्, परितः–सर्वतः, सिचय–वस्त्रं, उपलक्षणादुत्तरीयं, न्यधुः–न्यस्यंतिस्म । इतीति किं ? योत्र नलिनीनिचये अधिपतया–प्रभुतया, प्रथितिमान् नलिनीनिचयाधिपः सूर्यः, स पतयालुकरो मास्तु–पतिष्णुकरो मा भूयात् । यतोऽसूर्यपश्या राजदारा ।

४३. रतिरधीश ! ० । हे अधीश !, हे नयार्णव !–न्यायांभोधे ! हे नतरोपितसौहृद !–नताः–नतिकारिणस्तेषु रोपितं–न्यस्तं, सौहृदं–मैत्र्यं येन, असौ, तस्यामन्त्रणं । कयाचित् सरसिजाननया–कमलवदनया, भवता समं वनतरोः पुष्पचये किमपि रतिर्नाभीप्स्यतेऽपितु अभीप्स्यते एव वा अभिलष्यते एव ।

४४. सुभग ! ० । हे सुभगराज ! कयाचन कान्तया भवता सह नगवरः–गिरिवरः, अलिनीमलिनीकृतकुड्मलैः–भ्रमरीम्लानीकृतमुकुलैः रन्तुं किं नापेक्ष्यते–न वांछति ? अपितु वांछत्येव । किं विशिष्टो नगवरः ? अगवरोद्धतनीडजः–तरुवरोत्कटविहंगमः ।

४५. त्वदव० । हे हृतमत्सरव्यसनिदेश !–हृतो मत्सरव्यसनिनां देशो येन, असौ, तस्यामंत्रणं । हे क्रमनमज्जन !–हे क्रमनमन्नरपत्ते !, तव निदेशतः–आज्ञात एव कापि त्वदवरोधवधूः त्वया समं, अंभसि–पानीये, मज्जनं–स्नानं जलावगाह-लक्षणं झटिति–सत्वरं, वांछति ।

४६. **किल वधू०** । हे नृप !, हे सुन्दर !, तव वधूः कापि जवरंजितगोद्विपं–वेगरंजितैरावणं, गजवरं–गजश्रेष्ठं, अधिरोढुं–आरोढुं, उपेक्षते–इच्छति । च–पुनः, कापि त्वदंगना अद्भुतं सितवसुं–श्वेतकान्ति, चलतरं तुरंगमं अधिरोढुमपेक्षते ।

४७. **ददत०** । हे पराशुगभुजंगम ! परे–शत्रवस्त एव आशुगाः–वायवः, तेषु भुजंगम इव यस्तस्यामंत्रणं । हे धृतरथांग !–धृतचक्र !, काचिद् सपदि रथमलं कुरुते । किं कुर्वन्तं रथं ? किं जंगमं सद्म इव–चलद्गेहमिमं ऊहं–वितर्कं, सुधियां–पंडितानां ददतं । किं विशिष्टं ? रथांगमनोरमं–रथस्यावयवैर्मनोरमं ।

४८. **मणिवि०** । हे नृप !, मणिविराजितशिबिकाकृते–मणिखचितसुवर्णजाप्ययाननिमित्ततया, कयाचन युवत्या याचनं–प्रार्थनं, आदधे–क्रियतेस्म । तया कया ? यदीयमनुनयनं–प्रसाधनं, अलं–अत्यर्थं, नयनंदितभूभुजा–न्यायाल्हादितपार्थिवेन त्वया स्वयमकारि–चक्रे ।

४९. **वनभु०** । हे विबुधवल्लभ !–पंडितप्रिय ! हे माधव !–लक्ष्मीपते !, निलयादपि–गृहादपि, वनभुवः शरदि च–पुनः, माधवमासि–वैशाखमासि, कामिनां मनः कृषंति–आकृषंति, कथं ? समं, कया ? वल्लभया–कांतया, कैः ? विविधैः द्रुमैः ।

५०. **तव व०** । हे शुभरते !–कल्याणे रतिर्यस्य असौ, तस्यामंत्रणं । हे वृषभनन्दन !, हे भरतेश्वर !–वधूहृदयानि–स्त्रीजनमनांसि, तव शासनात्–भवदाज्ञातः, तद्वनान्तरं जिगमिषंति–गंतुमिच्छंति, तत् किं वनान्तरं ? यदग्रतो नंदनकाननं–इन्द्रवनं किमस्ति ?

५१. **न भवता०** । हे भारतमेदिनीशिखरिशासन !–हे भरतक्षितीन्द्र !, हे प्रणतकिन्नर !, शासनकारिभिः–आज्ञाकारिभिः, नरनायकैः–राजभिः, भवता–त्वया सह काननं नवं किं न एष्यते–किं न प्रव्रजिष्यतेऽपितु व्रजिष्यत एव । किं विशिष्टं काननं ? कृतमनोरति ।

५३. षड्ऋतु० । किं लक्षणे वने ? षड्ऋतुभूरुहसंपदमाश्रिते–सर्वर्तुवृक्षश्रियमाश्रिते। किं विशिष्टां षड्ऋतुभूरुहसंपदं ? समहितां–सर्वहितां, च–पुनः, वियोगिनां अहितां–वैरिणीं, पुनः किं विशिष्टां ? कामिहृद्दितविपल्लवपल्लव-राजिनीं–कामिचित्तखंडितापल्लेशपल्लवराजिनीं । पुनः किं विशिष्टे वने ? फलपलाशसुमांचिनि ।

५४. विधृत० । पुनः किं विशिष्टे वने ? विधृतवागुरवागुरिकावलीविगतविप्रिय-विप्रियभूरुहे–विधृतवागुरवागुरिकावलिः विगतं विप्रियमपराधो व्यापादनलक्षणो येभ्यस्ते एतादृशा वयः–पक्षिणस्तेषां प्रिया भूरुहाः–वृक्षाः यस्मिन् तत्, तस्मिन् । वने किं कारयति ? रवरागविवर्द्धिकाः–रवेण–शब्देन, रागं–प्रेम, विवर्द्धयंतीति रवरागविवर्द्धिकाः, स्वरवराः–स्वरप्रधानाः, परभृताः–कोकिलाः, स्फुट अपि–पुनर्, मोदयति–आल्हादयति ।

५५. विरहि० । वने किं कुर्वंति ? विरहिणां कुसुममार्गणपीडनं–कामबाणव्यथनं, प्रतिवासरं ददति–प्रयच्छति । अपि–पुनरर्थे, तदन्यविलासिनां–अवियोगिनां, गलितविप्रियया–गलितागसा, प्रियया–वल्लभया, समं–सार्द्धं, इह–अस्यां शरदि, मुदं–हर्ष, ददति ।

५६. पटकु० । हे रुचिरकानन !–चारुमस्तक !, तव योषितां विसरैः–समूहैः, इतः–नगरतः, बहिः पटकुटीः परिताड्य, काननसत्तमे–वनवरे, निवत्स्यते–स्थास्यते । किं विशिष्टे काननसत्तमे ? अगरतोरुविहंगमे–अगेसु–वृक्षेपु, रताः–आसक्ताः, उरवो–बृहत्तमाः, निर्भीकत्वात्, विहंगमाः–पक्षिणः यत्र, तस्मिन् । इति कलापकव्याख्यानं ।

५७. इति त० । स कंचुकिनायको मुदमवाप्य अविशरणं–अक्षयं, शरणं–गृहं, निजं–स्वकीयं, आययौ–आगतवान् । कस्मिन् सति ? इति–उक्तप्रकारेण, अहिभृता-वनिबाहुना–अहिः–शेषोहिः तद्वत् भृता–धृता अवनिर्येन, असौ अहिभृतावनिः, एवंविधो बाहुर्यस्य, असौ, तेन । महीभृता–राज्ञा वा । हि–निश्चयेन, तदुक्तिविधौ उररीकृते सति–आमिति कथिते सति ।

५८. इति नृ० । अथेत्यनन्तरं, नृपः सुषेणमिति उपादिशत् । इतीति किं ? हे बलविरोचन !–ध्वजिनीरवे !, चेद्–यदि, तव बहलीशितुराहवं–बाहुबलेः संग्रामं, कलयितुं–ज्ञातुं, रोचनं–अभिलाषोऽस्ति, तदा त्वं अमर्त्यकान्–देवान्, तदात्वं–तत्कालं, अव–प्रीणय । उक्तं रघुकाव्ये–न मामवति सद्वीपा ।

अकुत्सितशब्द ! भवान् धराधववाहुबलेः पुरो युधि–संग्रामे, यदि स्थितिं कुरुते–विधत्ते ।

६०. **त्वमिह०** । हे सुगुणमण्डल !–हे सुगुणसमूह !, त्वं मंडलनायकान्–राज्ञः, दूतगिरा कृत्वा इह–नगर्यां, सर्वतः–समंताद्, आह्वय–आकारय । तदनु–तदनन्तरं, तद्विजयाय–तस्य बाहुबलेः जयाय, समुत्सुकं मे मनः, हे कृतरमोदय !–विहितलक्ष्म्योदय !, मोदय–हर्षय ।

६१. **प्रथम०** । कुलकव्याख्या । प्रथमतः परितापितविद्विषं सबलमालवमालवभूपतिं इमां नगरीं नयतात्–प्रापय । कया ? चरगिरा–दूतवाण्या । एवं सर्वेषां संटंकः । बलस्य मा–लक्ष्मीः, तस्याः लवो–विकाशः तेन सह वर्त्तमानः, सबलमालवः पश्चात्कर्मधारयः । मालवदेशविशेषस्तस्य भूपतिस्तं । च–पुनः, वसुद्विपवाजिनां वितरणैः–दानैः, मुदिता मागधाः–वंदिनः, यस्माद् असौ, पश्चात् कर्मधारयः । मागधाः–देश विशेषास्तेषां भूभृतं–राजानं ।

६२. **अपर०** । अपरं–अन्यं, आहवः–संग्रामः, तस्य वृत्तभरः–वृत्तान्तसमूहः, तेनोच्छ्वसंतः–ऊर्ध्वीभवन्तः, श्रवणयोः कुन्तलाः–केशाः यस्य, असौ, एतादृशः कुंतलवासवः–कुन्तलदेशाधिपस्तं । पुनः अहिताः–शत्रवस्त एव वारणाः–हस्तिनः, तेषां वारणं–निषेधनं, तत्र बुद्धिमान्–कोविदः, हरिसमः–सिंहसदृशः, आरवः–शब्दः, यस्य, असौ, एतादृशो मारवभूपतिं मरुसंबंधिराजानं ।

६३. **वितत०** । विततानि–विस्तीर्णानि, मंगलानि यस्य, असौ, एतादृशो जंगलपार्थिवः–जंगलदेशाधिपस्तं । पृथुलः–महान्, लाटः–लाटदेशः, स एव ललाटं–भालं, तत्र विशेषक इव–तिलक इव वर्त्तते, यः असौ, तं प्रणतजनाना वत्सलः–हितकारी, एतादृशः कच्छदेशाधिपस्तं । द्विषतां–वैरिणां, अदक्षिणः–वक्रः, एतादृशो दक्षिणदेशाधिपस्तं ।

६४. **अकरु०** । कलहे–संग्रामे, अकरुणं–निर्दयं, एतादृशं कुरुपुंगवं–कुरुदेशाधिपं, जवनाः–वेगवत्तराः, सैन्धवाः–वाजिनः, यस्य, असौ । ईदृशं सिन्धुदेशाधिपं । गलंतः–क्षयंतः अरातयो यस्माद् असौ, एतादृशं शिलातमहीपालं–भिल्लपतिं, मलयभधरः–मलयाचलः, तस्य भधरं–राजानमादरात् ।

५३. षड्ऋतु० । किं लक्षणे वने ? षड्ऋतुभूरुहसंपदमाश्रिते–सर्वर्तुवृक्षश्रियमाश्रिते। किं विशिष्टां षड्ऋतुभूरुहसंपदं ? समहितां–सर्वहितां, च–पुनः, वियोगिनां अहितां–वैरिणीं, पुनः किं विशिष्टां ? कामिहृद्दलितविपल्लवपल्लव-राजिनीं–कामिचित्तखंडितापल्लेशपल्लवराजिनीं । पुनः किं विशिष्टे वने ? फलपलाशसुमांचिनि ।

५४. विधूत० । पुनः किं विशिष्टे वने ? विधूतवागुरवागुरिकावलीविगतविप्रिय-विप्रियभूरुहे–विधूतवागुरवागुरिकावलिः विगतं विप्रियमपराधो व्यापादनलक्षणो येभ्यस्ते एतादृशा वयः–पक्षिणस्तेषां प्रिया भूरुहाः–वृक्षाः यस्मिन् तत्, तस्मिन् । वने किं कारयति ? स्वरागविवर्द्धिकाः–स्वेण–शब्देन, रागं–प्रेम, विवर्द्धयंतीति स्वरागविवर्द्धिकाः, स्वरवराः–स्वरप्रधानाः, परभृताः–कोकिलाः, स्फुट अपि–पुनर्, मोदयति–आल्हादयति ।

५५. विरहि० । वने किं कुर्वंति ? विरहिणां कुसुममार्गणपीडनं–कामबाणव्यथनं, प्रतिवासरं ददति–प्रयच्छति । अपि–पुनरर्थे, तदन्यविलासिनां–अवियोगिनां, गलितविप्रियया–गलितागसा, प्रियया–वल्लभया, समं–सार्द्ध, इह–अस्यां शरदि, मुदं–हर्षं, ददति ।

५६. पटकु० । हे रुचिरकानन !–चारुमस्तक !, तव योषितां विसरैः–समूहैः, इतः–नगरतः, वहिः पटकुटीः परिताड्य, काननसत्तमे–वनवरे, निवत्स्यते–स्थास्यते । किं विशिष्टे काननसत्तमे ? अगरतोरुविहंगमे–अगेसु–वृक्षेषु, रताः–आसक्ताः, उरवो–बृहत्तमाः, निर्भीकत्वात्, विहंगमाः–पक्षिणः यत्र, तस्मिन् । इति कलापकव्याख्यानं ।

इति स० । स कंचुकिनायको मुदमवाप्य अविशरणं–अक्षयं, शरणं–गृहं, निजं–स्वकीयं, आययौ–आगतवान् । कस्मिन् सति ? इति–उक्तप्रकारेण, अहिभृता-वनियाहुना–अहिः–शेषोहिः तद्वत् भृता–धृता अवनिर्येन, असौ अहिभृतावनिः, एवंविधो बाहुर्यस्य, असौ, तेन । महीभृता–राज्ञा वा । हि–निश्चयेन, तदुक्तिविधौ उररीकृते सति–आमिति कथिते सति ।

इति नृ० । अथेत्यनन्तरं, नृपः नृपेणमिति उपादिशत । इतीति किं ? हे बलविरोचन !–ध्वजिनीरवे !, चेद्–यदि, तव बहलोशितुराहवं–बाहुबलेः संग्रामं, कलयितुं–ज्ञातुं, रोचनं–अभिलाषोऽस्ति, तदा त्वं अमर्त्यकान्–देवान्, तदात्वं–तत्कालं, अव–प्रीणय । उक्तं रघुकाव्ये–न मामवति सद्वीपा ।

अकुत्सितशब्द ! भवान् धराधवबाहुबलेः पुरो युधि–संग्रामे, यदि स्थितिं कुरुते–विधत्ते ।

६०. त्वमिह० । हे सुगुणमण्डल !–हे सुगुणसमूह !, त्वं मंडलनायकान्–राज्ञः, दूतगिरा कृत्वा इह–नगर्यां, सर्वतः–समंताद्, आह्वय–आकारय । तदनु–तदनन्तरं, तद्विजयाय–तस्य बाहुबलेः जयाय, समुत्सुकं मे मनः, हे कृतरमोदय !–विहितलक्ष्म्योदय !, मोदय–हर्षय ।

६१. प्रथम० । कुलकव्याख्या । प्रथमतः परितापितविद्विपं सबलमालवमालवभूपतिं इमां नगरीं नयतात्–प्रापय । कया ? चरगिरा–दूतवाण्या । एवं सर्वेषां संटंकः । बलस्य मा–लक्ष्मीः, तस्याः लवो–विकाशः तेन सह वर्त्तमानः, सबलमालवः पश्चात्कर्मधारयः । मालवदेशविशेषस्तस्य भूपतिस्तं । च–पुनः, वसुद्विपवाजिनां वितरणैः–दानैः, मुदिता मागधाः–वंदिनः, यस्माद् असौ, पश्चात् कर्मधारयः । मागधाः–देश विशेषास्तेषां भूभृतं–राजानं ।

६२. अपर० । अपरं–अन्यं, आहवः–संग्रामः, तस्य वृत्तभरः–वृत्तान्तसमूहः, तेनोच्छ्वसंतः–ऊर्ध्वीभवन्तः, श्रवणयोः कुन्तलाः–केशाः यस्य, असौ, एतादृशः कुंतलवासवः–कुन्तलदेशाधिपस्तं । पुनः अहिताः–शत्रवस्त एव वारणाः–हस्तिनः, तेषां वारणं–निषेधनं, तत्र बुद्धिमान्–कोविदः, हरिसमः–सिंहसदृशः, आरवः–शब्दः, यस्य, असौ, एतादृशो मारवभूपतिं मरुसंबंधिराजानं ।

६३. वितत० । विततानि–विस्तीर्णानि, मंगलानि यस्य, असौ, एतादृशो जंगलपार्थिवः–जंगलदेशाधिपस्तं । पृथुलः–महान्, लाटः–लाटदेशः, स एव ललाटं–भालं, तत्र विशेषक इव–तिलक इव वर्त्तते, यः असौ, तं प्रणतजनानां वत्सलः–हितकारी, एतादृशः कच्छदेशाधिपस्तं । द्विषतां–वैरिणां, अदक्षिणः–वक्रः, एतादृशो दक्षिणदेशाधिपस्तं ।

६४. अकरु० । कलहे–संग्रामे, अकरुणं–निर्दयं, एतादृशं कुरुपुंगवं–कुरुदेशाधिपं, जवनाः–वेगवत्तराः, सैन्धवाः–वाजिनः, यस्य, असौ । ईदृशं सिंधुदेशाधिपं । गलंतः–क्षयंतः अरातयो यस्माद् असौ, एतादृशं किरातमहीपतिं–भिल्लपतिं, मलयभूधरः–मलयाचलः, तस्य भूधरं–राजानमादरात् ।

६५. इति नृ० । इति उक्तान् नृपान् अन्यानपि परमुदारं–परमं प्रमोदेन, अरं–अत्यर्थं, उदारपराक्रमान्–उद्भटविक्रमान्, नयतात् इमां नगरीं । किं विशिष्टां नगरीं ? नरचितां–नरसंकुलां । पुनः किं विशिष्टां ? सुरभुजा–इन्द्रेण, रचितां–विनिर्मितां इति कुलकार्थः ।

६६. **निजहरिध्वनि०** । हे बलप !–सेनाधिपते !, पत्तिचयेपि तरवारिकरे–करवालकरे, वा–अथवा धनं वितर–देहि । किं विशिष्टे पत्तिचये ?–निजहरिध्वनिकम्पितकातरे–स्वसिंहनादक्षोभितकातरे, पुनः किं० ? अबलैतपराभवैः–न बलेन–पराक्रमेण, एतः–आगतः, पराभवः–अभिभवः, येषां तानि तैरर्थाद् बलवत्तरैः, एतादृशैः परबलैः–विपक्षसैन्यैः, अतिदुःसहे ।

६७. **सतन०** । हे सुषेण ! मम तनयाः लक्षशः, सतनयाः–ससूनवः, नयनयोः उत्सवं संदधतु–रचयंतु । किं विशिष्टाः ? न्यायादिना नरहिताः–लोकहितकारिणः, पुनः किं विशिष्टाः ? प्रहरणाहरणाधिकलालसाः–शस्त्रग्रहणाधिकस्पृहालवः ।

६८. **समुप०** । हे विदितसंगर !–प्रथितप्रतिज्ञ ! ये विद्याधराः दुरुत्तरे रणार्णवे किमपि किंचिच्चक्रवर्त्यपेक्षया वहंति–यानपात्रीभवंति । ते सविजयाः–अप्राप्तपराजयाः, विजयार्द्धगिरीश्वराः–वैताढ्यनायकाः, विमानविहारिणः संतः समुपयंतु–आगच्छंतु ।

६९. **इति नि०** । एष सेनाधिपः अविरतं–निरंतरं, नतिकारिणां शुभं–शुभकारिणं इति निगद्य–उक्त्वा, विरतं–निवृत्तं, एतादृशं नृपं भरतं आनमत्–प्रणनाम । पुनरेष सेनाधिपो जवतः–वेगात्, निजैः मनुजैः, भुजवतः–दोष्मतः, महीपतीन्–राज्ञः, अजूहवत्–आकारयामास ।

७०. **सकल०** । सः–सेनाधिपः, सकलराजकं–निखिलराजचक्रं, द्रुततया–शीघ्रतया, एतं–आगतं, अवेत्य नरपतेः–भरतस्य, अभिषेणनं–सेनयाभिगमनं, ऊचिवान्–उक्तवान् । किं विशिष्टं सकलराजकं ? ततयातरणोत्सवं–ततो महान्, यातः प्राप्तः, रणोत्सवो येन, तत् । कस्मिन् ? अशुभहारिणि–अकल्याणध्वंसिनी, हारिणि–मनोज्ञे, वासरे–दिवसे ।

७१. **क्षितिभु०** । किमुक्तं इत्याह । हे क्षितिपकुंजर !–राजश्रेष्ठः, उपशल्यनिवेशिनां–ग्रामसीमाधिवासिनां, क्षितिभुजां–राज्ञां, उन्मदैः–उत्तमैः, कुंजरसंचयैः–हस्तिसमूहैः, नगरीणवनान्ताः–द्रुमरहितवनाकुलाः (वनाञ्चिताः,) इयं नगरी किं न आशु–शीघ्रं, व्यरच्यत एव–विधीयत एव ।

७२. **भरत०** । हे भरतराज !, समग्रगमक्रमात्–समस्तचलनानुक्रमात्, अचरमं–प्रथमं, जिनवरं–तीर्थंकरं वृषभध्वजं, नवरंगकरार्चनैः–नवरंगोत्पादकपूजनैः, मंगलकारणं–मंगलहेतुं, उपनन्तुं त्वं नर–व्रज । किं विशिष्टं जिनं ? हतान्तरशात्रवं–हतांतरवैरिणं ।

७३. **मह जि०।** हे सुगुणसंश्रय !–सद्गुणाधार !, सुरतरोः–कल्पद्रोः, नवैः कुसुमैः, जिनाधिपं–वृषभध्वजं, मह–पूजय, किं विशिष्टं जिनाधिपतिं ? रतरोगपराङ्मुखं–सुरतव्याधिविमुखं, तदनु ते–त्वां, समरांगणसंगतं–रणांगणागतं, जयः संश्रयते।

७४. **क्षितिप०।** क्षितिपतिः श्रीभरतः, वलराजनिवेदितं–सुषेणसेनानीप्रणीतं वचनं आदित–जग्राह। किं विशिष्टं वचनं ? मादिततागमं–मादेः–लक्ष्म्यादेः, ततः–महान्, आगमो यस्मात् तत्, तत्। च–पुनः, शुचिवपुः सन् वाससी परिधाय अभयदं–भगवन्तं, अमहत्–अपूजयत्। किं विशिष्टो राजा ? भयदंभहरः–भीतिच्छलनाशकः।

७५. **प्रहर०।** ततः परं–तदनंतरं, स राजा प्रहरणालयमेत्य–आयुधशालां समागत्य, अरिप्रभृतीनि–प्रहरणानि–चक्रप्रमुखानि शस्त्राणि, विधिवद्–विधिना, आर्चत्–पूजयामास। किं विशिष्टः ? रणानितसाध्वसः–रणे–संग्रामे अनितो–प्राप्तो, साध्वसो–भयं येन, असौ, पुनः किं विशिष्टः सः ? परमया रमया श्रितविग्रहः–उत्कृष्टलक्ष्म्या श्रितदेहः।

७६. **एवं दे०।** एवं–उक्तप्रकारेण, भारतेशः–भरतचक्री, नागाधीशं–पट्टहस्तिनं, उच्चैः आरोहत्–आरूढवान्। किं विशिष्टो भारतेशः ? देवप्रणतचरणाम्भोरुहः–सुरनतपादपद्मः, किं विशिष्टं नागाधीशं ? सुरगिरिमिव–मेरुमिव, उत्तुङ्गं–उन्नतं, पुनः किं विशिष्टं ? मौलिन्यस्यत्कनकमुकुटं–मस्तकारोपितस्वर्णकोटीरं। पुनः किं विशिष्टं ? सोष्णरुक्पूर्वभूभृतः–ससूर्योदयाचलस्य, लक्ष्मीलीलां–शोभाविलासं, मुष्णाति–चोरयतीति, असौ तं। पुनः किं विशिष्टं ? अविरतं–निरंतरं, उत्फुल्लनेत्रारविन्दं–उत्फुल्लानि–विकस्वराणि नेत्रारविन्दानि यस्माद्, असौ, तं।

७७. **मूर्ध्ना०।** अथो–निरंतरं, क्षितीशः–भरतः, स्वसौधात्–स्वगृहात्, निर्जगाम–निर्गच्छतिस्म। किं कृत्वा ? नीराजनविधिं–आरात्रिकविधानं, कृत्वा–विधाय। किं क्रियमाणः ? उत्तानाक्षैः–ऊर्ध्वीकृतनेत्रैः, सुरनरगणैः वीक्ष्यमाणः–दृश्यमानः। पुनः किं क्रियमाणः ? चामरैः वीज्यमानः, किं कुर्वन् ? मूर्ध्ना–शिरसा, अमलरुक्–विशदप्रभं छत्रं दधत्–धारयन्, क इव ? पूर्वाचल इव। यथोदयाद्रिः उच्छारदाभ्रं–उत्कृष्टशारदीनमेघं, विधोर्विम्बं–चन्द्रस्य मंडलं, विभ्रत्–दधानः।

७८. **क्वचित्०।** स राजा श्रीपथं–राजमार्गं, आनशे–प्राप्तवान्, किं विशिष्टं श्रीपथं ? क्वचित् प्रदेशे, सरसिजाननानां–स्त्रीणां, नयनविभ्रमैः–नेत्रविलासैः,

श्यामलं। पुनः किं विशिष्टं ? विमानमणिरोचिषां समुदयैः–विमानरत्नकिरणानां समूहैः, विचित्रं–नानारूपं। पुनः किं विशिष्टं श्रीपथं ? असमयार्पिताब्दभ्रमं–अनवसरदत्तजलदभ्रान्ति, कैः ? दहनकेतनैः–धूमैः, किं विशिष्टैः दहनकेतनैः वात्यया–वायुसमूहेन, विहायसि–व्योम्नि, विवर्तितैः–प्रेंखोलितैः, पुनः किं विशिष्टैः दहनकेतनैः ? अगुरुयोनिभिः–कृष्णागुरुजन्मभिः।

७९. **क्वचित्०**। पुनः किं विशिष्टं श्रीपथं ? सकलिकैः–सकोरकैः, कुसुमकुड्मलैः-पुष्पमुकुलैः, मनोज्ञश्रियं–कमनीयलक्ष्मीकं, पुनः किं विशिष्टं श्रीपथं ? भ्रमद्भ्रमरकूजितैः–संचरन्द्विरेफारवैः, मुखरतया–वाचालतया, उद्धतं–उद्दामं, पुनः किं विशिष्टं श्रीपथं ? चटुललोचनानां नारीणां स्तनघटावलीघट्टनात्-कुचघटश्रेणिसंपर्कात्, पतिष्णुवरमौक्तिकैः–पतयालुवरमुक्ताफलैः, विशदं-उज्ज्वलं, इति युग्मार्थः।

८०. **एतस्या०**। चक्रं, एतस्य–भरतस्याग्रे–पुरस्तात्, संचचार–गच्छतिस्म। किं विशिष्टं चक्रं ? स्फूर्जज्ज्योतिःलक्ष्येण–स्फुरत्कांतिशतसहस्रेण, वैलक्ष्य करोतीति, इत्येवंशीलं, किं कारयत् ? देवनारीः–देवांगनाः त्रासयत्–नाशयत् किं विशिष्टा देवनारीः ? आकाशस्थाः–नभोमार्गस्थिताः, कैः ? स्फुलिंगैः-वह्निकणैः। किं कुर्वाणैः ? सर्वाशान्तान्–दशदिगंतान्, व्यश्नुवानैः-व्याप्नुवद्भिः।

८१. **तदिति०**। सुरनरैः–देवमनुष्यैः, चित्ते–मनसि, तच्चक्रं इत्येवं व्यतर्कि-व्यचारि। इतीति किं ? अस्य भरतचक्रिणः किं आन्तरं–अन्तर्वर्ति महस्तेज इदं उपागतं ? किमिति वितर्के। एष पुण्योदय, इह–अस्मिन् भवे, मूर्तिमत्वं-दृश्यत्वं संश्रृत एव। किं विशिष्टः पुण्योदयः ? प्रथमभवभवः–प्राग्भवजातः।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
ऽयोध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
या तस्यामिति सैन्यसज्जनविधिः सर्गोऽभवत् पंचमः॥

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पञ्जिकायां सेनासज्जीकरणो नाम पंचमः सर्गः।

षष्ठः सर्गः—

१. **राजमा०** । गवेन्द्रः–राजा भरतः, राजमार्गं अतिलंघ्य–अतिक्रम्य, गोपुरं–पूर्द्वारं, आपत् । किं विशिष्टं राजमार्गं ? सद्भिः–साधुभिः, कमनीयं–अभिलषणीयं, कमिव ? स्वर्गलोकमिव, यथा गवेन्द्रो–वासवः स्वर्गलोकमाप्नोति । पुनः किं विशिष्टं राजमार्गं ? सुमनसां–कुसुमानां, समुदायैः–समूहैः, संगतं–संयुक्तं, स्वर्गलोकपक्षे–सुमनसः–देवाः । पुनः किं विशिष्टं राजमार्गं ? वितततोरणं–विस्तीर्णतोरणं ।

२. **तारकैं०** । नृपैः–सामन्तभूपैः, राजा–श्रीभरतः, अनुजग्मे–अनुगम्यतेस्म । कथं ? आरुचि–रुचि–अभिलापं मर्यादीकृत्य आरुचि यथेष्टमित्यर्थः । किं कुर्वन् ? कौ—पृथिव्यां, मुदं–हर्षं, स्मेरतां–विकाशितां, विदधत्–निष्पादयन् । कैः क इव ? तारकैः राजा–चन्द्र इव अनुगम्यते । एतत्पक्षे–कौमुदं–कुमुदां समूहं, स्मेरतां विदधत्, आरुचि–आचन्द्रदीधिति, किं विशिष्टैः ? नृपतिवर्त्मविहायोभ्राजिभिः–राजमार्गाकाशविराजिभिः, पुनः किं विशिष्टैः कलितकांतिविशेषैः–प्राप्तशोभातिशयैः, तारकपक्षे–कांतिः–विभा ।

३. **सेनया०** । अथानन्तरं सेनया अभ्यधिकं–अधिकं यथा स्यात् तथा, अत्र–राजमार्गे, दिदीपे–दीप्यतेस्म । कयेव ? ज्योत्स्नेव, यथा ज्योत्स्नया–चन्द्रातपेन दीप्यते । किं कुर्वत्या सेनया ? तं भरतं अनुलक्षीकृत्य प्रसरन्त्या–गच्छंत्या । किं कुर्वत्या ज्योत्स्नया ? रजनीशं–चन्द्रं, अयंत्या–व्रजन्त्या । किं विशिष्टया ? पौरलोचनचकोराणां विवृद्ध आनन्दो–हर्षो यस्याः सा, तया ।

४. **वाहिनी०** । अयं–भरतः, वाहिनीभिः–सेनाभिः, अभासीत्–शुशुभे । क इव ? पाथसां पतिरिव, यथा समुद्रो वाहिनीभिः–नदीभिर्भाति । सेनानद्योर्विशेषणैः साम्यमुच्यते । किं विशिष्टाभिर्वाहिनीभिः ? अवनीधरं–राजानं पर्वतान् वा गच्छंतीति ताः, ताभिः, पुनः किं विशिष्टाभिः ? घनवाहैः–दृढाश्वैः मेघप्रवाहैश्च, अधिकं विस्तृताभिः–प्राप्तविस्तराभिः, पुनः किं विशिष्टाभिः ? कुंभिनां–हस्तिनां, कुम्भस्तनस्पन्देषु–पुलिनेषु, वासः–सन्तोषो वसो वा, स्रोतो–वेगो यासां ताः, ताभिः ।

कथमपि—महता कष्टेन, विधार्याः—प्रयत्नेन रक्षणीयाः आसन्। किं कुर्वतः ? बिभ्यतः—भयं प्राप्नुवंतः। किं कृत्वा ? सिंहवदनाकृतिवाहान्—सिंहमुखाकारान् अश्वान् वीक्ष्य, किं विशिष्टान् ? कुथपरिष्कृतदेहान्—सन्नाहसंवेष्टिततनून्। किं विशिष्टा वारणाः ? चकितपौरसुनेत्राः—भीतपौरस्त्रीकाः।

७. **कैश्चन०**। सप्तिभिः—तुरगैः, अतिवेगात् गगनमेव ललम्बे—आश्रितं। किं विशिष्टैः सप्तिभिः ? उज्झितधरैः—त्यक्तवसुधैः। कैरिव ? पक्षिभिरिव। किं विशिष्टैः पक्षिभिः ? आततपक्षैः—विस्तारितच्छदैः। किं कृत्वा ? पार्श्वसंचरदनेकपराजीः—अभ्यर्णागतगजश्रेणीर्वीक्ष्य।

८. **चित्रका०**। अत्र—राजमार्गे, वृषभैः स्यंदनाः—रथाः, द्राक्—शीघ्रं, मुमुचिरे—मुक्ताः। किं विशिष्टैः वृषभैः ? चित्रकाननहयाधिकभीतैः—चित्रकायास्यतुरगात् पलायितैः, पुनः किं विशिष्टैः ? कण्ठकन्दलविलम्बितयोक्त्रैः—कंठकंदले—ग्रीवायां, विलंबितः—संश्रितः योक्त्रो येषां ते, तैः। किं कृत्वा ? प्राजनप्रहरणानि—तोदनप्रहारान् अवमत्य—अवज्ञाय।

९. **पत्तिभि०**। पत्तिभिः—पदातिभिः, क्वचन दीप्यतेस्म। किं विशिष्टैः पत्तिभिः ? शौर्यरसोद्यत्कुंतलैः। पुनः किं विशिष्टैः ? कलितः—गृहीतः, भल्लो येन, तत् कलितकुंतं, कलितकुंतकराग्रं येषां, ते, तैः। उत्प्रेक्षते—वीर्यैः मूर्तता अधिगतैः—प्राप्तैः, अब्धेः—समुद्रस्य, लहरीभिः—तरंगैरिव।

१०. **सिंहना०**। इह—अस्मिन् भरतसैन्ये, सिंहनादमुखरैर्वीरैः मदभरालसयो नागा इति शाकपार्थिवादिमध्यमपदलोपीसमासः। त्रासिताः—भापिताः। तैः—गजैः, कुरंगनयनाः—स्त्रियः, विहस्ताः—व्याकुलीकृताः। ताभिः—नारीभिः, शिशवः—बालाः, उत्ससृजिरे—त्यक्ता इति त्रिभंगोन्वयः।

११. **खेचरै०**। खेचरैः—विद्याधरैः, चतुरंगसेनासंचारबाहुल्यात् संकुलो नृपमार्गः—राजपथः, अपजहे—त्यक्तः। त्रिदशवर्त्म—गगनं, जगाहे—अगाह्यत। च—पुनः तैः—खेचरैः, तत्र—त्रिदशवर्त्मनि नाकिखेचरविमानविहारैः—सुरविद्याधरविमान-संचारैः कृत्वा घनसंकटता—बहुलसंकीर्णता, ऊहे—प्राप्ता।

१२. **अंतरो०**। व्योमगैः—विद्याधरैः, अंतरा—मध्ये उद्यतरजोपि—उड्डीयमानरेणुरपि, निरासे—दूरीकृतं। कया ? वारणप्रहरणांबुविसृष्टया—वरुणास्त्रपानीयवर्षणात्, किं विशिष्टैः व्योमगैः ? बलविलोकनशौंडैः—सैन्यनिभालनदक्षैः। इतीति किं ? नः—अस्माकं विद्याधराणां, पश्यतां—विलोकयतां, विघ्नः—व्यवायः, इह—अस्मिन् समये, न अस्तु—न भवतु।

१३. **व्यमगै०** व्योमगैः–खेचरैरिति वरुणास्त्रवर्षणेन दृक्सरोरुहदृशां–आशांगनानां, एतद् रजोम्बरं–पांसुरूपं वस्त्रं, द्राक्–शीघ्रं, चक्षिपे–आकृष्टं। पुनः करिभिः–हस्तिभिः, आसां–दिगांगनानां, श्रुतिकीर्ण–कर्णतालविक्षिप्तं, नागजांबरं–सिन्दूररूपवस्त्रं, प्रत्यदायीव–प्रत्यर्प्यतेस्मेव।

१४. **प्रक्षर०।** गजराजैरीये–प्रयातं। किं विशिष्टैः गजराजैः? प्रक्षरन्मदजलैः–पतद्दानवारिभिः, पुनः किं विशिष्टैः? जातरूपमयमण्डनकान्तैः–स्वर्णाभरणशोभनैः, उत्प्रेक्षते–विद्युदंतरचरैः–तडिन्मध्यवर्तिभिर्मेघैरिव, किं विशिष्टैः? उन्नतत्वेन–प्रोत्तुंगतया परिचरंतीत्येवंशीला उन्नतत्वपरिचारिणस्ते। अत्र वृत्ते भावोक्तिरेव चिन्त्या।

१५. **राजलोक०।** भामिनीभिः–पौरवधूभी राजलोकनकृते–भरतावलोकनार्थ, समुपेतं–समागतमत्र भावे क्तः। किं विशिष्टाभिर्भामिनीभिः? अधिकत्वरिताभिः–सत्वराभिः, पुनः किं विशिष्टाभिः? फुल्लपद्मदलमानसशोभां–विकस्वरांभोजमानससरसीवरश्रियं, इताभिः–प्राप्ताभिः, काभिः, कृत्वा? लोचनास्यकमलाभिः–नयनवदनश्रीभिः।

१६. **लीलयै०।** काचिद् रामा अनंतचराणां–विद्याधराणां, हास्यं–हसनीयतां, आपयत्–प्रापितवती। किं विशिष्टा काचित्? ऊर्ध्वपदधःकृतवक्त्रा–ऊर्ध्वांह्रिन्यक्कृतमुखी, पुनः किं विशिष्टा काचित्? अत्र–राजमार्गे, गवाक्षात् लीलयैव करणीशकरात्ताद्–हस्तिशुण्डादण्डगृहीता, पुनः किं विशिष्टा? सैन्यवीक्षणपरा।

१७. **कामिनी०।** काचित् कामिनी करिवरेण–हस्तिना, बलविलोकनदार्ढ्यात्–सैन्यालोकनतत्परत्वात्, उद्धृता–उत्पाटिता, करेण–हस्तेन, पुनः किं विशिष्टा? वल्लिवत् स्तनफलाकलितांगी कामिनां तदानीं–तस्मिन् सैन्यसंचारसमये, मुदं–हर्षं, अदत्त–दत्तेस्म।

१८. **स्मेरव०।** काचिद् वाला गजराजकराग्रे–हस्तिहस्ताग्रे, पद्मिनीव–कमलिनीव, राजतेस्म–दिदीपे। किं विशिष्टा? चकितेक्षणं–भीतलोचनं यथा स्यात् तथा दृष्टा–विलोकिता, पुनः किं विशिष्टा? स्मेरं–विकस्वरं, वक्त्रं–आननं, तदेव कमलं, तस्योपरि लोलंतः–चलंतः, लोचनभ्रमराः तेषां विभ्रमः–शोभातिशयः, तेन वामा–मनोज्ञा।

१९. **कुम्भिकु०।** केचन युवानः कुंभिकुंभकुचयोः–द्विरदकुंभस्थलपयोधरयोरपि पुनः उरुकरयोः–सक्थिहस्तिशुंडयोः, साक्षात्–प्रत्यक्षतयोपमानं–तुल्यतां, लेभिरे–प्राप्तवंतः। किं विशिष्टयोः? मिथः–परस्परं मिलितयोः–संपृक्तयोरिव।

हि–यतः, तादृशां–भरतसदृशानां, अवसरे–प्रस्तावे, किमनाप्यं–अलभ्यं, अपितु सर्वं सुलभमेवास्ति ।

२०. **कापि म०** । काचिद् बाला मत्तकरिणीश्वरभीत्या–मत्तद्विरदभयेन, कांतं–भर्त्तारं एव निविडं–बाढं यथा स्यात् तथा परिरेभे–आलिंगितवती । उत्प्रेक्षते–द्राक्–शीघ्रं, आंतरं–मध्यवर्त्ति, भयं क्रष्टुं–निष्कासयितुमिव वक्षसि–हृदयस्थले, कामं–मन्मथं. संनिवेष्टुं–स्थापयितुमिव ।

२१. **कंदुको०** । ताः–स्त्रियः, एवं–अमुना प्रकारेण, इभात्–गजात्, अपसस्रुः दूरीबभूवुः । एवमिति किं ? अस्माभिर्यथाऽयं कंदुकः, किलेति निश्चयेन करेण–हस्तेन, हन्यते । किं विशिष्टः कंदुकः ? अनुकृतस्तनलक्ष्मीः–सदृशीकृत पयोधरश्रीः, तथैवास्माभिर्हस्तिनां गतिर्गमनमदायि–जगृहे ।

२२. **कुम्भिनां०** । कुंभिनां–हस्तिनां, उत्पतिष्णुकरशीकरवारैः–उत्पतनशीलभुजदंड संबंधिछटासन्दोहैः, अंबरं–गगनं, तारतारकितं–निर्मलमौक्तिकरूपताराढच मासीत्, कस्मिन् ? पांसुसंतमसेन–रजोंधकारेण, नीतं–प्रापितं, यन्निशीथं अर्द्धरात्रः, तस्मिन् । किं विशिष्टानां कुंभिनां ? प्रसरदुच्छ्वसितानां–विस्तृते च्छ्वासानां ।

२३. **संचर०** । संचरद्बलरजोनिकुरंबैः–गच्छत्सैन्यधूलिनिवहैः, जगदपि–विश्वमपि, संभ्रमाद् एतद् ईरयद्–इदं ब्रुवाणं, परितेने–चक्रे । एतदिति किं ? भानुमान्–सूर्यः, किमिति वितर्के, परशैलं–अस्ताचलं, इतः–प्राप्तः, किं विशिष्टैः ? चुंबितांबरपथैः–आश्लिष्टगगनैः ।

२४. **भूधरो०** । छत्रचक्रमहसां समुदायैः एष समयः–अवसरो, दर्शः–सूर्येन्दुसंगम एवाऽभवत् । कस्मात् ? शर्वरीदिवसनायकयोगात्–सूर्यचन्द्रमसोर्मिलनात् । किं कुर्वद्भिः ? भूधरोपरिपुरः–भरतस्योपरिष्टात् पुरस्तात् च प्रसरद्भिः–विस्तारं प्राप्नुवद्भिः ।

२५. **एक एव०** । गगनेलाचारिणां–विद्याधरभूमिचराणां एक एव समयः–प्रस्तावः, रजसा–रेणुना कृत्वा, दिननिशांतरतर्कं–दिवसरजन्यंतरविचारं, आततान–करोतिस्म । किं विशिष्टेन रजसा ? उरुविमानस्पर्शिना–बृहद्विमानावलंबिना । पुनः किं विशिष्टेन ? अनितत मोरिपुधाम्ना–अप्राप्तदिनकरातपेन, विमानांतरभावात् ।

किलेति संभाव्यते, किं सुरराजः—इन्द्रः, हस्तिमल्लं—ऐरावणमाश्रित इव। ईक्षणद्वयसहस्रविभेदात् नायं सुरराजः। एतस्य नेत्रद्वयं, वासवस्य नेत्रसहस्रं, अयमेव भेदो नत्वन्यः।

३४. **उर्वशी०**। उर्वशी—स्वर्वेश्या, तं—भरतं, निपीय—दृष्ट्वा, तदा—तस्मिन् समये, इति विममर्श—विचारयतिस्म। इतीति किं? तु—पुनः, यत्पतिर्यस्या दयिताऽसौ भरतोस्ति, जगति—विश्वे, सा धन्यतमा—अतिशयितपुण्यवती। किं विशिष्टोऽसौ? अधिकरूपभरश्रीः—अतिरिक्तरूपातिशयलक्ष्मीकः, किं विशिष्टा उर्वशी? गुणवशीकृतविश्वा—गुणैः रूपादिभिः, वशीकृतं विश्वं—जगत् यया, सा।

३५. **रंभया०**। रंभयाऽयं भरतः, इत्यचिंत्यतः—एवं विचार्यतः। वासवाद्—इन्द्रात्, अधिकरूपविलासोऽस्ति। पुनरियं—एषा नगरी विनीता, नाकनाथनगराद्—अमरावतीतोतिरिक्ता—अधिकतमा। किं विशिष्टया रंभया? आश्रित-नभोन्तरया।

३६. **गोपुरं०। जातरू०। मल्लिका०**। स—भरतः, गोपुरं—नगरीद्वारं, ललंघे—अतिक्रान्तवान्। उपमीयते—अस्याः पुरः—नगर्याः, आननं—वदनमिव, किं विशिष्टं? नीलरत्ननयनद्युतिरम्यं—नीलरत्नानि इन्द्रनीलान्येव नयनानि, तेषां द्युतिः—कांतिः, तया रम्यं—मनोज्ञं। पुनः किं विशिष्टं? उत्तरंगं—पूर्द्वारोर्ध्वद्वारभागस्तदेव ततभालं—विशालललाटं तत्र चकासद्रत्नतोरणरूपविशेषकस्य—तिलकस्य शोभा यत्र, तत् उत्तरंगततभालचकासद्रत्नतोरणविशेषकशोभं।

३७. पुनः किं विशिष्टं? जातरूपमयी—स्वर्णरूपा या भित्तिरेव कपोलस्तस्य श्रीर्लक्ष्मी-स्तया सनाथा—सहिता या वलभी—छदिराधारः, सैव वरनासा—प्रधानघ्राणं यत्र, तत्। पुनः किं विशिष्टं? नागदंताः—द्वारोपकरणविशेषाः, त एव लटभ-भ्रुवः—वक्रभ्रूभंगास्तैर्विशिष्टो—रुचिरः, यः श्रीविलासो यत्र, एतादृशाः किसलाः पल्लवपुष्पादीनां तद्रूपमधरबिंबं यत्र, तत्।

३८. पुनः किं०। मल्लिकाकुसुमकुड्मलानां लेखा—श्रेणिः, तद्वत् यो हासः—स्मितं, तेन हारि—मनोज्ञं, पुनः किं० वि०? सुभगैः स्पृहणीयं—कमनीयं, पुनः किं० वि०? कुमुदकुंदानां कलापैः—समूहैः, दन्तुरं—उन्नतदशनवत्। पुनः किं? तूर्यनादमुखरं—वाद्यनिर्घोषवाचालं। इति विशेषकार्थः।

३९. **सार्वभौ०**। हे सार्वभौम!—चक्रवर्तिन्!, भवता—त्वया, ऋषभध्वजवंशः, सर्वथैव स्पृहणीयः—अभिलषणीयः, केन क इव? देवतावनीरुहा—कल्पद्रुमेण सुमेरुरिव। च—पुनः, कौस्तुभेन हरेः—विष्णोः, वक्षोहृदयमिव।

४०. **मौक्तिकै०** । हे राजन् ! भवता यशोभिः क्ष्मातल–भूवलय, अशोभि–शोभितं । उपमीयते–मौक्तिकैरिव । किं विशिष्टैः यशोभिः ? विमलवृत्तगुणाढ्यैः– विशदाचारगुणपूर्णैः, मौक्तिकपक्षे–विमलानि–निर्मलानि, वृत्तानि–वर्त्तुलानि, गुणाढ्यैः–सदवरकान्तैः, पुनः किं विशिष्टैः ? दिक्पुरंध्रिहृदयस्थलेन धार्यैः–वहनीयैः, अमीषां यशःमौक्तिकानां अम्बुधिरिव त्वं हेतुः–निदानमसि ।

४१. **वाम०** । हे वदान्यवतंस !–दातृशिरोमणे !, तवैतद् वामदक्षिणकरद्वयं स्वर्गरत्न-फलदाधिकं–चिंतामणिकल्पद्रुमातिशायितं, अस्माभिः, ऊह्यं–ज्ञातव्यं। कस्मात् ? हृदयेप्सितवस्तु प्रापणात् । कथं ? सर्वदैव ।

४२. **वाहिनी०** । हे राजन् ! तत्–तस्माद्धेतोः त्वं कथंचिन् महता कष्टेन, इह–अस्मिन् लोके, उपमेयः–उपमानार्होसि । अयं वाहिनीपतिः–नदीनाथः, त्वं सेनानाथः । परं जडतया–जाड्येन आढ्यः–पूर्णः, त्वं नेदृक् । गौरकांतिः–चन्द्रोपि संश्रितदोषः, त्वं त्यक्तदोषः । तेजसां निधिः–श्रीसूर्योऽपि क्षतधामा–हतप्रभावः संध्यासमये । त्वं नैतादृक् ।

४३. **आयुगां०** । हे भरतावनिशक्र !–भारतवर्षभूमीन्द्र !, ते–तव, कीर्त्तिरियं स्थाणुः–शाश्वती भविष्यति, कथं ? आयुगान्तं–आकल्पान्तकालमपि, कुत्र ? अत्र–लोके । यत्–यस्मात् कारणात्, भाविनोपि–भविष्यंतोपि, क्ष्माभृतः–राजानः, वसुमतीं अवितारः–रक्षितारः । किं कृत्वा ? अमुं त्वदीयां कीर्त्ति अनुसृत्य–अनुगम्य ।

४४. **कीर्त्तिनि०** । हे राजन् ! तव कीर्त्तिनिर्जरवहा–भवत्कीर्त्तिगंगा, रमणतीर–गमित्री–समुद्रतटगमनशीला विद्यते । किं विशिष्टा ? विष्टपत्रितयपावनदक्षा–जगत्त्रितयपवित्रीकरणनिपुणा, पुनः किं ? राजहंसानां–भूपालश्रेष्ठानां मरालानां च, रचितः–विहितः, अधिकः हर्षः यया, सा ।

४५. **त्वत्प्र०** । हे राजन् ! त्वदरिणां–भवद्वैरिणां, यशांसि–कीर्त्तयः, इह–अस्मिन्, त्वत्प्रतापदहने–भवत्प्रतापाग्नौ भस्मसाद् भवंति । तव यशोनवयोगी स्वेच्छया अटति, किं कृत्वा ? अनेन भस्मना वपुः–शरीरं विलिप्य ।

४६. **व्यानशे०** । हे राजन् ! सपदि–सत्वरं, तव यशः चतुराशाः–चतुर्दिशः, व्यानशे–व्यापत् । कस्येव ? वाहिनीशितुः–समुद्रस्येव, यथा समुद्रस्यांबु–पानीयं, विवृद्धं–वृद्धिं प्राप्तं चतुराशा व्याप्नोति, तत्रांबुधौ कोपि राजा–प्रत्यर्थिभूपः, न शैलति–पालिवदाचरति, तु–पुनः, तत्र मार्गणाः–अर्थिनः, अनिमिषंति–नितांतं मीनवदाचरंति । अत्र चतुर्भंगोन्वयः ।

४७. देव ! चं० । हे देव !, भवदीयं यशश्चंद्रति–चन्द्रवदाचरति । सांप्रतं–अधुना, च–पुनः, इतरेषां–अन्येषां, क्षितिभुजां–राज्ञां, यशांसि तारकंति, तारावदाचरंति, तत् तवैव कृतित्वं–पांडित्यमस्ति । हि–निश्चितं, यत्र यशश्चन्द्रे कलंकांको न भवति वापवादः । इति चतुर्भंगोन्वयः कलंकांकोपवादयोः इत्यनेकार्थसंग्रहे ।

४८. त्वामपा० । हे राजन् ! यः पुमान् अत्र–लोके, विह्वलतया अन्यं–अपरं, श्रयते–सेवते । किं कृत्वा ? त्वां–भवन्तं, अपास्य–त्यक्त्वा, किं विशिष्टं त्वां ? सकलार्थदहस्तं–सकलवस्तुदायिकरं, हि–यतः, स पुमान् दुर्मतिः–दुर्बुद्धिः स्यात्, यः शुष्यदंबुसरसीस्थितिमान् भवति–शुष्कपल्वलस्थाता । किं विशिष्टः ? स सुधाब्धि–क्षीरसमुद्रं अपास्ता–उज्झिता ।

४९. को गुण० । हे राजराज !–हे राजेन्द्र !, स तव को गुणो वर्तते येन गुणेन त्वया चपलापि–अनवस्थायिन्यपि जयश्रीः निबद्धा–नियंत्रिता, च–पुनः, या श्रीर्भवतः–त्वत्तोन्यं–अपरं, एव न वृणीते–नांगीकुरुते, अतः हेतोः, इह–अस्मिन्–जगति, त्वदीयसुभगत्वं–भवदीयसौभाग्यं, ईड्यं–स्तोतव्यं, अस्माभिरिति शेषः । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

५०. पश्य प० । हे राजन् ! त्वद्बलं–तव सैन्यं खररुचिं–श्रीसूर्यं, पिदधाति–आच्छादयति, त्वं पश्य–विलोकय, किं विशिष्टं त्वद्बलं ? गगनक्षितिचारि–व्योमवसुधासंचरणशीलं । महस्वी सूर्यः कथमत्र लोके ख्यातिमेति–प्राप्नोति । किं विशिष्टो महस्वी ? इति–पूर्वोक्तं अवेक्ष्य–विचार्य, गगनांतविहारी–नभःप्रान्तविहरणशीलः ।

५१. इत्थम० । क्षितिपतिः–राजा भरतः, पुरः–नगर्या एव सविधे–समीपे, काननानि–वनानि, लुलोके–दृष्टवान् । किं कुर्वन् ? इत्थं–पूर्वोक्तैः, त्रयोदशवृत्तैः, अर्थिजनवाक्यपदानि–वंदिजनवचनस्थानान्याकर्णयन्, किं विशिष्टानि काननानि ? समंतात्–सर्वतः, शाखिभिः–द्रुमैः, परिवृतानि–व्याप्तानि ।

५२. स्वस्वना० । पृथिवीशाः–द्वात्रिंशत् सहस्रपरिमिता भूपाः, क्षितिपतेः–भरतस्य, पृष्टतोन्वयुः–अनुयान्तिस्म । किं विशिष्टाः पृथिवीशाः ? स्वस्वनागहयपत्ति–रथाढ्याः । पुनः किं० ? उत्तरोत्तररमाभिः–उत्कृष्टोत्कृष्टलक्ष्मीभिः, अर्पितं–दत्तं, चित्रं–आश्चर्यं यैः, ते । कस्येव ? भानोरिव, यथा भानोः पृष्टतः करभरा अनुयांति ।

५३. आदिदे० । नागराः सतर्क–सविचारं यथा स्यात्तथा परस्परमित्यूचुः । किं कृत्वा ? तां ध्वजिनीं–सेनां, समवलोक्य–दृष्ट्वा, किं विशिष्टां ध्वजिनीं ?

आदिदेवतनयं–भरतं, अन्वितां–अनुप्रयातां, कां कमिव ? निर्जरसेनां–देवचमूं, तारकारिं–स्वामिकार्त्तिकेयमिव।

५४. एतयो०। नागराः किं अवोचन् इत्याह। ननु–निश्चितं, एतयोः–भरतवाहुवल्योः, पिता–जनकः, जगदीशः–तीर्थंकरोस्ति। किं विशिष्टो जगदीशः ? सर्वसृष्टेः करणं–निष्पादनं, तत्रैकविधाता–एककर्त्ता, आभ्यां–भरतवाहुवलिभ्यां, किमिति वितर्के, विरोधतरुः–वैरवृक्षः, उप्यते–समारोप्यते। किं विशिष्टो विरोधतरुः ? युत्–संग्राम एव फलं यस्य, असौ, पुनः किं० ? चरनियोजनं–दूतसंप्रेपणमेव सूनं–पुष्पं यस्य, असौ।

५५. नः प्रभु०। इह–अस्मिन् व्यतिकरे, नः–अस्माकं, प्रभुः–भरतः, भारतक्षितिपराज्यगृहीत्या–भरतवर्पसर्वविभूपालराज्यादानेन न तृप्तिमवापत्। क इव ? वाडवाग्निरिव, यथा वडवानलः सिंधुराजसलिलाभ्यवहृत्या–समुद्रपानीयभक्षणेन न तृप्तिमवाप्नोति। किं विशिष्टः ? दुर्द्धरतेजाः–दुःसहवलः।

५६. दैवते०। अस्य–भरतस्य लक्ष्मीः–संपत्, गतांता–अनंता परिभाति, किं विशिष्टा लक्ष्मीः ? दैवतेशितुः–इन्द्रस्यापि स्पृहणीया–अभिलपणीया। किमिति वितर्के, वंधुवाहुवलिमंडललिप्सोः अस्य भरतस्य, सांप्रतं–अधुना, किमधिका भवित्री–किमतिशायिनी भविष्यति ?

५७. वाजिरा०। एप–भरतः, तृणवज्जगंति मन्यते। कस्मात् ? प्राभवात्–प्रभुत्वात्। किं विशिष्टात् प्राभवात् ? वाजिराजिभिः–हयततिभिः, इभैः–गजैः, विवृद्धात्–वृद्धिं प्राप्तात्, पुनः किं विशिष्टात् ? नुन्नरोगकांतात्। हि–यतः, प्राभवस्मयगिरिः–प्रभुत्वाहंकारपर्वतः, विलंघ्यः–अनुल्लंघ्यः।

५८. सात्विका०। केचिज्जना इह–अस्मिन् युगे, नास्तिकाः–पुण्यवंतः सात्विका भवन्ति। केचिज्जना राजसभावमादधति–धरंति। केचिज्जनैः इह–अस्मिन् लोके, तामसत्वमुपास्तं–सेवितं, यत्–यस्माद्धेतोर्भुवि–पृथिव्यां, जनाः–लोकाः, गुणत्रयवंतो भवन्ति। इति चतुर्भंगोन्वयः।

विज्ञातः, काभ्यां ? दायकत्वसुकृतित्वगुणाभ्यां। कथं तत्-तस्माद्धेतोरेष भरतः सोदरेण-बांधवेन सह युयुत्सुः-युद्धं कर्तुं इच्छुः, किं कृत्वा ? सात्त्विकत्वं अवधूय-दूरीकृत्य।

६१. **यो विवे०**। अधुना-अस्मिन् समये स भरतः चरमाद्रिः-अस्ताचलः, विवेकतरणेः अस्तमयाय भविता-भावी। स कः ? यो विवेकतरणेः उदयाद्रिः उदयाचलोस्ति। यत्-यस्माद्धेतोः, मेदिनीगगनचारिचमूभिः-भूचरविद्याधर-कटकैः, वृतः-संयुक्तः, बंधुविजित्यै-बाहुबलिविजयाय व्रजति।

६२. **मंडपः०**। स बाहुबलिः यदि नीतिलतायाः-न्यायवल्याः, मडपः-आश्रयोस्ति, तर्हि अयं कथं ज्येष्ठं-बृहद्भ्रातरं नानमति-नमस्करोति, तु-पुनः, अयं बाहुबलिः अनया नत्या अविनयमुच्छिनत्ति-उन्मूलयति। अधुना अस्य-भरतस्य नत्यां-नमस्कारे सति न मानहानिः नाहंकारस्य न्यूनता।

६३. **मानिनां०**। किलेति-श्रूयते, तस्य-बाहुबलेः, मानिनां प्रथमता प्राग्-पूर्वं, त्रिजगति-त्रैलोक्ये, प्रथिमानं-गरिष्ठतां, गता-प्राप्ता। स बाहुबलिः एनं-भरतं कथमेति-आगच्छति। किं कृत्वा ? तां मानिनां प्रथमतामपास्य-त्यक्त्वा, जीवितात्-प्राणतः, अभिमानः शतगुणोऽस्ति।

६४. **एकदे०**। नः-अस्माकं, विभुः-स्वामी, बांधवस्य-भ्रातुः, एकदेशवसुधाधिपतित्वं-एकमंडलाधिपत्यं, न सहते-न क्षमते। मृगराजः-सिंहः, आत्मनः प्रतिरूपं जलगत वीक्ष्य-दृष्ट्वा, किं न कुप्यति ?

६५. **यच्चका०**। एव एव बहलीशः-बाहुबलिः, भारतक्षितिधवस्य-षट्खंडाधिपतेः, पुरस्ताद्-अग्रतः, यद् रणचेष्टितं चकार-करोतिस्म, तदुच्चैः-महत्वाय, अस्य-बाहुबलेः, बलवान्-सत्त्ववान्, अयं इत्येवंविधं यशो भविष्णु-भावि।

६६. **एतयोः०**। एतयोः-भरतबाहुबल्योः, समरतः-संग्रामतः, किलेति निश्चयेन, नागवाजिरथपत्तिविनाशः-क्षयः, भावी-भविता। कयोरिव ? मत्तयोर्वनद्विपयोरिव कलहात्, पार्श्ववर्त्तितरुसंततिभंगः।

६८-७०. **पंचव० । पद्मिनी० । यत्र पू० ।** अथ–अनन्तरं, राजमौलि:–नृपकोटीरो भरत: तद् वनं गन्तुमियेष–वांछतिस्म । तत् किं ? यत्र वनेऽवरोधवधूभि:–अन्त:पुरस्त्रीभि:, संन्यवासि–संस्थितं । कस्मै ? विविधोत्सवरत्यै–नानामहोत्सवक्रीडनाय । किं विशिष्टं वनं ? सर्वत:–समंतात्, वसनवेश्मभि:–पटकुटीभि:, राजिता–शोभिता, अंतरे–मध्ये, मनोरमा–मनोज्ञा, लक्ष्मी:–शोभा, यस्य, तत् राजितांतरमनोरमलक्ष्मि । किं विशिष्टै: वसनवेश्मभि: ? उच्चै: –उन्नतै:, पुन: किं विशिष्टै: ? पंचवर्णमयकेतुपरीतै: उत्प्रेक्षते–पुष्पपल्लवचितै:–कुसुमप्रवालभरितै: वृक्षैरिव । पुन: किं विशिष्टै: ? हेमकुंभै: कलितं अग्रशिर:–शिखरं येषां तानि, तै: । उत्प्रेक्षते–देवधामभि:–प्रासादैरिव । किं विशिष्टै: ? उन्नतिमद्भि: । पुन: किं विशिष्टै: ? पद्मिनीनां–प्रथमजातीयनायकानां कमलिनीनां च वदनै:–मुखै:, चारुगवाक्षा यत्र, तानि तै: । उत्प्रेक्षते–पल्वलैस्ताटकैरिव । किं विशिष्टै: पल्वलै: ? विकस्वरपद्मै:–विकचांभोजै:, वसनवेश्मपक्षे–विकस्वरश्रीकै:, पुन: किं विशिष्टं वनं ? चित्ररथत:–धनदवनात्, चारु–मनोज्ञं,–इति विशेषकार्थ: ।

७१. **भारता० ।** भारताधिपति:–भरत:, इभात्–गजात्, अतितुंगात्–अत्युच्चाद्, अंबरवेश्मद्वारि–पटकुटिद्वारे, अवातरत्–उत्तरतिस्म । किं विशिष्टो भारताधिपति: ? मालवक्षितिधवेन–मालवदेशाधीशेन, अर्पित:–दत्त:, हस्त: यस्य, असौ । कस्मात् क इव ? मेरुगिरीन्द्रात् स्वर्गनाथ–इन्द्र इव ।

७२. **स्वस्ववा० ।** तदनु–तदनंतरं, राजभि:–नृपै:, स्वस्ववाहनवरात्–निजनिजयानप्रवराद्, अवतेरे–उत्तीर्णं । किं विशिष्टै: राजभि: ? नम्रशिरोभि:–नतोत्तमांगै:, उपमीयते–गां गतै:–भुवस्तलमाप्तै:, सुरै:–देवैरिव, किं विशिष्टै: ? वरभूषया–प्रधानशोभया, भूपिता–शोभिता अंगरुचि:–देहकांति:, तया राजित: वेषो येषां, ते तै: ।

७३. **वेत्रपा० ।** क्षितिराज:–भरत:, संसदालयं–सभागृहं, इत:–आगतवान् । किं विशिष्ट: क्षितिराज: ? वेत्रपाणिभि:–दौवारिकै:, सुचरीकृत:–संचरणार्हीकृत: मार्ग: यस्य, असौ, क: किमिव ? पंचबाण:–काम:, यौवनमिवेति । किं विशिष्टं ? अन्तर्–मध्ये, पुष्पसंचय:–कुसुमोच्चय:, धवलहासेन कान्तं–मनोज्ञं, यौवनपक्षे–पुष्पसंचयशुचिस्मिता: कान्ता:–स्त्रियो यत्र, तत् ।

७४. **सौधाद० ।** असौ–भरत:, सौधात्–हर्म्यात् अपि, पटवेश्मना–पटकुट्या, प्रमुमुदे–प्रमुदितवान् । कस्मात् ? रत्नौघेन चित्रितानि वितानानि–चन्द्रोदया:, तेषां वितानं–समूहो वा विस्तार:, तद्वत्वात्, यत्र–सौधे, प्रदीपकलिका पुनरुक्तभूत्यै–उक्तस्य पुनर्भावनाय, ज्वलंति–दीप्यंते, कथं ? नक्तं–निशीथे, किमिव ? दिवेव वासरे इव । कस्मिन् सति ? द्युमणौ–सूर्ये तपति सति दुर्दिनामुक्ति: ।

७५. **यस्यात्रा०** । हि–निश्चितं, अत्रापि–जगत्यां, यस्य–पुरुषस्य, प्राचीनपुण्योदयः–प्राक्तनधर्मोत्पत्तिर्जागर्ति, तद्दोहदेभ्यः–तेषां मनोरथेभ्योऽधिकं यथा स्यात् तथा सुषमा प्रथिमानं–प्रौढिमानं,एति–आगच्छति । किं विशिष्टः प्राचीनपुण्योदयः ? विश्वविस्मयकरः–जगदाश्चर्यविधायी, यतः–यस्माद्धेतोः, सर्वत्र–सकललोके, हंसाः मुक्ताफलानां पंकजिनीविसानां–कमलिनीतन्तूनां, अशने–भोजने, पराः–तत्पराः, भवंति । काकाः कश्मलस्य–मलिनवस्तुनः, निंवभूरुहफलानां, आस्वादे–भोजने, एकः–अद्वितीयः, वद्धः–नियतः, आदरो यैः, ते, एतादृशाः काकाः संति ।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
ऽयोध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका ।
नपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविन्दोद्गता,
या तस्यां प्रथमाभिषेणनमुखः सर्गश्च षष्ठोऽभवत् ॥

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायां प्रथमसेनानिवेशवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।

सप्तमः सर्गः—

१. **चक्रभृ०** । अथानन्तरं, चक्रभृद्–भरतः, मृगदृशां मनोरथैः–स्त्रीणां कामैः, ईरितः–प्रेरितः सन्, कानने–वने, विजहार–क्रीडतिस्म । हि–निश्चितं, केनचित् पुंसा वल्लभाभिलषितं–प्रियाकांक्षितं लुप्यते ? न केनापि इत्यर्थः । किं विशिष्टेन पुंसा ? प्रणयभंगभीरुणा–प्रीतिध्वंसकातरेण ।

२. **पार्श्वपृ०** । पुरंध्रिभिः–स्त्रीभिः, चक्रिणः–भरतस्य, पार्श्वपृष्ठपुरतः चरितुं–गन्तुं, अभ्ययुज्यत–उद्यमः क्रियतेस्म । काभिः कस्येव ? यथा हस्तिनीभिः, सामजन्मनः–हस्तिनः, पार्श्वपृष्ठपुरतश्चरितुमभियुज्यते । कस्मिन् ? वने । किं विशिष्टे वने ? अनोकहैः–वृक्षैः, एकं गहनं–संकीर्णं, अंतरं–मध्यं, यस्य, तत्, तस्मिन् ।

३. **कामिनी०** । वि–निश्चितं, त्रिदशराट्–शक्रः; तत्रपे–लज्जितः । किं कुर्वन् ? त्रिदिवकाननान्तरे–नंदनवनमध्ये, संचरन्–भ्रमन् । किं कृत्वा ? कामिनी-सहचरस्य चक्रिणः, विभ्रमं–शोभां, विलोक्य–दृष्टवा । किं विशिष्टस्य चक्रिणः ? वनयुषो–आराममेविनः, किं विशिष्टः त्रिदशराट् ? सचीसखा इन्द्राणीसहितः ।

४-५. **स्मेरपु०** । **केतकं०** । तदा तस्मिन् कामिनीसहचरभरतविहारसमये, वनं व्यराजत–शुशुभे । किं कुर्वत् ? अस्य भरतस्य मूर्ध्नि–मस्तके, निजं–आत्मीयं, सितप्रभं–उज्ज्वलं छत्रं, केतकेन रजसा–केतकसंबंधिरेणुना, आदधदिव–

धरमाणमिव । किं विशिष्टेन रजसा ? व्योम्नि–नभसि, मारुतविवर्त्तितेन–वायुपरिचालितेन । पुनः किं कुर्वद् वनं ? अमुष्य–चक्रिणः, पार्श्वयोर्द्वयोः स्मेरपुष्पकरवीरवीरुधा–विकस्वरकुसुमहयमारलतया, चामरश्रियं संवितन्वदिव–विदधान इव । किं विशिष्टया० ? मातरिश्वना–वायुना, परिधूतानि–कंपितानि पत्राणि यस्याः, सा, तया । इति युग्मार्थः ।

६. **वातवेल्लित०** । खलु–निश्चितं, वनं नरपतेः–भरतस्य, फलैः प्राभृतं संततान–वितत्तेस्म । किं विशिष्टैः फलैः ? वायुवेल्लिताः–वायुप्रकंपिता ये तरवः तेभ्यः प्रपतंतीत्येवंशीलानि, तैः क्वचित्–कुत्रापि स्थाने, ईदृशाः–भरतसदृशाः, चराचराणां–जंगमस्थावराणां, विलंघ्यतायुषः–उल्लंघनीयताभाजः, न स्युः–न भवेयुः ।

७. **कामिनी०** । प्रमदकाननानिलः–क्रीडाकाननवायुः, तं–भरतं, अमूमुदत्–प्रमोदयांचकार । किं विशिष्टः प्रमदकाननानिलः ? कामिनीकुचघटीविघट्टनैः–स्त्रीणां स्तनघटसंघट्टनैः, मंथरः–मंदगामी । पुन किं विशिष्टः ? मिलितवक्त्र-सौरभः–संसृष्टवदनपरिमलः । पुनः किं विशिष्टः ? निषिक्ता या वसुधा–वसुंधरा, तस्याः अंगानि–अवयवाः, तेषु संगतो–मिलितः ।

८. **अस्मदृ०** । शाखिभिः–वृक्षैः, छायया कृत्वा, इति करणात् रविमहः–तरणेस्तेजः, निवारितं–न्यषेधि । किं कुर्वन् ? अस्य–भरतस्य, शिरसि–मस्तके, संजत–लगत् । इतीति किं ? एष भरतः रवौ–सूर्ये, मा कुप्यतु–मा रुष्यतु । किं विशिष्टे रवौ ? रसातिसर्जनात्–पानीयवर्षणात्, अस्माकं या वृद्धिः फलपुष्पादि-रूपा तस्याः परिवर्द्धके–वृद्धिकारिणे ।

९. **षट्पदां०** । तस्य–राज्ञः, लतालयः–वल्लीव्रजाः, मुदं–हर्षं, ततन्वते–ददतेस्म । किं कृत्वा? कुसुमलोचनेषु–पुष्परूपनयनेषु, षट्पदांजनभरं–भ्रमररूपकज्जलातिशयं, संविधाय–निर्माय । किं कुर्वतस्तस्य ? वनान्तरे संविहरतः–क्रीडतः, का इव ? वल्लभाः–स्त्रिय इव ।

१८. **पल्लवैः०** । तेन भरतेन, कापि—कामिनी, हृदंतरे—वक्षोमध्ये, निहता—ताडिता, ततः हृष्यतिस्म—हृष्टा । हि—यतः, प्रियाजनः प्रीतिकातरधिया—स्नेहभीरुबुद्ध्या । दयितेन—वल्लभेन, तुष्यति—तुष्टिमाप्नोति ।

१९. **मामपा०** । काचित् कामिनी इति कारणात् रुषा—क्रोधेन, चूर्णमुष्टिमक्षिपत्—चिक्षेप । कथं ? तन्मुखं—तस्य भरतस्य मुखमनुलक्षीकृत्य । किं विशिष्टां चूर्णमुष्टिं ? नयनतांतिकारिणीं—लोचनग्लान्तिविधायिनीं, इतीति किं ? अनेन विलासिना, पूर्वतः—प्रथमतः, किमियं—कथमेषा दयिता ताडिता किंकेल्लिपल्लवैः ? किं कृत्वा ? मामपास्य—त्यक्त्वा, अपि—पुनरर्थे, अमुना—विलासिनाऽहं हता—मारिता । इति त्रिभंगोन्वयः ।

२०. **युक्तमे०** । स राजा कांतया—वल्लभया, इति—पूर्वोक्तप्रकारेण, निहतोपि—ताडितोपि, अतुपत्—तुष्टिमापत् । इतीति किं ? अनया विलासिन्या एवं युक्तं कृतं, दृशोरेव विदधे—कृतः, कथं ? यथोचितं—यथायोग्यं यथा स्यात्तथा । हि—यतः, इह—अस्मिन्, प्रेम्णि—स्नेहे, का विपरीतता—को विपर्ययः ।

२१. **काचिदु०** । हि—निश्चितं, अमुना—विलासिना, काचिद् अशारदा—अलज्जावती, चित्तकामं—मनीषिताभिलाषं, नायिता—प्रापिता । किं विशिष्टा काचित् ? द्रुमं—वृक्षं, प्रत्युन्नतमुखी—ऊर्ध्वीकृतवदना । किं विशिष्टं द्रुमं ? हस्ताभ्यां दुर्लभतमानि प्रसूनानि यत्र, तदेतादृशं कं—शीर्षं यस्य, असौ, तं । वा स्वार्थे कः । किं कृत्वा ? स्वीयमंसं अधिरोप्य—निजं स्कंधमारोप्य ।

२२. **काचना०** । चंचरीकतरुणेन—भ्रमरयूना, काचनापि कामिनीयं, अधरोष्ठपल्लवे चुंबिता—दष्टा । किं कुर्वंती ? दयितस्य—भर्तुः कंठदाम गुम्फितुं—ग्रथितुं, कुसुमानि—पुष्पाणि, चिन्वती—कुसुमावचयं कुर्वाणा तदर्थं, तत्क्षणात्—तत्कालतः ।

२३. **चुंबितं०** । कापि दयिता, मधुकरेण—भ्रमरेण, तन्मुखं—तस्या वदनं चुंबितं, वीक्ष्य—दृष्ट्वा, एवं दधौ—धृतवती । किं कुर्वंती ? भ्रूविभंगेन कुटिल—वक्रं ईदृशेन चक्षुषा, प्रियं—प्रणयिनं, तर्जयंती—तर्जयन्ति । किं विशिष्टं प्रियं ? निरागसं—अपराधरहितमपि ।

लतालयात्, गंतुं–यातुं, अक्षमपदः–असहिष्णुचरणः स्यात्। कः अर्थः ? मया बद्धस्त्वं पदमात्रमपि गन्तुमक्षमः। तु–पुनः, तत्र–प्रियजने, तव मानसं–भवदीयमनः, संगतं–आसक्तं। त्वं स्वागसः–निजापराधस्य फलं ध्रुवं–निश्चितं, अवाप्नुहि–लभस्व। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३२. **पुष्परे०** । दक्षिणः–कलत्रद्वयावर्जको नेता, स्वापराधविफलत्वं–निजापराधवैफल्यं, आचरत्–कृतवान्। किं कृत्वा ? कांचित् मानिनीं एवं अनुनीय–अनुकूलीकृत्य। एवं इति किं ? हे प्रिये ! वां–युवयोः मया व्यक्तिरेव–पृथगात्मतैव न विदिता–न ज्ञाता, किं विशिष्टयोः वां ? पुष्परेणुपरिपिंज-रास्ययोः।

३३. **प्रेयसि०** । तत्सखी इति उवाच–वदतिस्म। किं कृत्वा ? योषितः–कांतायाः, प्रेयसि–भर्त्तरि, प्रणयविह्वलं–प्रेमविकलं, मनः–चित्तं, समनुनीय–ज्ञात्वा। हे गजेन्द्रगामिनि !, बहुवल्लभे प्रिये–बहुस्त्रीके नायके, तव का रतिः–को रागः।

३४. **ईरिते०** । सा कामिनी, सहसं–सहासं यथा स्यात् तथा, जगाद–अब्रवीत्। किं विशिष्टा सा ? इतीरिता–एवं भणिता। इतीति किं ? हे सखि ? त्वया–भवत्या, उचितं–योग्यं, वचः,–वचनं, नोदीरितं–न कथितं। हे सखि ! त्वं न किं वेत्सि–न जानासि। हि–यतः, सकलप्रिया सुधा–विश्ववल्लभं अमृतं, भाग्यतः–दैवात्, करगता स्वाद्यते–भुज्यते। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३५. **ज्ञातनै०** । हे सखि ! अवेत्तरि–अविज्ञातरि भर्त्तरि, मानकारिता–अभिमानविधायिता न भवति। यत्–यस्माद्धेतोः, प्रियः–वल्लभः, ज्ञातनैकललनारसः सन्–अवगतबहुस्त्रीस्वादः, कोपमानकलनां–क्रोधाहंकारपरिज्ञानं, अवैति–कलयति। हि–यतः, सलिलस्य मंथने को रसः स्यादिति त्रिभंगोन्वयः।

३६. **कांचन०** । स राजा दयितामुखांबुजं–वल्लभामुखकमलं, चुम्बतिस्म। किं कृत्वा ? कांचन कामिनीं प्रवञ्च्य–विप्रतार्य, किं विशिष्टां कांचन कामिनीं ? प्रसवरेणुमुष्टिना–पुष्पपरागमुष्टिना, घूर्णिताक्षकमलां–संभ्रान्तनयनकमलां, हि–यतः, कोविदः–पंडितः, मनीषितं–चित्ताभीप्सितं कुरुते।

३७. **एहि एहि०** । कापि कामिनी एवमक्षरमयीं–इतिवर्णरूपां, सुमस्रजं–पुष्पमालां, वल्लभगले–प्रियकंठे, निचिक्षिपे–समारोपितवती। एवमिति किं ? हे वर !–नाथ !, त्वं एहि एहि–आगच्छ, आगच्छ, त्वं मोहनं–रतं, देहि, त्वं इतरामु–कांतासु, हृदयं–मनः, न विधेहि–मा कुरु, इति चतुर्भंगोन्वयः।

पुष्परेणुपरिपाण्डुरा–कुसुमपरागविशदा । कया इव ? विद्युता–तडिता, शारदोदकमुचां–शारदाभ्राणामवलिः–श्रेणिरिव ।

४५. **स्वेदलु०** । स–भरतः, प्रियानने–वल्लभामुखे, वदनानिलं व्यधत्त–निर्मिमीतेस्म । किं विशिष्टे प्रियानने ? स्वेदेन लुप्तं–परिमृष्टं, तिलकं यत्र, तत्, तस्मिन् । पुनः किं विशिष्टे प्रियानने ? पुष्पधूल्या–परागेण, परिधूसरा–ईषत्पांडुः, त्विड्–कांतिः, यत्र । उत्प्रेक्षते–मनीषितां धृतिं–हृदयेप्सिततुष्टिं, जीवयन्निव–प्राणयन्निव ।

४६. **इत्यमूं०** । तत्सखी अमूं–नायिकां कथयतिस्म । इतीति किं ? हे मानिनि ! तत् त्वदीयसुभगत्वं–भवदीयमेव सौभाग्यं अस्ति । तत् किं यत् रंभयापि कमनीयं–अभिलषणीयं । अनया–भवत्या, ईदृशो वल्लभः किं वशीकृतः–कथं वशीचक्रे । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

४७. **गोत्रवि०** । कापि कान्ता तं–विलासिनं, गोत्रविस्खलितं एवमभ्यधात्–कथयतिस्म । एवमिति किं ? हे प्रिय ! एकपक्षतः प्रणयः–प्रीतिः, तयाकुलं–मदन्यया व्याप्तं, हृदयं–मनः, न प्रयाति–न गच्छति । यन्मानसे–चेतसि भवेत्, तन्मुखेऽतीव स्यात् ।

४८. **इत्युदी०** । सा इत्युदीर्य–कथयित्वा, तदंतिकात्–तस्य पार्श्वात्, सहसा–शीघ्रमेव, निर्जगाम–निर्गता । किं विशिष्टा सा ? पतदश्रुलोचना । पुनः किं विशिष्टा सा ? धरान्तरं वसुधामध्यं, संप्रवेष्टुं न्यग्मुखी । पुनः किं विशिष्टा ? क्वचित्–प्रदेशे, लतांतरं इता–प्राप्ता ।

४९. **वच्मि०** । हे देवि ! अहं वच्मि–कथयामि, भवती किं चकार । हि–निश्चितं, प्रियतमे–भर्त्तरि, रागिणि–रागवति सति क्रुधा–कोपेन किं । हे सखि ! त्वं तस्य चेतसः अधिदेवताऽसि । कस्य केव ? जलरुहः–कमलस्य श्रीः–लक्ष्मीरिव, अन्यया–अपरया किं ?

५०. **त्वद्वि०** । हे देवि ! त्वद्वियोगविधुरः–भवद्वियोगकातरः सन् स युवा परिजनस्य–परिवारस्य, जीविते–प्राणेषु, संशयं–संदेहं, कल्पते–रचयति । तत्–तस्माद्धेतोः, तव–भवत्याः, रंगभंगः उचितत्वं–योग्यतां, नांचति–नागच्छति । कस्मिन् सति ? महविधौ–उत्सवविधाने प्रस्तुते–प्रारब्धे सति ।

५१. **तन्नियो०** । अथ–अनंतरं सा–इतिवादिनीं–एवमभिधात्रीं, दूतिं जगौ–अवादीत् । इतीति किं ? तस्य–विलासिनः, नियोगवशतः–आज्ञावशतः, अहं

नारीभिः, पत्युः अनुनयः–रोपोपशान्तिः, विधीयते–क्रियते । हि–निश्चितं, साहसस्य का गतिर्भविता–भविष्यति । इति त्रिभंगोन्वयः ।

५६. **पादयोः०** । हे सखि ! स–विलासी, मे–मम, पादयोः, निपतिता–निपतिष्यति, अहमपि नानुनयं समाश्रये–न रोपोपशान्तिं कुर्वे । अनन्यजः–कामोपि, अधिज्यधनुः–अधिज्यचापः, एतु–आगच्छतु । हि–यतो, योषितां–रमणीनां, धीरता–प्रागल्भ्यं, सहचरी स्यात् । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

६०. **इत्युदी०** । दूतिस्तां नायिकामित्युदीरितवतीं–इत्थं कथितवतीमुवाच । किं विशिष्टां तां ? अस्खलितवाक्परंपरां–स्पष्टवचनरचनां । हे सखि ? त्वया जीवितेन प्राणैः सह विग्रहः–कलहः, आरभ्यते–क्रियते, यद्–यस्माद्धेतोः, प्रियः–भर्त्ता, अवगण्यते–अवज्ञायते । इति त्रिभंगोन्वयः ।

६१. **किं न वेत्सि०** । हे मानिनि ! त्वं किं न वेत्सि–न जानासि ? विधुः–चन्द्रः, अभ्युदेष्यति–उदयं प्राप्स्यति । किं विशिष्टो विधुः ? प्रीतिवल्ल्याः परिवृद्धिः–परिवर्धनं, तस्या मंडपः । पुनः किं विशिष्टः ? मानिनीनां हृदयं–मनः, तत्र यो मानसंग्रहग्रन्थिस्तस्य मोक्षणे परिस्फुरंतः–प्रकटीभवंतः, कराः–किरणाः, यस्य, असौ ।

६२. **प्रेतभूः०** । हे मानिनि ! त्वं हृदिश्वरे अवशे सति, इति वैपरीत्यं–विपर्ययं, अवेहि–जानीहि । इतीति किं ? प्रमदकाननं–आरामः, ते–तव, प्रेतभूः–श्मशानं, रतिपतेः–कामस्य, कौसुमाः शराः–पौष्पाः बाणाः, अयोमयाः–लोहरूपाः, भवंति, चन्द्रमास्तरणिः–सूर्यः, तापकारित्वात् ।

६३. **मौनमे०** । अथ–अनंतरं, प्रणयिना–भर्त्रा, मानिनी–प्रिया, शिश्लिषे–परिरेभे । किं कृत्वा ? तावत् सहसा–तत्कालं, लतांतरादेत्य–आगत्य । किं कृतवती ? अनया–दूत्या, एवं उदीरितात्–भणितात्, मौनं यावदाश्रितवती । किं विशिष्टा ? अधोमुखी–न्यग्वदना ।

६४. **सर्वदे०** । नायिको नायिकां प्रत्याह । हे भामिनि ! त्वं सर्वदैव–सदैव, चतुरा–निपुणासि, कस्मिन् ? प्रीणने–संतोषणे । ईदृशो वनविहारः–एतादृशी वनक्रीडा, अतिदुर्लभः–अतिदुरापः । क इव ? लय इव, यथा गीतिनृत्यवाद्यत्रयी विलासोऽतिदुर्लभः । किं विशिष्टो वनविहारः ? द्रवेण–परिहासेन सह वर्त्तमान इति सद्रवः, लयपक्षे–प्रशस्तरवः । हे प्रिये ! त्वं कोपमानसमयं–क्रोधाहंकारा-वसरं किं न वेत्सि । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

हंसाः–मरालाः, त एव कलनूपुराणि तेषामारवः–शब्दो येषु, ते, तैः । पुनः किं विशिष्टैः ? सद्रसांतरगतैः–संतो विद्यमाना वा प्रशस्ता अन्ये रसा शृंगारादय इति सद्रसांतरगतैः–प्राप्तैः । कमलिनीपक्षे–नीरमध्यमितैः ।

७२. **पुण्डरी०** । स राजा केलिपल्वलं–क्रीडासरो, व्यलोकत–ददर्श । किं कुर्वाणमिव ? पुंडरीकाणि–सितांभोजानि एव नयनानि–लोचनानि तैः लोकमानं–समीक्षमानमिव पुनः किं कुर्वंतं ? चक्रसारसविहंगमस्वनैः–चक्रवाकसारसपक्षिनिनादैः, आह्वयन्तं–आकारयंतमिव । किं विशिष्टैः पुंडरीकनयनैः ? विकासिभिः–विकस्वरैः ।

७३. **योषितां०** । योषितां प्रतिकृतिः–स्त्रीणां प्रतिबिम्बं, जलाशये–जलस्थाने, पश्यतां–द्रष्ट्रीणामिति, वितर्कं–विचारं, आदधे–चकार । इतीति किं ? सिंधुसोदरे–समुद्रबांधवे तटाके, किमिति वितर्के, श्रिया–लक्ष्म्या, स्वं स्वरूपं बहुधा व्यभज्यतेव–विभागीकृतमिव इह–अस्मिन्, अयं हि तटाको लक्ष्म्या पितृव्य सिन्धोः सोदरत्वात् ।

७४. **एतद०** । तदा–तस्मिन् सावरोधभरतागमसमये, सितच्छदैः–राजहंसैः, इति हेतोः नलिनीगणः–कमलिनीसमूहः, हीयतेस्म–तत्यजे । इतीति किं ? इमा नलिन्य एतासां पद्मिनीनां अग्रतः–पुरस्तात्, किं स्युः । किं विशिष्टा नलिन्यः ? जडात्मजा–मूर्खदुहितरः । पुनः किं विशिष्टाः ? ह्रिया–लज्जया, पंकिलाः–कर्दमवत्यः वा पापवत्यः, किं विशिष्टैः सितच्छदैः ? शुद्धपक्षयुगलैः–पवित्रद्विपक्षैः, मनुष्यागमे हि पक्षिभिः उड्डीयते ।

७५. **सावरो०** । सरोवरः–तटाकः, सावरोधनृपतेः समागमात्–सांतःपुरभरतसंगमात्, समतुषत्,–संतुष्टिमभजत् । उत्प्रेक्षते–तरंगपाणिभिः–कल्लोलहस्तैः, उच्छलन्निव–उल्ललन्निव, विकासिपद्मिनीकाननैः–विकस्वरनलिनीवनैः, संहसन्निव–कृतहास इव ।

७६. **क्रीडात०** । अवनीपतिः–भरतः, वधूभिः सार्द्धं क्रीडातटाकमाजगाहे–विलोडयामास । काभिः क इव ? द्विपीभिः–हस्तिनीभिः, इभराजः–गजेन्द्र इव । किं विशिष्टोऽवनीपतिः ? हस्तेन–पाणिना, उद्धृतः–उत्पाटितः, अंबुरुहिणीनिचयः–पद्मिनीसमूहः, येन, असौ । हस्तिपक्षे–हस्तः–शुंडा । किं विशिष्टाभिर्वधूभिः ? आवर्तमानशफर्याः समानि लोचनानि यासां ताः, ताभिः । कथं ? समंतात्–सर्वतः ।

७७. **काभिश्च०** । काभिश्चन वधूभिः लोचनकज्जलौघैः कृत्वा श्यामं जलं

आगताः। किं विशिष्टा हरिणीनेत्राः? नीराभिषिक्तकचोच्चयाः–पानीयार्द्रीभूतकेशपाशाः, तु–पुनः, अमूः–नार्यः, प्रणयिहृदयं–वल्लभमानसं, नातिक्रामंति–नोल्लंघयंति। किं विशिष्टा अमूः? अनन्यहृदः–तत्परमानसाः, हि–यतः, प्राच्यात् पुण्योदयात्–प्राक्तनाद् धर्मोदयात्, नृणां–मनुष्याणां, सुखं प्रसरतितरां–अतिशयेन प्रथयति। इति चतुर्भंगोन्वयः।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे,
श्योध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविन्दोद्गता,
या तस्यामितिकाननैकललनः सर्गोऽभवत् सप्तमः॥

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायां वनविहारक्रीडावर्णनो नाम सप्तमः सर्गः।

अष्टमः सर्गः–

१. **अथाव०**। अथ–अनन्तरं, सरः–तटाकः, क्षितिराजं–भरतं, आरात्–दूरात्, तटोत्सर्पितरंगहस्तैः–तीरविवर्द्धमानकल्लोलपाणिभिः, नमस्यतीव–नमस्करोतीव, किं कुर्वंतं? अवरोधेन समं–अन्तःपुरेण सार्द्धं, प्रयान्तं–व्रजन्तं। केपि सतां–महतां, स्थितिं–मर्यादां, अवधीरयन्ति–अवगणयंति? न लुंपंतीत्यर्थः।

२. **स्नाना०**। तीरगतांगनाभिः–तटप्राप्तवधूभिः, पद्माकरः–सरोवरः, मुक्ताभिः–मुक्ताफलैः, अवकीर्णः–अवकीर्यतेस्म। केन? स्नानेन आर्द्रा, अत एव मुक्ताः–अस्तबन्धनाः, अलकाः–केशाः, तेषां बिन्दवः–शीकराः, तेषां पंक्तिः–श्रेणिः, तस्याः व्याजः–छलं, तेन। किमिति वितर्के, रसावहानां–सरसानां, न हि संभवेत्? अपितु सर्वं संभवेत्।

३. **सितच्छ०**। सितच्छदानां–राजहंसानां, जलस्थलाम्भोरुहिणीविबोधः–कमलिनी प्रथमजातीयनायिकाज्ञानमासीत्। किं कुर्वतां? अनन्ते–व्योम्नि, चरतां–भ्रमतां, काभिः? जलस्थपालिस्थितपद्मिनीभिः–नीरवर्त्तिसरस्तीरवर्त्तिनलिनीभिः। किं विशिष्टाभिः? लोलालकालिप्रसराभिः–चलच्चिकुरचंचरीकप्रपंचाभिः।

४. **धम्मिल्ल०**। सरसीसमीरः–तटाकवायुः, तं–भरतं, मुहुः–असकृत्, सिषेवे–सेवितवान्। किं विशिष्टः सरसीसमीरः? धम्मिल्लमुक्तालकवल्लरीणां–

कैरिव ? चोरैः—तस्करैरिव, यथा दिगन्ता व्याप्यंत । कस्मिन् सति ? किलेति निश्चयेन, नभःबन्धौ—सूर्ये, अस्तं प्रयाते सति—नाशं गते सति, राजनि—चन्द्रे, अनुद्यते—अनुद्गते सति, किं विशिष्टे राजनि ? तेजसा—धाम्ना, आढ्ये—परिपूर्णे ।

१२. आप्लाव० । त्रियामाक्षणः—शर्वरीसमयः, तमोभिः—ध्वान्तैः, जगद्—विश्वं, आप्लावयामास—निमज्जयांचकार । किं विशिष्टैः तमोभिः ? विकाशितालीवन-राजिनीलैः—विकस्वरतालवनश्रेणिश्यामलैः । कः कैरिव ? संवर्त्तपाथोधिः—कल्पान्तसमुद्रः, पयोभिः—जलैर्यथा जगद् आप्लावयति । किं विशिष्टैः पयोभिः ? परितः—सर्वतः, प्रवृद्धैः—वृद्धिं प्राप्तैः ।

१३. हंसः प० । हंसः—सूर्यः, चरमाद्रिचूलां—पश्चिमाचलचूलां, प्रयातः—प्रययौ । तमिस्रकाकः—तमोवायसः प्रकटीबभूव, रथांगाह्वयतां—कोकमहात्मनां, यद् वियोगः—विरहः, अभूत् तत् स्थाने—युक्तं । उत्तमानां पापे अधिके सति किं सुखं स्यात् ? इति चतुर्भंगोन्वयः ।

१४. समत्व० । तमोभरे—तिमिरातिशये, प्रकामं—अत्यर्थं, व्याप्नुवति—व्याप्तिं प्राप्ते सति, समत्ववैषम्यसतत्त्ववेदः—समताविषमतावक्रताज्ञानं, नासीत् । कस्मिन्निव ? दौर्जन्यभाक् स्वान्त इव—पैशून्यवन्मनसीव । किं विशिष्टे तमोभरे ? दृष्टेः—अक्ष्णोः, एकः—अद्वितीयः, निबद्धः—नियंत्रितः, चारः—संचारः येन, असौ, तस्मिन् । दौर्जन्यभाक्स्वान्तपक्षे—दृष्टिः—ज्ञानं । पुनः किं विशिष्टे तमोभरे ? असिताभे—श्यामलच्छाये । दौर्जन्यभाक्स्वान्तपक्षे—क्षिप्तशोभे ।

१५. विनिस्स० । तदा—तस्मिन् सन्ध्यासमये, कैरविणीभिः—कुमुदिनीभिः, वियोगवह्नेः—विरहानलस्य, धूमपंक्तिरिव औज्झि—तत्यजे । कस्मात् ? विभावरीकांतकरोपलम्भात्—चन्द्रकरावाप्तेः, पुनः कस्मात् ? विनिस्सरत्चंचलचंचरीकव्याजात्—निर्गच्छत्चटुलभ्रमरमिषात् ।

१६. कलिन्द० । तदानीं—तस्मिन्नवसरे, तमसा—ध्वान्तेन कृत्वा, भूमितलमेवमासीत्—इत्थं बभूव । उत्प्रेक्षते—कलिन्दकन्यापयसा—यमुनाजलेन, सिक्तमिव । वा—अथवा, किमिति वितर्के, कस्तूरिकावारिभरेण सिक्तं । वा—अथवा, किं अञ्जनाम्भोभिः—किं कज्जलपानीयैः असेचि—अभ्यपिच्यत इति चतुर्भंगोन्वयः ।

१७. अनेक० । इदानीं—अस्मिन्नवसरे, अनेकवर्णाढ्यमपि एकवर्णं जगदासीत् । कस्मिन् सति ? तमःक्षितीशे—ध्वान्तभूपतौ, प्रभुतां प्रपन्ने सति—प्रभुत्वमाप्ते सति । विश्वे—जगति, प्रभुत्वं—ईश्वरत्वं, एतादृशं—एवंविधश्च रूपमेवास्ति । यादृशो राजा तादृश्यैव रीतिर्भवतीति प्रवृत्तिः ।

३८. **त्वयाथ०**। पुनरपि नायिका नायकं किमाह। हे प्रिय ! त्वया अथवा तत्स्मृतये–तस्या वल्लभायाः संस्मरणाय, तन्मुक्तादिचिन्हं, न लुप्तं–नापास्तं। मया स्वदृशा–आत्मदृष्ट्या, तवैतत् आगः–भवतोयमपराधः, दृष्टं–ददर्श। हि–यतः, यूनः–तरुणस्य, रतांकितानि–सुरतचिन्हितानि, प्रीणंति–प्रीतिमापादयंति। कस्येव ? भटस्येव। यथा भटस्य–योधस्य, गजाभिघाताः रणे प्रीणंतीति चतुर्भंगोन्वयः।

३९. **श्लेषात्०**। नेत्रा–नायकेन, इति निगद्य–उक्त्वा, कापि प्रामोदि–प्रसादिता। इतीति किं ? हे वामनेत्रे ! अहनि–दिवसे तवैव श्लेषात् ममेदृशं वक्षो–हृदयं जातं। त्वत्तः परा–अन्या, मम का वल्लभास्ति।

४०. **यदीय०**। काचिन् नायिका कान्तं इति उवाश–वशीचकार, इतीति किं ? तस्मिन् भर्त्तरि, मानः–अहंकारः, कथं ? तस्मिन् कस्मिन् ? यदीय नामापि समग्रं अंगं पुलकांकुराढ्यं करोति। यदागमो–यस्यागमनं, स्विन्नं–स्वेदवदंगं करोतीति चतुर्भंगोन्वयः।

४१. **प्रसून०**। नायिकायाः सखीप्रतिवचनं। हे आलि !–सखि !, मे–मम, प्रियं विना प्रसूनशय्या–पुष्पशयनीयं, नवकंटकालेररुंतुदा–मर्मप्रहारिणी, भवेत्–स्यात्। अयं विनोदः रोदनसन्निकाशः–विलापसदृशो भवेत्, वासगृहं भयदं–भयदायि भवेत्।

४२. **सख्याः पुरः०**। केनचन विलासिना, प्रियायां–वल्लभायां, अपराधसत्ता–मन्तुमत्ता, न्यवारि–न्यषेधि। किं कुर्वन्त्यां ? इति–पूर्वोक्तं, सख्याः पुरः स्वैरं–यथेष्टं, उदीरयन्त्यां–कथयन्त्यां, उदीरतायां वा पाठः। कस्मात् ? स्वचेतसः–निजचित्तात्। केव ? द्रुवल्लीव–तरुलतेव। कुतः ? व्योम्नः–आकाशात्। व्योमाश्रित्येत्यर्थः–इति युग्मार्थः।

४३. **विश्वाधि०**। अथ–अनन्तरं, स विश्वाधिराजः–भरतः, कदलीविलासगेहं विवेश–प्रविशतिस्म। किं विशिष्टं कदलीविलासगेहं ? विकीर्णपुष्पं–प्रस्तारितकुसुमं, पुनः किं० ? लोकत्रयीस्त्रैणविशेषितश्रि–त्रैलोक्यस्त्रीसमूह विशिष्टलक्ष्मि, ईदृशं मृगेक्षणारत्नं–स्त्रीरत्नं, तेन विभूषितं–शोभितं।

४४. **रत्नप्र०**। पुनः किं वि० ? रत्नप्रदीपप्रहतान्धकारं। पुनः किं वि० ? चन्द्रोदयेन उद्योतितः–उद्दीपितो मध्यदेशो यस्य, तत्। पुनः किं ? दंदह्यमानागुरुभिः धूमाणि धूमधामानि–धूमतेजांसि, तैरंकितं–चिन्हितं, पुनः किं० ? पुण्यवतां योग्यं, इति युग्मार्थः।

६६. **इयं व०।** इयं वराकी चक्रवाकी प्रियस्य विरहे मुहुर्मुहुः—वारं वारं, रोदिति—विलपति। चरणायुधोऽपि—ताम्रचूडोऽपि इतीव घनैः—सान्द्रैः, विरावैः—शब्दैः, तीक्ष्णद्युति—सूर्य, आजुहाव—आकारयामास।

६७. **बभूव०।** निशि—रात्रौ, मानिनीनां कांतानुनयप्रणामैः—प्रेयसां प्रसादनप्रणतिभिः, या मानमुक्तिः—अहंकारपरित्यागः न बभूव, ताम्रचूडेन—निशावेदिना, रुतैः—शब्दैः, सा मानमुक्तिर्वितेने—चक्रे। कथं? सैन्यकोलाहलमनुलक्ष्यीकृत्य, किं कुर्वद्भिः? उच्छलद्भिः—उल्ललद्भिः।

६८. **प्रातः प्र०।** हे कान्ते!, प्रातरहं प्रयाणाभिमुखोऽस्मि। नौः—आवयोः, पुनरपि अमूदृक्—एतादृशः, संगः कुतः स्यात्। नेतुः—नायकस्य, उक्त्या या युवती हठं न जहौ—न परितत्याज, सा बाला कुक्कुटोक्त्या—ताम्रचूडगिरा, प्रियं—भर्त्तारं, आललंबे—आश्रितवती। इति चतुर्भंगोन्वयः।

६९. **जगत्त्र०।** अर्कः—सूर्यः, तं तुमुलं द्रष्टुं—विलोकयितुं, प्रथमाद्रिचूलां—पूर्वाचल-चूलिकां, अध्यारुरोहेव—आरूढवानिव। किं विशिष्टोर्कः? रुपा—क्रोधेनेत्येवं ताम्रः—रक्तः। इतीति किं? येन तुमुलेनाहं अकांडे—अप्रस्तावे, उज्जागरितः—उन्निद्राणीकृतः, सोऽयं तुमुलो जगत्त्रये कोऽद्य—संप्रति अस्ति। इति त्रिभंगोन्वयः।

७०. **रथांग०।** द्युपतिः—श्रीसूर्यः करेण रजन्याः तमिस्रवासः—ध्वान्तरूपवस्त्रं, इतीर्ष्ययेवाचकृपे—आकृपतिस्म। इतीति किं? इयं रात्री अत्यंतदुष्टा—दोपवती। कस्मात्? रथांगनाम्नोः—चक्रवाकयोः विरहप्रदानात्। तु—पुनः, अहं मित्रोस्मि। इति त्रिभंगोन्वयः।

७१. **सरोजि०।** किलेति सत्ये, वासरान्ते—दिनावसाने, सरोजिनीभिः—कमलिनीभिः, या दशा—व्यवस्था, प्रसह्य—हठात्, अभ्यासि—स्वीचक्रे, प्रगे—प्रभाते, कुमुद्वतीभिः—कैरविणीभिः, सा दशा अभ्यासि। राज्यविपर्ययेण—राज्यव्यत्ययेन, किं वैपरीत्यं न जायेत—नोत्पद्येत? इति त्रिभंगोन्वयः।

७२. **निशावि०।** च—समुच्चये, नभस्वान्—वायुः, कामीव—कामुकवत्, मुहुः—पुनः पुनः ननंद—मुमुदे। किं कृत्वा? निशाविरामोन्मिषदब्जराजीमुखानि—प्रभात-विकचदंभोजावलिवदनानि, संचुम्ब्य—आस्वाद्य। किं विशिष्टे वने? कासार-स्तटाक एव वासौको—वासगृहं यत्र तत् तस्मिन्। पुनः किं विशिष्टे वने? सौरभाढ्ये—सुगंधिनि।

७३. **इत्युद्यते०।** ततः—तदनन्तरं, भारतराजराजः—भरतचक्रवर्तिभूपालः, च—पुनः, अन्येपि महीभुजा केचित् सुदृशः—नारीः, विहाय—परित्यज्य, केचित् समं—

३. कृतान्त० । अथ–अनन्तरं, कान्तेन–भर्त्रा सह व्रजंती कान्तेति न्यपेधि–निवारिता। इतीति किं ? वहलीशयुद्धं–बाहुवलेराहवः, कृतान्तवक्त्रं–यमाननमस्ति । तत्र युद्धे सांप्रतं–अधुना मम प्रवेशो वर्त्तते । तत्–तस्माद्धेतोः हे प्रिये ! त्वं गेहं गच्छेति चतुर्भंगोन्वयः ।

४. प्रेयोव० । कांता–प्रणयिनी, कान्त–भर्त्तारं, एवं निजगाद–अब्रवीत्, किं कृत्वा ? प्रेयोवचः–भर्तृवचनं, आकर्ण्य–श्रुत्वा । एवमिति किं ? मम गेहं त्वयैव–भवतैव वर्त्तते । तत्–तस्माद्धेतोः, हे नाथ ! त्वदीयं संनिधानं–समीपं, छायेव नाहं मुंचामि । किं विशिष्टं प्रेयोवचः ? स्फूर्जथुकल्पं–वज्रनिर्घोषसदृशं इति त्रिभंगोन्वयः ।

५. अमङ्गलं० । कयाचित् कांतया पतदस्रं–क्षरन्नेत्रांवु, अंतर् धृतं–दध्रे । अस्य यियासतः–प्रयाणं चिकीर्षोः, अमंगलं मास्तु। किं कुर्वत्या ? वियोगवह्नेः–विरहानलस्य, निश्वासधूमावलिं उद्वहंत्या–धारयन्त्या । किं विशिष्टस्य वि० ? तेन–वाष्पजलेनैव सिक्तस्य–विध्यापितस्य ।

६. कयाच० । कयाचन वालया, द्वारि–गृहद्वारदेशे, बाहू–भुजौ, वितत्य–विस्तार्य, कांतः–प्रेयान्, न्यवर्त्ति–न्यपेधि । कयेव ? राजहंस्येव, यथा राजहंस्या पक्षौ वितत्य प्रेयान् निषिध्यते । किं कुर्वत्या ? प्रणयेन-स्नेहेन, इत्युदीरयंत्या–कथयंत्या । इतीति किं ? हे प्रिय ! ते–तव, गमाय–प्रस्थानाय, नादिशामि ।

७. वियोग० । कोपि भटः–वीरः, स्वसौधात्, न्यगाननः–नीचीकृतास्यः सन्, जगाम–गच्छतिस्म । किं कृत्वा ? कस्याश्चन वध्वा वियोगदीनाक्षं वक्त्रमवेक्ष्य–दृष्ट्वा । कस्मै ? तदा एव–तस्मिन्नेव समये संगराय–रणाय, किं वि० भटः ? वाष्पाम्बुपूर्णाक्षियुगः–अश्रुजलभरितनयनयुगलः ।

कुर्याः, किं विशिष्टस्त्वं ? प्रेयसी चासौ जयश्रीश्च प्रेयोजयश्रीस्तस्या वरणं—परिणयनं, तत्रोत्सुकः—सोत्कंठः। भर्तुः प्रतिवचनं। हे प्रिये ! बहलीश्वरस्य—बाहुबलेः, पुरस्ताद्—अग्रे, मम जयश्रीप्रतिलम्भः कुत एव। मम दूरगाया इत्यत्र षष्ठी। विस्मरणे तु केचित् कर्मैवांगीकुर्वन्ति। तत्पक्षे मम दूरगायाः प्रेयो वस्तु मा विस्मारये—इति योज्यं।

१८. इत्थं वि०। इत्थं—पूर्वोक्तप्रकारेण युवद्वयीनां—तरुणतरुणीयुगलानां, विविधाः प्रलापाः विचेरुः—विचरंतिस्म। किं विशिष्टाः प्रलापाः ? विरहातिदीनाः। हि—यतः, निरंतरे—निर्व्यवधाने, प्रणयातिरेके—स्नेहाधिके सति विप्रयोगः—विरहः, हृदालये—मनोगेहे, शल्यति—शल्यवद् भवति—इति द्विभंगोन्वयः। इति श्लोकनवकस्याप्यर्थो दंपतीप्रवृत्तिमयो व्याख्यातः।

१९. कान्तैर्न्य०। तदानीं—तस्मिन् प्रयाणसमये, कान्तैः—भर्तृभिः, प्रबंधाद्—आग्रहात्, दयिताः—वल्लभाः, मुहुः—भूयः, निवार्यन्त—निवारिताः। किं कुर्वत्यः ? सह व्रजन्त्यः—सार्द्धमागच्छन्त्यः। किं विशिष्टैः कान्तैः ? स्वस्वामिकृत्येषु—स्वपतिकार्येषु, अधिकं दत्तं चित्तं—मनो यैस्ते तैः। कैः का इव ? यथा शैलैः—पर्वतैः, आपतन्त्यः—आगच्छन्त्यः, तटिन्यापो—नदीजलानि निवार्यते।

२०. विषीद०। प्रियाल्या—प्रिय सख्या, इति प्रबोध्य—कथयित्वा, काचिद् गृहं निन्ये—प्रापिता। इतीति किं ? हे तन्वि ! त्वं मा विषीद—मा विषादं कुरु। त्वं आलयं—गृहं, स्वं—निजं, चर—व्रज, त्वं साञ्जनास्रैः—सकज्जलवाष्पैः मुखं श्यामं मा कुरु। ते—तव, दयिता—भर्त्ता, श्वः प्रभाते, समेता—समेष्यतीति, पंचभंगोन्वयः।

२१. वियोगतः०। सख्या काचिन् मृगाक्षी स्वगृहमनायि—प्रापिता। किं कृत्वा ? तालवृन्तानिलैः—व्यजनवायुभिः, चैतन्यं—संज्ञानं, आपय्य—अनाय्य। किं कुर्वती ? विसंस्थुलं—व्याकुलतया चीवराद्यसंभालनशक्तिपूर्वं यथा स्यात् तथा, प्राणपतेः—भर्तुः, वियोगतः—विरहात्, पाणिधृतापि—हस्तधारितापि, पतंती भूम्यामिति शेषः।

२२. अमुंच०। काचित् प्रमदा सख्येरितापि—सख्या भणिताऽपि, उत्तरं नार्पयन्—न ददौ। किं विशिष्टा काचित् ? गलद्वाष्पजलाविलाक्षी—पतदश्रुजलम्लान-लोचना, किं कुर्वती ? विमोहात्—मौढ्याद् इदं स्थानममुञ्चती—अत्यजंती। पुनः किं कुर्वती ? प्रेयःपदन्यासं—प्रियचरणविन्यासं, अनुव्रजन्ती—अनुगच्छंती।

३०. **अथैक०**। अथ–अनन्तरं, सेना शतशः–बहुशतसंख्यान्, मार्गान्–पथश्चकार–कृतवती। किं विशिष्टा सेना? एकदिक्संमुखसंचरिष्णुः–एकाशाभिमुखसंचरणशीला, केव? स्वर्वाहिनी–गंगा इव शतशो मार्गान् करोति। किं विशिष्टा? अन्तरुपेतशैलविभेदिनी–अन्तरालायातपर्वतघातिनी। पुनः किं विशिष्टा? भारतकामचारा–भरतक्षेत्रे कामं–अत्यर्थं चारः–संचारो यस्याः, सेनापक्षे–चक्रवर्तीच्छाचारिणी। शैलविभेदिनी–इत्यत्र भूभृत्विभेदिनीतिपाठोऽवसातव्यः। भूभृन्महीधरे पृथ्वीपालावित्यनेकार्थसंग्रहे।

३१. **विश्वंभ**। तदीयैः–भरतसंबंधिभिः, भटैः–वीरैः, दिगन्ता व्यानशिरे–व्याप्यंत। किं विशिष्टैः भटैः? धरित्रीं–भुवनं, नभः–आकाशं, मातुं–प्रमाणीकर्तुं, प्रवृत्तैः–प्रसृतैरिव। पुनः किं विशिष्टैः? विश्वंभराव्योमचरैः–भूचरखेचरैः। पुनः किं विशिष्टैः? स्वकरार्पितास्त्रैः– स्वपाणिन्यस्तशस्त्रैः। कथं? समंततः–सर्वतः।

३२. **अस्योद्य०**। अस्य–भरतस्य, ध्वजिन्याः–सेनायाः, उद्यदातोद्यरवैः–उच्छलद्वाद्यनिर्घोषैः, नाकलोकात्–सुरालयात्, स्वाहाभुजां संचयः–द्युसदां समूहः, दूराद् आहूयत–आकार्यत एव। किं कृत्वा? इत्युदीर्य–कथयित्वा। इतीति किं? हे स्वाहाभुजां संचय! भवदालयान्तः–स्वर्गमध्ये किं कौतुकमस्ति?

३३. **महोष्ट्र०**। ध्वजिन्यां–सेनायां, स कोपि कोलाहलोऽभवत्। येन–कोलाहलेन अटवीश्वापदजातियूथैः गिरीणां गुहाः–कंदराः, भयादलीयन्त–आश्रीयन्त। किं विशिष्टायां ध्वजिन्यां? महोष्ट्रवामीशतसंकुलायां–महाकरभवेसरस्त्रीशतसंकीर्णायां।

३४. **गन्धेभ०**। अस्य–भरतस्य, चम्वा–सेनया, तद् वनं आवभासे–शुशुभे। किं विशिष्टं वनं? गन्धेभसिंदूरभरातिरक्तपथिद्रुमं–गंधद्विपसिंदूरातिशयाभ्यधिकाः पथिद्रुमाः–मार्गवृक्षाः यत्र तत्। उत्प्रेक्षते–चरिष्णुसन्ध्याभ्रं–चरणशीलसायंतनमेघं, क्षपास्यं–रात्रिमुखमिव। कया? धूलीनवमेघपंक्त्या–सैन्योत्थरजोनववारिदश्रेण्या।

३५. **दूरंग०**। अथ–अनंतरं, सैनिकानां साकेतसौधाग्रशिरोप्यदृश्यं बभूव–जायतेस्म। कथं भूतानां सैनिकानां? दूरंगतानां। किमिव? यथा स्मरातुराणां–कामव्याप्तानां, चैतन्यं अतिशुद्धं–अतिनिर्मलं, अदृश्यं भवति। किं विशिष्टानां स्मरातुराणां? असमाहितानां–ध्यानादिसमाधिवर्जितानां

३६. **दन्ताव०** । जनैः–प्रजाभिः, अस्य–भरतस्य, प्रयाणे–प्रयाणसमये, सेना जंगमकोशला–चलायोध्या, अमानि–मेने । कथंभूता ? दंतावलैः–हस्तिभिः, केलिनगोपपन्ना–क्रीडाशैलसहिता । पुनः किं विशिष्टा ? बृहद्भिः–महद्भिः, रथैः हर्म्योपपन्ना–गृहसंयुक्ता । पुनः किं विशिष्टा ? स्फुरद्ध्वजा–विराजमान-केतना ।

३७. **तुरंग०** । तुरंगमैः–अश्वैः, खुराग्रैः क्षुण्णं–संपेपितं, रजः–पांशु यावदन्तं–आकाशं, उपैति–आगच्छति । किं विशिष्टैः तुरंगमैः ? अग्रसरैः–पुरश्चारिभिः, पृष्ठचरैः गजैः मदांभोभरैः–दानवारिप्रकर्षैः कृत्वा रजस्तावद् अधोरक्षि–न्यग् अपात्यत । कः कैरिव ? भवी–भव्यः, पंकैः–पातकैरिव । भविपक्षे–अनन्तं मोक्षं । मदाः जात्यादयः ।

३८. **पुरस्स०** । तुरंगिभिः–सादिभिः, पुरस्सरैः–अग्रसरैः, इति जनानां पृच्छतां–प्रश्नविधायिनां, ऊचे–वभाषे । इतीति किं ? भो तुरंगिणः ! बलं–कटकं पृष्ठे वैत्यागच्छति । पृष्टचरैरपीदमेव जनानामूचे । जनानां पुरो–अग्रे, बहु-सैन्यमस्ति वा प्राक्–पूर्वतो बहुसैन्यमस्तीति संनिवोधः–ज्ञानं नो वभूव । इति पड्भंगोन्वयः ।

३९. **कण्डूय०** । करीन्द्रैः–गजराजैः, पथिभूरुहाणां–मार्गवृक्षाणां, त्वक्–छल्ली उन्ममंथे–उदच्छेदि । किं कुर्वाणैः ? करटं कंडूयमानैः–कंडूयां विदधानैः । कैः केव ? चारुदृशां–स्त्रीणां, विलासैः–विभ्रमैः धर्मस्थितिः–चारित्रसीमा यथा उन्मथ्यते । किं विशिष्टैः ? अधिकप्रौढितया–अधिकप्रपंचतया, प्रपन्नैः संयुक्तैः ।

४०. **विद्याधरैः०** । विद्याधरैः व्योमपथः–आकाशमार्गः, जगाहे–विलोडयांचक्रे, ततः–तदनन्तरं, निधानैः वडवामुखं–पातालं जगाहे, भूचारिभिः–भूचरैः, भूमितलं जगाहे । सा चमूरेवं गंगेव त्रिमार्ग्या–मार्गत्रये, वभूव–अजायत ।

४१. **प्रवर्ति०** । अयननिम्नगापि–मार्गनद्यपि, तस्य–भरतस्य, बलं–कटकं, तस्य कामचारैः–यथेष्टसंचरणैः, सद्यः–तत्कालं, नवोढेव–नवपरिणितवधूरिव, विपीदतिस्म–विपादमाप्नोतिस्म । किं विशिष्टा अयननिम्नगा ? रसस्य–पानीयस्य, ऊनकत्वं–अल्पीयस्त्वं, तेन पंकैककालुष्यभरः–कर्दमैकमालिन्यातिशयः, तेनातिदीना–अतिकृशा । नवोढापक्षे–रसस्य शृंगाररस्य । तद्बलकामचारैः–तस्य भर्तुः बलस्य–वीर्यस्य अत्यर्थवंधैः चारोवन्धावसर्पयोरित्यनेकार्थसंग्रहे । किं विशिष्टैः तद्बलकामचारैः ? प्रवर्त्तितैः–प्रसृतैः ।

४२. **नाव्या०** । अस्य–भरतस्य, बलैः–सैन्यैः कृत्वा नाव्या–नौतरणयोग्या, नदी

सुप्रतरा बभूव। गहनं–तरुसंकीर्णं वनं, प्रकाशं–प्रकटं, आसीत्। सलिलाशयाः–जलस्थानानि स्थलान्यभूवन्। किं विशिष्टस्य अस्य? जयोद्यतस्य–वैरिविजयोद्यमवतः। क्रमाद्–अनुक्रमात्।

४३. **सुषेण०**। सुषेणसैन्याधिपतिः–सुषेणनामा सेनानी राजानं समेत्येदं जगाद। हे राजन्! स्वसैन्यं ललाटंतपसप्तसप्तेः–मध्यान्हीयातभानोः, तापात् विषीदति–विषादं कलयति। क इव? अंडजानां–पक्षिणां, व्रातः–समूह इव।

४४. **बन्धूक०**। हे राजन्! त्वं बन्धूकपुष्पाणि–माध्याह्निकतरोः कुसुमानि, विकासवंती–विकस्वराणि, वीक्षस्व–विलोकय। किं विशिष्टानि? सिन्दूरभरवत् छविः–कांतिः येषां, तानि, किमिति वितर्के, स्मरवीरमुक्ताः एते बाणा वर्त्तन्ते। किं विशिष्टाः बाणाः? वियोगिवक्षस्थलशोणिताक्ताः–विरहिहृदयस्थलरुधिरार्द्राः।

४५. **तीक्ष्णांशु०**। हे राजन्! त्वं मृगाक्षीरिव लताः–वल्लीः, पश्य–विलोकय, किं कुर्वतीः? प्रेयसि सापराधे–सागसि सति, प्रसूननेत्रैः–पुष्परूपनयनैः, मकरंदबाष्पान् विमुंचतीः–श्रवंतीः, किं क्रियमाणाः? तीक्ष्णांशुतप्त्या–रवितापेन परितप्यमानाः।

४६. **लोलल्ल०**। हे राजन्! आरात्–संनिधौ, त्वयाऽयं पांथजनो विलोक्यतां। किं विशिष्टः पान्थजनः? लोलल्लतामण्डपमध्यलीनः–चलद्वल्लीमंडपांतराश्रितः, उत्प्रेक्षते–निर्स्त्रिंशसूनध्वजबाणघातभीत्या–निःकृपकामशरप्रहारभयेन, भीतः त्रस्त इव। पुनः किं विशिष्टः? परिलग्नतृष्णः–व्याप्ततृषः।

४७. **अयं प०**। हे राजन्! त्वं उत्थाष्णुरजोभरत्वात्–उड्डीयमानपांसुप्रकर्षात्, त्वमिमं पशूनां समजं–गवां समूहं, पश्य–विलोकय। अयं पशूनां समजो लग्नतृष्णः सन्–कलितपिपासः सन्, सरस्तटं धावति। कथं? समंतात्–सर्वतः। क इव? कामीव। यथा कामी कान्ताधरबिम्बपित्सुः–पिपासुः, धावति।

४८. **मर्मद्धि०**। हे राजन्! भवता तत्–तस्माद्धेतोः, अयं जलाशयः नोज्झनीयः–न त्याज्यः। यदयं जलाशयः मरन्दलक्षात्–मकरन्दव्याजात्, सरोजनेत्रैरिति रोदितीव। इतीति किं? ममैषा ऋद्धिः–संपत्, कृतार्था–कृतकृत्याननाऽभवन्। मकरंदे मरंदोऽपि–इति शब्दप्रभेदे।

४९. हस्त्यश्व०। हे राजन्। भाराधिरोपात् चलनक्रमाच्च हस्त्यश्व[illegible] बलीवर्दानि पतंति भूमाविति शेषः। महोक्षवर्गश्च [illegible]

५६. **करोति०** । चराणामनुशाशनं किं कथयतीत्याह । नृपेण–भरतेन, इति ज्ञातुं चरा नियुक्ताः–आज्ञापिताः । इतीति किं ? तक्षशिलाक्षितीशः–बाहुबलिः किं करोति । किलेति सत्ये, तस्य–बाहुबलेः, सैन्ये–कटके, के वीरधुर्याः–भटधुरंधराः सन्ति । तस्य–महीशितुः, बलं कीदृशमस्तीति चतुर्भंगोन्वयः ।

५७. **श्वः कुत्र०** । चक्री सेनानीं किं पुनः प्राह । हे सुषेणसेनाधीश !, श्वः–आगामीवासरे, ध्वजिनीनिवेशः–कटकाधिवासः, कुत्र–स्थाने, भावी–भविता । कटकैः स्वदेशसीमा उल्ललंघे–व्यतीता । अतः परं अरातिदेशे–शत्रुविषये, मया गम्यं–गन्तव्यं । अरिं विना–शत्रुमन्तरेण बलाबलव्यक्तिः–विक्रमाविक्रमस्पष्टता, न स्यादिति चतुर्भंगोन्वयः ।

५८. **इतीरि०** । अथ–अनन्तरं, स सुषेणसेनाधिपः, भूपं–भरतं, निजगाद–अब्रवीत् । किं विशिष्टः सुषेणसैन्याधिपः ? सदर्पः–सगर्वः, पुनः किं विशिष्टः ? इतीरितः–पूर्वोक्तप्रकारेण कथितः । महौजसां–महाबलानां, साहसश्रीः किंचिन्नसमुदेति ? किन्तु समुदयं प्राप्नोत्येव । किं विशिष्टा साहसश्रीः ? आत्मपराऽविमर्शा–स्वपरविचाररहिता ।

५९. **किं काश्य०** । हे क्षितीश ! दैन्यवता–कृपणत्वजुषा पुंसा, किं काश्यपी–पृथ्वी, उपचर्या–ग्राह्या । साहसिभिः–साहसिकैः, वसुधा संगृह्यते–आदीयते । हरिः–सिंहः, एकोपि दानार्द्रकपोलभित्तीन्–मदजलाविलकटप्रदेशान् गजान्, हेलया–लीलया, किं न हन्ति, किन्तु अनुघातयत्येव ।

६०. **एषां भ०** । हे राजन् ! एषां–वक्ष्यमाणानां भटानां, भवन्निदेशः–भवदाज्ञा, महांतरायी–महाविघ्नोस्ति । किं विशिष्टानां भटानां ? समरोत्सुकानां–रणोत्सुकानां । रवेः–सूर्यस्य, पुरः–अग्रे, तदीयपादाः–सूर्यसंबंधिकिरणाः, भूमीभृदाक्रान्तिनिबद्धकक्षाः–पर्वताक्रमणप्रह्वीभूताः, किं न सन्ति ? अपि तु सन्त्येव ।

६१. **तवानु०** । हे भरताधिराज ! अयं बाहुबलिः, युगादेः–ऋषभध्वजस्य, तनयः–सुतः, तवानुजः–भवल्लघिष्टबान्धवः, तेन ममायमूहः–विचारः, वर्त्तते । चेद्–यदि, मम कः सांयुगीनः–रणे साधुः, अयं बाहुबलिः, नाधुनास्ति । ते–तव, निदेशः–आज्ञा, मम विमर्शः–विचारोस्ति नान्यः । इति पंचभंगोन्वयः ।

६२. **हठाद्०** । हे राजन् ! रिपूणां–शत्रूणां, विशेषात् वसुधा–धरणी, हठात् क्रान्ता, पुंसां–पुरुषाणां, सुखाय–शर्मणे भवति । केव ? मृगाक्षी–वधूरिव । यथा वधूः हठात् क्रान्ता पुंसां सुखाय भवति । धीरः–धैर्यवान्, समरोत्सवे–रणमहे,

आवहति। किं विशिष्टो महोक्षवर्गः? नीराशयोदञ्चितकन्धरः—पल्वलदर्शनोर्ध्वीकृतग्रीवः।

५०. **स्वेदोद०।** हे राजन्! प्रसह्य—हठात्, वनं—अरण्यं, तवातिथ्यविधिं—भवत्प्राघूर्णकत्वविधानं, विधातुं—निर्मातुं, स्वसैनिकानां—स्वभटानां, स्वेदोदबिन्दून्—परिस्वेदांबुकणान्, नुदति—व्यपनयति, केन कृत्वा? प्रफुल्लपद्माकरमारुतेन—विकचकमलाकरवायुना, कथं? अधिभालपट्टं—ललाटपट्टमधिकृत्य।

५१. **आयोज०।** हे राजन्! त्वया आयोजनं—चतुः क्रोशप्रमाणं भूमिरपि व्यतीतः—उल्ललंघे। सर्वेऽपि चक्रवर्तिनो योजनमात्रमेव चलंतीत्यागमः हे राजन्! कथमद्यापि सेनानिवेशः—सैन्यावस्थितिः, न क्रियते—न विधीयते। महोनिधिः—भासां निधानं, भानुः—श्रीसूर्यः, क्षणं—मुहूर्त्तं, किं न विश्राम्यति। किं कृत्वा? मध्यस्थतां—माध्याह्निकावस्थां, एत्य—प्राप्य, त्वं पश्य—विलोकय, मध्याह्नसमये भानोरप्यवस्थितिः दृश्यते, कथं न भवतः। इति चतुर्भंगोऽन्वयः।

५२. **इतीप्सितं०।** स नृपाणां प्रथमः भरतः तस्य—बलाधिपस्य सुषेणनाम्नः सेनाधिपतेरितीप्सितं सेनानिवेशं स्वीचकार—अंगीकरोतिस्म। हि—यतः दिवसेश्वरेण—भानुना, अनूरुकृत्यं—अरुणसारथेः कार्यं, दिवसाग्रभागे—प्रभाते, अलंघनीयं—अनतिक्रम्यं।

५३. **सैन्यस्य०।** तदा—तस्मिन् समये, अवतीर्णस्य—उत्तीर्णस्य, सैन्यस्य—कटकस्य, विपिनान्तरे—वनमध्ये, विहंगमानां—पक्षिणां, संवर्तसंक्षुब्धपयोधिकल्पः—कल्पान्तसंचलितसमुद्रसदृशः, घोषः—कोलाहलोऽभूत्। किं विशिष्टानां विहंगमानां? वनस्थलीप्रोड्डयनोत्सुकानां।

५४. **सेनानि०।** तस्य—भरतस्य, बहुशः—भूयांसः, सेनानिवेशाः बभूवुः। कथं? नितान्तं—अत्यर्थं। किं विशिष्टाः सेनानिवेशाः? पुरीप्रदेशाधिकविभ्रमाढ्याः—अयोध्योद्देशाधिकशोभाकलिताः। किं विशिष्टस्य तस्य? एवं—अमुना प्रकारेण, प्रयातस्य—चलितस्य। हि—यतः, पुण्यवतां—धन्यानां, पुरं—नगरं, वनं—अरण्यं, योग्यमस्ति।

५६. **करोति०** । चराणामनुशाशनं किं कथयतीत्याह । नृपेण–भरतेन, इति ज्ञातुं चरा नियुक्ताः–आज्ञापिताः । इतीति किं ? तक्षशिलाक्षितीशः–बाहुबलिः किं करोति । किलेति सत्ये, तस्य–बाहुबलेः, सैन्ये–कटके, के वीरधुर्याः–भटधुरंधराः सन्ति । तस्य–महीशितुः, बलं कीदृशमस्तीति चतुर्भंगोन्वयः ।

५७. **श्वः कुत्र०** । चक्री सेनानीं किं पुनः प्राह । हे सुषेणसेनाधीश !, श्वः–आगामीवासरे, ध्वजिनीनिवेशः–कटकाधिवासः, कुत्र–स्थाने, भावी–भविता । कटकैः स्वदेशसीमा उल्ललंघे–व्यतीता । अतः परं अरातिदेशे–शत्रुविषये, मया गम्यं–गन्तव्यं । अरिं विना–शत्रुमन्तरेण बलाबलव्यक्तिः–विक्रमाविक्रमस्पष्टता, न स्यादिति चतुर्भंगोन्वयः ।

५८. **इतीरि०** । अथ–अनन्तरं, स सुषेणसेनाधिपः, भूपं–भरतं, निजगाद–अब्रवीत् । किं विशिष्टः सुषेणसैन्याधिपः ? सदर्पः–सगर्वः, पुनः किं विशिष्टः ? इतीरितः–पूर्वोक्तप्रकारेण कथितः । महौजसां–महाबलानां, साहसश्रीः किंचिन्नसमुदेति ? किन्तु समुदयं प्राप्नोत्येव । कि विशिष्टा साहसश्रीः ? आत्मपराऽविमर्शा–स्वपरविचाररहिता ।

५९. **किं काश्य०** । हे क्षितीश ! दैन्यवता–कृपणत्वजुषा पुंसा, किं काश्यपी–पृथ्वी, उपचर्या–ग्राह्या । साहसिभिः–साहसिकैः, वसुधा संगृह्यते–आदीयते । हरिः–सिंहः, एकोपि दानार्द्रकपोलभित्तीन्–मदजलाविलकटप्रदेशान् गजान्, हेलया–लीलया, किं न हन्ति, किन्तु अनुघातयत्येव ।

६०. **एषां भ०** । हे राजन् ! एषां–वक्ष्यमाणानां भटानां, भवन्निदेशः–भवदाज्ञा, महांतरायी–महाविघ्नोऽस्ति । किं विशिष्टानां भटानां ? समरोत्सुकानां–रणोत्सुकानां । रवेः–सूर्यस्य, पुरः–अग्रे, तदीयपादाः–सूर्यसंबंधिकिरणाः, भूमीभृदाक्रान्तिनिबद्धकक्षाः–पर्वताक्रमणप्रक्लीभूताः, किं न सन्ति ? अपि तु सन्त्येव ।

उत्संगं–अंकं, एते–आगते, किं कातरत्वं–दीनत्वं, विदधाति–करोति ? न करोतीत्यर्थः ।

. पश्य स्व० । हे नरेश ! त्वं स्वसेनां–निजकटकं, पश्य–विलोकय । किं विशिष्टां स्वसेनां ? हरिदुःप्रधर्षा–शक्रदुःसहां, त्वं दोष्णोर्युगे–बाहुयुगले, दृशं–दृष्टिं, देहि–वितर । स बाहुबलिस्तावद् बली–बलवान् यावत् त्वया न ईये–नागतं । केन ? विरोधिक्षितिभंजनेन–वैरिवसुधाभंगेन । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

६४. ममाद्भुतं० । हे सार्वभौम !–चक्रवर्त्तिन् !, अतः परं त्वं मम वाक्यं स्वीकुरु–संगृहाण । किं विशिष्टं वाक्यं ? अद्भुतं–आश्चर्यकारि, हे राजन् ! इतः स्थानात् मया चारवराः–हेरिकपुरुषाः, सेनानिविष्ट्यै–सैन्यनिवेशाय, निजबुद्धितः-स्वबुद्धेः, ह्यो–गतवासरे, नियुक्ताः–संप्रेषिताः सन्ति ।

६५. तैरेत्य० । हे राजन् ! तैः–चरैः, एत्य–आगत्य, अहमेवं विज्ञापितः–विज्ञपयांचक्रे । कथंभूतैस्तैः ? सानन्दमनोभिः–सहर्षचित्तैः । पुनः किं विशिष्टैः ? प्रियसत्यवाक्यैः–मनोज्ञाऽवितथवचनैः । एवमिति किं ? उत्तरस्यां दिशि एकं दावं-वनमस्ति । किं विशिष्टं दावं ? चैत्ररथाद्–धनदवनाद्, अनूनं–अधिकं । पुनः किं विशिष्टं वनं ? अदूरगं–इतः स्थानात् समीपगं ।

६६. स भूरुहो० । हे राजन् । जगत्त्रयेऽपि–त्रैलोक्येऽपि, स भूरुहः–तरुः, नास्ति, योऽस्मिन् कानने–वने, विवृद्धिं नागात्–न लभतेस्म । कस्मिन् क इव ? सर्वविदि–भगवति, गुणोद्भव इव । यथा गुणोत्पत्तिः सर्वविदि वृद्धिं कलयति । किं विशिष्टे कानने ? चारुफलोल्लसच्छ्रीभरभासुरांगे–मनोज्ञफलशोभातिशय-प्रदीप्यमानांतिके । सर्ववित्पक्षे–फलं–लाभः, अंगं–शरीरं । फलं हेतुकृतेजातिफले फलैकसस्ययोः । त्रिफलायां च कक्कोले शस्त्राग्रे व्युष्टिलाभयोः–इत्यनेकार्थसंग्रहे ।

६७. गीर्वाण० । हे राजन् ! यत्र वने नितांतं–उत्कर्षतः वृक्षाः अनेकधाः–बहुप्रकाराः, विभान्ति–शोभन्ते । किं विशिष्टाः वृक्षाः ? गीर्वाणविद्याधरसुन्दरीणां संकेतलीलानिलयाः–संकेतक्रीडास्पदानि । पुनः किं विशिष्टाः ? प्रसूनचापात–पवारणानि–कामछत्राणि ।

६८. पुष्पद्रु० । हे राजन् ! इह–अस्मिन् वने, रोलंबराजिः–भ्रमरश्रेणिः, कलापिनां–मयूराणां, कादम्बिनीभ्रान्ति–मेघमालाभ्रमं, आतनोति–विदधाति । किं विशिष्टा रोलंबराजिः ? जलदालिनीला–घनततिश्यामला, किं कुर्वंती ? पुष्पद्रु-शाखा उपरि–कुसुमद्रुमशिखोपरिष्टात्, भ्रमंती–चलंती, किं विशिष्टानां कलापिनां ? नृत्यरसोत्सुकानां–नाट्यरागोत्कंठितानां ।

६९. **यदीय०** । हे राजन् ! शक्रोऽपि–वासवोऽपि, इति शंकां हृदये–मनसि, विभर्त्ति–धरति, इतीति किं ? इदं किं नंदनोद्यानं ममास्ति ? किं कृत्वा ? दूरात्–विप्रकृष्टतः, यदीयसौन्दर्य–यस्य रामणीयकं, उदीक्ष्य–विलोक्य, किं कुर्वाणः ? विमानेन नभः–गगनं, विगाहमानः ।

७०. **श्रीमद्यु०** । हे राजन् ! तदन्तरे–तस्य वनस्यांतराले, श्रीमद्युगादेः–जगदीश्वरस्य, महान् विहारः–प्रासाद एकोऽस्ति । किं विशिष्टो विहारः ? कलधौतरूपः–स्वर्णाकृतिः । उत्प्रेक्षते–जाम्बूनदाद्रेः–मेरोः, वज्रभिन्नः–पविदारितः । किं शृंगदेश इव ?

७१. **महाम०** । हे राजन् ! अयं प्रासादः आरामलक्ष्म्याः–काननकमलायाः, कल्याणताडंकः–स्वर्णकुंडल इवास्ति । किं विशिष्टोऽयं प्रासादः ? महामणिस्तंभविराजितश्रीः–बृहद्रत्नस्तंभविभ्राजितशोभः । किं विशिष्टाया आरामलक्ष्म्याः ? तरुराजाः–तरुश्रेष्ठाः, तेषां राजिः–पंक्तिः, तया विराजमानाः–शोभमाना अवयवाः यस्यां, एतादृशी अंगयष्टिर्यस्याः सा तस्याः ।

७२. **नवीन०** । हे राजन् ! विहारभित्तिः काननभूरुहाणां–वनवृक्षाणां, आत्मस्वरूपव्यवलोकनाय–स्वस्वरूपदर्शनार्थं, मुकुरैकलीलां–दर्पणैकविलासं, धत्तेतरां–अतिशयेन विभर्त्ति । किं विशिष्टा विहारभित्तिः ? नवीनचामीकरनिर्मलाभा–नूतनस्वर्णविशदकांतिः ।

७३. **जीवो य०** । हे राजन् ! अयं प्रासादराजः तथा युगादिविम्बेन उच्चैः परिभाति यथा पुण्यभरेण–सुकृतातिशयेन, जीवः–आत्मा परिभाति, यथात्मना–जीवेन, देहः परिभाति । यथाब्जेन–कमलेन, तटाकः परिभाति ।

७४. **मुक्ताव०** । हे राजन् ! काननराजलक्ष्म्या मंदाकिनी–गंगा, मुक्तावली–हारलता, कंठगतेव भाति । किं कुर्वत्या ? चरिष्णुचन्द्रातपगौरवीचिच्छलाद्–चंचत्कौमुदीश्वेतकल्लोलव्याजात्, शीतकान्ति–चन्द्रं, हसन्त्या इव–स्मयमानाया इव ।

७५. **डिण्डीर०** । हे राजन् ! यत्तीरगताः–यस्या गंगायाः तटमाप्ताः संतो राजहंसा नितान्तं–अत्यर्थं, विभांति–शोभंते, उपमीयंते–डिंडीरपिण्डाः–फेनप्रकारा इव । तत्र–तीरदेशे, सेनानिवेशः–सैन्यसंस्थापनं, सदोचितः–सर्वदा योग्योस्ति । यथा पुण्यवतः–सुकृतिनः, स्वः–स्वर्गलोकः, युक्तः स्यात् । इति त्रिभंगोन्वयः ।

७६. **इत्थं वचः०** । राजा–भरतः, तदैव–तस्मिन्नेव समये, अतः–स्वदेशात्, सैन्यलोकैः सह चचाल–प्रतस्थे । किं कृत्वा ? सैन्यपतेः इत्थं–पूर्वोक्तं वचो

निशम्य–श्रुत्वा, किं कर्त्तुं ? तं आरामं–काननं, द्रष्टुं–विलोकयितुं, किं विशिष्टं तं ? प्रासादलक्ष्मीकमनीयताढ्यं–चैत्यशोभाभिरामतापूर्णं ।

७७. **वनं स०** । नृपतिः–भरतः, परभुवं–शत्रुसीमावनिं, प्रतस्थे–चलितवान् । किं कर्त्तुं ? वलैः–कटकैः, सह–सार्द्धं, सप्रासादं वनं–सचैत्यं काननं, उपगंतुं–उपैतुं । किं विशिष्टो नरपतिः ? कृतोद्योगः–संविहितोद्योगः । पुनः किं विशिष्टः ? सागःक्षितिपतिमनःशल्यसदृशः–सापराधभूपालहृदयशल्यतुल्यः । पुनः किं विशिष्टः ? सैन्येन्द्राग्रसरपरिनुन्नः–सैन्येन्द्राग्रगामिप्रेरितः, सुधीः–विद्वान्, तादृक्कार्ये–तद्विधेऽर्थे, न विमृशति–न विचारयति । किं विशिष्टः सुधीः ? पुण्योदयरुचिः–धर्माभ्युदयाभिलाषी ।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे-
ऽयोध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका ।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
या तस्यामिति संबभूव नवमः सर्गोऽरिसीमागमः ।

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पंजिकायां बाहुबलिदेशसीमाप्रयाणो नाम नवमः सर्गः ।

दशमः सर्गः—

१. **पताकि०** । सा श्रीभरतेश्वरस्य पताकिनी–सेना, तक्षशिलाधिपस्य–बाहुबलेः, सीमांतरमाससाद–प्राप । किं कुर्वाणा ? शंकमाना, मुहुः–असकृत् । केव ? नवोढेव । यथा नवोढा वधूः विलासगेहं–वासगृहं, आसादयति ।

२. **तत्कान०** । तदीयैः सैन्यैः–भरतसंबंधिकटकैः, तत्काननान्ताः–तस्य वनस्य प्रदेशाः, अगम्यंत–प्राप्यंत । किं विशिष्टाः काननान्ताः ? सविभ्रमांकाः–वीनां–पक्षिणां, भ्रमः–भ्रान्तिः, तेन सह वर्त्तमानांकः–उत्संगः स्थानं वा येषां, ते । कैः के इव ? कामिनीनां विलासैः प्रतीकाः–अवयवाः, यथा गम्यन्ते । किं विशिष्टाः प्रतीकाः ? तारुण्यलावण्यजुषः–यौवनलवणिमभाजः । कथं ? शनैः–मन्दं मन्दं । प्रतिपक्षे–सविलसभूषा वा सशोभालक्ष्माणः ।

३. **रजस्व०** । वाहैः–अश्वैः, भूमिं परिहाय–त्यक्त्वा, नभः– गगनं, इतीवललंबे–शिश्रिये । किं विशिष्टैः वाहैः ? पवनातिपातैः–वायोरतिगामिभिः । इतीति किं ? एताः काननवल्यः–वनलताः, एषां–सैनिकानां, अदृश्याः–अनालोकनीया सा

भवन्तु। किं विशिष्टाः काननवल्ल्यः ? रजस्वलाः–रेणुमत्यः, रजस्वलाः–पुष्पवत्यः किलेति सत्ये अदर्शनार्हा भवन्ति।

४. कदर्थि०। तदानीं–तस्मिन् समये, सा वनराजिः वयसां विरावैः—विहंगमानां विरावैः, गाढं यथा स्यात् तथा चुक्रोश–रुरोद। कथं भूता सा वनराजिः ? तदीयैः–तस्य भग्नस्य संबंधिभिः, बलैः–कटकैः, उच्चैः अत्यर्थं, कदर्थिता–पीडिता। पुनः किं विशिष्टा सा ? हठात्तशाखाकबरी–बलाद् गृहीतद्रुशाखावेणी। केव ? नवोढकन्येव, यथा नववधूः, तदीयैः–तस्य नायकस्य संबंधिभिः, बलैः–ओजोभिः, कदर्थिता सति गाढं क्रोशति।

५. चमूच०। सा वनराजलक्ष्मीः केतककंटकैः, युवः–तरुणान् तुनोद–व्यथतेस्म। किं विशिष्टान् यूनः ? चमूचरान्–सैन्यवर्त्तिनः। किं कुर्वतः ? किलेति निश्चयेन, विमर्दात्–संघट्टात्, उपरिष्टात्–उपरितः पततः। किं विशिष्टैः केतककंटकैः ? अत्यन्तकठोरधारैः–अत्यर्थकठिनाग्रभागैः। कैरिव ? नखैरिव।

६. फुल्लल०। केचिद्–वीराः, फुल्ललतामण्डपमध्यमीये–व्यकचद्वल्लीमंडपांतरे, निषेदुः–निषीदन्तिस्म। किं विशिष्टाः सैनिकाः ? महीरुहस्कंधनिबद्धवाहाः–द्रुमस्कंधनियंत्रिताश्वाः। किं विशिष्टे फुल्ल० ? नितयाभिरामे–अत्यमनोज्ञे। के कस्मिन्निव ? सुराः स्वर्गवनांतराले–नंदनवनाभ्यन्तरे यथा निषीदंति।

१०. **विलासि०।** केचित् तुरगाधिरूढाः–सादिनः, आलेख्यकृताः–चित्रार्पिता इव, निषेदुः–तस्थुः। किं कुर्वतः ? विलासिनीविभ्रमचारुलीलाः–कान्ताकटाक्षमनोज्ञविलासान्, स्मरंतः–स्मृतिमापादयंतः, किं कृत्वा ? सुरशैवलिन्याः–गंगायाः, वीचीः–तरंगान्, विलोक्य–दृष्ट्वा। कथं ? द्राक्–शीघ्रं।

११. **कालागु०।** मधुपाः–भ्रमराः, पुष्पद्रुमान् विहाय–त्यक्त्वा, कालागुरुस्कन्धनिबद्धनागकटेषु–कृष्णागुरुतरुस्कंधनियंत्रितगजकपोलेषु, पेतुः–पतंतिस्म। नु इति वितर्के, कोऽपि ससंज्ञचित्तः–सचेतनमानसः, विशिष्टवस्तुप्राप्तौ प्रमाद्येत्–प्रमादं कुर्यात् ?

१२. **दुर्वाकु०।** वाहाः–तुरंगाः, सरितः–नद्याः, तटेषु–तीरेषु, विचेरुः–विहरंतिस्म। किं विशिष्टाः वाहाः ? दुर्वाकुरग्रासनिबद्धकामाः। तदा–तस्मिन् समये, स सैन्यलोकोऽपि, समग्रं–समस्तं, स्वस्वार्थचिंताविधि–निजनिजकार्यसंस्मृतिविधानं, आततान–करोतिस्म।

१३. **अथ क्षि०।** अथ–अनन्तरं, क्षितीशः–भरतः, नागाद्–गजाद्, अवरुरोह–उत्तीर्णवान्। किं कृत्वा ? दूरात् भगवन्निवासं–जिनप्रासादं, विलोक्य–दृष्ट्वा। अमीदृशानां–एवंविधानां पुरुषाणां, उचितक्रियासु–योग्यकर्मसु, कोऽपि किञ्चिन् नैपुण्यं आशंसति–निवेदयति ? किन्तु अमीदृशाः स्वयमेव विदंतीत्यर्थः।

१४. **ततः स०।** ततः–तदनन्तरं, समग्रा अपि भूमिपालाः–राजानः, अस्य–भरतस्य, विधिं–विधानं, चक्रुः–कृतवंतः। किं विशिष्टाः भूमिपालाः ? यानावरुढाः–वाहनोत्तीर्णाः। हि–यतः, अधीश्वराचीर्ण–राज्ञाचरितं कृत्यं सेवापरैः इह अलंघनीयं–नातिक्रमणीयं। किं विशिष्टं कृत्यं ? अशेषं–समग्रं।

१५. **सर्वोत्त०।** स राजा भरतः जिनराजवेश्म–प्रासादं, विवेश–प्रविशतिस्म, किं कृत्वा ? सर्वोत्तरासंगविधिं विधाय–निर्माय। उत्प्रेक्षते–निर्वृतेः–सुखस्य, आस्यं–मुखमिव। पुनः किं विशिष्टं ? अभिरुच्यं–मनोज्ञं। पुनः किं विशिष्टं ? सुवर्णभास्वत्कमनीयताढ्यं–कनकदीप्यमानसुंदरतापूर्णं, आस्यपक्षे–प्रधानाक्षरं।

१६. **प्रदक्षि०।** धराधिपः–राजा भरतः, त्रिः–त्रिवेलं, प्रदक्षिणीकृत्य, युगादेः पंचांगनतिं–पंचांगप्रणिपातं, चकार। हि–निश्चयेन, तीर्थेशनत्यैव–भगवत्प्रणामेनैव, भूपाः–राजानोपि, नम्रभावं–नमनशीलतां, भजंति–श्रयंति। किं विशिष्टया तीर्थेशनत्या ? शुद्धिमत्या–पावित्रशालिन्या, अत्र को भाव ? यश्च श्रद्धया तीर्थेशं प्रणमति, तं राजानोपि प्रणमंतीति रहस्यं।

१७. न चाति० । भरताधिराजः पाणी–हस्तौ, संयोज्य–योजयित्वा, इति वक्ष्यमाणैः, पदैः–विभक्त्यन्तैः, तीर्थेशं–युगादिदेवं, तुष्टाव–स्तौतिस्म । किं विशिष्टो भरताधिराजः ? न चातिदूरान्तिकसन्निषण्णः–न दविष्ठनेदिष्ठतया स्थितः, जिनावग्रहप्रमाणस्थित्यैवासीनः । किं विशिष्टः ? ताररावः–उच्चस्वरः, किं विशिष्टैः पदैः ? अनेकैः–बहुभिः, पुनः किं विशिष्टैः ? प्रतीतैः–प्रतीतिमद्भिः ।

१८. भवं ति० । भरतः तीर्थेशस्तुतिपदान्येवमाह । हे त्रिविश्वार्च्यपदारविन्द !–त्रैलोक्यपूज्यचरणकमल ! त्वमेव भविनः–भव्यस्य, आधारः–आलंबनमसि । किं चिकीर्षोः ? भवं–संसारं, तितीर्षोः–तरीतुमिच्छोः । त्वमेव तमसः–पापात्, त्रिलोकीं पाता–रक्षिता । च–पुनः, भवतः–त्वद्, अन्यो न सृष्टेर्विधाता–कर्त्ता कश्चिदस्ति ।

१९. त्वमेव० । हे जिनेन्द्र ! त्वमेव संसारदवाग्निदाहप्रशान्तये–भवदावानलताप-प्रशमनाय, वारिदवारिधारासि । त्वमेव अघांबुराशेः–पापपयोधेः, शोषैकदक्षत्व-विधेः–संशोषणाद् विनीयपांडित्यविधानात्, पीताब्धिः–अगस्त्योऽसि ।

२०. त्वमेव० । हे लसत्प्रताप !–विलसत्तेजः !, त्वमेव नैयायिकवाक्प्रपंचैः–तार्किकवचनविस्तारैः, प्रमेयोऽसि–प्रमितिविषयार्होऽसि । किं विशिष्टः त्वं ? विभुः–सामर्थ्यवान् वा सर्वव्यापी । हे वेदान्तसिद्धान्तमताभितर्क्य !, हि–निश्चितं, शिवसंपदः–महानन्दलक्ष्म्याः, भोक्ता–अनुभविता, त्वमेवासि ।

२१. त्वमेव० । हे जगदीश !, हे तात !, भवदुःखराशेः–संसारदुःखौघात, मोक्ता–मोक्षयिता, त्वमेवासि । कलिवारिराशिं–विवादांभोधिं, त्वमेव तीर्णोऽसि । तमोहरत्वात्–दुरितध्वांतक्षयकारित्वात्, चन्द्रः प्रल्हादकारी त्वमेवासि । तरणिः–सूर्यः, त्वमेवासि ।

२२. दुरुत्त० । हे युगादिदेव !, त्वयैव–भवतैव, कृत्वाऽस्माभिः, भववारिनाथः–संसारांभोधिरयं तार्यः । किं विशिष्टो भववारिनाथः ? कषायाः–क्रोधादयः तद्रूपा मीनाः–मत्स्यादयः, तैः सह वर्तमानः, सः । पुनः किं विशिष्टः ? मनोभवोल्लोलभरातिभीष्मः–कामकल्लोलातिशयातिदारुणः, केनेव ? वोहित्थ-केनेव–यानपात्रेणेव । पुनः किं विशिष्टः ? दुरुत्तरः–दुरवगाहनीयः ।

२३. स्तुत्वा० । भूपः–भरतः, अमन्दं–अतुलं, आमोदं–हर्षं, उवाह–वहतिस्म । किं कृत्वा ? युगादिदेवं स्तुत्वा नत्वा, द्वौ चकारौ तुल्यकालं द्योतयतः । कः कमिव ? प्रदोषः–संध्यासमयः, पीयूषधामानं–चंद्रं, इव यथा वहति । किं विशिष्टं

पीयूषधामानं ? निस्तोकलोकस्पृहणीयभावं–समग्रलोककमनीयस्वरूपं। इदं विशेषणं आमोदस्यापि। तत्र पक्षे, भावोभिप्रायः।

२४. करद्व०। नरेशो भरतः तीर्थेशगृहं–चैत्यं, ददर्श–पश्यतिस्म। किं विशिष्टं तीर्थेशगृहं ? करद्वयीचालितचामरौघपांचालिकाशाश्वतताण्डवाढ्यं–हस्तद्वयांदोलितचामरपंक्तिशालभांजिनित्यनृत्यपूर्णं। पुनः किं विशिष्टं ? तुलीकृतप्राक्चरमाद्रिलक्ष्मि–सदृशीकृतपूर्वाचलपश्चिमाचलकमलं। काभिः ? चन्द्रोपलश्याममणिप्रभाभिः–चन्द्रकान्तरत्नवैडूर्यरत्नकांतिभिः।

२५. विचित्र०। पुनः किं विशिष्टं तीर्थेशगृहं ? विचित्रचित्रार्पितचित्तचित्रं–विविधालेख्यदत्तमानसाश्चर्यं। पुनः किं विशिष्टं ? दीपप्रभाजालहसद्विमानं–प्रदीपकान्तिसमूहपराभवद्देवगृहं। पुनः किं विशिष्टं ? कल्याणशैलोन्नतजातरूपभित्तिद्युतिव्रातहृतान्धकारं–सुमेरूत्तुंगस्वर्णभित्तिकान्तिकलापहृतध्वान्तं।

२६. श्रृंगाग्र०। पुनः किं विशिष्टं ? श्रृंगाग्रदेशार्पितहेमकुंभं–शिखरोपरिभागाधिरोपितस्वर्णकलशं। पुनः किं विशिष्टं ? स्फुरत्पताकापटकिंकिणीजुक्–चलद्ध्वजांबरक्षुद्रघंटिकायुक्तं। पुनः किं विशिष्टं ? महामणिस्तंभविनिर्यदंशुचरिष्णुचामीकरतोरणांकं–महारत्नस्तंभविनिर्गच्छत्किरणचंचत्कनकतोरणलांछनं।

२७. कल्पद्रु०। पुनः किं विशिष्टं ? कल्पद्रुमच्छायतिरोहितार्करत्नोष्णरश्मिज्वलनातिरिक्तं–मंदारवृक्षच्छायाछादितस्फटिकाश्मभानुप्रादुर्भूतवन्हिरहितं। पुनः किं विशिष्टं ? क्वचित् प्रदेशे, इन्द्रनीलैः–नीलमणिभिः, दत्तार्ककन्याजलवीचिशंकं–समर्पितयमुनावारितरंगसंभ्रमं। किं विशिष्टैः इन्द्रनीलैः ? भूपीठनद्धैः–भूतलखचितैः।

२८. चन्द्रोद०। पुनः किं विशिष्टं ? चन्द्रोदयोल्लासितमण्डपश्रि–उल्लोचोद्भासितमंडपविभ्रमं। पुनः किं विशिष्टं ? नेत्रोत्सवारंभिगवाक्षदेशं–नयनमहविधायिवातायनप्रदेशं। पुनः किं विशिष्टं ? निर्णिक्तमुक्ताफलक्लृप्तजालं–विमलमौक्तिकविरचितजालं। इति पंचानामपि वृत्तानां अर्थो व्याख्यातः।

२९. धन्यः स०। सार्वभौमः–भरतः, प्रसादकर्त्तुः प्रशंसां–श्लाघां, क्षोणिभुजां–राज्ञां, समक्षं–साक्षात्, विनिर्ममे–कृतवान्। इतीति किं ? येन ईदृक् चैत्यमरचि–कारितं, स धन्यः। अपि–पुनरर्थे, तेन स्वलक्ष्म्याः फलमवापि–लेभे। इति चतुर्भंगोन्वयः।

३०. विहार०। राजा भरतः विहारमध्ये–प्रासादान्तर, विजहार–विचरतिस्म' किं कुर्वाणः ? रम्याणि–रमणीयानि, पदानि–स्थानानि, विलोकमान–

निभालयन् । पुनः किं विशिष्टो राजा ? वसुन्धराधीशपरिच्छदाढ्यः– राजपरिवारसहितः । क इव ? स्वर्मेदिनीनाथ इव–यथेन्द्रो, अमराद्रौ–मेरौ, विहरति–क्रीडति ।

३१. आसेदि० । राजा विद्याधरसाधुधुर्यं विलोक्य निम्नोत्तमकायदेशं–नमनशीलपूर्वकायभागं यथा स्यात् तथा ननाम–नमतिस्म । किं चक्रिवांसं । मणिहेममय्यां–रत्नस्वर्णरूपायां, वेद्यां–परिष्कृतभूम्यां, आसेदिवांसं–तस्थिवांसं । कस्यां कमिव ? मुक्तेः शिलायां सिद्धमिव । किं विशिष्टं विद्याधरसाधुधुर्यं ? अवेदेषु–सिद्धेषु, अवधृतं–आरोपितं, अवधानं–समाधानं, येन, असौ, तं । सिद्धपक्षे–न वेदेषु पुंस्त्रीनपुंसकेषु समारोपितप्रणिधानं । पुनः किं विशिष्टं ? अन्तर्–मध्ये, महोभरः–तेजोतिशयः, तेन उद्दीपिता–उद्योतिता, दिग्विभागाः–आशांताः येन असौ, तं ।

३२. कल्याण० । पुनः किं विशिष्टं ? स्थिरं–निश्चलं । कमिव ? सुवर्णाद्रिः–सुमेरुशैलमिव । पुनः किं विशिष्टं ? अतितुंगं–अत्युच्चताभाजं । किं कुर्वन्तं ? कल्याणगौरं–सुवर्णपीतं, वपुः–शरीरं, उद्वहंतं–दधानं । पुनः किं विशिष्टं ? मंदाकिनीवीचिभरातिगौर – गंगाकल्लोलचयात्युज्वलध्यानद्वयी–धर्मध्यानशुक्ल-ध्यानयुगल्यां प्रापिता चित्तवृत्तिर्येन असौ, तं ।

३३. ललाट० । पुनः किं विशिष्टं ? ललाटपट्टोन्नतिमत्त्वसूचिभागश्रियं–भालोन्नत्यधिकभाग्यलक्ष्मीकं । पुनः किं विशिष्टं ? भासुरदीप्तिमन्तं–देदीप्यमानकान्तिमनोज्ञं । पुनः किं विशिष्टं ? मुनिस्थितेः–मुमुक्षुमर्यादायाः, दीपं । कैः ? आशान्तविसारिभिः–दिगंतप्रसारिभिः तेजोभिः, अतिदीप्रं–अत्यंतभास्करं, द्राक्–शीघ्रं ।

३४. युवान० । पुनः किं विशिष्टं ? युवानं–तरुणं । पुनः किं विशिष्टं ? इन्दीवरपत्रनेत्रं–कुवलयदलनयनं । पुनः किं विशिष्टं ? आजानुबाहुं–जानु-विलंबिभुजद्वयं । पुनः किं विशिष्टं ? धृतिकेलिसद्म–संतोषक्रीडागृहं । पुनः किं विशिष्टं ? शृंगारजन्माधिकरूपलक्ष्म्याः–कामाधिकरूपश्रियः, वारां निधि–समुद्रं । पुनः किं विशिष्टं ? वारितवैरिवेगं–दूरीकृतशत्रुप्रवाहं ।

३५. तृणीकृ० । पुनः किं विशिष्टं ? तृणीकृतस्त्रैणरसं । पुनः किं विशिष्टं ? शान्तस्य रसस्य–नवमस्य रसस्य, नवराजधानीं, इति पंचानामपि वृत्तानामर्थो व्याख्यातः ।

३६. **नत्वाऽथ०।** अथ–अनन्तरं, भूपो भरतः, साधुं–मुनिं, नत्वा–नमस्कृत्य, पुरोधरोत्संगं–मुनेरग्रे धरापीठे यथा स्यात् तथा निपसाद–तिष्ठतिस्म। किं विशिष्टो भूपः ? अनूनभक्तिः–अहीनश्रद्धः, इह–अस्मिन् लोके, संतः–महान्तः, प्रभुत्वाद्–आधिपत्याद्, औचिताधानविचक्षणत्वं–योग्यताकरणचातुर्यं, न विस्मरन्ति।

३७. **प्रज्ञाव०।** चक्री भरतः, तं–मुनिं, ऊचे–उक्तवान्। कथं भूतः चक्री ? प्रज्ञावतां–मतिमतां, प्राग्रहरः श्रेष्ठः। किं कृत्वा ? पुरावलोकात्–पूर्वनिभालनात्, उपलक्ष्य–ज्ञात्वा। हि–यतः, मनस्विनः–मेधाविनः, दृष्टं–आलोकितं श्रुतं–आकर्णितं, वस्तु न विस्मरन्ति। किं विशिष्टाः मनस्विनः ? सर्वविदां तुल्याः–सर्वज्ञकल्पाः।

३८. **दृष्टः पु०।** हे विद्याधराधीश ! मया त्वं नमेर्महीपतेरनीके–कटके, पुरावलोकितः। कस्मिन् ? विजयार्द्धशैले–वैताढ्यगिरौ, मम भटाः–वीरा, त्वद्भुजचंडिमानं–भवद्दोर्दडचंडतां, संस्मृत्य–स्मृतेविषयतामानीय, अद्यापि शिरः मूर्द्धानं, धुनंति–कंपयंति।

३९. **अंसौ त्व०।** हे विद्याधरराजर्षे ! त्वदीयौ अंसौ विजयप्रशस्तेः स्तंभावभूतां वभूवतुः। क्व ? भरतार्धशैले–वैताढ्ये। किं विशिष्टौ अंसौ ? सर्वत्र–समस्तदेशेषु, विद्याधरराजलक्ष्मीकरेणुकासंयमनाय–विद्याभृत्भूपश्रीद्विरदवधूबंधनाय, सज्जौ।

४०. **युवासि०।** हे विद्याधरमेदिनीशः–हे खेचरराज !, त्वं युवासि–तरुणोसि। ते–तव, कुतः–कारणात्, वैराग्यरंगः समभूत्–संजातः। हि–यतः, रसाधिराजं–पारदं, विना कुतः अर्जुनस्य–स्वर्णस्य, सिद्धिर्भविष्यति–भवित्री। किं विशिष्टा सिद्धिः ? अनघा–निर्मला इति त्रिभंगोन्वयः।

४१. **विद्याभृ०।** विद्याभृतामीश !, अहं ते–तव, किं वदामि–कथयामि। त्वयैव–भवतैव, स्वजन्मनः फलं, प्रापि–लब्धं। अत्र तारुण्ये मादृशैः,–मत्सदृशैः, हृदा–मनसाऽपि, यद् अवाह्यं–न वोढुं शक्यं। कैरिव ? स्थलैरिव। यथा स्थलैः–मरुभिः, अंभः–पानीं, न वाह्यते–न धार्यते। केन कृत्वा ? सरसीवरेण–तटाकेन। इति चतुर्भंगोन्वयः।

४२. **केपीह०।** हे मुने ! केपि जनाः, इह–अस्मिन् लोके, असतः–अविद्यमानान् भोगान्, कमंते–वांछंति। केचित् सतोऽपि भोगान्, परिहाय–परित्यज्य, शान्ताः

शमं प्राप्ताः । तेषां पुरुषाणां मध्ये अपूर्वे सुरराजवंद्याः स्युः । अपूर्वे–अप्रथमा, अत्र वृत्ते प्रथमं भोगवांछका. उक्ताः, तदन्ये त्यागिनः । कैवल्यवधूः–मुक्तिरामाऽपि तानेव–त्यागिनः इच्छेत् । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

४३. **धिगस्तु०** । हे मुने ! येषां पुरुषाणां वैराग्यलीला लीलावतीभिः स्त्रीभिः, क्षणेन दलिता–दूरीकृता । किं कृत्वा ? मनोजन्मपिशाचसंगात्–कामप्रेतसंगमात्, मनः परिभूय–पराभवं प्राप्य, तदीयं मनो धिगस्तु । किं विशिष्टं मनः ? तृष्णातरलं–लिप्साचपलं ।

४४. **अंगार०** । हे मुने ! त्यागी–इन्द्रियादिनिग्रहवान्, केनापि पुंसा नावमाननीयः–नावज्ञेयः, अशेषैः । तत्–तस्मात् कारणात्, अत्रभवान् श्लाघनीयः–प्रशस्यः । तत् किं ? त्वं तपसां–धर्माणां, अंगारधानी–हसन्तिका । वधूः स्त्रियः, हित्वा–त्यक्त्वा, तपस्वित्वं–मुनित्वं, उरीचकर्थ–अंगीकृतवानसि ।

४५. **तारुण्य०** । हे विद्याधरनाग !–खेचरश्रेष्ठः, ममापि हृदये किंचिद् अनिर्वचनीयं इति चित्रं–आश्चर्यं न माति । इतीति किं ? इह–अस्मिन् अवस्थांतरे सकला अपि तारुण्यलीलाः–समस्ता अपि युवत्वविलासाः, भीरुलताप्रतानैः–स्त्रीतंतुवितानैः, नो त्वां रुंधंति न वृण्वंति–इति त्रिभंगोन्वयः ।

४६. **शौर्याब्जि०** । हे मुने ! अत्र तारुण्येपि त्वं शौर्याब्जिनीखंडसरोवरः सन् शक्तः–समर्थोसि । कस्मै ? कंदर्पशरापनुन्त्यै–कामबाणापनोदाय, भवान् सर्वत्र–गार्हस्थे यतित्वे, परां विभूषां–उत्कृष्टां शोभां, लभेत–प्राप्नुयात् । कः कामिव ? वासुदेवो लक्ष्मीमिव ।

४७. **त्वच्चित्त०** । हे मुने ! शमांशुमाली–शांतरसभानुमान्, त्वच्चित्तवृत्तिप्रथमाद्रिचूलां–भवदीयमनप्रवृत्तिपूर्वाचलचूलिकां, उपेत्य–आगत्य, समुदेति–उदयं प्राप्नोति । ततः–तदनंतरं, अस्मदीयं हृदयारविन्दं–अस्मन्मनःकमलं, विलोकनेन–दर्शनेन, विकासितां–विकस्वरतां, एति–प्राप्नोति ।

४८. **त्वमेव०** । हे साधो ! त्वमेव शश्वद्–अनिशं, स्त्रैणे–स्त्रीणां समूहे, तृणे–नडादौ, साम्यं–सादृश्यं, उपैपि–लभसे । किं विशिष्टस्त्वं ? समलोष्टरत्नः–सदृशपाषाणमणिः । तत्–तस्माद्धेतोः, सिद्धिवध्वां–मुक्तिनार्यां, भवतः–तव, अभिलाषः अस्मिन् भवे–जन्मनि, अचिराद्–तत्कालतः, संसिद्धिं एष्यति–प्राप्स्यति ।

४६. **गीर्वाण०** । हे मुने ! तु–पुनर्, अहं इति तीर्थनेतुः–युगादिदेवस्य, गवां प्रपंचं–वाग्विस्तरं, पिवामि–अत्यादरेण शृणोमि । इतीति किं ? गीर्वाणनाथाद्–इंद्रात्, सार्वभौमात्–चक्रिणोऽपि, जगत्यां–विश्वे, मुनेः–साधोः, अभ्यधिकं सुखमस्ति । कस्मात् किमिव ? इंदुविम्वात्–चन्द्रमंडलात्, पीयूषं–अमृतमिव ।

५०. **इच्छामि०** । हे मुने ! अहं भवतोपपन्नां–त्वयादृतां, चर्या–गतिं, इच्छामि–वांछामि, मे–मम,कर्माणि नो शिथिलीभवंति–न श्लथीस्युः । तैः कर्मभिरेव वद्धः–नियंत्रितः सन् जीवोऽत्र दुःखं लभते । क इव । नागराज इव । यथा गजेन्द्रः पाशैर्वद्धो दुःखं लभते । इति चतुर्भगोन्वयः ।

५१. **यतोऽत्र०** । हे मुने ! अत्र–संसारे, यतः–यस्मात्, सौख्यं तत एव दुःख स्यात् । यतः–यस्मादत्र संसारे रागः, तत एव तापो भवति । यतः–यस्माद् अत्र संसारे मैत्री–प्रीतिः, ततः–तस्माद् एव वैरं–विरोधो भवति । ये पुरुषाः तत्संगिनः–रागादिप्रसंगवन्तः, न स्युः त एव धन्याः–कृतपुण्याः स्युः ।

५२. **कोपान०** । हे लोभमुक्त ! लौल्योज्झित !, कामं–अत्यर्थं, त्वया क्षांतिजलेन–क्षमांभसा, कोपानलः–क्रोधाग्निः, निर्वापितः–विध्यापितः । त्वया मार्दवसिंहनादात्–मृदुताक्ष्वेडातः, मदद्विपः–अहंकारगजः, अदलि–विदारितः तु–पुनः, भवता अदंभपरश्वधेन–निर्मायकुठारेण, शाठ्यतरुः–कापट्यद्रुमः, अदलि ।

५३. **अस्माद्०** । हे मुने ! संप्रति–अधुना, अस्मादृशाः–अस्मद्सदृशाः, राज्यलीलाकूलंकषाकूलमहीरुहन्ति–राजन्यविलासनदीतीरद्रुमायंते, तत्र नदीतटे, चेद्–यदि, वयं भद्रभाजः–जीवितवंतः स्मः, तर्हि वयं तातप्रसादात् शिवगाः–मोक्षगामिनः, भवद्वत्–त्वद्वत्, भविष्यामः, इति त्रिभंगोन्वयः ।

५४. **त्वया त०** । हे मुनीश ! त्वया कस्यान्तिके–कस्य पार्श्वे, तपस्या–दीक्षा, जगृहे–गृहीता ? तव शान्तहेतुः–नवमरसनिदानं को बभूव ? ते–तव, अत्र प्रदेशे,, कुतो हेतोः आगमः–आगमनं वभूव ? त्वं ममाग्रतः–मत्पुरस्तात्, सर्व–समस्तं, आशंस–कथय, इति चतुर्भगोन्वयः ।

५५. **एताव०** । मुनिः एतावदुक्त्वा–इयत् कथयित्वा, क्षितीशे–भरते, विरते–निवृत्ते सति, वाचा–भारत्या, मुखं सूत्रयतिस्म–योजयति स्म । किं कुर्वत्या ? इति वक्ष्माणं निजप्रवृत्तिप्रथिमानं–स्वचरित्रगरिमाणं, उच्चैः–अत्यर्थं, उद्वहन्त्या–धारयंत्या । क इव ? इंदुरिव । यथा चन्द्रः त्विषा–कान्त्या, खं–आकाशं, सूत्रयति ।

५६. **पृच्छाप०** । हे भरताधिराज !, चेत् त्वं पृच्छापरः–प्रश्नविधानतत्परोसि, तर्हि त्वं सर्वां–सकलां, मत्प्रवृत्तिं–मदीयां वार्त्तां, शृणु–आकर्णय । हि–यतः, पृच्छापराणां–प्रश्नविधायिनां, पुरतः–अग्रे, प्रणीयमानं–प्रोच्यमानं, वाक्यं–वचनं, सुभगत्वं–सौभाग्यं, एति प्राप्नोति, इति त्रिभंगोन्वयः ।

५७. **भूभृत्सु०** । हे भूभृत्सुनासीर !–हे राजेन्द्र !, तदानीं–तस्मिन् समये, नमिः–भगवत्पौत्रः, एकान्तराज्यं नरकान्तमेव–दूर्गतिनिश्चयमेव, बुबुधे–ज्ञातवान् । किं विशिष्टो नमिः ? सबन्धुः–सविनमिभ्रातृ । पुनः किं विशिष्टः ? शूरिमवारिराशिः–शौर्यसमुद्रः । किं कृत्वा ? त्वया समं–सार्द्धं, रणं–युद्धं, विधाय ।

५८. **मयापि०** । हे राजन् ! वयं त्रयोऽपि विरक्ताः–गार्हस्थ्यविरागवंतोऽभवाम–बभूविम । किं कृत्वा ? स्वनन्दनेषु–स्वसुतेषु राज्यं प्रतिरोप्य–निधाय, मयापि तन्मार्गः–नमिविनम्योः पंथाः, अयं, व्रतादानलक्षणः, उरीकृतः–स्वीचक्रे । कः केनेव ? तुषारभानुः–चन्द्रः चन्द्रातपेनेव ।

५९. **त्रयोऽपि०** । हे राजन् ! वयं त्रयोऽपि युगादिदेवं–प्रथमजिनं, लीनाः–अश्लिष्याम । किं कर्त्तुं ? आकाशपथेन चरणैकलीलां–विहारैककेलिं, विधातुं–कर्त्तुं । किं कृत्वा ? राज्यभारसरोवरं परिहाय–त्यक्त्वा । के इव ? हंसा इव । यथा हंसाः आकाशपथेन चरणैकलीलां विधातुं लीयंते ।

६०. **युगादि०** । हे राजन् ! एवं–अमुना प्रकारेण, वयं त्रयोऽपि व्रतं–दीक्षां आचराम–अन्वतिष्ठाम । किं विशिष्टा वयं ? युगादिदेवं द्रुतं–शीघ्रं, एत्य–प्राप्य, बुद्धाः–पठितशास्त्राः । हि–यतः, जिनेन्द्रपादाः–तीर्थकृच्चरणाः, संसारतापातुर-मानवानां–भवतप्तजनानां, अमृतावहाः मोक्षप्रापकाः स्युः ।

६१. **युगादि०** । हे राजन् ! वयं त्रयोऽपि अमंदं–आलस्यरहितं, आमोदं, अदध्म–दध्महे । तु–पुनः, वयं त्रयोऽपि युगादिनेतुश्चरणारविन्दे–वृषभजिनपादांबुजे, अतिष्ठाम–स्थिता आस्म । किं विशिष्टा वयं ? सुनिश्चलाशाः–सुस्थिरकामाः । किं कुर्वाणाः ? भ्रमरायमाणाः–षट्पदवदाचरंतः ।

६२. **अधीत्य०** । हे राजन् ! वयं त्रयोऽपि श्रीजगदीश्वरेण–देवाधिदेवेन, समं–सार्द्धं, भूमीपीठे व्यहराम–व्यचराम । किं कृत्वा ? चतुर्दशापि पूर्वाणि अधीत्य–पठित्वा । पुनः किं कृत्वा ? निःशेषसिद्धान्तरसं निपीय–आस्वाद्य । किं विशिष्टा वयं ? विनीताः–विनयवन्तः ।

६३. **सर्वत्र०** । हे राजन् ! वयं सर्वत्रयोगेषु–मनोवाक्कायनिरोधाख्येषु अयतामहि–प्रयत्नं कृतवन्तः । वयं तु पुनः शीलैः–साधुवृत्तैः, ईशप्रणीतमार्ग–प्रभुकथिताध्वानं, आचराम–चीर्णवन्तः, वयं द्विधा बाह्याभ्यंतरभेदाभ्यां दुस्तपः आधराम–विरचितवंतः । वयं क्रियासु–आवश्यकीषु, आलस्यं नोपाचराम–नादृतवंतः । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

६४. **चामीक०** । अथ–अनंतरं, अन्यदा–अन्यस्मिन् दिवसे, देवः–श्रीयुगादिः, लक्ष्मीप्रभोद्यानमलंचकार–विभूषयामास । किं विशिष्टो देवः ? चामीकरांभोजनिवेशितांह्रिपद्मः–कनककमलस्थापितचरणसरोरुहः । पुनः किं विशिष्टः ? सपद्मः–सश्रीकः, पुनः किं विशिष्टः ? गणनातिगानां गुणानां सदनं–गृहं । केषा क इव ? वारां–पानीयानां, अब्धिः–सागर इव । किं कारयन् ? द्रून्–वृक्षान्, प्रणामयन्–प्रणिपातं कारयन् । कानिव ? वैरिचयानिव–शत्रुसमूहानिव ।

६५. **त्रिछत्र०** । पुनः किं विशिष्टः ? त्रिछत्रराजी–छत्रत्रयशोभी । पुनः किं विशिष्टः ? समतात्–सर्वतः, पुरुहूतहस्तविधूतवालव्यजनः–शक्रपाणिद्वयांदोलितचामरः । पुनः किं कुर्वन् ? भानुविडवि–सूर्यानुहारि, भामंडलं बिभ्रत्–धरन् । किं विशिष्टं भामंडलं ? सधर्मचक्रं–धर्मचक्रसहचारि । पुनः किं विशिष्टं भामंडलं ? निहताघचक्रं–हतपापसमूहं ।

६६. **अथान्य०** । पुनः किं विशिष्टः ? सर्वसुरासुरेन्द्रसंसेव्यमानांह्रिः–सकलवैमानिकभुवनपतिनाथशुश्रूषमाणचरणः । किं विशिष्टं उद्यानं ? अनूनलक्ष्मि–अहीनशोभं । क इव ? अंशुमालीव । यथा भानुमाली नभोमध्यं अलंकरोति । इति विशेषकार्थः ।

६७. **प्रावोच०** । हे राजन् ! अन्येद्युः–अन्यदा, अहमिति प्रावोचं–अकथयं । किं कृत्वा ? नाभेयदेवं–युगादिदेवं, प्रणम्य–नत्वा, किं विशिष्ट नाभेयदेवं ? नतविश्वदेवं–प्रणतसकलसुरं । इतीति किं ? हे भगवन् ! भवन्निदेशात्–त्वदाज्ञातः, तीर्थेषु–शत्रुंजयादिषु मदीयः कामोभिलाषोस्ति । केषु क इव ? गुणेषु–शौर्यादिषु, अर्थ इव । विद्यते गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः इति वचनात् ।

६८. **इतीरि०** । हे राजन् ! किलेति सत्ये, युगादिदेवो मामिति जगाद–अचीकथत् । किं कृत्वा ? मे–मम, इति–पूर्वोक्तं ईरितं, विनिशम्य–श्रुत्वा । किं विशिष्टो युगादिदेवः ? लाभालाभादिविज्ञानविशेषदक्षः–प्राप्त्यप्राप्त्यादिपरिज्ञानकुशलः । इतीति किं ? हे वत्स ! त्वं तीर्थे–पुण्यक्षेत्रे, यदृच्छया–स्वेच्छया, चर ।

६९. **आज्ञां त०** । हे राजन् ! जिनवन्दनाय–भगवन्नत्यर्थं, इह–अस्मिन् प्रासादे, अहं आगतोस्मि । किं कृत्वा ? तदीयां–तस्य जिनस्य संबंधिनीं आज्ञां

अधिगम्य–प्राप्य। खलु–निश्चितं, वाचंयमानां–यतीनां, तीर्थयात्रा मनोज्ञं फलं भवति। इह–अस्मिन् यत्याचारविषये किमन्यदेवास्ति तीर्थयात्रातः किं भव्यमितरत्।

७०. **इदं नवं०**। हे राजन्! चन्द्रयशोभिधेन–सोमयशसा, बाहुबलेः तनूजेन इदं नवं तीर्थमकारि–निर्मापितं, अहं तदीययात्राकृतये–तस्य यात्राविधानाय, आगां–समागमं। किं विशिष्टं तीर्थं? चन्द्रामलं–शशांकोज्वलं। किं विशिष्टेन चन्द्रयशोभिधेन? महाबलेन–महौजसा।

७१. **युगादि०**। हे नरेन्द्र! अहं पुनः युगादिदेवांह्निनिषेवणाय–नाभेयजिनचरणसंसेवनार्थं, तत्रैव लक्ष्मीप्रभोद्याने गंतास्मि। चकोरशावः–चंद्रिकाप्रियबालः, शशांकं–चन्द्रं, विना अन्यत्रकुत्रापि धृतिं–तुष्टिं, नोद्वहेत–न प्राप्नुयात्।

७२. **इतीर०**। भरताधिराजः पुनः मुनीन्द्रं–यतिपतिं, ववंदे–नमस्कृतवान्। किं कुर्वाणः? इत्येवं भाषमाणः–ब्रुवाणः। इतीति किं? हे मुनिन्द्र! श्रीतातपादस्य–प्रथमार्हतः, मदीया नतिर्वाच्या।

७३. **अभ्यर्च्य०**। ततः–तदनन्तरं, भूभृत्–भरतभूपालः, स्वं–निजं, आवासं–गृहं, इयाय–गच्छतिस्म। किं कृत्वा? देवं–तीर्थेशं, अभ्यर्च्य–पूजयित्वा। साधुं प्रणिपत्य–नमस्कृत्य, तदनु–तदनन्तरं सर्वेपि भूपाः स्वकेषु गेहेषु अवात्सुः–वसंतिस्म। कस्मात्? नृपतेः–भरतस्य निदेशात्–आज्ञातः।

७४. **अथोत्सु०**। अथ–अनन्तरं, अवनिचक्रशक्रः–राजा भरतः, तत्रोद्याने आस्त–तिष्ठतिस्म। किं विशिष्टोऽवनिचक्रशक्रः? पूर्वनियुक्तचारावलोकनाय–पुराप्रेषितदूतविलोकनार्थं, उत्सुकः–सोत्कंठः। क इव? पाथोधिरिव। यथा समुद्रः स्वकीयस्थितिक्रमे–आत्मीयमर्यादानुक्रमे, अध्यास्ते। किं विशिष्टः पाथोधिः? प्लावितभूतलः–आक्रांतवसुधातलः।

७५. **अनय०**। अथ–अनन्तरं, क्षितिपतिः–भरतः, इह–अस्मिन् उद्याने कियन्ति दिनानि–वासरान्, अनयत्–गमयतिस्म। किं विशिष्टः क्षितिपतिः? स्फारकीर्त्तिः–महायशाः। किं चिकीर्षुः? चरवदनसरोजात्–प्रेषितजनमुखकमलात्, बन्धोः–बाहुबलेः, किंवदन्तीः–प्रवृत्तीः, बुभुत्सुः–जिज्ञासुः। पुनः किं विशिष्टः? पीनपुण्योदयाढ्यः–पुष्टधर्माभ्युदयपूर्णः। पुनः किं विशिष्टः? कलितललितलक्ष्मीलक्ष्यलावण्यलीलः–ज्ञातमनोज्ञकमलालक्षलवणिमविलासः।

इत्थं श्रीकविसोमसोमकुशलाल्लब्धप्रसादस्य मे-
ऽयोध्यातक्षशिलाधिराजचरितश्लोकप्रथा पंजिका ।
नैपुण्यव्यवसायिपुण्यकुशलस्यास्यारविंदोद्गता,
या तस्यामिति जायतेस्म दशमः सर्गो वनावस्थितिः ।

इति श्रीभरतबाहुबलिमहाकाव्ये पञ्जिकायां सचैत्योद्यानाभिगमो नाम दशमः सर्गः।

एकादशः सर्गः—

१. **अथासौ०** । अथ—अनन्तरं, असौ—भरतः, आस्थानमंदिरं तस्थौ—तिष्ठतिस्म । किं विशिष्टोऽसौ ? कल्पिताकल्पः—रचितवेषः । किं विशिष्टं आस्थानमंदिरं ? अनूनश्रीभरोद्दीप्रं—अधिककमलातिशयोद्दीप्रं । क इव ? वासव इव । यथा शक्रो विमानं तिष्ठति ।

२. **भूपाल०** । पुनः किं विशिष्टमास्थानमंदिरं ? भूपालकोटिकोटीरपद्मरागप्रभाभरैः—राजशतसहस्रमुकुटलोहितरत्नतेजोतिशयैः, रक्तांशु—शोणितकिरणं, किमिव ? प्रभातमिव । प्रभाते रक्तांशु—रक्तादित्यं । कि कुर्वत् ? प्रादुर्भवत्—प्रगटीभवत्, तमोंधकारं हरत् ।

३. **राकामु०** । पुनः किं विशिष्टं ? उदंचच्चन्द्रोदयविराजितं—उद्बध्यमानउल्लोचप्रदीपितं । किमिव ? राकामुखमिव—पूर्णमासिप्रदोषमिव । किं विशिष्टं राकामुखं ? उदगच्छद् इंदूदयशोभितं । पुनः किं विशिष्टं ? रत्नमौक्तिकनक्षत्रतारामण्डलमंडितं—वैडूर्यादिमुक्ताफलधिष्ण्यतारकसमूहराजितं ।

४. **चारुवा०** । पुनः किं विशिष्टमास्थानमंदिरं ? चारुवारवधूधूतचामरांशुकरंवितं—कमनीयवारांगनांदोलितवालव्यजनद्युतिमिश्रितं । उपमीयते—सुधांभोधेः—क्षीरसमुद्रस्य, क्षीरं—पानीयमिव । किं विशिष्टं क्षीरं ? शीतांशुकरचुम्बितं—चन्द्रकिरणसंयुक्तं ।

५. **कुन्देन्दु०** । पुनः किं विशिष्टं ? कुन्देन्दुविशदच्छत्रप्रभामंडलमंडितं—कुंदचन्द्रनिर्मलातपत्रकान्तिसमूहराजितं । पुनः किं विशिष्टं ? अद्भुतं—विस्मयकारि । किमिव ? गंगातीरमिव—सुरसरित्तटमिव । किं विशिष्टं आ० ? विलसद्राजहंसौघं—क्रीडद्भूपालश्रेष्ठसंदोहं । गंगातीरपक्षे—मिलत्कलहंससंघातं—इति पंचानामपि वृत्तानामन्वयार्थो व्याख्यातः ।

६. **आस्थानी०** । भरतेशस्य—सार्वभौमस्य, आस्थानी—सभा, रेजे—शुशुभे । केव ? सुरप्रभोः—इन्द्रस्य सुधर्मेव । किं विशिष्टा आस्थानी ? विस्फुरद्विबुधा—

विराजत्पंडिता । सुधर्मापक्षे–विराजद्देवा । पुनः किं वि० ? गुरुमंगलधारिणी–विशालश्रेयःशालिनी । पक्षे–वाक्‌पतिवक्रावहा ।

७. द्रुतं रा० । वेत्रपाणिः–द्वास्थः, द्रुतं–शीघ्रं, राजानं–भरतं, आनम्यादोऽवदत् । हे राजन् ! त्वत्प्रेषिताश्चाराः द्वारि वारितास्तिष्ठन्ति । किं विशिष्टाः० ? एताः–आगताः ।

८. एतान्० । स–वेत्रपाणिः, भूपं–भरतं, तान्–हेरिकान्, अनीनयत्–प्रापयतिस्म । किं विशिष्टो वेत्रपाणि.? राज्ञा–भूपेन, स्वयं–आत्मना, इति ईरितः–एवं भणितः । इतीति किं ? हे वेत्रिन् ! त्वं एतांश्चरान्, अन्हाय–झटिति, प्रवेशय–प्रवेशं कारय । कः कानिव ? न्यायः श्रीविलासानिव, यथा नयो लक्ष्मीलीलाः प्रापयति । इति त्रिभंगोन्वयः ।

९. तानपृ० । क्ष्मापः–राजा, तान्–चरान्, इति अपृच्छत्–एवं प्रश्नं चकार । भो हेरिकाः ! मे–मम, स बान्धवः–बाहुवलिः, नितंशुः–नमस्चिकीर्पुरस्ति । वा–अथवा, किं युद्धश्रद्धापरः–संग्रामाभिलापतत्परोस्ति, यूयं निर्णीय–निश्चयं विधाय, आख्यत–ब्रूत । इति चतुर्भंगोन्वयः ;

१०. इत्या० । तेषां–चराणां, मध्ये एकः चरोऽभणत्–अब्रवीत् । किं कृत्वा ? भर्तुः–स्वामिनः, इति–पूर्वोक्तं, वचः–वचनं, आकर्ण्य–श्रुत्वा, किमुवाच ? हे राजन् ! त्वं सांप्रतं–अधुना, बन्धुसंबंधं–बाहुवलिव्यतिकरं, मन्मुखात् शृणु–आकर्णय । कस्मात् ? निर्वधात्–आग्रहात् ।

११. त्वदाज्ञा० । हे भूप !–भरत !, त्वदाज्ञाभ्रमरी तद्देशचंपके– वहलीदेशचंपकद्रुमे, नास्त–नातिष्ठत् । किं विशिष्टा त्वदाज्ञाभ्रमरी ? सुमनोभिरता–देवानां मनोरमा । भ्रमरीपक्षे–सुमनस्सु–पुष्पेषु, अभिरता–आसक्ता । हि–यतः, भाविनी–भवितव्यता, गरीयसी–महत्तरा स्यात् ।

१२. स्वामिन्० । हे स्वामिन् ! चरैः एष–बाहुवलिः, उन्निद्रदर्पदावाग्निः–उत्फुल्ला-हंकाररूपवनवन्हिः, चक्रे–कृतः । इतीति किं ? स्वीया–निजः, सीमवधूः वलाद्–हठात्, परैः–अन्यैः, कदर्थिता–पीडितास्ति ।

१३. अवामं० । ततः–तदनन्तरं, असौ–बाहुवलिः, तेषां–चराणां, वचोऽवामंस्त–अवगणयतिस्म । किं विशिष्टोऽसौ ? घूर्णिताक्षः–निद्राणलोचनः । क इव ? वारण इव । यथा गजः उन्मत्तः सन् अस्थिभुजां–सारमेयानां, रवं स्वैरं–यथेष्टं,: अवमन्यते ।

१४. **बहुक्त०** । स-बाहुबलिः, सावज्ञं-सावगणं यथा स्यात् तथा, आत्मभृत्यैः-स्वसेवकैः, यात्राभेरीं, अदापयत्-दापयामास। किं विशिष्टः सः ? भटैः बहुकृत्वः-बहुवेलं, प्रविज्ञप्तः-प्रसभमुक्तः, किं विशिष्टैः भटैः ? शौर्यरसार्णवैः-पराक्रमरस-समुद्रैः ।

१५. **तदा द०** । तदा-तस्मिन् समये, भंभानादात्-भेरीभांकारात्, दक्षिणदिग्नेता-यमः, चकंपे-कंपमासदत् । किं विशिष्टो दक्षिणदिग्नेता ? दण्डधारी-यष्टिभृत्, किमिति वितर्के, भूः-मही, सुवर्णाद्रिकंपात्-मेरोश्चलनतः न कंपते-न चलति ? चलत्येव ।

१६. **भम्भाया०** । वाद्यमानायाः भम्भायाः ध्वनिः कृत्याय-कार्याय, सैनिकान् सज्जीचकार। कस्या इव ? सुघोषाया इव। यथा सुघोषायाः घंटाया ध्वनिः त्रिदशान्-देवान्, कृत्याय सज्जीकरोति ।

१७. **पञ्चबा०** । स रवः-भेरीभांकारः, भटानां शौर्य, जागरयामास-उन्निद्रीचकार। कः किमिव ? पंचबाणः-कामः, औद्धत्यं-उन्मादित्वमिव, पुनः कः किमिव ? वल्लभः-प्रेयान्, आनन्दमिव ।

१८. **सारंगा०** । ततः क्षणात् भंभानादः अमन्दं आनन्दं पुपोष-पुष्टीचकार, भटाना-मित्यनुवर्तनीयं। क इव ? अंभोदध्वनिरिव। यथा घननादः सारंगाणां-चातकानां, रसधरागमे-प्रावृट्काले प्रीतिं पुष्णाति ।

१९. **अबला०** । भीरवोऽपि-भयविह्वलापि, अबलाः-स्त्रियः, भटानां अद्भुतं शौर्य-मुत्तेजयामासुः-तीक्ष्णीचक्रुः । किं कृत्वा ? स्वभावजं कातरत्वं विहाय-परित्यज्य ।

२०. **कान्त०** । हे कान्त ! स्वस्वामिकृत्याय-निजप्रभुकार्याय, मनागपि त्वं मा विषीद मा विषादं कुरु। हि-यतः, स्वर्भाणुमुखगं चन्द्रं पश्यतः तारकान् धिगस्तु ।

२१. **नाथ ०** । हे नाथ ! त्वं मां चित्ते संस्मृत्य-चिंतयित्वा, निजं मुखं मा वालयेः-मा पश्चात्कुर्याः । वलमानमुखाः वीराः कदाचन न भवंति ।

२२. **तांबूली०** । हे कांत ! यथा ते-तव, आस्यं-मुखं अधुना तांबूलीरागसंपृक्तं-नागवल्लीदलरक्तिमारक्तं भावि। तथा त्वं क्षरद्रुधिरधाराक्तं-स्रवत्शोणित-शीकरार्द्रं मुखं तथेति-तद्विधं रणे दर्शयेः ।

२३. **त्वद् वि०** । हे महावीर !-महाभट !, त्वद्विक्रान्तिः-भवदीय विक्रमत्वं, अकीर्त्तिकज्जलैः-अयशोंजनैः, सुधाभित्तिरिव न म्लानीकार्या-न मलिनीकर्त्तव्या। किं विशिष्टा त्वद्विक्रान्तिः ? त्रैलोक्येऽपि विदित्वरी-विख्यातिमती ।

२४. **सुमेरु०** । हे प्रियतम ! त्वं भुजवैभवैः–बाहुसामर्थ्यैः, स्वाभिमानसे–पत्युर्मनसि, सुमेरुरसि । त्वं संग्रामात् तृणीभूय मम मुखं मा दर्शयेः–मा दृष्टिविषयीकारयेः ।

२५. **भटानां०** । हे प्रिय ! भटानां–सैनिकानां, परवीरास्त्रैः–शत्रुसैनिकायुधैः, जीवितात् मरणं वरं–श्रेयोऽस्ति । भीरून्–कातरान् धिगस्तु । किं कुर्वंतः ? साक्रोशकश्मलान्–निंदामलिनान् प्राणान्, धरतः–दधानान् ।

२६. **सुरभि०** । हे प्रिय ! त्वं मामपि यशःकुन्दैः–कीर्त्तिकुंदकुसुमैः, सुरभीकुरु । कथंभूतस्त्वं ? सुरभिः–वसन्तः, यतः–यस्माद्धेतोः, सर्वेऽपि क्ष्मारुहाः–धवखदिरादयः, मलये–मलयगिरौ, चंदनायंति–चंदनीभवंति इत्यर्थः ।

२७. **यशश्च०** । हे भटोत्तंस !–वीरावतंस ! रणव्योम्नि–संग्रामरूपनभसि, तव यशश्चन्द्रोदये–कीर्त्युल्लोचे, भटिमादिगुणैः–वीरत्वादितन्तुभिः स्फीते–वितती-कृते, मूर्ध्नि–मस्तके, परातपः–शत्रूष्मा न स्यात् ।

२८. **उत्संग०** । हे प्रिय ! जयश्रीः समरांगणे–रणप्रांगणे, ते–तव, उत्संगसंगिनी–क्रोडवर्तिनी अस्तु । वाढं–अत्यर्थं, तया–जयश्रिया सपत्न्यापि त्वयि सेर्ष्या–ईर्ष्यावती नाहमस्मि ।

२९. **ज्ञातस्त्वं०** । हे कान्त ! त्वं सर्वदा–सर्वत्र, रतेऽपि मया करुणापरो ज्ञातः–अवसितोसि, तत्–तस्माद्धेतोः, हे वीर ! त्वया वैरिरणक्षणे–प्रत्यनीकसंग्रामावसरे, कृपा न कार्या ।

३०. **मां विहा०** । हे प्रिय ! त्वं प्रमनाः–हृष्टमानसः सन् मां विहाय–त्यक्त्वा, रणांगणे यथा यासि–व्रजसि, तथा भवता वीरतां हित्वा गृहे नागम्यं ।

३१. **कातर०** । हे प्रिय ! त्वं कातरत्वं–धैर्यराहित्यं, ममाभ्यर्णे–मम समीपे, मुक्त्वा संयते–संग्रामाय, धाव–वेगेन सर। हि–यतः, पुराविदोपि–पुरातनपंडिता अपि, एवं प्राहुः–कथयंतिस्म । एवमिति किं ? स्त्रीत्वं धैर्यविलोपि–धीरतोच्छेदकं विद्यते । इति त्रिभंगोन्वयः ।

३२. **युद्धे श०** । हे वीर ! इति कीर्त्तिस्तवांगे चिरं–बहुकालं, ध्रुवं–नित्यं, स्थास्यति–शाश्वतीभविष्यति । इतीति किं ? कोशलाबहलीशयोः–भरतबाहुवल्योः, युद्धेऽयं शस्त्रप्रहारोऽजनि ।

३३. **त्वं तु०** । हे वीर ! त्वं अन्यस्याः कांतायाः पाणिग्रहे–विवाहविधौ मद्गुणेषु

मनः–चित्तं, न्यधा–आरोपितवानसि । त्वं जयश्रीवरणे मयि विपये मानसं–चेतः, मा कृथा–मा विधेहि । जयश्रीवरणे इत्यत्र निमित्तात् कर्मयोगे सप्तमी ।

३४. **स्खलति०** । हे प्रिय ! मम रसा–रसना, तटिनीव–नदीव, स्नेहशैलेन्द्रे स्खलति । त्वया प्राणैरपि–जीवितेनापि यशश्चयं पुष्टीकर्त्तव्यं । हि–यतः, यशोधनाः–यशस्विनोऽपि प्रशस्याः स्युः । इति त्रिभंगोन्वयः ।

३५. **त्वं दाक्षि०** । हे प्रिय ! त्वं यादृक् दाक्षिण्यपरः–लज्जाशीलोसि, तादृग् भुवस्तले नान्योऽस्ति, अत्र संग्रामे दाक्षिण्यं नाधेयं–न कर्त्तव्यं । हि–यतः, अस्थाने–अनास्पदे, अमृतं विषं स्यात् । इति चतुर्भंगोन्वयः ।

३६. **वीरसू०** । हे वीर ! ते–तव, जननी वीरसूरस्तु, पुनः तव पिता वीरोऽस्तु । अहं त्वत्–भवत एव, सांप्रतं–अधुना, वीरपत्नी भवित्री । इति त्रिभंगोन्वयः ।

३७. **सत्वरं०** । हे प्रिय ! त्वं मम स्नेहात् सत्वरं ग्रामतः आगतोऽभूः । त्वया संग्रामात् त्वरा-वेगः, न कार्या । त्वं स्वामिचित्तानुगः–प्रभुमानसानुयायी, भवेः–स्याः । इति त्रिभंगोन्वयः ।

३८. **मम व०** । हे प्रिय ! त्वया निःशंकं–निर्भयं, मम वक्षसि–हृदये, यथा करजाः–नखाः, पातिताः–अपात्यंत, तथा त्वया मत्तेभकुंभेषु शराः प्रापणीयाः–नेतव्याः ।

३९. **रणव्यो०** । हे वीर ! परे वीराः–अन्ये भटाः, तव पुरः–भवदग्रतः, तारका इव नश्यन्तु–नाशं प्राप्नुवन्तु । कथंभूतस्य तव ? तेजोनिधेः–बलनिधानस्य, कस्मिन् ? रणव्योम्नि–संगामरूपाकाशे, त्वत्प्रतापो वृद्धिमानस्तु ।

४०. **भटशौ०** । सर्वासां नारीणां मुखभाण्डतः–आननपात्रात् । इति–पूर्वोक्तं, वचः निर्ययौ–निरगच्छत् । किं विशिष्टं वचः ? भटशौर्यबृहद्भानुदीपनाय–वीरविक्रम-वन्ह्युत्तेजनाय घृतं ।

४१. **सुधाम०** । तदा–तस्मिन् समये, स क्षणः–सोवसरः, सुधामय इव–अमृतरूप इव, आनन्दमय इव–प्रमोदरूप इव अभवत् । पुनः किं विशिष्टः ? बलिभिः युद्धाकांक्षिभिः–संग्रामाभिलाषिभिः, स क्षणः सोत्सवो मतः ।

४२. **दोर्दण्ड०** । ये वीराः दोर्दण्डचंडिमोद्धत्याद्–भुजदंडतीक्ष्णत्वदुर्दमत्वात्, जगत्त्रयं तृणंति–तृणवदाचरंति । तदा–तस्मिन् संग्रामसमये, ते पि वीराः तं–बाहुबलिं, प्रययुः–प्रापुः । किं विशिष्टास्ते ? यशःक्षीरार्णवाः–कीर्त्तिक्षीरसमुद्राः ।

४३. **मन्दरा०** । केऽपि भूभृतः–राजानः, तं–बाहुबलिं, ययुः । उत्प्रेक्ष्यते–प्रत्यर्थि-वाहिनीश्वरमंथने–शत्रुसमुद्रविलोडने, मंदरा–मंदरपर्वता इव । पुनः किं विशिष्टाः ? चंडदोर्दंडाः–क्रूरभुजदंडाः एव शालिनो येषु, ते ।

४४. **ये भवन्त०** । हे राजन् ! ये विद्याधराधीशाः, भवन्तं–त्वां, अवज्ञाय–अवगणय्य, नृपं–बाहुबलिं, श्रिताः–आश्रिताः । तेऽपि विद्याधराधीशाः युधे–संग्रामाय, प्रगुणाः–सज्जा, अभूवन्–भवंतिस्म ।

४५. **विद्याध०** । सः अनिलवेगः विद्याधरः दुःसहो वर्त्तते । स कः ? यस्यासिः–खड्गः, गुरुवत्–गुरुरिव, वंद्यः–स्तुत्योऽस्ति । कुतः ? विद्याधरवधूवर्गवैधव्य-व्रतदानतः–नभश्चरस्त्रीसमूहपतिराहित्यदीक्षार्पणात् ।

४६. **बहली०** । हे राजन् ! अनिलवेगेन दोष्मता–भुजदंडशौर्यवता, बहलीनाथ-पाथोधिः–बाहुबलिरूपजलधिः सर्वथैव दुस्तरः–दुरवगाह्यः, पुनः भीष्मः–रौद्रोस्ति । केनेव ? और्वानिलेन–वडवाग्निनेव ।

४७. **पुनर्भा०** । हे भारतभूपाल ! पुनः विद्याधरधराधवः रत्नारिनामा, तं बाहुबलिं, उपागच्छद्–आजगाम । क इव ? विधुरिव । यथा विधुः–चन्द्रः, दर्शे–सूर्येन्दुसंगमे, अरुणं–अर्कमुपागच्छति ।

४८. **अमी वि०** । अमी विरा विद्याभृतः–विद्याधराः, बहुशः बहलीशितुः–बाहुबलेः, अभ्यर्णं–समीपं, तूर्णं–शीघ्रं, आजग्मुः–आगतवंतः । के कमिव ? प्रवाहा वारिधिमिव ।

४९. **किराताः०** । हे राजन् ! किराताः–भिल्लाः, तं–भरतानुजं उपागत्य अनमन्–ववन्दिरे । किं विशिष्टाः किराताः ? पातिताः अरातीनां–वैरिणां, दुर्मदाचलाः–दुरहंकाराद्रयः, तेषु दोर्द्रुमाः–भुजरूपमहीरुहाः, यैः ते । उत्प्रेक्षते–देहाढ्याः–मूर्तिमन्तः, उत्साहा इव ।

५०. **सन्नद्ध०** । हे राजन् ! तस्य–बाहुबलेः, लक्षशः सुता ईयुः–आयांतिस्म । किं वि० ? सन्नद्धबद्धसन्नाहाः–सज्जितवर्माणः, पुनः किं विशिष्टाः ? कंठप्रापित-कार्मुकाः–ग्रीवार्पितधनुषः । उत्प्रेक्षते–मूर्त्ता धनुर्वेदा इव ।

५१. **सभासी०** । हे राजन् ! तदैव–तस्मिन्नेव समये, ते भटाः अदीनाः–धीराः, एनं–बाहुबलिं, परिवव्रुः–वेष्टयामासुः । किं विशिष्टमेनं ? सभासीनं । पुनः किं विशिष्टं ? दुर्द्धरं–दुःसहं । कमिव ? कीनाशं–यममिव । के कमिव ? किरणाः तरणिं–भानुमिव ।

५२. **अथ म०।** अथ–अनन्तरं, सुमंत्राख्यो मंत्री तस्य भूपतेः पुरस्तात्–बाहुबलेरग्रे, निर्व्याजं–निःकपटं यथा स्यात् तथा, इति व्याजहार–बभाषे। किं विशिष्टो मंत्री ? मंत्रवित्–आलोचकः। क इव ? सुरमंत्री–बृहस्पतिरिव।

५३. **देव ! त्वं०।** हे देव !–बाहुबले !, त्वं मद्वचः कर्णगोचरं–श्रवणविषयं, स्वैरं–यथेष्टं, कुरुतात्–विधेहि। हि–यतः, राजभिः–नृपैः, कार्यारम्भे, अमात्याः–मंत्रिणः, हितविदः चिन्त्याः–विचार्याः।

५४. **यथा प०।** हे स्वामिन् ! यथा बालायाः–कुमार्याः, पयोधरौन्नत्याद्–स्तनोत्तुंगत्वात्, यौवनोद्गमः–तारुण्योत्पत्तिः ज्ञायते, तथा मंत्रिभिः स्वामिबलोद्रेकात्–पौरुषाधिकत्वतः जयो ज्ञायते।

५५. **प्रबले०।** हे स्वामिन् ! प्रबलेन सह त्वया विरोधिता न विधेया–न कार्या। हि–निश्चयेन, पाथोजिनीनेत्रा–सूर्येण, तमांसि–ध्वांतानि, संक्षिप्यंते–अल्पीक्रियंते, त्वं पश्य–विलोकय।

५६. **आक्राम०।** हे राजन् ! यो नृपः परक्ष्मां–विरोधिवसुधां, आक्रामति स एव नृपः सबलः–बलवान्। चेद्–यदि, अर्कतूलानि तिष्ठेयुः तर्हि–तदा, मरुत्–वायुः, किं विभुः–समर्थः स्यात्। इति चतुर्भंगोन्वयः।

५७. **बलादा०।** हे राजन् ! भूपालैः बलादाच्छिद्य–आकृष्य, बंधुभ्योपि–भ्रातृभ्योऽपि, भूः–वसुधा, गृह्यते–आदीयते। विवस्वान्–सूर्यः, ग्रहाणां–चन्द्रादीनां अपि तेजांसि किं न हरते ? अपि तु हरत्येव।

५८. **निर्बलो०।** हे स्वामिन् ! निर्बलोऽपि–बलरहितोऽपि, परः–शत्रुः, नृपैः सबलः–बलवान्, विभाव्यते–ज्ञायते। हि–यतः, पृथिव्यर्थे–वसुधानिमित्तं, कः सबलोऽपि-निर्बलोऽपि सर्वथाऽत्र–सर्वप्रकारेण, युद्धं न करोति ? अपितु करोत्येव।

५९. **अनभ्रा०।** हे स्वामिन् ! यदि सर्वेऽपि भूपालाः अनभ्राः स्युः, यदि सर्वेपि छत्रिणः छत्रवतः स्युः, तर्हि–तदा, लोकत्रयीमध्ये चक्रवर्तिनः–सार्वभौमस्य का कीर्त्तिः भवतीति त्रिभंगोन्वयः।

६०. **सांप्रतं०।** हे राजन् ! सांप्रतं–अधुना, कौशलास्वामी–भरतः, चमूवृतः–कटकसंयुक्तः सन्, त्वामभ्येति–भवंतमभिमुखं आयाति, कः कमिव ? सर्पारातिः–गरुडः, अनन्तं–शेषनागमिव। पुनः कः कमिव ? पीताब्धिः–अगस्त्यः, सागरमिव।

६१. **अयं भ०** । हे राजन् ! अयं–भरतः, भवत्कुले ज्येष्ठः–वृद्धोऽस्ति । च–पुनः, अयं चक्री भवत्कुले–त्वदन्वयेऽस्ति । हे राजन् ? तत्–तस्माद्धेतोः त्वं एनं भरतं नम–नमस्कुरु । तव काचन त्रपा–लज्जा नास्तीति चतुर्भंगोन्वयः ।

६२. **एतस्मै०** । हे राजन् ! के भूपा एतस्मै–भरताय, न नताः–न नमंतिस्म । कैः भूपैः अस्य–भरतस्य, आज्ञा शिरसा न धृता–नाऽधारी । कैः भूपैः अस्यातंकः–शंका, नो दध्रे–न ध्रियते । हि–यतः, अत्र–लोके, बलिनः–बलवंतः, जयिनः–जेतारः भवंतीति चतुर्भंगोन्वयः ।

६३. **बलं य०** । हे राजन् ! सुराः–देवा अपि, यदीयं बलं–सैन्यं पराक्रमं च, आलोक्य–दृष्ट्वा, चकंपिरे–कंपिताः । तत् अस्य राज्ञः भरतस्य, पुरस्तात्–अग्रे, केऽमी मर्त्यकीटाः स्युः ?

६४. **षट्खण्डी०** । हे राजन् ! षट्खंडी अस्य–त्वदग्रजस्य, पदांबुजं–चरणकमलं, सेवते–भजते । किं कृत्वा ? किंकरीभूय–सेवकत्वमासाद्य । का कमिव ? रजनी सुधाभानुं–चन्द्रमिव सेवते । किं विशिष्टं ? अमंदानन्दकन्दलं–प्रचुर-प्रमोदप्रवालं ।

६५. **त्वां विना०** । हे राजन् ! कोप्यत्र विश्वे–जगति, त्वां–भवंतं, विनाऽस्य सार्वभौमस्य शासनभाजां न्यक्करोति–तिरस्कुरुते । हि–यतः, त्रयीतनोः–श्रीसूर्यस्य, राहोरेव पराभूतिः–पराभवः, विद्यते, नान्यस्मात् ।

६६. **द्वात्रिंश०** । हे राजन् ! अस्य–भरतस्य, द्वात्रिंशन्मेदिनीपालसहस्राणि किंकराः सन्ति । ते आत्मानं अनृणीकर्तुं–ऋणरहितं विधातुं, असुभिः–प्राणैरपि रणे ईहंते–वांछंति ।

६७. **एनं स०** । हे राजन् ! सहस्रशः देवाः एनं भरतं सेवंते । कथं भूताः देवाः ? सदा–निरंतरं, बद्धांजलिपुटाः–संयोजितकरकमलाः । के कमिव ? योगिन ओंकारमिव वर्णं–अक्षरं, सेवन्ते । किं विशिष्टं ओंकारं ? सर्वदं–सकलका-मितकरं ।

६८. **सुषेणो०** । हे राजन् ! अस्य–भरतस्य, सुषेणनामा सेनानीः–सैन्याधिपोऽस्ति । किं विशिष्टः सेनानीः ? दुर्जयः–दुःखेन जेतुं शक्यः । पुनः किं विशिष्टः सेनानीः ? अनेकगीर्वाणैः–बहुभिः सुरैः, परीतः–संयुक्तः । कैः क इव ? सद्गुणो विनीत इव ।

६९. **अस्यैव०** । हे राजन् ! वैरिणः–शत्रवः, अस्यैव सुषेणसेनाधीशस्य, सुर-

माहात्म्यात्–बाहुवैभवादग्रत: नेशु:–अदृश्यतां प्रापु:, तेषां वैरिणां चक्रवर्त्यागम:–भरतागमनं, पुनरुक्ति:–उक्तस्य पुनर्भाषणमिव अभवत् ।

७०. **अस्य सू०** । हे राजन् ! अस्य–भरतस्य, ज्येष्ठसूनु:–बृहत्सुत: सूर्ययशा: स्वभुजौजित्यात्–निजबाहुविक्रमात्, शक्रं–वासवमपि, किंकरं–दासं, यन्मन्यते । किं विशिष्ट: सूर्ययशा: ? अन्यूनविक्रम:–अहीनपराक्रम: ।

७१. **अन्येपि०** । हे राजन् ! अस्य–भरतस्य, बले–सैन्ये, अन्येऽपि बहवो वीरा:–भटा:, प्रबला:–बलगर्विता:, संति । तदंतर्–तेषां वीराणां मध्ये, एकोऽपि पर्वतानपि धर्त्तुं–धारयितुं, सहिष्णु:–समर्थ: स्यात् ।

७२. **एक एव०** । हे राजन् ! त्वं एक एव ज्येष्ठमार्पभि रोद्धा–निवारयितासि, किं विशिष्टस्त्वं ? महातेजा:–महाबल:, च–पुन:, यस्य–भरतस्य, चक्रदवार्चिष:–चक्रदवानलज्वाला, अमून्–सैनिकान्, तृणानीव धक्ष्यन्ति–भस्मीकरिष्यंति ।

७३. **तद् विचार्य०** । हे महीपाल ! त्वं तत्–तस्माद्धेतो:, इति विचार्य–विचिन्त्य, आत्महितं कुरुष्व । त्वमिमं भरतं–ज्येष्ठभ्रातरं, ताततुल्यं–पितु: सदृशं, नम–नमस्कुरु ।

७४. **इति मन्त्रि०** । इति–पूर्वोक्तप्रकारेण, मंत्रिगिरा क्रुद्ध:–प्राप्तकोप:, क्षितीश्वर:–बाहुबलि:, यावद् वक्ति तावद् विद्याधराधीशोऽनिलवेग: तं–मंत्रिणं, अभ्यधात्–कथयतिस्म ।

७५. **सचिवो०** । अनिलवेग: किमुवाच । हे सचिवोत्तंस !–मंत्रिशेखर !, त्वं वदनानिलै:–मुखश्वासवातै:, प्रभो:–बाहुबले:, निस्त्रिंशं–खड्गं, वृथैव कश्मलीकुरुषे–मलिनं विदधासि । किं विशिष्टं निस्त्रिंशं ? उद्दीप्रं–भास्वरं, कमिव ? आत्मदर्शमिव–दर्पणमिव ।

७६. **प्रार्थ्यमा०** । हे सचिवोत्तंस ! स वीरमनोरथै:–भटाभिलाषै:, चिरं–बहुकालं, प्रार्थ्यमान:–याच्यमान: युद्धोत्सवोऽस्ति । कै: क इव ? चातकै: पाथोद:–धाराधर इव । यथा बप्पीहै: प्रार्थ्यमानो मेघो भवति । तत्र युद्धोत्सवांभोधरे भवान् वात्यायते–वातूलवदाचरति ।

७७. **कोऽतिरि०** । हे मंत्रिन् ! देवात्–बाहुबले:, अधिक: को बली–बलवान् विद्यते । चित्ताद्–अंत:करणाद्, कोऽतिरिक्तगति:–कोधिकगमनोऽस्ति । ज्वलनात्–वन्हे: क: प्रतापवान् अस्ति । सुराचार्यात्–बृहस्पते: क: पंडित: अस्तीति चतुर्भंगोन्वय: ।

७८. **अमी वा०** । हे राजन् बाहुबले: अमी वीरा: अनिलवेगाद्या: प्राणैरपि जीवितेनापि, सर्वथा–सर्वप्रकारेण, निजं प्रभुं, उपचिकीर्षंति–उपकर्त्तुमिच्छंति । हि–यत:, अमीदृशां सुभटनां प्राणास्तृणं..............

(अतोग्रे पत्राणि न उपलब्धानि ।)

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	स्वपुरा···	स्वपुरी
४	४	यशा	यशो
४	७	सगन्ध···	स गन्ध
५	१०	विलाससंस्पृह	विलाससस्पृहः
८	२३	महीभृताः	महीभृतः
११	३६	भटैर्वतो···	भटैर्वृतो···
१२	४१	कतिचिद् दिनैश्चरः	कतिचिद्दिनैश्चरः
१२	टि० ४	शृगाराख्यस्य···	शृंगाराख्यस्य
१५	५१	स कौतुका···	सकौतुका
१५	ला० ८	उल्लंघन नहीं करते थे।···	जैसे शिष्य गुरु के आचीर्ण पथ का कभी उल्लंघन नहीं करते।
२०	७२	धृतैकमूर्ति	धृतैकमूर्ति
२८	१६	शान्ति	शान्ति
४४	६३	कैलासदुर्ग	कैलासदुर्ग
६४	२०	धनुरनुत्तरधी	धनुरनुत्तरधीः
११६	३०	शताङ्गैं भूतलं	शताङ्गैर्भूतलं
१४१	६३	०श्छिच्लिषे	०च्छिश्लिषे
१६१	६०	पदातिधुयाः	पदातिधुर्याः
१६१	टि० ५	(···व्याकुलोरवः— अभि० ३।४६३)	व्याकुलो रवः— अभि० ६।४०
१६२	६४	कमेत···	किमेत
१६२	टि० ६	नर्णिक्तं	निर्णिक्तं
२०६	टि० ३	अह्नाय	अह्नाय
२५१	टि० २	···प्रत्यह	प्रत्यूह
२५७	६१	मा	मां
२६७	२४	लक्षेपुदश···	लक्षेपु दश

२

२७९	टि० १	मार्वी	मौर्वी
२८६	२१	कश्चिच्चूरिताः	कैश्चिच्चूरिताः
३३७	४८	°कणशोषिणा	°कणपरिशोषिणा
३६४	ला० २३	भारत···	भरत
३६७	(४।७१)	यूत्क्षये···	युत्क्षये
३७१	(१३।२९)	इतिरिणि···	इतीरिणि
३९९	(१६।१४)	तातयो त···	तातयो न
४३३	ला० ६	यथा राजा	यथा गजा